विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 1913; 'विज्ञान' का प्रकाशन अप्रैल 1915
जनवरी 1990; वर्ष 75, अंक 10

मूल्य
आजीवन : 200 रु०
वार्षिक : 25 रु०
त्रिवार्षिक : 60 रु०
एक प्रति : 2 रु० 50 पैसे

प्रकाशक
डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी
प्रधान मंत्री
विज्ञान परिषद्, प्रयाग

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

मुद्रक
श्री सरयू प्रसाद पाण्डेय
नागरी प्रेस
186 अलोपी बाग
इलाहाबाद

सम्पर्क
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002

विज्ञान विस्तार

अंतरिक्ष से भेजा वायजर ने संदेशा

मनोज कुमार पटैरिया

25 अगस्त 1989 को अमेरिका के नासा अंतरिक्ष केन्द्र में अंतरिक्ष से जो संकेत प्राप्त हुए, उन्होंने दुनिया भर में वैज्ञानिको के कान खड़े कर दिए। इन संकेतों से पता चला कि किस तरह तापमान बढ़ने से पूरा ग्रह पिघल जाता है, और पुनः ठण्डा होने पर उसका पुर्ननिर्माण होता है। ये संकेत दिए हैं, वायजर-2 ने, जिसे सौर मण्डल के अध्ययन के लिए 1977 में अंतरिक्ष में भेजा गया था, और जिसने हाल ही में हमारे सबसे दूरस्थ ग्रह नेप्च्यून की यात्रा पूरी की है। वायजर परियोजना के वैज्ञानिक **एडवर्ड स्टोन** ने बताया है कि इन अध्ययनों से पृथ्वी पर बढ़ते तापमान को सुनियोजित करने, तथा इस ग्रह (पृथ्वी) पर जीवन को बचाने के दूरगामी उपाय करने में मदद मिलेगी।

क्या है सौर मण्डल में ?

हमारे सौर मण्डल के बीचो-बीच सूर्य है, उसके चारों ओर वृत्ताकार अलग-अलग कक्षाओं में 9 ग्रह चक्कर काटते हैं। ये नौ ग्रह हैं—बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, वृहस्पति, शनि, अरुण, वरुण (नेप्च्यून) और यम। ये सभी ग्रह तो सूर्य के चक्कर लगाते हैं, पर कुछ छोटे उपग्रह भी हैं, जो इन ग्रहों के चक्कर लगाते हैं, जैसे पृथ्वी का उपग्रह है चंद्रमा। कुछ ग्रहों के 2-3 उपग्रह भी हैं। इस तरह यह पूरा तंत्र सौर-मण्डल कहलाता है। और अखिल ब्रह्माण्ड में ऐसे अनेकानेक सौर मण्डल हैं, जो अनंत अंतरिक्ष में विभिन्न दूरियों पर अवस्थित हैं। अभी तक ज्ञात जानकारी के अनुसार हमारे सौर-मण्डल में हमारी पृथ्वी के अलावा कहीं भी जीवन का पता नहीं चला है। हो सकता है, हमारे सौर-मण्डल के पार किसी अन्य सौर-परिवार के किसी ग्रह या उपग्रह पर जीवन विद्यमान हो !

वायजर अभियान

पृथ्वी के अलावा अन्य ग्रहों पर सभ्यताओं की खोज के लिए वैज्ञानिक हमेशा उत्सुक रहे हैं। इसी उत्सुकता ने आदमी को चंद्रमा तक पहुँचा दिया। सुदूर अंतरिक्ष में जीवन की खोज की टोह लेने के लिए अनेक संयंत्र स्थापित किए गए हैं। अमेरिका में स्थापित एक केन्द्र में ऐसी व्यवस्था की गई है कि यदि अंतरिक्ष में कहीं से कोई सभ्यता रेडियो संकेत भेजे, तो वे हमें मिल जाएँ। इसी तरह यह केन्द्र अपने रेडियो संकेत दूर अंतरिक्ष को भेजता है।

इसी क्रम में अंतरिक्ष में उपकरणों से लैस यंत्र भेजने की बारी आई तो पहले यह निश्चित किया गया कि दूर अंतरिक्ष में जीवन की खोज करने से पहले अपने सौर-मण्डल के अन्य ग्रहों पर जीवन की खोज की जाए। इसी तरह वायजर अभियान की शुरुआत हुई। वायजर-1 को वृहस्पति और शनि की ओर छोड़ा गया। इसकी सफलता के बाद वायजर-2 को और आगे बढ़ाया गया, जिससे अंतरिक्ष से, अन्य ग्रहों के बारे में अभूतपूर्व जानकारी भेजी।

वायजर-2, 1977 में छोड़ा गया था। यह 1979 में वृहस्पति के पास से गुजरा और वृहस्पति व उसके चंद्रमाओं (उपग्रहों) पर उपयोगी जानकारी दी। उसके बाद यह आगे बढ़ता गया, और 1979 में शनि और उसके रहस्यमय वलयों की खोजें करता हुआ, 1986 में अरुण (यूरेनस) के पास पहुँचा, जहाँ से इसके कैमरों ने रेडियो तरंगों के द्वारा अनेक चित्र भेजे।

नासा के वैज्ञानिकों ने यह पहले ही सोच लिया था कि यदि वायजर-1 सफलतापूर्वक शनि ग्रह तक जाता है, तो वे वायजर-2 को यूरेनस तक और यथा-सम्भव नेप्च्यून तक भेजेंगे। और ऐसा ही हुआ। वायजर-2 को यूरेनस और आगे नेप्च्यून की तहकीकात करने के लिए भेजा गया। वायजर का नियंत्रण रेडियो तरंगों और रिमोट कंट्रोल उपकरणों के जरिएं पृथ्वी पर प्रयोगशाला में बैठकर किया जा रहा है।

ए-22, सैक्टर-12, नोएडा-201301, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश

अनंत ब्रह्माण्ड में मानव की कल्पना से भी दूर बहुत दूर घुप्प अँधकार में पृथ्वी का यंत्रदूत वायजर-2 अंतरिक्ष यान, मौन साधे हुए आगे ही बढ़ता ही जा रहा है। पिछले 12 वर्षों से वायजर यही कर रहा है। अपने एक टन के भार सहित यह यान अब तक 7 अरब 20 करोड़ किलोमीटर का लम्बा और उबाऊ रास्ता पार कर कई मंजिलों की ओर बढ़ता रहा है। इस क्रम में वह अब तक 4 ग्रहों और 56 चन्द्रमाओं को पीछे छोड़ चुका है। हमारे सबसे दूरस्थ ग्रह नेप्च्यून से हाथ मिलाने के बाद यह हीलियोस्फियर सीमा में प्रवेश कर गया है, जहाँ से हमारी सौर मण्डल सीमा समाप्त होती है और ग्रहों व आकाश गंगा के बीच का इंटर-स्टेलर अंतरिक्ष आरम्भ होता है।

नेप्च्यून एक वास्तविकता है

वायजर द्वारा सौर मण्डल के सबसे दूरस्थ ग्रह नेप्च्यून से आँखें लड़ाने के साथ ही अमेरिकी अंतरिक्ष एजेन्सी की जेट प्रक्षेपण प्रयोगशाला के एक खगोल विज्ञानी ने खुशी से चिल्लाते हुए कहा कि अब वरुण विज्ञान कथा या फिल्म का हिस्सा नहीं रहा। अब वह एक वास्तविकता बन गया है।

अंतरिक्ष यान भारतीय समयानुसार 9 बजकर 26 मिनट पर वरुण के उत्तरी ध्रुव के बादलों की बाहरी सतह से 4,905 किलोमीटर करीब पहुँचा जहाँ से उसने करीब 81 हजार फोटोग्राफ टेलिविजन कैमरों द्वारा भेजे। इन संदेशों के आने में 4 घन्टे और 6 मिनट का समय लगता है। वायजर ने वरुण के चारों ओर चक्कर लगाते हुए धूलकणों की पट्टियों का पता लगाया है। नासा के खगोल शास्त्री **आर० टेरिल** ने बताया है कि धूलकण वरुण की काल्पनिक मध्य रेखा का चक्कर लगा रहे हैं। यान ने वरुण के 3 और चन्द्रमा पता लगाए हैं। इस तरह अब इसके ज्ञात उपग्रहों की संख्या 6 हो गई है। यान ने वरुण के एक पूर्ण व्रलय और एक आंशिक वलय का भी पता लगाया था। इन वलयों को क्रमशः 1989 **एन** 3 और 1989 **एन** 4 कहा गया है। नेप्च्यून का व्यास 44,800 किलोमीटर है, तथा सूर्य से इसकी दूरी 4496.7 मिलियन किलोमीटर है। यह 164.8 वर्ष में सूर्य का एक चक्कर लगा पाता है। वायजर ने वरुण के उपग्रह ट्राइटन पर उपयोगी जानकारी भेजी है।

बहुत चमकता है ट्राइटन

नेप्च्यून से सबसे बड़े चन्द्रमा ट्राइटन के बारे में, वायजर ने जो चित्र भेजें हैं, उनको देखकर वैज्ञानिकों की उत्सुकता नेप्च्यून से ज्यादा ट्राइटन में जागृत हो गई है। अमेरिका की नेशनल एयरोनाटिक्स एण्ड स्पेस एडमिनिस्ट्रेशन (नासा) में इन चित्रों के अध्ययन से पता चला है कि ट्राइटन के वायुमण्डल में नाइट्रोजन है। वैज्ञानिकों ने ट्राइटन में गुलाबी बर्फ के ज्वालामुखी को अनूठा बताया। इसका सतह तापमान शून्य से 240 डिग्री सेलिसियस नीचे है। यह सौर मण्डल का सर्वाधिक ठण्डा पिण्ड है, तथा दूसरे स्थान पर प्लूटो (यम) तथा उसका चन्द्रमा चरोन ठण्डे पिण्ड हैं।

वायजर से प्राप्त तस्वीरों से प्राप्त निष्कर्षों में पाया गया है कि ट्राइटन पहले पूरी तरह पिघल गया था, और बाद में फिर ठण्डा हुआ। इसकी सतह पर नाइ-ट्रोजन के साथ कार्बनिक पदार्थ की भी संभावना है। ट्राइटन के चित्र वायजर ने 38,500 किलोमीटर की दूरी से लिए हैं। इसका व्यास 2720 किलोमीटर है, जो हमारे चन्द्रमा से कुछ कम है। इसकी सतह हमारे चन्द्रमा से 10 गुनी ज्यादा परावर्ती है, अतः ट्राइटन अधिक चमकता है। इसका दक्षिणार्धं गुलाबी बर्फ से ढका है, जो इस पर पड़ने वाले प्रकाश का 80 प्रतिशत भाग परावर्तित कर देती है। इसका दक्षिणार्ध गुलाबी भूरे रंग का है, औत् इसकी सतह 60 प्रतिशत प्रकाश का परावर्तन करती है।

ट्राइटन पर बड़े विवर और खाइयाँ देखी गयी हैं। साथ ही 200 से 400 वर्ग किलोमीटर के मैदानों का भी पता चला है। पूरा ट्राइटन जमा हुआ है। इसमें पानी, नाइट्रोजन और मीथेन प्रमुख हैं। इसके धरातल पर चट्टानें भी देखी गई हैं। पानी हालाँकि बहुत कठोर बर्फ के रूप में है, पर नाइट्रोजन और मीथेन का मिश्रण नरम तथा कुछ पिघला हुआ है।

प्लेनेटरी सोसायटी के अध्यक्ष और नेशनल एयरोनाटिक्स एण्ड स्पेस एडमिनिस्ट्रेशन के जेट प्रोपल्शन प्रयोगशाला के पूर्व निदेशक **ब्रूस मूरे** का कहना है कि वायजर से मिले वरुण और ट्राइटन के चित्रों से हमारे मस्तिष्क को काफी सामग्री मिली है, जिसका उपयोग भविष्य में किया जा सकेगा।

कार्नेल यूनिवर्सिटी के अंतरिक्ष विज्ञानी **कार्ल सगान** का कहना है कि यदि पृथ्वी को सही ढंग से समझना है, तो अन्य ग्रहों को भी समझना होगा। इस तरह की जानकारी के आधार पर ही वैज्ञानिकों ने शुक्र ग्रह के बारे में बताया कि इस ग्रह के घने बादल कैसे सौर ऊर्जा को संचित करते हैं, और तापमान 100 डिग्री होता है। नए अध्ययनों से यह अनुमान लगाने में सहायता मिलेगी कि औद्योगिक प्रदूषण से पृथ्वी का तापमान बढ़ सकता है, जिसके कारण ध्रुवों पर जमी बर्फ पिघल सकती है, और तटवर्ती इलाकों में समुद्री बाढ़ का संकट पैदा हो सकता है। इस तरह वायजर-2 द्वारा नेप्च्यून और ट्राइटन के बारे में प्राप्त हजारों फोटोग्राफों और संकेतों के जरिए न केवल सौर मण्डल को समझने में मदद मिलेगी, बल्कि हम पृथ्वी पर जीवन विकास की क्रियाविधि तथा उसके संरक्षण को भी बेहतर ढंग से समझ सकेंगे।

नेप्च्यून और ट्राइटन से होकर गुजरने के बाद मानवरहित वायजर अभियान सम्पन्न हो गया है। बस अब उससे प्राप्त सूचनाओं के विश्लेषण से निष्कर्ष निकालने और अध्ययन करने की बातें ही बाकी हैं लेकिन फिर भी, वैज्ञानिक वायजर-2 की मुस्तैदी को मद्देनज़र रखते हुए सौर मण्डल के पार भी कुछ जानने के लिए वायजर की कारगुज़ारियों पर आँखें लगाए हुए हैं। □□

एड्स का फैलता आतंक

राजीव गुप्ता

[दुनिया के 136 देशों में हजारों लोग "एड्स" नामक यौन-रोग के शिकार होकर बेमौत मर रहे हैं। अब तक वैज्ञानिक एड्स पर 3500 शोध पत्र छाप चुके हैं। किन्तु एड्स के रोगियों के लिए एक खुशखबरी है। इस बीमारी के शिकार एक व्यक्ति का बोनमैरो बदलने से उसके शरीर से एड्स के वायरस समाप्त हो गए। रोग का निदान ढूँढने के दौरान पहली बार इस तरह का नतीजा सामने आया है। पर जब तक इस रोग पर काबू नहीं कर लिया जाता तब तक सबसे जरूरी है जनता तक सही जानकारी पहुँचाना। —संपादक]

एक नयी छूत की बीमारी निकली है, जिसका काटा पानी नहीं माँगता। इसका नाम है—"एड्स"। एड्स एक ऐसा संक्रामक रोग है जो एक अदृश्य दैत्य के समान धर पकड़ता है। जब तक इसका पता चलता है, तब तक बहुत देर हो जाती है और इसका एक ही नतीजा होता है—मृत्यु। दुनिया भर के वैज्ञानिकों के अनथक प्रयासों के बावजूद यह पता नहीं चल पाया कि यह रोग आखिर आया कहाँ से, न ही आज तक इस जानलेवा बीमारी का कोई इलाज ही निकल पाया है। बहरहाल, वस्तुस्थिति यह है कि विश्व में लगभग प्रत्येक मिनट एक व्यक्ति एड्स की चपेट में आ जाता है।

विश्व-व्यापी संकट

विश्व स्वास्थ्य संगठन के आँकड़े बताते हैं कि "पूरी दुनिया में 50 लाख से एक करोड़ लोगों के शरीर में एड्स के रोगाणु घर कर चुके हैं।" इनमें से

संपर्कसूत्र : श्री हरीश अग्रवाल, डी-40 गुलमुहर पार्क, नई दिल्ली—110049 फोन : 669820

लगभग 2 लाख व्यक्ति इस रोग के शिकार हो गये हैं। एड्स से पीड़ित अधिकांश व्यक्ति इस तथ्य से अनभिज्ञ हैं कि वे रोगी हैं। यही सिलसिला चलता रहा तो सन् 1990 तक करीब 3 करोड़ लोग एड्स के चंगुल में जा फँसेंगे। विश्व स्वास्थ्य संगठन का अनुमान है कि अगले पाँच वर्षों में एड्स का शिकंजा गत पाँच वर्षों के रोगियों से लगभग 20 गुना अधिक लोगों को धर दबोचेगा।

एड्स आखिर फैलता कैसे है? यह छूत, यौन-सम्बन्धों, दूषित रक्त के आदान-प्रदान, गंदी इंजेक्शन की सुई के प्रयोग तथा एड्स-पीड़ित महिला के माँ बनने से होता है। यदि माँ एड्स की रोगी है तो नवजात शिशु का इस बीमारी से ग्रस्त होना लाज़मी है। इन्हीं चार कारणों से यह रोग यत्र-तत्र-सर्वत्र 'जंगल की भयानक आग' की भाँति फैलता जा रहा है। यह रोग न तो किसी जानवर द्वारा आदमी तक पहुँचा और न ही हवा, मिट्टी, या पानी से उत्पन्न "वायरस" या जीवाणु द्वारा। यह छूत तो आधुनिक इंसान की "आधुनिकता" की देन है। आज के मानव का स्वच्छंद यौन-जीवन, ख़ून को लम्बे समय तक टिकाए रखने की अप्राकृतिक पद्धतियाँ, आधुनिक हवाई-यात्राएँ व आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली—ये सभी एड्स के जिम्मेदार हैं। जब भी आप प्रकृति के नियमों का उलंघन करेंगे—चाहे वह अफ्रीका के आधुनिकीकरण द्वारा हो अथवा अमेरिका के पुरुषों के परस्पर यौन-सम्बन्धों द्वारा हो—तो उसके भेंट स्वरूप पायेंगे—एड्स।

दुखद तथ्य तो यह है कि दस-दस साल तक व्यक्ति को ज्ञात ही नहीं होता कि एड्स के रोगाणु उसके शरीर में पल रहे हैं। ऊपरी तौर से वह रोगी स्वस्थ लगता है और वह स्वयं यही अनुभव करता है। परन्तु धीरे-धीरे शरीर को खोखला बनाते हुए यह रोग जब फूट निकलता है तब तक, भयानक कैंसर की तरह, इसका कोई इलाज नहीं रह जाता। मृत्यु के सिवाय इस रोग से मुक्ति का कोई उपाय नहीं रह जाता।

एड्स का वायरस

एड्स के रोगाणु शरीर के भीतर किस प्रकार क्षति पहुँचाते हैं? होता यह है कि एड्स का "वायरस" देह की प्रतिरोधक प्रणाली को पूर्णरूपेण ध्वस्त कर देता है। एड्स के रोगाणु सर्वप्रथम ख़ून के सफेद रक्त कणों (लिम्फोसाइट्स) के एक विशेष समूह "टी-4" पर हमला बोल देते हैं। टी-4 के अलावा ये रोगाणु "बी" कोशिकाओं और "मैक्रोफोसेज" जैसे प्रतिरोधक-प्रणाली के महत्त्वपूर्ण अंगों को नष्ट कर देते हैं। जैसे ही टी-4 कोशिकाएँ गायब होती हैं, वैसे ही "एन्टीबॉडीज़" या प्रतिरक्षियों को बनाने के सन्देश मिलने बन्द हो जाते हैं। सूचना न मिलने से प्रतिरक्षियों का निर्माण बन्द हो जाता है, जिससे रोगाणुओं का विरोध पूर्णतया समाप्त हो जाता है। परिणाम यह होता है कि धीरे-धीरे शरीर की समूची प्रतिरोधक प्रणाली ठप्प हो जाती है और मनुष्य एड्स के भँवर में हमेशा के लिए डूब जाता है। प्रतिरोधक क्षमता ख़त्म होने पर आदमी ज़्यादा दिन ज़िंदा नहीं रह पाता।

भारत में एड्स

भारत में जून 1989 तक 1290 लोगों में एड्स के रोगाणु पाये गए हैं, जिनमें से 29 व्यक्ति एड्स के शिकार हो चुके हैं। इनमें से 18 भारतीय थे, जो चल बसे। 1183 भारतीयों के ख़ून में एड्स का वाइरस पल रहा है। पूरे देश में 40 निगरानी केन्द्रों पर जाँच चल रही है। चूँकि इस रोग का कोई इलाज नहीं है, अतः इससे बचने का एकमात्र उपाय है—समय रहते जनता को इस रोग से सम्बद्ध सही जानकारी प्रदान करना। अमेरिका में रेडियो, प्रेस, टेलीविजन इत्यादि के जरिए एड्स से जुड़ी जानकारी का इतना ज़ोरदार प्रचार-प्रसार हुआ कि वहाँ के सैनफ्रांसिस्को शहर के समलैंगिक यौन-संबन्ध रखने वाले कामी पुरुषों में व्याप्त यह रोग 18 प्रतिशत से घटकर एक प्रतिशत भी नहीं रह गया।

जानकारी का अभाव

एड्स के बारे में आम जनता में यह गलत धारणा फैली हुई है कि एड्स के रोगी को छूने भर से यह छूत लग जाती है। सत्य इसके ठीक विपरीत है। यह रोग न तो रोगी के साथ उठने-बैठने, खाने पीने या उसके भोजन अथवा अन्य किसी वस्तु का प्रयोग करने से होता है। आप मज़े से उसके गिलास में पानी पी सकते हैं और उसकी बाहों में बाहें डालकर घूम सकते हैं। और तो और रोगी के चुंबन से भी यह रोग दूसरे व्यक्ति को नहीं लगता। एड्स के रोगी की सेवा-सुश्रुषा से भी यह छूत नहीं फैलती और न ही उसे काटे मच्छर द्वारा आपको काटने से। यहाँ तक कि यदि एड्स का रोगी अगर आपको काट खाए तब भी यह रोग नहीं फैलता। इन सभी दृष्टियों से यह एक सुरक्षित रोग है। यह छूत केवल रोगी के साथ काम-सम्बन्ध स्थापित करने तथा उसके रक्त को स्वस्थ व्यक्ति के शरीर में पहुँचाने से फैलती है।

अज्ञात का भय

इस जानकारी के अभाव में विश्व भर में एक देश के लोग दूसरे देश को दोषी ठहरा रहे हैं और एड्स के रोगियों का इलाज तो दूर उनका सामाजिक बहिष्कार कर रहे हैं। अब यह बीमारी शारीरिक कम और सामाजिक ज्यादा हो चली है। अफ्रीका की हाल की घटना पर नजर डालिए, जहाँ एक पति ने अपनी पत्नी को इसलिए धक्के मार कर घर से निकाल दिया क्योंकि उसको पता चला कि उसकी पत्नी को एड्स है। बेचारी महिला करती क्या न करती, सो उसने वेश्यावृत्ति अपना ली। इस प्रकार वह न जाने और कितने लोगों में एड्स फैलाती रही। दूसरी ओर पति महोदय ने दूसरी शादी कर ली, बिना यह जाने कि वे स्वयं एड्स से पीड़ित थे। अनजाने में ही उन्होंने अपनी नयी पत्नी और आने वाले बच्चों को भी एड्स का रोगी बना दिया।

अमानवीय व्यवहार

ऐसी अनेक घटनाएँ हैं जहाँ लोगों ने एड्स के रोगियों के घर के घर जला दिये। अमेरिका में तो अस्पतालों ने एड्स के बीमारों को लेने से ही मना कर दिया। भारत में पिछले महीने ही बंबई पुलिस ने गोवा के एक नवयुवक को मानसिक अस्पताल में नज़रबंद कर दिया, क्योंकि उसके खून में एड्स के रोगाणु निकले। यही हाल उन वेश्याओं का हुआ जिनका रक्त "सीरो पोजिटिव" निकला। जो वेश्याएँ वकील रख सकीं वे ही छूट पायीं और शेष आजीवन पागल खाने में बन्द रहेंगी।

जागृति : एकमात्र विकल्प

यह सब मूर्खता एड्स के प्रति अज्ञान के कारण व्याप्त है। इस अज्ञान से भय उत्पन्न होता है और अज्ञान के इस भय से हिंसा उपजती है। समाज के इस अमानवीय व्यवहार से घबराकर एड्स के रोगी सामने नहीं आते और गुपचुप यह रोग फैलाते रहते हैं। बहुतेरे तो घबराकर आत्महत्या ही कर लेते हैं।

यदि हमें सही रूप में और उचित ढंग से इस समस्या से निपटना है तो कड़े कानून नहीं, अपितु एक सौहार्दपूर्ण वातावरण का निर्माण करना होगा। जनता में जागृति एवं चेतना का ज्ञान-दीप जलाना होगा। अन्ततोगत्वा, हमें **गाँधीजी** के इन शब्दों का अनुसरण करना होगा कि "**पाप से घृणा करो, पापी से नहीं।**"

(इस्वा फीचर्स)

□□

कम्प्यूटर से कैंसर की पहचान

राजेश कुमार सिंह

जैसा कि हम जानते हैं कैंसर एक भयावह और प्राणघातक व्याधि है। मानव आज इससे बुरी तरह ग्रस्त है। कैंसर मानव शरीर में होने वाला एक प्राण-घातक फोड़ा है। प्राचीन आयुर्वेद में इसे "कर्कट" के नाम से जाना जाता रहा है। इसके मुकम्मल इलाज के हेतु कई शोधों, खोजों और अनुसंधानों का सहारा लिया गया, परन्तु कोई विशेष सफलता वैज्ञानिकों और चिकित्सकों के हाथ न लग सकी। प्रत्येक वर्ष लाखों लोग अकाल काल के गाल में समा जाते हैं।

वैसे कैंसर की पहचान हेतु अनेक उच्च और उपयुक्त तरीके प्रारम्भ से ही वैज्ञानिकों और चिकित्सकों के द्वारा खोजे जाते रहे हैं, नित्य नये-नये शोध किये जाते रहे हैं और इसी के परिणामस्वरूप कैंसर की अल्ट्रासानिक टिश्यू करैक्टराइजेशन (यू० टी० सी०) की नई विधि खोजी जा सकी, जिससे कि अब ध्वनि तरंगों की सहायता से कैंसर की पहचान की जा सकेगी। जब ध्वनि तरंगों के बीमार कोशिकाओं के समूह से लौट कर आने से जो परिवर्तन होता है व उससे ऊतकों की गहराइयों में चल रही कोशिकीय उथल-पुथल को यू० टी० सी० भली प्रकार से जाँच करता है। जैसा कि कैंसर काफी समय तक भीतर ही भीतर बग़ैर किसी कष्ट के बढ़ता ही रहता है और इस ओर मरीज का ध्यान शीघ्र नहीं जा पाता। जब उसका ध्यान इस ओर जाता है तब तक रोग लाइलाज हो चुका होता है।

हिस्टोग्राफ ध्वनि तरंगों से मरीज के शरीर के भीतर के हिस्सों के ऊतकों के बारे में पूरी जानकारी दे सकने में सक्षम हैं और यदि किसी मरीज के पूरे शरीर का हिस्टोग्राफ तैयार कर लिया जाय तो निश्चित ही उसके शरीर में कहीं भी कैंसर होने की जानकारी को ज्ञात किया जा सकता है। हिस्टोग्राफ से बग़ैर एक बूँद भी खून बहाये अथवा काटे यह समग्र प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है। हिस्टोग्राफ के ध्वनि तरंगों को वास्तव में हमारे कान तक नहीं सुन सकते हैं, क्योंकि उनकी तीव्रता काफी कम होती है। ध्वनि विज्ञान को बहुत ही परिष्कृत रूप में उपयोग में लाये जाने से ऐसा संभव हो पाता है। बहुत तेज गति से भेजी गयी ध्वनि तरंग वापस इसलिए लौट नहीं पाती है क्योंकि ध्वनि तरंगों में कुछ ऊतकों द्वारा सोख ली जाती हैं और कुछ विभिन्न प्रकार के कोणों में फैल जाती हैं, जिन्हें कि संवेदनशील और अच्छे उपकरणों में रिकार्ड कर लिया जाता है। इस आधार पर ही, शरीर के कौन से भाग के ऊतकों में गड़बड़ी है का पता लगा लिया जाता है। इस सम्पूर्ण तकनीक को, दूसरे शब्दों में, शरीर के भागों का आंतरिक दूरदर्शन कह सकते हैं।

इन ध्वनि तरंगों को भेजते समय यदि थोड़ी सी भी असावधानी हो जावे तो उससे जिंदगी और मौत का फ़ैसला हो जावेगा यानी ध्वनि तरंगों को भेजते समय सतत् सावधानी अत्यंत ही आवश्यक है। करोड़ों कोशिकाओं से मिलकर हमारे शरीर का निर्माण हुआ है। प्रत्येक कोशिका का अपना अलग महत्व है। बड़ी कोशिकाओं को छोड़कर छोटी कोशिकाओं को केवल काफी उच्चशक्ति वाले माइक्रॉस्कोप से ही देखा जा सकता है। छोटी और बड़ी किसी भी एक कोशिका के कार्य न करने से भविष्य में कैंसर हो सकने की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है। अतः शरीर में काम न कर रही ऐसी कोशिकाओं की पहचान अब समय से काफी पूर्व ही की जा सकती है। अभी भी ध्वनि तरंगों के ऊपर जो नित्य ही नये-नये अनुसंधान हो रहे हैं वे एकदम नये हैं जिनसे

235 डी, किदवई नगर, अल्लापुर इलाहाबाद-211006

कि शरीर के अन्दर ध्वनि तरंगें भेजने और उनके व्यवहार की पूरी जानकारी नहीं मिल पा रही है। अतः इस क्षेत्र में अभी और अधिक अनुसंधानों के द्वारा ही सफलता पायी जा सकती है।

एटॉमिक रेडिएशन से अभी तक कैंसर का इलाज किया जाता रहा है। रेडिएशन के ऊतकों पर क्यों और कैसे पड़ने वाले प्रभावों को माइक्रो-कम्प्यूटर की मदद से ज्ञात किया जाता रहा है। अभी तक इन कम्प्यूटर उपकरणों द्वारा सबसे अधिक घातक जिगर का कैंसर और थायराइड के ऊतकों की पहचान में 99 प्रतिशत सफलता प्राप्त की जा चुकी है। अब तो शल्यचिकित्सक भी एक्स-किरणों एवं ध्वनि तरंगों की मदद से बगैर शल्यचिकित्सा के पथरी जैसे रोगों का इलाज सफलता के साथ करने लगे हैं। सर्वप्रथम अप्रैल, 1988 में इसका अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में प्रयोग शुरू हुआ और भारत में (बंबई) में शल्य चिकित्सकों के द्वारा पथरी का सफल इलाज किया गया जो कि सामाय शल्य-चिकित्सा के मुकाबले कई अर्थों में अधिक लाभदायक रहा। न दर्द, न ऑपरेशन (शल्य-क्रिया), न रक्त की क्षति और न अलग से अतिरिक्त रक्त की व्यवस्था की कोई ज़रूरत। मात्र तीन घण्टे के इलाज के उपरान्त और तीन दिन ही अस्पताल में रहने के बाद मरीज़ को छुट्टी मिल जाती है। लिथोट्रिप्टर चालित कम्प्यूटर मशीन से बगैर ऑपरेशन के ध्वनि तरंगों से पथरी का इलाज किया जाने वाला एक सर्वोत्तम और सहज माध्यम है। यू० टी० सी० पद्धति के कैंसर के पहचान में सबसे अधिक विश्वसनीय, उपयुक्त और सफलता के बीच भी इस दिशा में अभी और अधिक बेहतर तकनीक की खोज की जा सकती है क्योंकि इस विधि का भविष्य उज्ज्वल है।

□□

एकल संवर्धन : विवादग्रस्त क्यों ?

प्रेम सागर त्रिपाठी

आज एकल संवर्धन वानिकी के क्षेत्र में चर्चा का ज्वलन्त उदाहरण बनकर उपस्थित हुआ है। एकल संवर्धन का नाम सुनते ही वानिकीविदों में पक्ष तथा विपक्ष में अपने मतों की बौछार होने लगती है। वानिकी के क्षेत्र में एकल संवर्धन वह पद्धति है जिसमें एक बड़े क्षेत्र पर एक ही प्रजाति के वृक्षों को रोपित किया जाता है। **युकेलिप्टस** का रोपण इस संदर्भ में अभी भी सर्वाधिक विवादास्पद विषय बना हुआ है, किन्तु इसके पीछे सत्यता से अधिक भ्रांतियाँ हैं। युकेलिप्टस के एकल संवर्धन से सम्बन्धित जो भी भ्रांतियाँ हैं वे पूर्वतः निराधार हैं क्योंकि भारतीय वन अनुसंधान संस्थान, देहरादून ने ऐसा कुछ नहीं पाया जो युकेलिप्टस के रोपण पर पाबन्दी लगाना पड़े। किन्तु एक बात यह स्पष्ट है कि युकेलिप्टस के संदर्भ में विवाद उठने पर इसकी लोकप्रियता पर कुछ प्रभाव स्पष्ट पड़ रहा है। आज इसकी लोकप्रियता कुछ प्रान्तों यथा उत्तर प्रदेश, गुजरात आदि में इतनी बढ़ चुकी है कि उसे देखने से यही प्रतीत होता है कि वृक्षारोपण का तात्पर्य युकेलिप्टस के रोपण से है। विशेषकर सामाजिक वानिकी (**Social Forestry**) के अन्तर्गत इसके रोपण पर विशेष बल दिया गया तथा यह सामाजिक वानिकी के सभी पहलुओं में अपना कदम जमा लिया है। कृषिवानिकी, प्रक्षेत्र वानिकी, प्रसार वानिकी, ग्रामीण वानिकी एवं मनोरंजन वानिकी आदि सभी के अन्तर्गत इसका अधिपत्य स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर है। गाँव से शहर तक सभी लोगों ने इसे अपनाया तथा ग्रामीण क्षेत्रों में इसे अपने खेतों की मेड़ों तथा खेतों एवं घर के इर्द-गिर्द रोपित

सी० एफ० आर० टी०, चंद्रापुर, महाराष्ट्र—442401

किया। कुछ शहरी व्यवसायी प्रवृत्ति के लोगों ने धन कमाने की दृष्टि से इसके रोपण को व्यवसाय के रूप में अपनाया तथा ग्रामीण क्षेत्रों की ज़मीनों को पट्टे पर लेकर उस पर बड़े पैमाने पर युकेलिप्टस की खेती शुरू कर दी। यदि हम युकेलिप्टस की लोकप्रियता का अध्ययन करें तो इसके पीछे कुछ तथ्य मुख्य हैं। यह एक तीव्र गति से बढ़ने वाली प्रजाति है तथा इसके पालन-पोषण की कोई विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती, जानवर इसे खाते नहीं हैं तथा यह सिर्फ आठ वर्ष में प्रौढ़ होकर काटने योग्य हो जाता है। आठ वर्ष के पूर्व भी इसका उपयोग कागज़ एवं अन्य लुग्दी उद्योग में किया जा सकता है। अतः इतने कम समय में लाभ प्रदान करने वाले गुण को लेकर इसकी लोकप्रियता बढ़ी है तथा व्यावसायिक बुद्धि के लोगों ने इसे अपनाना शुरू कर दिया है।

युकेलिप्टस के काले पृष्ठ अर्थात् इसके विवादग्रस्त होने के पीछे एक मुख्य भ्रांति यह है कि ज़मीन से बहुत ज्यादा पानी एवं भोज्यपदार्थ शोषित करता है जिससे मृदा बाद में कृषि योग्य नहीं रह जाती है तथा पानी की सतह ज़मीन में नीचे चली जाती है। यही इसका तथाकथित दोष है जिसको लेकर इसके विपक्ष में आवाज़ बुलन्द हो रही है। वैसे इस तथाकथित भ्रांति के पक्ष में अभी तक कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं हो पाया है। इस सन्दर्भ में एक विचार प्रस्तुत करना समीचीन होगा कि जो भी पौधा तीव्र गति से बढ़ेगा तो उसका सम्बन्ध उसके मृदा एवं वातावरण से अवश्य होगा। किन्तु युकेलिप्टस के सन्दर्भ में पौधे के दोष से अधिक पौध लगाने वाले का प्रतीत होता है, जो बिना यह समझे बूझे कि किस पौधे को कैसा वातावरण उपयुक्त होगा तथा पौधे की प्रकृति के विपरीत वातावरण में उसे रोपित किया है तो इसका प्रभाव मृदा पर पड़ना कोई अप्रत्याशित बात नहीं लगती। यही कुछ युकेलिप्टस के साथ हो रहा है जो भ्रांतियों की जड़ बन गया है। इस प्रकार यदि युकेलिप्टस को शुष्क जगहों पर न रोपित कर नम ज़मीन पर उगाया गया तो इसका फल अच्छा होगा। तालाब के आसपास, नाली तथा नहरों के किनारों पर तथा यहाँ तक कि कृषि योग्य भूमि के मेड़ों पर इसका रोपण अच्छा फल दे चुका है। सिंचाई का उत्तम प्रबन्ध होने पर इसे समोद्‌मिद् ज़मीन पर भी रोपित किया जा सकता है।

एकल संवर्धन वृक्षारोपण के क्षेत्र में कोई नयी बात नहीं है। यह पुराने काल से ही प्रचलन में रही है किन्तु आज के समय में यह नाम भले ही नया प्रतीत होता हो। पुराने काल से ही फलों की बाग लगाई जाती रही है जिसमें प्रायः एक ही जाति के वृक्ष रोपित किये जाते रहे हैं। ये वृक्ष सैकड़ों वर्षों तक फल प्रदान करते हैं। इसके बावजूद भी वहाँ की मृदा में उर्वरा-शक्ति की कमी या जल सतह का नीचे जाना नहीं सुना जाता। मानव ने ही नहीं प्रकृति ने भी एकल संवर्धन को अपनाया है। बहुत से ऐसे जंगल देखने को मिलते हैं जिनमें एक विशेष जाति की ही प्रचुरता रहती है। सागौन (**Teak**) के वन के लिए मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र एवं आन्ध्रप्रदेश प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध रहे हैं। इनमें मध्यप्रदेश के कुछ हिस्सों तथा आन्ध्रप्रदेश के तेलंगाना क्षेत्र जैसे स्थानों पर सागौन **95%** या इससे भी अधिक है जिसे हम प्रकृति का मोनोकल्चर ही कह सकते हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य प्रकार के वनों का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। साल के वन मध्यप्रदेश के रायपुर, बस्तर, बिलासपुर, मण्डला, बालाघाट आदि वन प्रभागों में बहुतायत से मिलते हैं। वर्तमान में वन विभाग के संरक्षण में रायपुर (म० प्र०) में प्राकृतिक उद्‌भवन (**Natural Regeneration**) तथा गोरखपुर एवं हल्दवानी (उ० प्र०) में टौंगिया एवं अन्य कृत्रिम उद्‌भवन द्वारा साल को रोपित किया गया है तथा इस विधि से साल के वनों को तैयार भी किया जा रहा है। किन्तु अभी तक इसके एकल रोपण से कोई दुष्परिणाम सामने नहीं आया है। हिमालय क्षेत्र चीड, फर, एवं देवदार के लिए बहुत पुराने समय से जाना जाता है। चीड 3000 फिट से 10,000 फिट ऊँचाई तक पायी जानेवाली जाति है जिसका वितरण कहीं-कहीं

पर 94% से 98% तक है जिन पर हमारा सम्पूर्ण रेंजिग उद्योग आधारित है। इन प्राकृतिक एकजातीय वनों से हमें कभी कोई शिकायत नहीं मिली। ये सभी वन एक प्रकार से प्राकृतिक एकल संवर्धन (**Natural Monoculture**) ही तो हैं।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि एकल संवर्धन के नाम मात्र पर आक्रोश व्यक्त करना उचित प्रतीत नहीं होता है। मोनोकल्चर के विषय में अपना मत व्यक्त करने से पहले कुछ तथ्यों पर विचार करना आवश्यक है : यथा किस प्रजाति के पौधे को रोपित करना है तथा किस जगह पर रोपित करना है। उस प्रजाति हेतु उस क्षेत्र की जलवायु उपयुक्त है कि नहीं, वहाँ पर उसे पूर्ण प्राकृतिक दशा प्राप्त हो सकेगी कि नहीं, उस क्षेत्र के लिए वह जाति देशज (इण्डिजिनस) है कि नहीं अर्थात् उस क्षेत्र में वह प्रजाति प्राकृतिक रूप से पायी जाने वाली है आदि। इसके साथ ही प्रजाति के आवर्तन काल (Rotation Period) को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। यह माना जाता है कि लम्बे आवर्तन काल वाले जाति के एकल-संवर्धन से हानि की सम्भावना शून्य के तुल्य होती है, क्योंकि इतने लम्बे आवर्तन अवधि में पौधों द्वारा मृदा से जो भी पोषक तत्व अवशोषित किये जाते हैं उनसे कहीं अधिक मात्रा में वह मृदा को देता है। यह पूर्ति उसकी पत्तियों के गिरकर सड़ने से होती रहती है। यह विदित है कि पौधे द्वारा जो भी पोषक तत्व अवशोषित किया जाता है वह किसी न किसी रूप में अवशोषित मात्रा से कहीं अधिक मात्रा में पत्तियों में उपस्थित रहता है। अतः जड़ों के माध्यम से मृदा से अवशोषित तत्व पत्तियों के माध्यम से मृदा तक पुनः पहुँच जाते हैं। मोनोकल्चर का दुष्परिणाम उस स्थिति में सम्भावित है जब उपरोक्त बातों पर ध्यान न दिया गया हो। कुछ लोग वानिकी के अन्तर्गत एकल संवर्धन की तुलना फसलों के एकल संवर्धन से करते हैं, जो सर्वथा अनुचित है, क्योंकि फसल का आवर्तन काल बहुत कम होता है तथा उसमें मृदा के पोषकतत्व सिर्फ ऊपरी सतह से ही अवशोषित किये जाते हैं।

अन्त में एक मुख्य बात यह है कि आज के युग में जहाँ पर वन-सम्पदा समाप्त होती जा रही है, वृक्षों का काटना मानव की सुलभ प्रवृत्ति सी बन गयी है वहाँ पर वृक्षारोपण मात्र ही महत्वपूर्ण है चाहे वह "मोनोकल्चर" के अन्तर्गत हो या "पॉलीकल्चर"। इतना तो अक्षरशः सत्य है कि मोनोकल्चर के प्रति चाहे जितनी भ्रांतियाँ हों, यह चाहे जितना विवादास्पद हो, किन्तु वृक्ष के न रोपण से तो एकल संवर्धन बेहतर ही है। यदि हमें इस बसुन्धरा पर हरित शांति (ग्रीन पीस) लानी है तो हमें वृक्षारोपण करना ही है अन्यथा मानवजाति की ही नहीं, सम्पूर्ण जीव जगत् की अस्मिता ख़तरे में है।

हरित शांति है तभी सम्भव।
वृक्षों का यदि हो उद्भव॥ □□

उछाल-प्रभाव : अप्रत्याशित की प्रत्याशा

जोस लुत्जनबर्गर

सामान्यतया मौसम विशेषज्ञ एवं वायुमण्डल-वैज्ञानिक इस कथन पर एकमत हैं कि मौसमी-अनियमितताएँ, जो विश्व में चारों ओर दिखाई पड़ रही हैं, वास्तव में तथाकथित 'हरितगृह प्रभाव' का प्रारम्भ व्यक्त करती हैं। यह भी आशा की जाती है कि पृथ्वी के चतुर्दिक स्थित वायुमण्डल आगामी 50 वर्षों में 2-3 अंश सेल्सियस का बढ़ा तापक्रम प्रदर्शित करेगा।

परन्तु इससे भी अधिक चिन्ता की बात यह

सौजन्य 'डेवलेपमेंट-फोरम', सितंबर-अक्तूबर 1989

सम्भावना है कि एक 'उछाल-प्रभाव' (फ्लिप ओवर एफेक्ट) अचानक ही इन भयानक परिणामों वाली प्रवृत्तियों को 10-15 वर्षों की अवधि में ही सामने उपस्थित कर सकता है।

रासायनिक प्रयोगशालाओं में, जब किसी परख-नली में कोई पदार्थ विश्लेषित किया जाता है तो सूचक को धीरे-धीरे बूँद-बूँद करके ही डाला जाता है। प्रारम्भ में कुछ भी निरीक्षणीय नहीं होता, परन्तु एक ऐसी स्थिति भी आती है जब सूचक अचानक पूरी तरह रंग-परिवर्तन कर लेता है।

पृथ्वी के वातावरण की ओज़ोन पर्त में घट रहे नाटकीय परिवर्तन इस 'उछाल-प्रभाव' का मौसम सम्बन्धी उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। क्योंकि पिछले 20 वर्षों से वैज्ञानिक वातावरण में प्रतिवर्ष 10 लाख टन क्लोरोफ्लोरोकार्बन (सी० एफ० सी०) गैसों के वातावरण में उत्सर्जित किये जाने के फलस्वरूप वातावरणीय ओज़ोन-समाप्ति की चेतावनियाँ देते रहे हैं। और उनकी तार्किक अपेक्षा अगले 50 वर्षों में नियमित रूप में वातारणीय-ओज़ोन की समाप्ति रही है। परन्तु, वास्तव में जो हुआ-वह एक ओज़ोन विवर की अचानक उपस्थिति थी जो अत्यंत तीव्र गति से बढ़ता जा रहा है। इस ओज़ोन विवर के सम्बन्ध में भी हम इसके अस्तित्व में आने के पश्चात् ही कुछ जान सके थे। और वह भी बहुत बाद में।

इसी प्रकार एक दशक पूर्व दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तट पर 'उछाल-प्रभाव' की अप्रत्याशित घटना घटित हुयी। इस घटना ने भूमि और जल की भोजन-शृंखला पर शृंखला-प्रतिक्रिया प्रारम्भ कर दी तथा मानवीय-आर्थिक-क्रियाओं को भी नाटकीय रूप में परिवर्तित किया।

पहले घटित होता रहा घटना-क्रम इस प्रकार था—दक्षिण की शीत जल-धारा, हम्बोल्ट धारा, अपने साथ गहरे जल के पोषक-पदार्थ लाती थी जिससे पेरू के तटवर्ती क्षेत्रों में मछलियों की बहुतायत होती थी। इससे एक सम्पन्न मछली-उद्योग अस्तित्व में था। इसी प्रकार निकटवर्ती द्वीपों पर मछलियों की अत्यधिक उपस्थिति के कारण चिड़ियों की उपस्थिति और उनके द्वारा उत्सर्जित मल पदार्थ के कारण इन द्वीपों की उर्वरता सहज ही स्वीकृत थी।

बिना किसी चेतावनी के, अचानक ही, उत्तर से आती हुयी एक अपेक्षाकृत गर्म और पोषक पदार्थों से रहित जल-धारा ने 'हम्बोल्ट धारा' को समुद्र की ओर ढकेल दिया। भोज्य पदार्थों के अभाव ने मछलियों की संख्या को घातक हानि पहुँचाई और करोड़ों पक्षी भी काल कवलित हो गये। अचानक ही पेरू के तटवर्ती मछली-उद्योग का जैसे रातोरात सफाया हो गया।

परन्तु यह शृंखला-प्रतिक्रिया यहीं समाप्त नहीं हुयी। पेरू के मत्स्य-उद्योग की अचानक मृत्यु ने अमेज़न-क्षेत्र में विनाश की एक प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी है। सच्चाई यह है कि पेरू से इकट्ठा की गयी मछलियाँ मानवीय-भोजन के रूप में कम ही प्रयोग की जाती थीं, उनका उपयोग पशुओं के भोजन के लिये किया जाता था।

मछलियों की समाप्ति ने पशु-चारे की समस्या को भयावह स्तर तक पहुँचा दिया—विकल्प के रूप में सोयाबीन की खेती और उत्पादन बढ़ाने की चेष्टा की गयी। ब्राज़ील-प्रशासन ने दक्षिणी ब्राज़ील में सोया-बीन-उत्पादन को प्रोत्साहित किया। इस प्रक्रिया में रियोग्रान्दोदसुल, पुरना और सान्ता कतारिना के जंगल काटे गये और अब यह प्रक्रिया मध्य-ब्राज़ील के जंगलों के विनाश पर केंद्रित हो गयी है।

यह भी एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि ब्राज़ीली-सोया-बीन के उत्पादन की इस तीव्र वृद्धि से भूखे ब्राज़ील-वासियों को भोजन नहीं मिला। इस सोयाबीन ने यूरोप की गायों को पोषक आहार प्रदान करके वहाँ दूध और मक्खन के उत्पादन में वृद्धि की है।

वैसे ब्राज़ील में बड़ी जोत वाले किसानों की संख्या ही अधिक है, परन्तु दक्षिण ब्राज़ील के आप्रवासी जर्मन, इटैलियन, पोल और यहूदी नागरिकों ने पिछले डेढ़ सौ वर्षों में वहाँ पारिस्थितिक दृष्टि से त्रुटिहीन कृषि-प्रणाली विकसित करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। सोयाबीन खेती को राजकीय संरक्षण और

प्रोत्साहन मिलने के कारण यह कृषि-प्रणाली और इस पर आधारित संस्कृति दोनों ही विनाश के कगार पर पहुँच गये। इस प्रकार लाखों लोगों ने न केवल अपनी भूमि छोड़ने की विवशता अनुभव की वरन् उन्हें अमेज़न के जंगलों में आश्रय लेने को मजबूर होना पड़ा।

ओज़ोन पर्त का विनाश और पेरू के मत्स्य-उद्योग की समाप्ति हमारे लिये चेतावनियाँ हैं—कि घटनाएँ हमारे अनुमान के अनुसार धीरे-धीरे और नियमित रूप में नहीं घट सकती हैं। जब यह दुर्घटनाएँ घटेंगी, वे अचानक ही सामने आएँगी, और पूरे विश्व पर हानिकर प्रभाव डालेंगी।

यही बात जंगलों के बारे में है। इन्हें बहुत तेज़ी से नष्ट किया जा रहा है और इनकी पूरी समाप्ति के लिये इन्हें पूरी तरह जलाना या काटना ज़रूरी नहीं होगा। इनके कुछ हिस्से की कमी पूरे जंगल को नष्ट करने की प्रक्रिया का कारण बन सकती है, क्योंकि जंगल के एक अंश की कमी ही वृष्टि और तापक्रम में ऐसे परिवर्तन कर सकती है जिनसे पूरा जंगल ही, कुछ वर्षों में अस्तित्वहीन हो जाए—स्वाभाविक है यह प्रक्रिया भी पूरे विश्व को प्रभावित करेगी। ☐☐

[अनुवादक—राघवेन्द्र कृष्ण प्रताप, शिक्षाशास्त्र विभाग, ए० पी० एन० कॉलेज, बस्ती-272001]

हमारी अंतरिक्ष उड़ानों में नए पंख

हरीश अग्रवाल

[आर्यभट उपग्रह से इनसेट-शृंखला के उपग्रहों तक भारतीय अंतरिक्ष विज्ञान ने एक लम्बा सफर तय किया है। लेकिन कब तक हम विदेशी अड्डों से भाड़े के राकेटों पर अपने उपग्रह प्रक्षेपित कराते रहेंगे? क्या हम प्रक्षेपण-तकनीक में आत्मनिर्भर नहीं हो सकते?

—संपादक]

अंतरिक्ष में सफलताएँ प्राप्त करने के लिए भारतीय वैज्ञानिकों के प्रयत्न जारी हैं। चाहे बड़े देशों के बराबर भारत के पास इतने साधन नहीं हैं, फिर भी इतने थोड़े समय में अंतरिक्ष टेक्नोलॉजी में देश ने काफी सफलता प्राप्त की है। अब अपने आप उपग्रह और राकेट तैयार किए जा सकते हैं। अंतरिक्ष में संदेश भेजने, वहाँ से चित्र मँगाने और पृथ्वी पर ग्रहण केन्द्र बनाने में हमने सफलता प्राप्त की है।

अब से 25 साल पहले तक अंतरिक्ष विभाग का कोई नामो-निशान न था। हमारे अंतरिक्ष संगठन स्थापित हुए तब हमारे पास अमेरिका से प्रशिक्षित वैज्ञानिक थे। उन्होने नई-नई तकनीकों से अपना काम शुरू कर दिया। अब भी जब अमेरिका तथा यूरोप में निरंतर नई तकनीकें आ रही हैं, भारतीय अंतरिक्ष वैज्ञानिक उन्हें भी अपना रहे हैं। अमेरिका से भारत को ये तकनीक नहीं मिल रही, लेकिन अब देश की आँख फ्रेंच तकनीक पर है और आशा की जा रही है कि इसके साथ-साथ यूरोप के अनेक उद्योग भारत के साथ कंधा से कंधा लगाकर चलेंगे।

समझा जाता है कि प्रक्षेपण वाहनों की आधुनिकतम जानकारी के लिए भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन तथा फ्रांस व अन्य यूरोपीय अंतरिक्ष संगठनों के बीच वार्ता चल रही है। आशा की जा रही है कि तकनीकी हस्तान्तरण सौदे की कीमत आठ अरब रुपया होगी।

थुम्बा में विक्रम साराभाई अंतरिक्ष केन्द्र के उच्च अधिकारी इसे स्वीकार नहीं करते। फिर भी गत नौ महीनो में बातचीत अवश्य हुई है। इनमें भारतीय वैज्ञानिकों तथा यूरोपीय अंतरिक्ष वैज्ञानिकों और उद्योगों ने भाग लिया है। अक्टूबर, 1988 में बंगलूर में अंतर्राष्ट्रीय अंतरिक्ष विज्ञान कांग्रेस हुई थी। तब से भारतीय अंतरिक्ष संगठन को अनेक विकल्प खोजने

का अवसर मिला। तब फ्रांसीसी वैज्ञानिकों की ओर से संकेत मिले कि आधुनिकतम तकनीक वे भारत को देने के लिए तैयार हैं, जिसे **एरियाने-3 प्रक्षेपण वाहन** में इस्तेमाल किया जाता है।

भारत भविष्य में अपने व्यावहारिक उपग्रहों के लिए समकालिक प्रक्षेपण वाहन पर निर्भर करेगा। ये उपग्रह दूरसंचार, मौसम की भविष्यवाणी तथा टेलीविजन व टेलीफोन संदेशों के लिए काम आते हैं। इनके लिए जरूरी है कि उपग्रह 25,000 मील की ऊँचाई पर रहे और 24 घंटे में पृथ्वी का एक चक्कर पूरा कर ले। तब पृथ्वी पर किसी भी देखने वाले के लिए उपग्रह स्थिर कक्षा में दिखाई देगा। इस प्रकार के उपग्रह को भू-समकालिक उपग्रह कहते हैं। इस प्रकार के भारी उपग्रह छोड़ने के लिए प्रक्षेपण वाहन के लिए विशेष प्रकार के इंजन चाहिए। इन्हें "क्रामोजेनिक इंजन" कहते हैं। भारत फ्रान्स से इन इंजनों की तकनीक प्राप्त करना चाहता है। इस समय बहुत कम देशों के पास इस प्रकार के इंजन हैं। इनमें द्रव हाइड्रोजन तथा ऑक्सीजन इस्तेमाल होती है और इनका तापमान बहुत कम रखा जाता है।

भारतीय अंतरिक्ष वैज्ञानिक यह अच्छी तरह समझते हैं कि द्रव इंजन तकनीक में हमारा भविष्य है। भारत को ठोस इंजन विकसित करने का अनुभव है। भारत के दो उपग्रह प्रक्षेपण वाहन सफल हो चुके हैं, फिर भी ठोस इंजन टेक्नोलॉजी में हम पिछड़े नहीं हैं। इस समय हम ध्रुवीय उपग्रह प्रक्षेपण वाहन तैयार कर रहे हैं। भारतीय अंतरिक्ष संगठन को आशा है कि 1990 तक हम इसकी तथा उपग्रह प्रक्षेपण वाहन (ए० एस० एल० वी०) की उड़ानें सफलतापूर्वक कर लेंगे। इस समय प्रक्षेषण वाहन अपने ठोस ईंधन इंजनों का प्रयोग करके 150 किलोग्राम भारी उपग्रह को 400 किलोमीटर की कक्षा में स्थापित कर सकता है। लेकिन ध्रुवीय वाहन (पी० एस० एल० वी०) का उद्देश्य भारतीय सुदूर संवेदन श्रेणी (आई० आर० एस०) के उपग्रहों को सूर्य की समकालिक कक्षा में स्थापित करना है। भारतीय अंतरिक्ष संगठन के वैज्ञानिकों का कहना है कि सुदूर संवेदन उपग्रहों को छोड़ना इतना जरूरी नहीं है, जितना बड़े बहुददेशीय इन्सेट श्रेणी के उपग्रहों को भू-समकालिक कक्षा में छोड़ना।

चार चरण वाला ध्रुवीय उपग्रह प्रक्षेपण वाहन ठोस तथा द्रव दोनों ही प्रकार के इंजन इस्तेमाल करता है। वास्तव में इस योजना के अंतर्गत महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त हो चुकी। दक्षिण भारत में वालियामल स्थान में द्रव इंजन प्रणाली केन्द्र के निदेशक **डॉ० मुथुनायगम** के अनुसार केन्द्र में भारतीय द्रव इंजन विकसित कर लिया गया है और इसका नाम 'विकास' रखा गया है।

वास्तव में विकास इंजन की तकनीक फ्रांसीसी वाइकिंग इंजन पर आधारित है। यहाँ यह बात दिलचस्प है कि "विकास" के लिए मूल जानकारी फ्रांस से आई, लेकिन इंजन को बनाने और उसके परीक्षण का सारा काम देश में ही पूरा हुआ।

21 नवम्बर 1988 को भारतीय अंतरिक्ष कार्यक्रम को 25 वर्ष पूरे हुए। इस दिन तीन बड़ी उड़ानों की घोषणा की गई—(1) सुदूर संवेदन उपग्रह-1 ए की उड़ान, (2) उपग्रह प्रक्षेपण वाहन ए० एस० एल० वीं०-डी 2 की विकासात्मक उड़ान तथा (3) दूर संचार उपग्रह इन्सेट- 1 सी की उड़ान। अंतरिक्ष आयोग के अध्यक्ष प्रो० यू० आर० राव भारत के अंतरिक्ष कार्यक्रम के प्रति बहुत आशावान हैं। उनका कहना है कि हमारी एक दो असफलताओं से हमारे सारे कार्यक्रल पर छींटाकशी नहीं करनी चाहिए। हम महत्वपूर्ण टेक्नोलॉजी पर काम कर रहे हैं। हम चाहते हैं कि इनके द्वारा हमारे प्रक्षेपण वाहनों पर खर्च कम हो जाए। वे कहते हैं—"हमें आगे प्रयोग करने से कोई नहीं रोक सकता। अपना अंतरिक्ष कार्यक्रम आगे ले जाने से लिए हम वचनबद्ध हैं। हमने अपनी अंतरिक्ष योजनाओं का एक दशक का कार्यक्रम बनाया है। हमने सुझाव दिया है कि भविष्य में 20 प्रतिशत बजट अनुसंधान और विकास के लिए निर्धारित किया जाए आज जो अनुसंधान है वह आठ-दस वर्ष में हमारी कार्य प्रणाली बन जाती है। हमें यही बात आत्मनिर्भरता की ओर ले जाएगी।" ☐☐

(इस्वा फीचर्स)

भारी धातुयें और मृदा-प्रदूषण | दिनेश मणि

मृदा, पर्यावरण के सभी घटकों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण घटक है। सारे अपशिष्ट पदार्थ जो कि वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण आदि के लिए उत्तरदायी हैं, मृदा को भी प्रदूषित करते हैं। कल-कारखानों से निकलने वाले अपशिष्ट पदार्थों से युक्त जल से सिंचाई करने तथा सघन कृषि के लिये अधिक मात्रा में प्रयुक्त रासायनिक उर्वरकों एवं जीवनाशियों (कीटनाशी, शाकनाशी एवं कवकनाशी आदि) के फलस्वरूप मृदा में भारी धातुओं की मात्रा बढ़ रही है (भारी धातुओं के अन्तर्गत वे तत्व आते हैं जिनका घनत्व 5 से अधिक होता है)। मुख्य भारी धातुयें जो कि अधिकांश उद्योगों द्वारा उत्सर्जित होती हैं निम्न हैं—कैडमियम, क्रोमियम कोबाल्ट, कापर, आयरन, मरकरी, मैंगनीज, मोलिब्डिनम, निकिल, लैड, टिन तथा ज़िक।

कुछ भारी धातुओं जैसे—कापर, आयरन, मैंगनीज जिंक, मोलिब्डिनम तथा कोबाल्ट की सूक्ष्म मात्रा पौधों के लिये आवश्यक होती है। कुछ भारी धातुओं जैसे क्रोमियम, निकिल तथा टिन की सूक्ष्म मात्रा जानवरों के लिये आवश्यक होती है, किन्तु कैडनियम, मरकरी तथा लैड न तो पौधों के लिये आवश्यक हैं और न ही जानवरों के लिए अर्थात् पर्यावरण में इनकी उपस्थिति वनस्पतियों, जीवों एवं स्वयं मनुष्य के लिये हानिकारक होती है।

सारिणी-1

भारी धातुओं की सान्द्रता (माइक्रोग्राम/ग्राम शुष्क पदार्थ)

भारी धातु	थल-मण्डल में[1]	मृदा में[2]		पौधों में[3]
		औसत	परिसर	
कैडमियम	0.2	0.06	0.01—0.7	0.2—0.8
कोबाल्ट	40	8	1—40	0.05—0.5
क्रोमियम	200	100	5—3000	0.2—1.0
कॉपर	70	20	2—100	4—15
आयरन	50,000	38,000	700—550,000	140
मरकरी	0.5	0.03	0.01—0.3	0.015
मैंगनीज	1000	850	100—4000	15—100
मोलिब्डिनम	2.3	2	0.2—5	1—10
निकिल	100	40	10—1000	1
लेड	16	10	2—200	0.1—10
टिन	40	10	2—200	0.3
ज़िक	80	50	10—300	8—100

1—गोल्डस्मिट, 1958 2—बोवैन, 1966 3—अलाये, 1968

सारिणी-2

प्रमुख भारी धातुओं की विषाक्तता

भारी धातु	विषाक्तता स्तर	भारी धातु	विषाक्तता स्तर
क्रोमियम	निम्न	कैडमियम	मध्यम से उच्च
निकिल	उच्च	मरकरी	निम्न से उच्च
ज़िक	मध्यम	लेड	उच्च

शोध छात्र, शीलाधर मृदा-विज्ञान संस्थान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सारिणी-3

विभिन्न भारी धातुयें एवं इनकी अधिकतम स्वीकार्य सान्द्रता

भारी धातु	अधिकतम स्वीकार्य सान्द्रता मि० ग्रा०/लीटर
कैडमियम (Cd)	0.01
क्रोमियम (Cr^{6})	4.05
लेड (Pb)	0.05
मरकरी (Hg)	0.005
सेलीनियम (Se)	0.01
सिल्वर (Ag)	0.05
आर्सेनिक (As)	0.1
बेरियम (Ba)	0.1
कॉपर (Cu)	3.0
आयरन (Fe)	0.3
मैंगनीज (Mn)	0.3
ज़िंक (Zn)	15

अपशिष्टों में पायी जाने वाली ये भारी धातुयें मृदा की ऊपरी सतह से लेकर काफी गहराई तक मिट्टी में पहुँच जाती हैं और अन्ततः भूमि-जल को भी प्रदूषित कर देती हैं। (अर्थात् इनकी सान्द्रता विषाक्तता स्तर से अधिक हो जाती है।) मृदा प्रदूषण के लिये घरेलू वाहित मल-जल कम, कल-कारखानों से निकला हुआ वाहित अपाशिष्ट पदार्थ अधिक ज़िम्मेदार है, क्योंकि इसमें विषैले भारी तत्वों की अधिक मात्रा रहती है। ऐसे जल से खेत की सिंचाई करने पर उसमें उगाई गयी फसल में इन विषैले भारी तत्वों का संचय हो जाता है, क्योंकि पौधे अपनी जड़ों द्वारा जिस मृदा-विलयन से पोषक तत्वों का अवशोषण करते हैं उसमें इनकी सान्द्रता बढ़ जाती है। विषैले भारी तत्वयुक्त पौधों के खाने योग्य भागों का जानवरों या मनुष्यों द्वारा उपयोग करने पर ये तत्व शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। इनका दुष्प्रभाव तमाम बीमारियों के रूप में शरीर पर पड़ता है। उदाहरण के लिये कैडमियम की विषाक्तता का दुष्प्रभाव यकृत (लीवर) तथा गुर्दे (किडनी) पर पड़ता है।

भारी धातुओं से मृदा में होने वाले बचाव के लिये कल-कारखानों से निकले हुये अपशिष्ट पदार्थों को सीधे खेती योग्य भूमि या जल स्रोतों में न बहाकर इन्हें एक निश्चित स्थान पर (कृषि के लिये बेकार भूमि) एकत्रित करके इनकी छँटाई, पिसाई, संग्रहण कम्पोस्टिंग, इन्हें सुखाकर एवं खाद मिलाकर उपयोग में लाना चाहिये। ऐसा करने से मृदा को प्रदूषित न होने के साथ भूमि को उपजाऊ भी बनाया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त वाहित मल-जल को भूमि पर बहाने के पूर्व इसका तनूकरण कर लेने से इसमें भारी धातुओं की सान्द्रता कम होती है। इसके लिये उपचार संयन्त्रों की भी व्यवस्था की जा सकती है। □□

फफूदों के बिना-असम्भव है जीना

डॉ० ब्रजेश कुमार राय
कु० अरविन्दर कौर

शायद आप चौंक गए। चौंकिए मत। यह एक कड़वा सच है। यदि प्रकृति ने आज तक फफूंदों या कलकों (**Fungi**) को बनाकर, संजोए कर न रखा होता तो आज पाँच अरब से भी अधिक मनुपुत्रों का भार ढोती हुई धरती जीव-हीन रही होती। यदि जीव होते भी तो वे केवल सूक्ष्म जीव होते, वह भी बहुत कम तादाद में। शायद आप को अभी भी विश्वास नहीं हो रहा है। आइए, देखिए फफूंदों के जन्म लेने से आज तक की कहानी।

वनस्पति विभाग, शासकीय विज्ञान आदर्श महाविद्यालय, जबलपुर—482001 (मध्य प्रदेश)

पृथ्वी आग उगलती गोला थी जो ठंडी होती गई; गुजरती गई अनेक भौतिक, भौगोलिक, भूगर्भिक, रसायनिक परिवर्तनों से जिसके परिणामस्वरूप वह तैयार हुई जीव-धारण करने के लिए। प्राप्त जीवाश्म विज्ञान के सबूतों से यह स्पष्ट है कि सर्वप्रथम जीव की उत्पत्ति समुद्र के जल से हुई थी और पहला एककोशिक जीव आज से लगभग 5,000 मिलियन वर्ष पूर्व रासायनिक क्रियाओं द्वारा उत्पन्न हुआ था। इसी अवस्था से लेकर शुरू हुई एक ऐसी प्रक्रिया जो आज भी हो रही है और भविष्य में भी होती रहेगी। यह क्रिया है—जैव विकास जिसने समय-समय पर पृथ्वी को अलग-अलग जीव दिए हैं। पहले के जीव सरल, एककोशिक थे और आज के जीव जटिल और बहुकोशिक हैं और कल के जीव जटिलतम होंगे। इस जैव विकास ने पृथ्वी को एक लम्बे समय बाद मानव जाति प्रदान की है जो शुरू में तो प्रकृति की गुलाम थी परन्तु अब प्रकृति को ही गुलाम बनाना चाहती है। प्रकृति के परम्परागत चलरहे क्रिया-कलापों से छेड़खानी करने को हमेशा आतुर रहती है यह मानव जाति।

आज से 2,000 मिलियन वर्ष पूर्व 'फफूंदों ने अपने निकटतम रिश्तेदारों यानी जीवाणुओं और नील हरित शैवालों के साथ इस पृथ्वी पर बसेरा डाला था। तब से लेकर आज तक फफूँदों ने पृथ्वी के विभिन्न रूप महसूस किए हैं। शुरू में उत्पन्न हुई फफूँदें अपने ही मरे-अधमरे परिजनों स्वजनों पर अपने भोजन के लिए आश्रित थीं परन्तु समय के साथ-साथ इन्होंने पृथ्वी पर समय-समय पर पदार्पण करते जीवों को भी अपना ग्रास बनाना शुरू किया। कुछ फफूंदे इतनी क्रोधित हुईं कि अन्य जीवों पर जीवित अवस्था में ही आक्रमण बोल दिया और उनके भोज्य पदार्थों पर अधिकार कर लिया। कुछ फफूँदै जो नरम दल की थीं उन्होंने इन नए आए जीवधारियों को अपना ग्रास उस वक्त बनाया जब ये जीव काल के ग्रास हो जाया करते थे। दर असल प्रकृति ने धरती को फफूँदें इसलिए सौंपी थीं कि वे धरती पर सफाई किया करेंगी, सड़ी-गली वस्तुओं को तोड़ेंगी और उन तत्वों को मुक्त करेंगी जिनसे मिलकर जीवों की उत्पत्ति होती है।

कितनी कर्त्तव्यपरायण हैं ये फफूँदें। अपने जन्म से लेकर आज तक, सौंपे गए अपने कार्य को कितने मुस्तैदी से करती हैं। प्लास्टिक जैसी अमर कही जाने वाली वस्तुओं को भी ये धीरे-धीरे नष्ट कर डालती हैं। इनकी इस धैर्यता की दाद देनी होगी। इसके अतिरिक्त ये फफूँदें अपने सूक्ष्मजीवी परिवार के साथ भी ताल-मेल बनाए रखती हैं। आपस में मिल-जुलकर ये सभी जीव रहते हैं, भोजन बाँट-बाँट कर खाते हैं। हालाँकि इनमें भी कुछ नट-खट होते हैं।

समय-समय पर पृथ्वी ने कई करवटें लीं हैं। हर करवट से जीव-जगत् में भारी तब्दीली आई है। कुछ नये पेड़ पौधे और जन्तु आये हैं और कुछ पुराने पेड़-पौधे जन्तु सहित समय की गोद में समा गए हैं। पृथ्वी की करवटों ने फफूँदों पर भी असर डाला लेकिन इन फफूँदों ने बदलते वातावरण के साथ हर पल जीवित रहने के लिए कोशिश की तथा अपने कुछ सदस्यों की समय-समय पर आहुति दे-देकर अपने को पृथ्वी पर हमेशा बनाये रखा।

जब बड़े पेड़-पौधों ने पृथ्वी पर पनपना शुरू किया तो फफूँदों ने भी अपने-अपने कार्य क्षेत्र बाँट लिए। फफूँदों का एक समुदाय जीवित पेड़-पौधों की पत्तियों, डालियों, शाखाओं, तनों पर आक्रमण कर रोग उत्पन्न करने लगे तथा उन्हें काल के गाल में सौंपने लगे। फफूँदों के दूसरे समुदाय ने इन काल ग्रसित जीवों को अपना भोजन बनाया तथा पृथ्वी को भेंट में एक ह्यूमस की मोटी परत दी। प्रकृति भी खुश हुई और 230 मिलियन वर्ष पूर्व से लेकर 135 मिलियन वर्ष पूर्व तक पृथ्वी को भारी नग्नबीजी पेड़-पौधों के जंगल भेंट में दिए। इस बढ़ती हुई वन-संपदा ने फफूँदों के क्रिया-कलापों में भी परिवर्तन किया।

कुछ फफूँदों ने इन पेड़-पौधों की जड़ों के साथ रहने का फैसला किया। तय यह हुआ कि फफूँदें इन जड़ों को जल तथा खनिज लवण देंगी और जड़ें इन फफूँदों को पत्तियों द्वारा निर्मित और फ्लोएम ऊत्तक

द्वारा पहुँचाए गए भोज्य पदार्थों का कुछ अंश देंगी। वनस्पति विज्ञान की भाषा में इस अवस्था को 'माइकोराइज़ा' कहते हैं। **पाइनस (Pinus)** वृक्ष की जड़ों में यह तथ्य आज भी दृष्टिगोचर होता है। समय ने पेड़-पौधों को इतना आश्रित कर दिया है कि ये वृक्ष बिना अपनी फफूँदों के जीवित नहीं रह सकते, जैसे **मोनोट्रोपा** (Monotropa)।

आप सोचते होंगे कि ये फफूँदें हमेशा दूसरों के द्वारा निर्मित भोज्य पदार्थों पर ही क्यों आश्रित रहती हैं? वास्तव में प्रकृति ने इन्हें 'क्लोरोफिल' नामक चूल्हा नहीं दिया जिससे ये अपना भोज्य पदार्थ निर्मित कर सकें। प्रकृति ने क्लोरोफिल केवल हरे पेड़-पौधों को ही उपहार में दिया है चाहे वे शैवाल, हों या ब्रायोफाइट, टेरिडोफाइट, जिम्नोस्पर्म अथवा एन्जियोस्पर्म हों। दरअसल यह वनस्पतियों के विकसित होने का क्रम है। फफूँदों का विकास तो जन्तुओं के पूर्वज यानि प्रोटोज़ोआ (**Protozoa**) के खानदान से हुआ है फिर प्रकृति इन्हें क्लोरोफिल प्रदान कर जन्तु जगत् के साथ पक्षपात क्यों करे?

विभिन्न युगों के अन्तर्गत विकास का अध्ययन करने से पता चलता है कि मानव विकास प्लीस्टोसीन युग में अर्थात् आज से **1-5** मिलियन वर्ष पूर्व हुआ था। अपने पेट की क्षुधा को मिटाने के लिए आदि मानव ने जंगलों में घूमकर उस वक्त की वनस्पतियों के फल-फूल, कन्द-मूल आदि खाए। समय के साथ-साथ सभ्यता की दौड़ ने मानव को वनस्पतियों पर आधारित कर दिया।

ग्रीस और रोम की सभ्यता से मालूम चलता है कि वे फफूँदों की एक किस्म **मशरूम** को खाने के लिए इस्तेमाल किया करते थे। चीन में कई शताब्दियों से फफूँदों को खाद्य तथा दवा के रूप में प्रयोग किया जाता रहा है। **गैस्पर्ड बुहीन** ने फफूँदों की 100 जातियाँ खोजीं और उनमें से अधिकांश का प्रयोग दवा के रूप में अपने जीवन-काल में किया। यहीं से शुरू होता है मानव क्षेत्र में फफूँदों की उपयोगिता। फफूँदों का अध्ययन 'माइकोलॉजी' कहलाता है। समय-समय पर अनेक माइकोलॉजिस्टों (कवकविदों) ने अपना सम्पूर्ण जीवन फफूँदों के विभिन्न रूपों का अध्ययन कर मानव जाति के हित में लगाया है।

माइकोलॉजी के क्षेत्र में निरन्तर किए जा रहे अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि जहाँ कुछ फफूँदें हानिकारक हैं, फसलों, जानवारों और मानव में रोग उत्पन्न करती हैं वहीं कुछ फफूँदें लाभदायक भी हैं। शराब बनाने से लेकर दवाईयों के निर्माण में फफूँदें अपना अमूल्य योगदान देती हैं। **पेनिसिलिन, स्ट्रेप्टोमाइसिन, ऐरोमाइसिन, टेरामाइसिन** जैसी अनेक, प्रतिदिन हमारी स्वास्थ्य रक्षा में जुड़ीं, दवाईयों की जन्मदाता ये फफूँदें ही हैं। मशरूम के रूप में, या गुच्छी (मॉरकेला) के रूप में फफूँदें काफी अधिक मात्रा में आर्थिक लाभ देते हुए हमें पौष्टिकता प्रदान करती हैं।

हाल के वर्षों में कीड़े-मकोड़ों की फफूँदों के द्वारा नष्ट करने से संबंधित शोध-कार्य चल रहे हैं। पचास से भी अधिक ऐसी फफूँदें खोजी जा चुकी हैं जो कि कीड़े-मकोड़ों को नष्ट कर डालती हैं और जिनसे हमारी फसलों को भारी हानि पहुँचती है। फफूँदें चर्म उद्योग से लेकर आनुवंशिकी के अध्ययन-कार्य तक हमारी सेवा करती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि फफूँदें जो प्रायः सूक्ष्म होती हैं, हमारे रोज़मर्रा के जीवन में कितनी उपयोगी और लाभप्रद हैं। इनके अभाव में हमारा जीवन संकट में पड़ सकता है। यदि फफूँदें आज नहीं होतीं तो मृदा की उर्वरता न होती, पेड़-पौधे न होते, ऑक्सीजन न होती, सड़ती-गलती वस्तुओं से जहरीली गैसें निकलती और सभी बहुकोशिक जीव समाप्त हो जाते। कुछ समय के लिए एक कोशिक सूक्ष्मजीव होते और हमारी इस धरती पर जीव-जन्तुओं का विकास न हो पाता। फिर कैसा स्वरूप होता इस वसुन्धरा का?

अतः हमें सचेत रहते हुए, दूरदर्शिता तथा संयम से प्रकृति द्वारा विरासत में मिली इन फफूँदों का अध्ययन कर इनकी उपयोगिता को बढ़ाना है। शासन को चाहिए कि इन नन्हीं-नन्हीं वनस्पतियों से संबंधित शोध-कार्यों को अधिक से अधिक आर्थिक सहायता प्रदान करें ताकि प्रकृति का संतुलन बना रहे। ▣□

विकिरण द्वारा खाद्य पदार्थों का परिरक्षण

डॉ० अशोक कुमार गुप्ता

विकिरण शब्द से अनायास ही मन में एक भय-सा उत्पन्न हो जाता है। पर अब विकिरण के अनेक मानवोपयोगी रूप भी सामने आ रहे हैं। वैज्ञानिकों को विकिरण की सहायता से खाद्य पदार्थों के परिरक्षण में अभूतपूर्व सफलता मिली है। विकिरण वास्तव में एक प्रकार की आण्विक ऊर्जा है और इस आण्विक ऊर्जा को फलों, सब्जियों, अनाजों आदि को परिरक्षित कर अधिक समय तक ताजा व गुणवत्ता बरकरार रखी जा सकती है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से फल व सब्जियों के परिरक्षण की उपयोगिता समझ में आ गई थी और तभी से इन्हें लम्बी अवधि के लिए परिरक्षित करने के अनेक उपायों पर शोध-कार्य चल रहे हैं। समय-समय पर सब्जियों एवं फलों के परिरक्षण में अनेक तकनीकों का विकास हुआ, जिससे फलों को एक स्थान से दूसरे स्थान भेजने की समस्या कुछ हद तक हल हो गई। इनमें निर्जलीकरण, नमक व अनेक परिरक्षक रासायनिक पदार्थों का उपयोग, तथा हिमीकरण अत्यन्त सफल हुआ। यही नहीं, इससे सब्जियों और फलों के पकने के समय इन पर आक्रमण करने वाले अनेक रोगों से रक्षा के भी उपाय मिल गये हैं। विकिरण द्वारा परिरक्षण किये जाने से सब्जियों और फलों के रंग, सुगन्ध, बनावट, तथा उनकी गुणवत्ता में कोई परिवर्तन नहीं होता और वे ताजा ही दिखते हैं। फसल कटने के बाद समुचित भण्डारण व्यवस्था न होने तथा विपरीत वातावरणीय प्रभाव के कारण खाद्य-पदार्थों की भंडारण क्षमता कम हो जाती है, जिससे किसानों को बहुत हानि होती है। मत्स्य, कृषि-उत्पाद तथा अन्य तैयार खाद्य सामग्रियों की विकिरण द्वारा भंडारण क्षमता बढ़ने तथा उन्हें लम्बे समय के लिए परिरक्षित करने में कृषकों एवं उत्पादकों को होने वाली क्षति से छुटकारा मिलने की संभावना बढ़ी है। यही नहीं, इस तकनीकी से अपने उत्पाद को परिरक्षित कर कृषकों ने निर्यात करने में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है, जबकि पहले उन्हें अपने उत्पाद कम मूल्य पर बेचने पड़ते थे। आज इस नवीन परिरक्षण विधि द्वारा ताज़े खाद्य-पदार्थों को कृषकों को सुदूर स्थानों तक भेज कर अच्छे दाम प्राप्त करने में सफलता मिल चुकी है।

भारतवर्ष में आलू एवं प्याज सबसे अधिक मात्रा में पैदा होता है। इससे किसान को न केवल नगद पैसा मिलता है वरन् इसके निर्यात द्वारा देश को भी विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है। प्याज और आलू में अंकुर निकल आने से इसकी भण्डारण क्षमता कम हो जाती है। अतएव इनकी गुणवत्ता में कमी आते ही कृषक को बहुत कम मूल्य मिल पाते हैं। इनमें अंकुरण रोकने के लिये 15 किलो–रैड्स से कम विकिरण देकर इनके भण्डारण को अधिक समय तक के लिये सुनिश्चित किया जा सकता है। यही नहीं, प्याज व आलू में अंकुरण के अलावा उनमें निर्जलीकरण से होने वाली क्षति को रोका जा सकता है। उन्नतशील प्रजातियों के उपयोग तथा कीट व रोगरोधी किस्मों के विकास से पिछले कई वर्षों से आलू व प्याज की पैदावार में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। पर ऐसे पैदावार की भण्डारण क्षमता सामान्यतया कम देखी गई है। रासायनिक तरीकों से इनमें अंकुरण रोकना अत्यन्त कठिन तथा खर्चीला कार्य है। और तो और प्रभावी भी कम होता है। विकिरण द्वारा इनके अंकुरण को रोकना सरल तथा अत्यन्त प्रभावकारी है। साथ ही इनमें 'कन्द-माथ' कीट का प्रकोप भी कम हो जाता है। यह कीट आलू के भण्डारण में अत्यन्त हानिकारक है। अतः आलू, प्याज, लहसुन, अदरक तथा अन्य कन्द सब्जियों में अंकुरण से होने वाली क्षति को विकिरण द्वारा सफलतापूर्वक रोका जा सकता है। अभी इस विधि को

कृषि रसायन विभाग, इलाहाबाद एग्रीकल्चर इंस्टीट्यूट, नैनी, इलाहाबाद

प्रचलित होना है। परीक्षणों द्वारा यह मालूम हो गया है कि निर्धारित समय के पश्चात् विकिरण से कोई हानि नहीं है तथा विकिरण द्वारा परिरक्षित सब्जियों का लगातार उपयोग करते रहने से भी शरीर में विकिरण का कोई दूरगामी प्रभाव भी नहीं होता।

अनेक फल जैसे आम, केला, अमरूद, सेब, संतरा, अंगूर, नाशपाती, सफेदा के शीघ्र पकने के कारण उनके स्थानान्तरण तथा भण्डारण में कई तरह की समस्यायें उत्पन्न होती हैं। सर्वाधिक उत्पादन के समय इनको निर्यात कर या सुदूर स्थानों तक भेज कर वांछित मूल्य नहीं प्राप्त हो पाता है और कम मूल्य में ही बेंच कर संतोष करना पड़ता है। इससे हानि तो उठानी ही पड़ती है। इस क्षति को अत्यन्त कम विकिरण अर्थात् 50 किलो रैड से भी कम द्वारा इन फलों के पकने में विलम्ब कर, रोका जा सकता है। विकिरण के प्रयोग से इनको एक-दो सप्ताह तक पकने से रोका जा सकता है। यही नहीं, आम तौर से अविकरित ये फल पकते समय कई कीटों व रोगाणुओं के शिकार हो जाते हैं, जिससे इनकी क्षति दर बढ़ जाती है या इनकी गुणवत्ता घट जाती है। गामा-विकिरण द्वारा इन्हें कीटों, कवकों, व जीवाणुओं के आक्रमण से बचाया जा सकता है।

भारत आज खाद्यान्नों के उत्पादन में आत्मनिर्भर हो गया है साथ ही वह अन्य देशों को खाद्यान्नों के आयात की भी क्षमता रखता है। अन्न का भण्डारण ठीक न होने से अभी भी 10 प्रतिशत से अधिक अन्न कीड़ों द्वारा नष्ट हो जाता है। कीड़ों से इन्हें बचाने के लिए कीटनाशी रसायनों व धूमकों का बार-बार प्रयोग करना पड़ता है। क्योंकि इन रसायनों के उपयोग से विकसित कीट तो नष्ट हो जाते हैं पर अंडों पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता और इसी कारण बाद में अण्डों से विकसित कीटों को नष्ट करने के लिए इन रसायनों का पुनः प्रयोग आवश्यक होता है। अपर्याप्त भण्डारण सुविधा के कारण कीड़ों से क्षति होती है। छोटा किसान तो अपनी वर्ष भर की आवश्यक खाद्यान्न की मात्रा का भी ठीक से भण्डारण नहीं कर पाता। विकिरण के प्रयोग से खाद्यान्न पूर्णतया कीटमुक्त तथा जीवाणुमुक्त हो जाता है और कीटों के अंडे भी मर जाते हैं। इस विधि द्वारा भण्डारण करने से खाद्यान्नों की भण्डारण क्षमता कई गुनी बढ़ जाती है। सरकारी गोदामों में तथा 'बफर स्टॉक' गोदामों में इस विधि द्वारा सफलता से अन्न को सुरक्षित किया जा सकता है इसी विकिरण तकनीकी द्वारा आटा, सूजी, मैदा, बेसन, दलिया आदि की भी कीटों से रक्षा की जा सकती है, जिससे इनके 'पैकेट' अधिक दिनों तक सुरक्षित रह सकें।

भारत में लगभग 5000 किलोमीटर समुद्रीतटों पर बसे अधिकांश लोग मत्स्य-व्यवसाय में लगे हैं। मांसाहारी खाद्यों में मत्स्य का प्रमुख स्थान है। पर समुद्रीतटों पर बसे लोगों में से 70 प्रतिशत व्यक्तियों की यह मुख्य भोज्य सामाग्री है। मत्स्य एक अच्छा प्रोटीन स्रोत है व पौष्टिक आहार भी। शीघ्र ही सड़ कर खराब होने के कारण मछलियों को दूर तक नहीं भेजा जा सकता है। जीवाणु द्वारा उत्पन्न सड़न को 200 किलो रैड के विकिरण द्वारा रोका जा सकता है तथा विकिरण द्वारा परिरक्षित मछलियों को लगभग दो सप्ताह तक सड़ने से रोका जा सकता है। मछलियों से बने स्वादिष्ट व्यञ्जनों को हिमीकरण विधि द्वारा डिब्बों में बन्द करने के पूर्व विकिरत करने से इन व्यंजनों को काफी लम्बे समय तक के लिए सड़ने से रोका जा सकता है तथा सुदूर स्थानों तक सरलता से भेजा जा सकता है। डिब्बों में रखे मत्स्य खाद्य व मत्स्य व्यंजन महीनों तक अपरिवर्तित व सुरक्षित रहते हैं।

भारत मसालों व मेवों का सबसे बड़ा उत्पादक देश है। यहाँ से मसालों का बहुत अधिक निर्यात होता है। कीट व अनेक रोगों से ग्रसित होने के कारण इनकी गुणवता में कमी आ जाती है, जिससे विदेशों में ये बिक नहीं पाते तथा निर्यातकर्ताओं को बहुत क्षति उठानी पड़ती है। हल्दी, मिर्चा, इलायची, जीरा, धनिया, सौंफ, लौंग, काजू, मखाना, पिस्ता, बादाम

आदि का संरक्षण रासायनिक धूमकों द्वारा ठीक से नहीं हो पाता। इनके स्वाद व सुगन्ध में भी अन्तर आ जाने से इसकी गुणवता में कमी हो जाती है। एक एम-रैड से भी गामा विकिरण द्वारा इन मसालों व मेवों को अधिक दिनों तक सुरक्षित रक्खा जा सकता है। इस तकनीकी द्वारा परिरक्षित करने से इनके अन्दर प्रवेश कर गये कीटों के अण्डे व जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। फिर तो ये परिरक्षित मसाले और मेवे दूर-दूर के स्थानों को बिना खराब हुए भेजे जा सकते हैं।

यूँ तो विकिरण द्वारा खाद्य-पदार्थों को परिरक्षित करना सरल व लाभकारी प्रतीत होता है पर इस तकनीकी से उत्पन्न होने वाली हानियों को भी समझ लेना बहुत जरूरी है। विकिरण का जीवों पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हानिकारक प्रभाव पड़ता है। अतएव इस विधि द्वारा खाद्य-पदार्थों को परिरक्षित करने से पूर्व वैज्ञानिकों का चिंतित होना स्वाभाविक था। अतः इस ओर उन्होंने विशेष ध्यान दिया। विकिरण से परिरक्षित खाद्य-पदार्थों को बाजार में भेजने से पूर्व राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक परीक्षण किये गये। इनके दूरगामी प्रभावों के जैविक परीक्षण भी विभिन्न प्रयोगशालाओं में किये गये। 'खाद्य एवं कृषि संगठन' तथा 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' के संयुक्त तत्वावधान में विशेषज्ञों के दलों ने अनेक परीक्षणों के बाद संतुष्ट होने पर ही इस परिरक्षण तकनीकी की स्वीकृति दी। खाद्य सामाग्री में एक एम-रैड की विकिरण मात्रा मनुष्यों के लिए सुरक्षित मानी गयी है। मानव शरीर पर इसका कोई विषाक्त परिणाम नहीं देखा गया है। विकिरण की इस मात्रा से बहुत कम मात्रा में ही खाद्य सामाग्री का परिरक्षण किया जाता है। अतः विकिरण द्वारा मनुष्यों के स्वास्थ्य पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं देखा गया है। यह विधि एक सुरक्षित विधि है।

अब तक तीस देशों ने विभिन्न 40 से अधिक खाद्य सामग्रिओं में विकिरण की इस भौतिक परिरक्षण पद्धति को मान्यता प्रदान कर दी है। पर डिब्बों या बक्सों पर विकिरण की मात्रा, दिनांक आदि का स्पष्ट उल्लेख आवश्यक है।

भारत में प्याज, आलू, हिमीकृत समुद्री खाद्य सामाग्री, मसालों आदि को विकिरण द्वारा परिरक्षित करने की मान्यता प्राप्त है। 'भाभा परमाणु शोध संस्थान' (बम्बई) में इस विधि द्वारा खाद्य-पदार्थों को परिरक्षित करने की पूर्ण सुविधायें उपलब्ध हैं। वहाँ अनेक छोटे यन्त्रों एवं इस तकनीकी की जानकारी भी दी जाती है। निर्यात करने वाली कम्पनियों ने इस पद्धति द्वारा परिरक्षण करने के प्रति अपनी रुचि दिखाई है। दुग्ध उत्पादों जैसे दूध, पनीर खोआ, मक्खन, आदि को इस तकनीकी द्वारा परिरक्षित करने पर शोध-कार्य चल रहा है। कई देशों ने विकिरण द्वारा परिरक्षित पके व्यंजनों (बेक्ड प्रोडक्ट्स) को खुले बाजारों में बेचना आरम्भ भी कर दिया है।

विकिरण द्वारा परिरक्षण तकनीकी के लाभ अनेक हैं। पर भारत में इस तकनीकी का विकास करने से पूर्व विकिरण सम्बन्धी पूरी जानकारी आवश्यक है।

भारत की आर्थिक दशा सुधारने के लिए इस बात की नितांत आवश्यकता है कि इस विधि से सब्जियों, फलों, मसालों, मछलियों, खाद्यान्नों और अनेक प्रकार के व्यंजनों के परिरक्षण को प्रोत्साहन दिया जाये। यह समय की पुकार है। □□

एडमण्ड टेलर व्हिटेकर

डॉ० वाई० पी० वार्ष्णेय

श्री एडमंड टेलर व्हिटेकर का जन्म 24 अक्टूबर 1873 को इंग्लैंड में लंकाशायर स्थित बर्क डेल नामक स्थान में हुआ था। अपनी प्रारम्भिक शिक्षा मैनचेस्टर के ग्रामर स्कूल से सफलतापूर्वक पूरी करने पर उन्हें अध्ययन हेतु ट्रिनिटी कॉलेज, कैम्ब्रिज के लिए छात्र-वृत्ति मिल गई। वहीं उन्हें 1895 में द्वितीय 'रेंगलर पुरस्कार' और 1897 में प्रथम 'स्मिथ पुरस्कार' प्राप्त हुआ।

वर्ष 1906 में ई० टी० व्हिटेकर को डबलिन विश्वविद्यालय में खगोल विज्ञान के प्रोफेसर की नियुक्ति मिल गई, इसी के साथ उन्हें 'आयरलैंड के राजकीय खगोल वैज्ञानिक' की उपाधि से भी अलंकृत किया गया। यहाँ उनके शिष्यों में **एमॉ डी वॅलेरा** भी थे, जो आगे चलकर आयरलैंड के प्रेसीडेंट बने। कुछ समय बाद 1912 में उन्होंने प्रोफेसर के रूप में एडिनबरा विश्वविद्यालय में गणित विभाग का पद भार सँभाला और 1946 में अपनी सेवानिवृत्ति के क्षणों तक उसी पद पर आसीन रहे।

श्री व्हिटेकर बहुमुखी प्रतिभा और वैविध्यापूर्ण व्यक्तित्व के स्वामी थे। गणित और सैद्धान्तिक भौतिकी के क्षेत्र में उनके शोध-पत्र प्रकाशित हुए। उनके द्वारा संपादित शोधकार्यों में 'विभव सिद्धान्त' (Potential Theory) और 'विशिष्ट फलन' (Special Functions) पर उनका कार्य विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने लाप्लास के त्रिआयामी समीकरण का एक अति सामान्य समाधान प्रस्तुत किया जो मूलबिन्दु पर विश्लेषणात्मक है। उन्होंने 'विचित्रता संगम' (Confluence of two singularities) की विधि से हाइपरजियोमेट्रिक समीकरण से प्राप्त अवकलन समीकरण (Differencial Equation) का भी व्यापक अध्ययन किया। इसी के फलस्वरूप उन्होंने Wk, m(z)। फलन प्रस्तुत किये जो अब **'व्हिटेकर फलन'** के नाम से विख्यात है। उन्होंने बीजगणित और संख्यात्मक विश्लेषण (Numerical Analysis) की कुछ विशिष्ट समस्याओं पर भी शोध-पत्र तैयार किए। व्हिटेकर को सापेक्षता के सिद्धान्त में गहरी रुचि थी और 1921 के बाद के वर्षों में उन्होंने तत्सम्बन्धी विषयों पर दस शोधपत्र प्रकाशित करवाये।

व्हिटेकर ने पुस्तकों का भी प्रणयन किया। उनकी 1902 में प्रकाशित 'माडर्न एनालिसिस' अंग्रेज़ी भाषा की प्रथम पुस्तक थी जिसमें सम्मिश्र चर के फलनों (functions of complex variable) के सिद्धान्तों की परिचयात्मक प्रस्तुति थी। उनकी एक अन्य रचना 'ट्रीटिस ऑन एनालिटिकल डाइनैमिक्स ऑव पार्टिकिल्स एण्ड रिजिड बॉडीज़' (1904) अपने विषय की मानक पुस्तक मानी जाती है। तथापि उनकी विशिष्टतम रचना 'द हिस्ट्री ऑव थियरीज़ ऑव ईथर एण्ड इलेक्ट्रिसिटी' मानी जाती है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन 1910 में हुआ था। वर्ष 1951 में उक्त पुस्तक का एक संवर्धित संस्करण प्रकाशित हुआ जिसमें उसी शीर्षक से एक नया प्रबन्ध भी संयुक्त था। इसमें उन्नीसवीं शती के अन्त तक के इलेक्ट्रिसिटी के इतिहास का वर्णन है। इसका दूसरा भाग 1953 में प्रकाश में आया जिसमें 1900 से 1926 के मध्य हुई प्रगति, विशेषकर सापेक्षता और क्वांटम सिद्धान्तों, की व्याख्या है। पुस्तक के दोनों खंड अपने विषय की अभूतपूर्व और अद्वितीय कृतियाँ हैं। इस पुस्तक में वैद्युत-चुंबकत्व, आणविक संरचना, और क्वांटम सिद्धान्तों के सुदूर प्रारम्भ से लेकर 1926 तक के विकास का संपूर्ण, सुव्यवस्थित और विश्लेषणात्मक व्याख्या प्राप्त होती है।

प्रस्तुतिकरण की स्पष्टता, विषय की व्यापकता

प्रोफेसर, भौतिकी विभाग, ओटावा विश्वविद्यालय, ओटावा, कनाडा

और सूक्ष्म विश्लेषणों के कारण यह रचना भौतिक शोधपरक कार्यों की समकक्षता और उन्हीं जैसा प्रभाव तथा प्रमाणिकता प्राप्त करती है। उक्त रचना की 'साइंटिफिक अमेरिकन' में समालोचना करते हुए विख्यात भौतिकविद् **एफ० जे० डाइसन** ने लिखा है—"मेरे विचार से यह् संभव है कि इससे अधिक विद्वतापूर्ण और प्रामाणिक कृति हमें इस काल के इतिहास पर दूसरी कभी नहीं मिल सकती है।" कुछ कारणों से परवर्ती सिद्धान्तों सम्बन्धी पुस्तक के तीसरे खंड के विषय में बनाई गई योजना कभी पूरी न हो सकी।

ह्विटेकर को इस शताब्दी के महानतम गणितज्ञों की श्रेणी में रखा जाता है। अपनी प्रतिभा के अनुरूप उन्होंने अनेक पुरस्कार और अलंकरण प्राप्त किए। 1905 में ही उन्होंने 'रायल सोसाइटी' की सदस्यता प्राप्त कर ली थी। आगे चलकर क्रमशः 1931 और 1954 में उन्हें सोसायटी के 'सिलवेस्टर' और 'कॉपली' पदकों से सम्मानित किया गया। 1929 से 1944 की अवधि में वे एडिनबरा की रॉयल सासाइटी के अध्यक्ष भी रहे। वे अन्य अनेक विद्वत् संस्थाओं द्वारा भी सम्मानित किए गये। इसके अतिरिक्त 'इडियन मैथमेटिकल सोसाइटी' (1924) और 'बनारस मैथमेटिकल सोसाइटी' (1920) सहित अनेक संस्थाओं से सम्मानित या विदेशी सदस्य के रूप में भी आप जुड़े रहे। छः विश्वविद्यालयों ने उन्हें अपनी मानद उपाधियों से विभूषित किया था।

श्री ह्विटेकर ने 1901 में **मेरी ब्वायड** नामक महिला से विवाह किया था। उनके यहाँ तीन पुत्र और दो कन्याओं ने जन्म लिया। अपने पूरे जीवन भर श्री ह्विटेकर एक धार्मिक श्रद्धालु व्यक्ति बने रहे। मूलतः वे एक प्रोटेस्टेंट थे, पर आगे चलकर 1930 में वे रोमन कैथोलिक संप्रदाय से जुड़ गये। 24 मार्च 19 6 को स्काटलैंड के एडिबनरा नामक स्थान में उनकी मृत्यु हो गई। ☐☐

(रूपान्तर : मंजुलिका लक्ष्मी)

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक : धातु लोक की सैर
लेखक : डॉ० शिवगोपाल मिश्र
प्रकाशक : प्रकाशन विभाग
: सूचना और प्रसारण मंत्रालय
: भारत सरकार, पटियाला हाउस
: नई दिल्ली—110001
मूल्य : 9.00 रुपये
पृष्ठ : 78+6

सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, के प्रकाशन विभाग द्वारा 'रोचक विज्ञान माला' के अन्तर्गत प्रकाशित 'धातु लोक की सैर' (प्रथम पुष्प) पुस्तक अपनी उद्देश्य पूर्ति में पूर्णरूप से सफल है। विभिन्न धातुओं के परिचय, वर्गीकरण, एवं अन्य आवश्यक विवरण से युक्त इस पुस्तक की भाषा रोचक तथा सारगर्भित है। धातुओं की खोज के विषय में ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक प्रमाणों की प्रस्तुति बहुत बुद्धिमत्ता के साथ की गयी है। पुस्तक के पढ़नेवाले चाहे बच्चे हों या वयस्क, किसी को भी बिल्कुल ऊब नहीं महसूस होगी। निःसन्देह, रसायनशास्त्र जैसे विषय को रोचक ढँग से प्रस्तुत करने का **डॉ० मिश्र** का यह प्रयास सराहनीय है। पुस्तक की विषयवस्तु जीवन्त है, सुस्पष्ट है। बाल-विज्ञान-साहित्य के अभाव को देखते हुये इस पुस्तक की बहुत उपयोगिता है। मुख पृष्ठ आकर्षक और मूल्य उचित है। लेखक और प्रकाशक को साधुवाद।

—दिनेश मणि

पुस्तकों की सुरक्षा

7 मार्च 1989 को न्यूयार्क शहर के कई दर्जन लेखकों और प्रकाशकों ने एक अनुबन्ध पर हस्ताक्षर किये, जिसके द्वारा पुस्तकों के अधिक समय तक सुरक्षित रखने की गारण्टी दी गई थी। वक्तव्य में इस बात की प्रतिज्ञा थी कि अच्छी कड़ी जिल्द वाली पुस्तकों के लिए अम्लमुक्त कागज का ही इस्तेमाल किया जायेगा (यदि ऐसा कागज उपलब्ध हो)।

बढ़ती साक्षरता के कारण वर्ष 1850 में प्रकाशक सूती और लीनेन चीथड़ों से बनाये गये कागज के सम्पूर्ण उपलब्ध भण्डार का उपयोग करने पर बाध्य हो गये। उस समय से संयुक्त राज्य अमेरिका और अधिकांश पश्चिमी देशों द्वारा लकड़ी की लुगदी से बनाये गये कागज का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार के कागज के निर्माण में अम्ल का इस्तेमाल होने के कारण कुछ ही दशकों में कागज खस्ताहाल, भूरा और भुरभुरा-हो जाता है। इसका परिणाम यह है कि 1850 के आस-पास मुद्रित पुस्तकें अब बहुत खराब दशा में पहुँच चुकी हैं। कागज सम्बन्धी संकट की यह सूचना 1950 के दशक में पुराविज्ञानी **विलियम जे० बारो** द्वारा जनता के समाने लायी गई।

पुस्तकालयों में सड़ती पुस्तकों की दशा गम्भीर समस्या उपस्थित करती है। 'द न्यूयार्क टाइम्स' की एक सूचना के अनुसार 'न्यूयार्क पब्लिक लायब्रेरी' में 2.5 मिलियन किताबें आलमारियों में खस्ताहाल पड़ी हैं। 1989 में इस पुस्तकालय की खराब हो रही पुस्तकों को सुरक्षित रखने के लिए उनकी 'माइक्रोफिल्म' बनाने का अनुमानित व्यय 3 मिलियन डॉलर था।

इधर के वर्षों में कागज निर्माताओं ने अधिक क्षारीय रसायनों का इस्तेमाल शुरू कर दिया है। इससे अम्लता घटी है और कागज की गुणवत्ता बढ़ी है। 1988 में अमेरिका में 25% कागज अम्लमुक्त था। ऐसी आशा है कि 1990 तक यह प्रतिशत बढ़कर दो गुना हो जावेगा।

('द रोटेरियन' जून 1989 से साभार)

परिषद् का पृष्ठ

नवनिर्वाचित सभापति का स्वागत एवं अन्तरंग सभा की बैठक की कार्यवाही

(1) विज्ञान परिषद् के नवनिर्वाचित सभापति **श्री गजानन्द आर्य** के स्वागतार्थ दिनांक 15.12.89 को अपराह्न 3 बजे परिषद् के प्रेक्षागृह में एक स्वागत समारोह का आयोजन **स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती** की अध्यक्षता में किया गया, जिसमें शहर के गणमान्य व्यक्तियों ने भाग लिया। समारोह के प्रारम्भ में परिषद् के प्रधानमन्त्री **प्रो० हनुमान प्रसाद तिवारी** ने सभापति महोदय का औपचारिक स्वागत किया और उपस्थित महानुभावों को विज्ञान परिषद् की गत 76 वर्ष की गतिविधियों और उपलब्धियों से परिचित कराया। **डॉ० शिवगोपाल मिश्र** ने अपने उदबोधन में परिषद् की आर्थिक स्थित का चित्रण प्रस्तुत किया और जोर दिया कि आर्थिक स्थिति का को सुदृढ़ बनाने हेतु नवनिर्वाचित कार्यकारिणी समिति को गम्भीरता से विचार कर निदान ढूँढ़ना होगा।

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती ने यह कहा कि परिषद् से एक बार जो जुड़ जाता है, वह परिषद् का होकर रह जाता है और सभापति तो एक बार चुने जाने के बाद अलग ही नहीं हो सकता, क्योंकि यदि वह त्याग-पत्र दे दें, या छोड़ दें तो भी आजीवन पदेन उपसभापति रहते हैं। स्वामी जी ने परिषद् की कार्य प्रणाली में सुधार और 'विज्ञान' पत्रिका को लोकप्रिय बनाने के लिए अनेक सुझाव दिए। अंत में नवनिर्वाचित उपसभापति **डॉ० पूर्ण चन्द्र गुप्ता** ने सभी के प्रति आभार व्यक्त किया।

दिनांक 17.12.89 को परिषद् की अन्तरंग सभा की बैठक 11 बजे पूर्वाह्न सभापति **श्री गजानन्द आर्य** की अध्यक्षता में हुयी। बैठक में निम्नलिखित सदस्यों ने भाग लिया :—

श्री गजानन्द आर्य—सभापति स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती—पदेन उपसभापति, प्रो० पूर्ण चन्द्र गुप्ता—उपसभापति, प्रो० हनुमान प्रसाद तिवारी—प्रधानमंत्री, डॉ० चन्द्रिका प्रसाद—स्थानीय अन्तरंगी, श्री प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव—संपादक विज्ञान, डॉ० राम

सुरंजन धर दुबे—आडीटर, डॉ० अशोक महान–पुस्तकालयाध्यक्ष, डॉ० अशोक कुमार गुप्ता–भवन मंत्री। श्री अनिल कुमार शुक्ल–बाह्य अन्तरंगी, श्री विजयजी —संयुक्त मंत्री, डॉ० सुप्रभात मुकर्जी—संयुक्त मंत्री,

सभा के प्रारम्भ में प्रधानमन्त्री डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी ने नवनिर्वाचित पदाधिकारियों की स्वीकृतियों से अन्तरंग सभा को अवगत कराया। इसके उपरान्त अन्तरंग सभा ने निम्नवत् निर्णय लिये।

(क) अन्तरंग सभा ने सर्वसम्मति से यह निर्णय लिया कि यद्यपि अब तक विज्ञान परिषद् विज्ञान लेखन से सम्बन्धित योजनायें ही सम्पादित करता रहा है परन्तु अब जन साधारण की आवश्यकता को देखते हुये विज्ञान को लोकप्रिय बनाने के लिए सक्रिय कार्यक्रम प्रारम्भ किये जायें। उपर्युक्त उद्देश्य से सक्रिय कार्यक्रम की एक परियोजना तैयार की जायें। योजना तैयार करने के लिए निम्नलिखित सदस्यों की एक उपसमिति का गठन किया गया—

(1) डॉ० चन्द्रिका प्रसाद
(2) डॉ० शिवगोपाल मिश्र
(3) डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी
(4) डॉ० सुप्रभात मुकर्जी

(ख) अन्तरंग सभा ने परिषद् के मुखपत्र "विज्ञान' को स्वावलम्बी बनाने की योजना पर विचारोपरान्त यह निर्णय लिए कि **डॉ० अशोक कुमार गुप्ता** एवं **श्री अनिल कुमार शुक्ल** योजना को अन्तिम रूप प्रदान कर राष्ट्रीय विज्ञान एवं तकनीकी संचार परिषद्, नई दिल्ली को प्रेषित करेंगे।

(ग) सदस्यता शुल्क के सम्बन्ध में अन्तरंग सभा ने यह निर्णय लिया कि **जनवरी** 1990 से विज्ञान परिषद् की सदस्यता हेतु देय शुल्क निम्नवत् होंगे—

(1) आजीवन सदस्य............200.00 रु०
(2) वार्षिक सदस्य............25.00 रु०
(3) विज्ञान पत्रिका का वार्षिक मू० 25.00 रु०
तीन वर्ष का ....60.00 रु०
और एक प्रति का मूल्य रुपया 2.50 रु०

(घ) **स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती** (पदेन उपसभापति) ने "डॉ० रत्नकुमारी स्मृति व्याख्यान माला" प्रारम्भ करने हेतु 30.000 रु० का दान प्रदान करने के अपने निश्चय से सदस्यों को अवगत कराया तथा 3000 रुपये अतिरिक्त प्रदान करने का आश्वासन दिया जिससे व्याख्यान माला 1990 से प्रारम्भ की जा सके।

(ङ) **डॉ० चन्द्रिका प्रसाद** (सुपुत्र डॉ० गोरख प्रसाद) ने अपने पिता की स्मृति में व्याख्यान माला प्रारम्भ करने के लिए 15,000 रु० के अंशदान का चेक प्रधानमंत्री को दिया। इसी सन्दर्भ में डॉ० शिववोपाल मिश्र ने सदस्यों को अवगत कराया कि 'डॉ० गोरख प्रसाद स्मृति व्याख्यान माला' के लिए 5000 रु० की शेष धनराशि श्री अरुण कुमार जी द्वारा प्रदान की जायेगी। स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती जी ने यह बताया कि वे 2000 रु० की अतिरिक्त धनराशि विज्ञान परिषद् को प्रदान करेंगे जिससे 'डॉ० गोरख प्रसाद स्मृति व्याख्यान माला' भी वर्ष 1990 से प्रारम्भ की जा सके।

(च) **डॉ० अशोक कुमार गुप्ता, भवनमंत्री** ने अन्तरंग सभा को अवगत् कराया कि 20,000 रु० खर्च करके परिषद् के प्रेक्षागृह में पंखे एवं स्पीकर लगवाने का उनका प्रस्ताव है। उन्होंने सभापति महोदय का ध्यान प्रेक्षागृह में प्रतिध्वनि की समस्या की ओर आकृष्ट किया। यह निर्णय लिया गया कि ध्वनि के परावर्तन की समस्या के निदान के लिए आवश्यक धनराशि का आकलन करा लिया जाय। सभापति महोदय ने इस हेतु सहयोग प्रदान करने का स्वयं का भी आश्वासन दिया।

(छ) **डॉ० अशोक महान** (पुस्तकालयाध्यक्ष) ने पुस्तकालय के लिए अलमारियों तथा पत्रिकाओं की बाईंडिंग की आवश्यकता की ओर अन्तरंग सभा का ध्यान आकृष्ट किया। यह निर्णय लिया गया कि पुस्तकालय के लिए अलमारियाँ क्रय की जायें।

(ज) **स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती जी** ने अन्तरंग सभा के समक्ष यह प्रस्ताव रखा कि उनके स्वास्थ्य की अवस्था को दृष्टिगत रखते हुये उन्हें 'विज्ञान परिषद् अनुसंधान पत्रिका' के संपादन के दायित्व से मुक्त कर दिया जाय। इस हेतु उन्होंने **डॉ० चन्द्रिका प्रसाद जी** का नाम प्रस्तावित किया। अन्तरंग सभा ने सर्वसम्मतति से आगामी वर्ष से डॉ० चन्द्रिका प्रसाद को 'विज्ञान परिषद् अनुसंधान पत्रिका' का "सम्पादक" मनोनीत किया।

(झ) सभा के अन्त में प्रधानमंत्री **डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी** ने अन्तरंग सभा के सदस्यों के प्रति धन्यवाद ज्ञापित किया।

प्रस्तुति : डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी
प्रधान मंत्री, विज्ञान परिषद्, प्रयाग

'विज्ञान परिषद् प्रयाग' की वाराणसी शाखा से
(काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी)

शाखा परिषद की बैठक

विज्ञान परिषद् (वाराणसी) की एक बैठक गत नवम्बर के प्रथम सप्ताह में आयोजित की गई, जिसमें वैज्ञानिक व्याख्यानमाला के लिए निम्नलिखित वैज्ञानिकों के नाम प्रस्तावित किए गए :

1. **प्रो० ओंकार नाथ श्रीवास्तव**, भौतिकी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
2. **डॉ० पी० सी० बेहरे**, मानसिक चिकित्सा विशेषज्ञ, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
3. **प्रो० देवेन्द्र कुमार राय**, भौतिकी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

व्याख्यानों का आयोजन

अक्टूबर-नवम्बर (1989) में भौतिकी विभाग में दो अत्यंत रोचक एवं ज्ञानवर्द्धक व्याख्यान, विज्ञान परिषद् के तत्वावधान में आयोजित किए गए—

1. **मानसिक रोग : कारण और निवारण**—डॉ० पी० सी० बेहरे
2. **ब्रह्माण्ड का विस्तार**—प्रो० देवेन्द्र कुमार राय

लेजर के उपयोग पर चार दिवसीय संगोष्ठी
(11 से 15 दिसम्बर 1989 तक)

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के स्पेक्ट्रॉस्कोपी संभाग की स्थापना के 50वें वर्ष पर
(अन्तराष्ट्रीय-संगोष्ठी)

संगोष्ठी का शुभारम्भ **डॉ० डी० डी० भवालकर** ने किया। इस संगोष्ठी में लेजर-किरणों के उपयोग के विभिन्न क्षेत्रों से संबंधित दो सौ निबन्ध पढ़े गए। इसमें देश के विभिन्न शिक्षा संस्थानों—असम, बंगाल, बिहार, उ० प्र०, दिल्ली, आंध्र प्रदेश (हैदराबाद), मद्रास, त्रिवेन्द्रम, कोचीन, मैसूर, और बम्बई से आने वाले प्रतिनिधियों के अतिरिक्त विदेशों से—अमेरिका, इंग्लैण्ड, नीदरलैंड और जर्मनी से आये हुए विशिष्ट वैज्ञानिकों ने भी भाग लिया। निबन्धों की शृंखला में तीस निबन्ध विशेष रूप से आमंत्रित निबन्ध थे। लेजर के उपयोग के विभिन्न क्षेत्रों की चर्चा हुई और अपने देश में इसके विस्तार के लिए **डी० एस० टी०** द्वारा संचालित योजनाओं की जानकारी भी दी गई। संगोष्ठी के संयोजक **प्रो० सूर्य नारायण ठाकुर** ने बताया कि यह आयोजन अत्यंत महत्वपूर्ण रहा। इसके आयोजन में "भारतीय लेजर एवं स्पेक्ट्रॉस्कोपी सोसाइटी" ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

इस अवसर पर भौतिकी विभाग के प्रमुख संभाग, "स्पेक्ट्रॉस्कोपी प्रयोगशाला" की स्थापना के पचास वर्ष पूरे हुए; अतः 13 दिसम्बर को इस प्रयोगशाला से सम्बद्ध रहे ग्यारह प्राचीन वैज्ञानिकों/शिक्षकों को सम्मानित किया गया। उन्हें सम्मानस्वरूप एक-एक शाल एवं एक-एक सरस्वती-प्रतिमाएँ (मिश्रधातु की) भेंट की गईं। यह कार्यक्रम गोरखपुर विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति **प्रो० देवेन्द्र शर्मा** के सभापतित्व में उल्लास पूर्वक सम्पन्न हुआ।

प्रस्तुति : डॉ० श्रवण कुमार तिवारी
सचिव, वाराणसी शाखा
काशी विश्वविद्यालय, वाराणसी

जानलेवा रोग एड्स

डॉ० कृष्णानन्द पाण्डय

दृष्य—ताऊ के मकान में एक बैठक।

पात्र—ताऊ (एक वृद्ध), राजू (ताऊ के पड़ोस में रहने वाला लड़का), रवि (शहर में डॉक्टर)

राजू : ताऊ, राम-राम।

ताऊ : कौन ? राजू ! राम-राम बेटा, बड़े दिनों बाद दिखाई दिया।
कहाँ रहता है आजकल ?

राजू : ताऊ, मेरा दोस्त करीम है न, उसके चाचा बहुत बीमार चल रहे हैं। उनको मेडिकल में दिखाने करीम जा रहा था, मैं भी साथ दिल्ली चला गया था।

ताऊ : अरे वही कल्लू खान, जो तीन-चार महीनों पहले अरब से वापस आया है। इतनी कम उम्र में उसने लाखों जमा कर लिया है। ईश्वर सभी को ऐसा सुखी व धनवान बनाए।

राजू : न न ताऊ, खान चाचा लखपति तो जरूर बन गए हैं परन्तु वे सुखी बिल्कुल नहीं हैं। ईश्वर किसी को उनके जैसा रोगी न बनाए।

ताऊ : अरे ऐसा क्या हो गया है, उसे···?

राजू : ताऊ, काफी डॉक्टरी जाँच के बाद डॉक्टरों ने बताया है कि खान चाचा को एडस रोग हो गया है।

ताऊ : मलेरिया, पीलिया, गठिया, मोतियाबिन्द, और कैंसर के नाम तो सुन रखा था, अब यह एडस कहाँ से आ गया और क्या बला है ?

राजू : ताऊ, मुझे इस रोग के बारे में ज्यादा तो पता नहीं। चलिए रवि भैया के घर चलकर उन्हीं से पूछते हैं। वे मेडिकल में ही डॉक्टर हैं और उन्हीं की मदद से खान चाचा की जाँच भी आसान हो गई है, वरना मेडिकल में जाकर देखने से लगता है पूरा देश ही बीमार है।

ताऊ : हाँ···हाँ···बेटा चल···पता करें कि ये एडस क्या रोग है। कहीं मुझे हो गया तो मेरा बुढ़ापा खराब हो जाएगा। कम से कम पता तो होना चाहिए।

दृश्य—दोनों डॉक्टर रवि के घर जाते हैं। डॉ० रवि बैठां अपनी पुस्तक पढ़ रहा है।

डॉ० रवि : आओ ताऊ···आओ···बैठो···राजू तुम भी बैठो। कहिए आज कैसे दर्शन दिए ?

ताऊ : बेटा···ये राजू कह रहा है कि कल्लू खान को एडस रोग हो गया है। भला ये कौन सी बीमासी है, कुछ हमें भी तो बताओ।

डॉ० रवि : हाँ ताऊ, खान चाचा को एक जनलेवा रोग हो गया है। इस रोग को एड्स कहते हैं।

ताऊ : क्या कहा एडस···ये राजू तो एडस···एडस कह रहा था।

डॉ० रवि : ताऊ, राजू को अभी इसकी पूरी जानकारी नहीं है। आइए आप दोनों को एड्स के बारे में कुछ खास बातें बताएँ।

ताऊ : बेटा, पहले ये बता कि यह एड्स किन-किन कारणों से होता।

डॉ० रवि : ताऊ, एड्स की बीमारी कई कारणों से हो जाती है, जैसे किसी रोगी को ऐसे व्यक्ति से लिया गया खून चढ़ाया जाए, जिसे पहले से ही एड्स रहा हो। और ऐसे किसी भी व्यक्ति के साथ शारीरिक संपर्क बनाने से जो एड्स का रोगी हो। इससे मिलते-जुलते और भी कई कारण हो सकते हैं।

राजू : रवि भैया, यह बताइए कि एड्स कैसे फैलता है।

तकनीकी अधिकारी, प्रकाशन एवं सूचना प्रभाग, भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद्, पोस्ट बाक्स 4508, नई दिल्ली–110029

डॉ० रवि : राजू, यह रोग शरीर में एक ख़तरनाक विषाणु के प्रवेश कर जाने से फैलता है। ये विषाणु हमारे खून में मौजूद टी-4 नमक श्वेत रक्त कोशिकाओं को नष्ट करके शरीर की प्रतिरक्षा प्रक्रिया को हमेशा के लिए नष्ट कर देता है।

राजू : भैया यह प्रतिरक्षा प्रक्रिया क्या होती है ?

डॉ० रवि : राजू, किसी भी रोगा से लड़ने और उसे बेअसर करने के लिए हमारे शरीर में एक खास क्षमता है, इसे ही प्रतिरक्षा प्रक्रिया कहते हैं।

ताऊ : तो बेटा, क्या एड्स रोग हमारे शरीर में मौजूद रोग से लड़ने की क्षमता से अधिक बलवान है ?

डॉ० रवि : ताऊ, मैंने बताया न कि इस रोग में शरीर की प्रतिरक्षा प्रणाली हमेशा-हमेशा के लिए नष्ट हो जाती है।

ताऊ : बेटे, इस रोग के लक्षण क्या-क्या हैं ?

डॉ० रवि : ताऊ, इस रोग में बुखार आना, भूख बिल्कुल न लगना, वज़न कम हो जाना, रात में पसीना आना, जाँघ, गर्दन और आँख में मौजूद लसीका ग्रन्थियों में सूजन आ जाना है। रोग के बढ़ जाने पर रोगी अपनी याददाश्त खो बैठता है। खून की नलियों में अधिक वृद्धि हो जाने के कारण वह फट जाती है और शरीर से खून बहने लगता है। यहाँ तक कि फेफड़ों के प्रभावित होने से न्यूमोनिया तथा कैंसर भी हो जाता है।

राजू : बाप रे, तब तो रोगी मर ही जाएगा।

डॉ० रवि : ठीक कहा राजू ने, एड्स के रोगी की मौत निश्चित है।

ताऊ : बेटा, क्या अपने देश में कोई ऐसा रोगी है ?

डॉ० रवि : ताऊ, अभी तक लगभग ढाई लाख लोगों की जाँच की जा चुकी है, जिनमें 920 लोग ऐसे पाये गये जिनमें एड्स रोग होने का ख़तरा है। अपने देश में अब 18 रोगी इस जानलेवा रोग की चपेट में आ चुके हैं, जिनमें 1 * पुरुष और 3 महिलाएँ हैं।

राजू : भैया, क्या अभी तक कोई दवा नहीं बनाई जा सकी है ?

डॉ० रवि : राजू, हमारे देश के ही नहीं, दुनिया भर के वैज्ञानिक इसके इलाज के लिए दवा ढूँढ़ निकालने के लिए दिन-रात कोशिश कर रहे हैं। इसका पक्का इलाज तो अभी सम्भव नहीं है पर कुछ दवाएँ बना ली गई हैं, जो शरीर में इस जानलेवा विषाणु के बढ़ने को रोक सकती हैं। परन्तु बहुत कीमती और तरह-तरह के साइड इफैक्ट डालने वाली हैं। जैसे एक वर्ष तक चलने वाली दवा की कीमत लगभग एक लाख रुपये। इसके अलावा अधिक दिनों तक प्रयोग करने से शरीर में खून की लगातार कमी होती जाएगी तथा खून सम्बन्धी अनेक रोग उभर आएँगे।

ताऊ : बेटा, इस जानलेवा रोग को रोकने के लिए हमारे देश के वैज्ञानिक क्या कर रहे हैं ?

डॉ० रवि : ताऊ, 'भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद्' ने (यही अपना आई० सी० एम० आर०) वैसे देश भर में एड्स की जाँच के लिए जाँच केन्द्रों का जाल बिछा दिया है। अब तक कुल 42 केन्द्रों में इस रोग की जाँच की जा रही है। अपनी दिल्ली में, इसी मेडिकल में, **डॉ० सहगल, डॉ० प्रदीप सेठ व डॉ० ए० एन० मालवीय** की देखरेख में उनकी प्रयोगशालाओं में इसकी जाँच की जिम्मेदारी दी गई है। इसके अलावा अपना परिषद् एड्स पर रिसर्च करने के लिए एक अलग संस्थान खोलने पर विचार कर रहा है। ताऊ,

भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद् के महानिदेश **डॉ० औतार सिंह पेंटल** का तो विचार है कि इस रोग पर काबू पाने के लिये हमारे यहाँ ऐसे कानून बनाए जाएँ जिसमें अनजाने लोगों से शारीरिक सम्पर्क बनाने वाले पर 20 हज़ार रुपयों का जुर्माना या 3 माह की कैद दी जानी चाहिए।

ताऊ : बेटा इस रोग से बचा कैसे जा सकता है?

डॉ० रवि : ताऊ, किसी अनजान पुरुष या महिला से शारीरिक सम्पर्क कभी न बनाना चाहिए। शरीर में यदि खून चढ़ाया जा रहा हो तो इसकी जाँच कर ली जाए कि उसमें एड्स के विषाणु तो मौजूद नहीं।

ताऊ : बेटा, अपना कल्लू खान तो बड़ा ही नेक बन्दा है, वह इसकी चपेट में कैसे आ गया ?

डॉ० रवि : ताऊ, याद है पिछले साल अरब में ही खान चाचा का एक्सीडेंट हो गया था और उन्हें खून चढ़ाया गया था। ज़ाहिर है जो खून चढ़ाया गया उसे देने वाला एड्स का रोगी रहा होगा। फिर अपने खान चाचा कैसे बच पाते ?

ताऊ : सुना राजू, कितनी लाभदायक बातें बताई रवि बेटे ने। तू इन बातों का हमेशा ध्यान रखना, और अपने दोस्तों को भी बताना। हाँ, मेरी शंका जरूर दूर हो गई कि मुझे यह जानलेवा एड्स रोग कभी नहीं होगा। अच्छा राजू बेटा, बहुत-बहुत धन्यवाद।

डॉ० रवि : राम राम ताऊ।

(ताऊ और राजू चले जाते हैं) □□

सांस लेने के लिए

अनिल श्रीवास्तव

तुम्हारे पास का पेड़
क्या तुम्हें
दे नहीं रहा आवाज़ें ?
क्या लगते नहीं तुम्हें
समझाते हुए उसके
एक-एक झुलसे पत्ते ?
क्या कुछ कह नहीं रहीं
उसकी काली पड़ गयीं टहनियाँ ?
क्या अधपके फटे फल
चींखते नहीं दिखते तुम्हें ?
रोती नहीं दिखती तुम्हें
क्षीण हो रही उसकी काया ?
नहीं दिखाई देता है शायद तुम्हें
उसका यह क्रन्दन,
क्योंकि तुम तो शायद
प्रदूषण का करते हो अभिनन्दन !

तभी तो झूम उठते हो
बैठते हो जब
ज़हर उगलती खटारा कारों पर।
चलाते हो घर्र-घर्र करती स्कूटरें,
फैला देते हो
आक्सीडेंट और ओज़ोन को।
और कर देते हो
ज़हरीला वातावरण,
निकाल कर सल्फर डाइ-ऑक्साइड
अनेक कारखानों से।
और ओढ़ लेते हो छतरी
ख़तरनाक गैसों की।
क्या दे सकते हो तुम
खुद को जवाब ?
क्या होता नहीं महसूस तुम्हें—
छलनी हो गये फेफड़े,

डी०-27, सेक्टर-20, पो० नोएडा, जि० गाज़ियाबाद (उ० प्र०)-201301

घुटती हुई साँसें,
शिथिल हो गया शरीर,
क्या आँखों का जलना
होता नहीं है महसूस तुम्हें ?
क्या काँपती नहीं है
तुम्हारी मनोचेतना
मौत से भय खाकर
पीते हुए ज़हर को ?
यदि चलता रहा यही काल-चक्र
तो क्या रह जाएगा
यह जीव-समूह ?
भस्म नहीं हो जाएंगे हम सब
प्रदूषित-वायु लपटों में ?
नित्य निकलती कोमल कोपलें
क्या मुरझा नहीं जाएगीं
निकलने से पहले ?
क्या दे सकेंगे हम
कोई मज़बूत आधार
टिक सके जिस पर भारत ?
और ऊँचा हो शीश इसका
गर्व करे अपने पर ।
इसलिए हे दोस्तों !
तुम्हें प्रदूषण रोकना होगा
अभी इसी समय,
इसी वक्त ।
नहीं तो अधूरे रह जाएँगे
हमारे सुनहरे स्वप्न, नई आशाएँ
और नहीं मिल सकेगी हमें
मुट्ठी भर शुद्ध वायु
थोड़ी सी साँस लेने के लिए । ☐☐

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक : संरक्षण या विनाश

(पर्यावरणीय परिस्थिति :एक अध्ययन)

लेखिका : सरला देवी

प्रकाशक : ज्ञानोदय प्रकाशन, हल्द्वानी (नैनीताल)

वितरक : बंसल बुक डिपो, नैनीताल : प्रथम संस्करण **1980**, पृष्ठ संख्या **304**

मूल्य : **30.00** रु० सजिल्द, **15.00** पेपर बैक

सरला बहिन मूलतः लन्दन की हैं। इनका जन्म **5-4-1901** को हुआ । इनका नाम था **कैथरीन मेरी हाइलामन** । इनके पिता स्विस जर्मन थे। प्रथम विश्व युद्ध की घटनाओं से कैथरीन का मन उद्वेलित हो उठा । **1928** में **महात्मा गाँधी** का नाम सुना तो उनके दर्शन के लिए लालायित हो उठीं । **1932** में इन्हें भारत आने का अवसर मिला तो उदयपुर में विद्याभवन में कार्य करना प्रारम्भ किया । यहाँ इन्होंने हिन्दी सीखी । **1935** में वर्धा गईं तो गाँधीजी ने इन्हें ''नई शिक्षा प्रणाली'' की अगुवा बना दिया। **1941** में ये अल्मोड़ा गईं । **1942** में कौसानी में एक कन्या स्कूल खोला । किन्तु **1942** में ही जब ''भारत छोड़ो'' आन्दोलन शुरू हुआ तो आन्दोलन में गिरफ्तार लोगों के परिवारों की सेवा-सुश्रुषा करने लगीं । ब्रिटिश सरकार ने इन्हें जेल में डाल दिया। जेल में ही इन्होंने हिन्दी का प्रयोग प्रारम्भ किया। बाद में सरला जी ने कौसानी में एक आश्रम की स्थापना की, पहाड़ी बोली सीखी और नंगे पाँव पहाड़ी ग्रामों में घूमने लगीं । इनका आश्रम 'सरला आश्रम' के नाम से प्रसिद्ध है । बाद में ये **संत बिनोवा** की भी अनुगामिनी बनीं । इन्हें **4 नवम्बर 1979** को 'जमना लाल बजाज पुरस्कार' से सम्मानित किया गया ।

'सादा जीवन उच्च विचार' वाली तपस्विनी महिला ने प्रकृति एवं प्राकृतिक घटनाओं का अध्ययन एवं मनन किया है । प्रकृति का संरक्षण उनकी दृष्टि में महत्वपूर्ण है । यह पुस्तक इसी विचारधारा की अभिव्यक्ति है । जो लोग 'साइलेंट स्प्रिंग' की

लेखिका **रोशेल कार्लसन** की पुस्तक पर मुग्ध हैं उन्हें भी सरला देवी की पुस्तक "संरक्षण या विनाश" अत्यन्त मौलिक एवं भारतीय परिस्थितियों की सही मार्ग-दर्शिका प्रतीत होगी। पता नहीं अभी तक इस पुस्तक की चर्चा या इसमें व्यक्त विचारों का उपयोग विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में क्यों नहीं हुआ !

यह पुस्तक अत्यन्त ज्ञानवर्धक है। इसकी भाषा की विशेषता है उसका प्रवाह। विदेशी होते हुए भी इस तपस्विनी ने भारत देश की नब्ज़ पकड़ी है। उसने हिन्दी में यह पुस्तक लिखकर बड़ा उपकार किया है। वे भूमिका में लिखती हैं—"मैं जो कि विज्ञान की शिक्षा से वंचित रही हूँ, एक वैज्ञानिक विषय पर लिखने की धृष्टता क्यों कर रही हूँ इसका थोड़ा स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता है। बचपन में ही मुझे अनुभव होने लगा था कि जिस सभ्यता के युग में हम रहते हैं उसमें कुछ गड़बड़ी है।"·········यह पुस्तक पाश्चात्य वैज्ञानिक दृष्टि और पूर्वी आध्यात्मिक दृष्टि को जोड़ने के लिए एक नम्र सेतु का काम कर सके तथा हमारे देशवासियों को सचेत कर सके कि हमें किस ओर बढ़ना है तो मैं इसे बिनोवा जी का आशीर्वाद मानूँगी।"

इस पुस्तक में कुल **21** अध्याय हैं और अन्त में एक परिशिष्ट है। अध्यायों के नाम हैं— भूमिका, संतुलन शास्त्र, चार चक्र, हमारी पृथ्वी का निर्माण, जीवन का चक्र, अन्तः प्रेरणा की ओर, पुरानी दुनिया में कृषि द्वारा नैसर्गिक क्रियाओं में हस्तक्षेप, भूस्खलन, कीटनाशक दवाइयाँ, यन्त्रीकरण का संदूषण, रेडियो-धर्मिता, ग्राह्य–मात्रा का निर्धारण, हवा का प्रदूषण, जल का संदूषण, चरित्र का संदूषण, लड़ाई के लिए विचार और स्वभाव का संदूषण, स्वास्थ्य में संदूषण, अर्थशास्त्र–अर्थ और राजनीति, अन्य देशों में संदूषण विरोधी कार्य, भारत की परिस्थिति तथा नये क्षितिज की ओर।

शीर्षक स्वतः स्पष्ट हैं। कुछेक को छोड़कर शेष अध्याय पर्यावरण या प्राकृतिक संतुलन से सम्बन्धित हैं और सूचनाओं तथा आँकड़ों से भरे पड़े हैं। ये आँकड़े बासी नहीं, बिल्कुल ताज़े लगते हैं। लेखिका ने **हावर्ड** के प्रयोगों एवं उनकी विचारधारा को आदर्श माना है। ये हावर्ड वही हैं जिन्होंने इन्दौर मे रहकर कम्पोष्ट प्रणाली का सूत्रपात किया था। पृष्ठ **58** पर सरला जी ने लिखा है, "पशु हमारी फ़सल की जाँच कर सकते हैं—अपनी खुराक में चूने की कमी होने पर मुर्गी और घोड़े दीवालों के गारे का चूना खाना प्रारम्भ कर देते हैं। अच्छा तथा स्वच्छ चारा मिलने पर ये चारा नहीं खाते। बिल्लियों ने रासायनिक खाद से पैदा हुए आलुओं को नहीं खाया······वैज्ञानिकों को कृषकों से सीखना चाहिए। वैज्ञानिकों को मानना चाहिए कि कृषि-कर्मों में पशु हमारे साझेदार हैं।" पृष्ठ **61** पर—जब रवीन्द्र नाथ टैगोर से पूछा गया कि भारत की संस्कृति नगरों की संस्कृति है या गाँवों की तो उन्होंने उत्तर दिया–"भारतीय संस्कृति अरण्य की संस्कृति है"। शुरू में प्रकृति में मनुष्य का हस्तक्षेप अज्ञानवश हुआ···पिछली दो शताब्दियों में वैज्ञानिक आविष्कारों से अब मनुष्य सिर्फ कृषि के क्षेत्र में नहीं बल्कि सारे जीवन के क्षेत्र में प्राकृतिक प्रक्रियाओं में हस्त-क्षेप करने लगा है। अब प्रकृति के लिए आदरभाव के बदले 'प्रकृति पर विजय' पाने की दिशा में आगे बढ़नेमें पाश्चात्य मनुष्य अपना गौरव समझने लगा है। दुर्भाग्य-वश अब पूर्व की संस्कृति का तिरस्कार करके 'अविकसित' देश भी तेजी से पाश्चात्य सभ्यता की विकासशील दिशा को अपनाने की कोशिश में हैं।" ···अहंकार भाव से स्वामित्व की भावना बढ़ने से वह जमीन के प्रति अपना कर्तव्य भूल गया। वह जमीन लूटने लगा। इस प्रकार का शोषण करने का सिद्धान्त सर्वमान्य हुआ।······अब प्रकृति की घटती शक्ति देखकर मनुष्य कुछ चेत गया और समझने लगा कि कोरा लुटेरा बनने से काम नहीं चलेगा। यदि भूमि से फ़सल लेनी है तो भूमि की सेवा भी करनी पड़ेगी तब वह खेतों में खाद डालने लगा।···हालाँकि प्रकृति माता इस परिववर्तन से पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं हुई फिर भी उर्वरा शक्ति काफी जारी रही और काम चलता रहा। आजकल रेगिस्तानों को आबाद करने के लिए दुनिया में कुछ प्रयोग हो रहे हैं।

पृष्ठ 72 : अरण्य सम्पूर्ण जीवन का आधार है। जो संस्कृति अरण्य के सन्तुलन के विरुद्ध काम करती है उसका ह्रास निश्चित है···जापान ने बहुत समझदारी से अपने वन और कृषि की व्यवस्था को सन्तुलित रखा है। पहाड़ों के वनों में संरक्षण के लिए बड़े सरल कानून बनाये हैं।

पृष्ठ 78 : एक पौंड गेहूँ के विकास के लिए लगभग 600 किलो पानी की आवश्यकता होती है। एक पौंड मक्की के लिए 325 किलो और एक पौंड सूखी घास के विकास में 450 किलो पानी लगता है इसलिए कृषि में पानी की व्यवस्था कैसी हो, यह एक बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है।

पृष्ठ 85 : **हावर्ड** तथा **फाइफर** जैसे लोगों की चेतावनी के बाद भी वैज्ञानिक, पूँजीपति तथा उद्योगपति अपने मार्ग पर आगे बढ़ते रहते। बढ़ती हुई आबादी के भय से जल्दी में कृषि उत्पादन को बढ़ाने तथा आवश्यकता की पूर्ति के लिए '**हरित क्रान्ति**' का विचार उन्हें सूझा।

पृष्ठ 89 : **मैडम क्यूरी** के तपस्यामय जीवन से सक्रिय रेडियोशक्ति की खोज इसी उम्मीद से सम्भव हुई कि इसका उपयोग मानवजाति के लिए एक वरदान होगा···अब रेडियोशक्ति द्वारा दुनिया की संस्कृति का नाश करने का प्रयास हो रहा है। आम जनता जो इन चीजों का उपयोग करती है चमकीले विज्ञापनों से बेहोश हो जाती है। इसी प्रकार उद्योगपतियों, पूँजीपतियों, राजनीतिज्ञों तथा वैज्ञानिकों के सम्मिलित षडयंत्र से प्रकृति के नियमों का उल्लंघन निरन्तर हो रहा है और यह दुनिया रहने लायक नहीं बन रही है।

पृष्ठ 136 : संदूषण जहाँ पैदा होता है वहाँ पर वह सीमित नहीं रहकर जिन अविकसित देशों का वातावरण अभी तक शुद्ध है उसका भी शोषण करता है। व्यक्त और अव्यक्त शोषण का कोई अन्त नहीं है। एक दिन में एक विमान को इतनी ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है जितनी 17000 हेक्टेयर वन में पैदा होती है।

चरित्र संदूषण अध्याय बहुत महत्वपूर्ण है। पृष्ठ 163 : "बुद्धि (रीजन) और होशियारी (इटेलिजेंस) में फर्क है। आजकल मनुष्य पहले की अपेक्षा ज़्यादा होशियार है, लेकिन उसकी बुद्धि कुंठित है।

स्वास्थ्य संदूषण के प्रसंग में 182 पृष्ठ पर कहा गया है—

"जिस प्रकार वैज्ञानिकों ने प्रकृति के समतोल के नियम की अवहेलना करके प्रकृति पर विजय पाने का प्रयत्न किया उसी तरह डॉक्टरों ने भी किया और बिगड़ते हुए जनस्वास्थ्य के रूप में हम उसका फल भुगत रहे हैं। गलत पोषण से तथा तेज़ दवाईयों से दिन पर दिन मनुष्य की 'रोग निरोधक शक्ति' बहुत तेज़ी से घट रही है।"

पृष्ठ 190 पर : "**शुमाखर** को बहुत स्पष्टता से दीखता था कि हमारा रोग ज्ञान की कमी से है। विज्ञान की तकनीकी की, व्यवस्था की और औद्योगिक सम्बन्धों की कोई कमी नहीं है। इन सब बातों में हमें विलक्षण सफलता मिल रही है। लेकिन लक्ष्यों और पद्धतियों में सही मार्गदर्शन देने का ज्ञान हमारे पास नहीं है।

पृष्ठ 249 : भारत में चरित्र का संदूषण भी तेज़ी से बढ़ रहा है।

वे अगाह करती हुई लिखती हैं (पृष्ठ 252)—

"भारत के नागरिकों को पश्चिमी दुनिया की परिस्थितियों को समझकर इन कडुवे अनुभवों से जागरुक रहना चाहिए। वे निश्चय करें कि प्राकृतिक सम्पत्ति के विनाश से तथा वातावरण के संदूषण से हमें बचना है।"

—डॉ० शिवगोपाल मिश्र
प्रोफेसर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

विज्ञान के बढ़ते चरण | श्यामसरन अग्रवाल 'विक्रम'

1. कठोरतम अस्थि पर मुलायम काट

सामान्यतः मानव का सिर कठोरतम होता है; इसीलिये जब सिर पर शल्यक्रिया आवश्यक हो जाये तब आरी और छुरी का चला आ रहा पुरातन ढंग समय तो अधिक लेता ही है, बड़ा बेढंगा भी दिखता है।

अमेरिकी शल्य चिकित्सक, **पीट्सबर्ग के डॉ० राबर्ट हॉल** ऐसा हल लेकर आये हैं जो सिर से मन चाहे आकार की कटोरी यूँ काट लें मानो सेब को तराश लिया।

न्यूरेथरटोन नामक यह नवाविष्कृत यंत्र, सूराख करने वाले एक छोटे बरमे (ड्रिल) के रूप में है। इसका ब्लेड एक बोतल में भरे उच्च दाब के नाइट्रोजन द्वारा संचालित, एक निमिट में 2400 चक्र गति से घूमता है। बस, प्रारम्भ में एक नन्हा छिद्र सिर में निर्धारित स्थल पर करके उसमें बरमें का ब्लेड प्रविष्ट कराना पर्याप्त है। फिर तो इच्छित आकार की रेखा में बरमा घुमाकर दो मिनिट में ढक्कन सरीखा गोल कटकर बाहर आ जाता है। मस्तिष्क की कोई भी जटिल शल्यक्रिया इस प्रकार सरलतापूर्वक करके वही ढक्कन वापस सील कर दिया जा सकता है। यों अन्यथा बदशक्ल निशान भी नहीं बन पाता। उरु-अस्थि तथा पसलियों की भी कटाई इससे अत्यन्त सुगम हो सकेगी।

2. या कुतिया ! तेरा ही सहारा

एक यंत्र का आविष्कार जितना रोचक हो सकता है, सूझ-बूझ का आविष्कार भी उतना ही रोचक माना जायेगा। बाढ़, बरसात के दिनों महानगरों के भूमिगत नालों, सीवरों को नियंत्रण में रखते हुए उन्हें अनियंत्रित उफनने से कैसे रोका जाये ?

इसका हल लास एन्जेल्स (अमेरिका) के एक सर्वेक्षक दल ने खोज निकाला है। उन्होंने एक कुतिया को, यह देखकर कि अपनी सर्वाधिक प्रिय आइसक्रीम के लिये वह कुछ भी कर सकती है, उसे प्रशिक्षित किया। उसके गले में मापक फीता, एक लम्बी टेप के रूप में बाँधकर सीवर के एक सिरे पर नीचे उतार दिया। कुछ किलोमीटर दूर, दूसरे सिरे पर कुतिया को बाहर निकालने हेतु प्रतीक्षा में बैठे सर्वेक्षक दल से कुतिया को आइसक्रीम का इनाम और सर्वेक्षकों को माप आदि प्राप्त हो जाते हैं। केवल एक बार कुतिया तनिक इसलिये देरी कर गयी थी कि एक चूहे को देखकर उसके पीछे लग गयी थी !

3. चमचागीरी जिन्दाबाद

चालू चमचागीरी की बात करे सो गुनाहगार। बात तो है एक नयी करामाती चम्मच-शृंखला की जो चिराग़ अलाद्दीन से कम नहीं। इसके लिये हमें अमेरिकी अल्युमिनियम कम्पनी का आभारी होना पड़ेगा। क्या कहा···चाय, काफी चाहिये ! दो मिनिट में ! ये लीजिये, उबलते दूध-पानी मिश्रण में ये खास चम्मच हिला दीजिये। अब फेंक भी दीजिये चम्मच को ! ऐसे करामाती चम्मच, अलग-अलग स्वाद और सुगंध से चाय, काफी, कोको, फ्रूट जूस, सूप आदि का ज़ायका दे जायेंगे। कहीं कोई पत्ती, दाना, डालने की आवश्यकता ही नहीं। भिन्न-भिन्न पदार्थों युक्त ये चम्मच अत्यन्त सूक्ष्म छिद्रों से अपना माल दूध-पानी को दे देते हैं। कुछ विशिष्ट औषधियों के लिये भी ऐसी चमचागीरी को काम में लाने की सोच रही है—अमेरिकन अल्यु-मिनियम कंपनी !

4. अपना तोशा, अपना भरोसा

स्वत:विद्युतोत्पादक पम्प···यह पम्प है मगर कहने मात्र को। कोई कल-पुर्जा नहीं। कह लीजिये, डब्बा है डब्बा मगर सारा करिश्मा भी इसी डब्बे में भरा है। ढलाई घरों में पिघली धातु का प्रवाह अबाध बनाये रखता है यह। आइये, इसे नज़दीक से समझें।

इसकी जड़ है ताप-विद्युतीय चुम्बकत्व। इसके एक सिरे से पिघली धातु प्रविष्ट होती है। उसका तापांश होता है 1300 डिग्री फारनहाइट। उसी सिरे पर दो विद्युदाग्र फिट है जो उसे उच्चताप से विद्युत् उत्पादित कर लेते हैं। यों उत्पन्न वह विद्युत्धारा अपने गिर्द ऐसा सशक्त चुम्बकीय क्षेत्र बना लेती है जो प्रवाहित धातु-द्रव पर लम्ब रूप में दबाव डालती हुयी उसे प्रवाहित बनाये रखती है।

केवल लगभग 30 से० मी० लम्बा और 22 कि० ग्रा० वज़नी, अनवरत दस हज़ार घण्टे चलने की क्षमता युक्त इस पम्प के आविष्कर्ता और निर्माता हैं ऐटमिक इन्टरनेशनल ऑफ अमेरिका। मानव शरीर के रक्त-संचरण क्षेत्र में भी इसकी उपयोगिता की संभावनाओं पर खोज जारी है। □□

68 असिस्टेंट लाइन, बिरला नगर, ग्वालियर-474004

विज्ञान वक्तव्य

प्रिय पाठकगण !

सबसे पहले आप सभी नये वर्ष की शुभ कामनायें स्वीकार करें। नया वर्ष आपके लिए नई खुशियाँ लाये। नया वर्ष मंगलमय हो।

हम नये संकल्प के साथ 'विज्ञान' का जनवरी अंक आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं। 'विज्ञान' की पृष्ठ संख्या अब 24 पृष्ठों से बढ़ाकर 32 पृष्ठ कर दी गई है। मुख पृष्ठ में भी सुधार किया जा रहा है। प्रकाशित सामग्री का स्तर ऊँचा करने का भी प्रयास है। कागज़, छपाई और ब्लाक आदि के मूल्यों में वृद्धि के कारण हमें पत्रिका का मूल्य विवश होकर बढ़ाना पड़ा है। हमें आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि हमारे पाठक हमारी मजबूरी को ध्यान में रखते हुए पत्रिका से अपना स्नेह यथावत् बनाये रखेंगे।

विज्ञान के लेखकों के लिए एक शुभ समाचार है। वर्ष 1990 से हम 'व्हिटेकर पुरस्कार' प्रारम्भ कर रहे हैं। यह पुरस्कार प्रति वर्ष किसी पत्रिका में प्रकाशित लेखों में सर्वश्रेष्ठ लेख पर दिया जायेगा। सर्वश्रेष्ठ लेख पर 500 रुपये और एक प्रमाण-पत्र प्रदान किया जायेगा। इस पुरस्कार के लिए कनाडा के ओटावा विश्वविद्यालय के भौतिकी विभाग के प्रोफेसर डॉ० वाई० पी० वार्ष्णेय ने 5000 रूपयों की धनराशि प्रदान की है। इसी राशि के ब्याज से यह पुरस्कार प्रतिवर्ष दिया जायेगा। प्रकाशक की अनुमति से पुरस्कृत लेख 'विज्ञान' में प्रकाशित भी किया जायेगा। लेख मौलिक है इस आशयक का लेखक का प्रमाण-पत्र आवश्यक है। हमारे लेखकों के प्रोत्साहन के लिए प्रो० वार्ष्णेय का यह सहयोग वंदनीय है। हम प्रो० वार्ष्णेय के कृतज्ञ हैं।

किन्तु मेरे पास कहने को सभी कुछ अच्छा नहीं है। पिछले दिनों विज्ञान परिषद् परिवार को अपूरणीय छति भी उठानी पड़ी है। पहले वयोवृद्ध रसायनज्ञ **प्रोफेसर सत्येश्वर घोष** का निधन हो गया। प्रो० घोष इलाहाबाद विश्वविद्यालय के रसायन विभाग के अवकाशप्राप्त अध्यक्ष थे। वे विज्ञान परिषद् से गहरे जुड़े थे। 192९ में 'विज्ञान' में रंगों पर उनका एक लेख भी प्रकाशित हुआ था।

इसके बाद ही 4 दिसम्बर 1989 को विक्रम विश्वविद्यालय के रसायन विभाग में रीडर **डॉ० महेन्द्र सिंह वर्मा** का एक स्कूटर दुर्घटना में निधन हो गया। एक उदीयमान युवा वैज्ञानिक का दुःखद अंत। डॉ० वर्मा पिछले अनेक वर्षों से 'विज्ञान' पत्रिका में बराबर लिखते आ रहे थे। उन्हें विशिष्ट लेखन के लिए 'डॉ० गोरख प्रसाद पुरस्कार' से सम्मानित भी किया गया था। परिषद् द्वारा आयोजित अखिल भारतीय गोष्ठियों में वे आते रहते थे। उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से डी० फिल० की उपाधि भी ली थी।

हम इनके शोक से उबर भी नहीं पाये थे कि अंटार्कटिका से 4 भारतीय वैज्ञानिकों—**वी० के० श्रीवास्तव, ए० के० बेदी, बी० एल० शर्मा** और **एन० सी० जोशी**—के निधन का समाचार मिला। इन सभी दिवंगत आत्माओं को विज्ञान परिषद् परिवार की भाव भीनी श्रद्धांजलि अर्पित है।

आपका

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

अत्यावश्यक सूचना

जनवरी 1990 से 'विज्ञान' मासिक पत्रिका का शुल्क निम्नवत् है—

एक प्रति : दो रुपये पचास पैसे

वार्षिक : पच्चीस रुपये

त्रिवार्षिक : साठ रुपये

आजीवन : दो सौ रुपये

उत्तर प्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है, यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिये। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं :

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०; आधा पृष्ठ 100.00 रु०; चौथाई पृष्ठ 50.00 रु०; आवरण द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ 500·00 रु०।

मूल्य

आजीवन : 200 रु०
वार्षिक : 25 रु०
त्रिवार्षिक : 60 रु०
प्रति अंक : 2 रु० 50 पैसे

प्रेषक : विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

परिषद् की मुख पत्रिका
फरवरी 1990
2 रुपया 50 पैसे
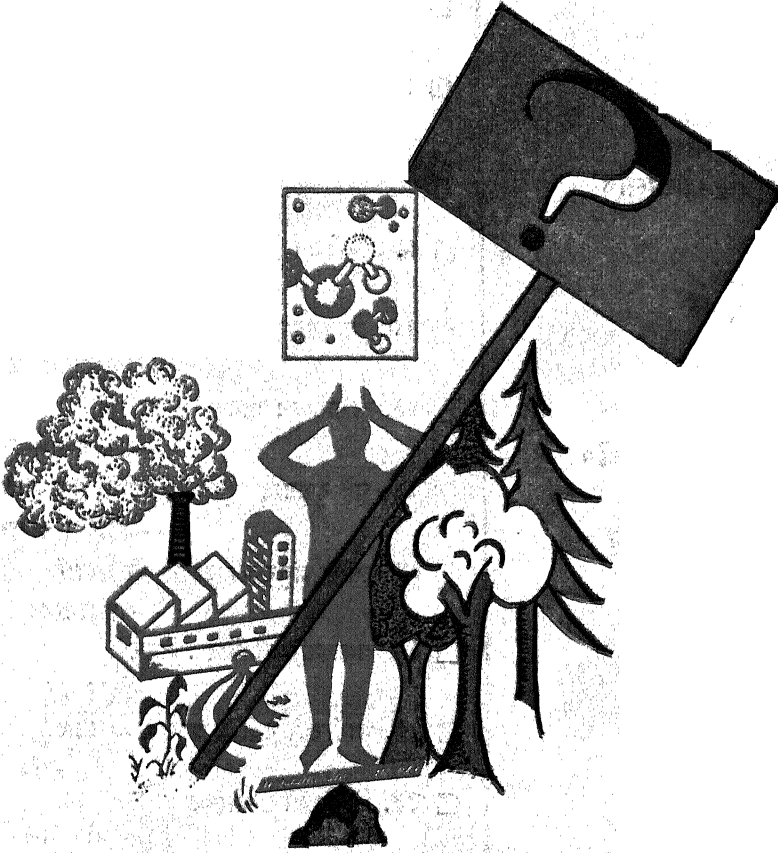
विज्ञान परिषद्, प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 1913; 'विज्ञान' का प्रकाशन अप्रैल 1915
फरवरी 1990; वर्ष 75, अंक 11

मूल्य
आजीवन : 200 रु०
वार्षिक : 25 रु०
त्रिवार्षिक : 60 रु०
एक प्रति : 2 रु० 50 पैसे

प्रकाशक
डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी
प्रधान मंत्री
विज्ञान परिषद्, प्रयाग

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

मुद्रक
श्री सरयू प्रसाद पाण्डेय
नागरी प्रेस
186 अलोपी बाग
इलाहाबाद

सम्पर्क
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002

विज्ञान विस्तार

गंजेपन का इलाज : कितना सफल ?

डॉ० अंजू शर्मा

किसी भी व्यक्ति के आकर्षक व्यक्तित्व में केशों का अपना अलग महत्वपूर्ण स्थान होता है। यह तो सभी मानते हैं कि चाहे कोई स्त्री हो अथवा पुरुष, बाल उसकी खूबसूरती बढ़ाते हैं। आदिकाल से ही बाल मनुष्य के शरीर का महत्वपूर्ण हिस्सा रहे हैं और सभ्यता के विकास के साथ-साथ बालों के रख-रखाव, सौन्दर्य और गुणों पर नए-नए तथ्य प्रकाश में आते रहे हैं। जिस प्रकार बालों से मनुष्य का रिश्ता अत्यन्त पुराना है, उसी प्रकार पुरुषों में गंजेपन का प्राचीन इतिहास है। **गंजापन** अथवा **एलोपेशिया** एक ऐसी बीमारी है जो पुरुषों में ही पाई जाती है। यह बीमारी अधिकतर आनुवंशिक एवं खानदानी होती है।

वैसे तो प्रतिदिन अनेक प्रकार के क्रीम, तेल, लोशन आदि के विज्ञापन नज़रों के सामने आते हैं जो दोबारा से बाल उगाने का दावा करते हैं। परन्तु क्या गंजेपन का वाकई कोई इलाज है ? पिछले एक-दो वर्षों तक ऐसी कोई भी औषधि नहीं थी जो कोई डॉक्टर किसी गंजे व्यक्ति को विश्वासपूर्वक दे सकता। हेयर ट्रांस्प्लाण्टेशन अथवा बालों का प्रतिरोपण ही चिकित्सा विज्ञान में गंजेपन का एकमात्र विकल्प था। यह तरीका मंहगा तो है ही, साथ ही इसकी सुविधा भी हर स्थान पर उपलब्ध नहीं है। इसके लिए विशेषज्ञ की भी आवश्यकता होती है।

गंजे व्यक्तियों के लिए आशा की पहली किरण वर्ष **1978-79** में पहली बार दिखाई दी जब एक नई ओषधि **मिनॉक्सिडिल** का पता चला। वास्तव में मिनॉक्सिडिल उच्च रक्तचाप की शिकायत वाले रोगियों को दी जाने वाली दवा है। इसमें वाहिका विस्फारक क्षमता पाई गई है। शीघ्र ही इस बात का पता चला कि जिन रोगियों को मिनॉक्सिडिल एक से अधिक महीनों तक खिलाई गई थी उनमें अतिलोमता विकसित हो गई थी। वैसे तो दवा के कारण बाल आना एक अनचाही सी बात थी परन्तु कुछ गंजे रोगियों के लिए यही बात लाभदायक सिद्ध हुई। इस जानकारी के प्रकाश में आते ही मिनॉक्सिडिल का प्रयोग, सिर की बालरहित सतह पर, किए जाने की शुरुआत हुई।

उत्साहवर्धक परिणाम मिलते ही अमेरिका सहित विश्व के अन्य विकसित देशों में यह खबर 'जंगल की आग' की तरह फैल गई। वर्ष **1985** में एक सर्वेक्षण किया गया जिससे ज्ञात हुआ कि अमेरिका में लगभग 70 प्रतिशत त्वचाविज्ञानी मिनॉक्सिडिल की गोलियों के पाउडर का प्रयोग गंजेपन के उपचार के लिए कर रहे थे। इतना ही नहीं, एक वर्ष की अवधि में 100, 000 से अधिक गंजे व्यक्तियों का इस प्रकार इलाज किया गया जो बाल झड़ने की समस्या से परेशान थे। बाद में मार्च, 1987 में मिनॉक्सिडिल को सरकारी तौर पर बाल उगाने के लिए ही प्रयोग किए जाने की अनुमति मिल गई। इसके बाद तो विश्व के लगभग 50 देशों में यह ओषधि बाज़ार में गंजेपन की दवा के नाम से बिकने के लिए उपलब्ध हो गई।

क्या मिनॉक्सिडिल वास्तव में बाल उगाने में सहायक है ?

पिछले वर्षों में मिनॉक्सिडिल पर अनेक प्रयोग तथा ऊतकविकृति विज्ञान सम्बन्धी परीक्षण किए गए हैं। अनेक वृद्ध एवं युवा गंजे व्यक्तियों पर इसके चिकित्सीय परीक्षण भी किए गए हैं। परिणामों से पता चलता है कि मिनॉक्सिडिल सचमुच ही बालों के फिर से निकलने की प्रक्रिया को उत्तेजित करती है। **एलोपेशिया एरिएटा**

अनुसंधान अधिकारी, प्रकाशन एवं सूचना प्रभाग, भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली–110029

से पीड़ित अधिकतर लोगों में उपचार के कुछ महीनों पश्चात् सिर की बालरहित सतह पर फिर से बाल निकलने लगे। यह एक आश्चर्यजनक खोज थी। **एलोपेशिया एंड्रोजेनेटिका** से प्रभावित लोगों में भी कुछ सीमा तक सफलता मिली। **मिनॉक्सिडिल** का 3 प्रतिशत लोशन कई महीनों तक निरन्तर लगाने पर अच्छे परिणाम सामने आए। मिनॉक्सिडिल का बेहतर प्रभाव उन लोगों में दिखाई दिया जिनके बाल झड़ने अभी शुरू ही हुए थे और बहुत अधिक बाल नहीं गिरे थे।

चिकित्सीय परीक्षणों से कुछ और तथ्य भी प्रकाश में आए। सामान्यतः 2% मिनॉक्सिडिल लोशन अधिक प्रभावकारी है। मिनॉक्सिडिल प्रयोग करने के 6-8 महीने बाद ही किसी प्रकार के परिणाम मिलने की आशा की जा सकती है। 25 से 40 वर्ष की आयु वाले व्यक्तियों में इसके प्रयोग के अधिक अच्छे परिणाम हैं जिनमें गंजापन पाँच वर्ष से अधिक पहले शुरू न हुआ हो। एक अन्य तथ्य यह भी प्रकाश में आया कि माथे के ऊपर से झड़ने वाले बालों के लिए यह ओषधि प्रभावशाली नहीं थी। विश्व के अनेक देशों में वैज्ञानिकों द्वारा मिनॉक्सिडिल पर परीक्षण किए गए तथा परिणामों के अनुसार 50 से 80 प्रतिशत व्यक्तियों के गंजेपन में सुधार हुआ।

मिनॉक्सिडिल चाहे गोली के रूप में खिलाई जाए अथवा स्थानीय रूप से क्रीम, लोशन आदि के रूप में लगाई जाए, बाल फिर से उगाने में तो सहायक है, परन्तु इसकी कार्य प्रक्रिया की सही जानकारी अभी उपलब्ध नहीं है। वैसे इस ओषधि का कोई अन्तःस्रावी प्रभाव नहीं है। अनेक अनुसंधानकर्ता इसकी कार्य-प्रक्रिया जानने के लिए जुटे हुए हैं। यह ज्ञात है कि मिनॉक्सिडिल को त्वचा की सतह पर लगाने पर उस स्थान पर रक्त की अधिकता हो जाती है, तथा यह एपिथीलियम की कोशिकाओं को विभाजन के लिए भी प्रेरित करती है। ऊतकविकृतिविज्ञान सम्बन्धी अध्ययनों से संकेत मिला है कि मिनॉक्सिडिल सम्भवतः प्रति-रक्षा नियमनकारी (इम्यूनोमोड्युलेटर) के रूप में कार्य करती है।

मिनॉक्सिडिल न केवल बाल फिर से उगाने में सहयोग देती है बल्कि बालों का झड़ना भी रोकती है। परन्तु चिन्ता का विषय तो यह है कि इसका प्रयोग बन्द करते ही बालों का झड़ना फिर से आरम्भ हो जाता है।

क्या मिनॉक्सिडिल के हानिकारक प्रभाव हैं ?

अब प्रश्न यह है कि मिनॉक्सिडिल का प्रयोग साल-दर-साल इतनी लम्बी अवधि तक करते रहने पर शरीर पर कोई हानिकारक प्रभाव तो नहीं होता? कुछ व्यक्तियों में स्थानीय रूप से खुजली, जलन, संप्रवहन, त्वचा की पपड़ियों का उतरना, त्वचा में सूखापन आदि प्रभाव देखे गए हैं। मिनॉक्सिडिल का स्थानीय रूप से प्रयोग शरीर की रासायनिक प्रक्रियाओं पर कोई प्रभाव नहीं डालता। सामान्य आदमी पर तो इसका कोई हानिकारक प्रभाव होना नहीं चाहिए, परन्तु अल्प-रक्त दाब की शिकायत वाले व्यक्तियों को डॉक्टर की सलाह अवश्य लेनी चाहिए।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि एलोपेशिया एरिएटा तथा एलोपेशिया एंड्रोजेनेटिका दोनों ही प्रकार के गंजेपन से पीड़ित पुरुषों में मिनॉक्सिडिल का प्रयोग बाल फिर से उगाने के लिए किया जा सकता है। परन्तु यह उपचार किसी त्वचाविज्ञानी की देखरेख में होना चाहिए ताकि अनचाहे प्रभावों को समय रहते ही रोका जा सके। यद्यपि गंजेपन की बीमारी के क्षेत्र में अन्य अधिक प्रभावशाली ओषधियों की खोज निरन्तर जारी है, परन्तु जब तक कोई अन्य बेहतर ओषधि उप-लब्ध न हो जाए तब तक मिनॉक्सिडिल का प्रयोग इस रोग के उपचार का एकमात्र विश्वसनीय तरीका माना जाएगा।

□□

स्तन कैंसर का बढ़ता कहर | राजेन्द्र कुमार राय

[हमारे देश में महिलाओं में स्तन कैंसर का प्रकोप तेज़ी से बढ़ता जा रहा है। नई दिल्ली के 'अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान' द्वारा किये गये सर्वेक्षण से कुछ चौंकाने वाले नतीजे मिले हैं। प्रस्तुत है इन्हीं पर एक रिपोर्ट श्री राजेन्द्र कुमार राय की कलम से। श्री राय विज्ञान को जनसाधारण तक पहुँचाने के कार्यक्रम में गहराई से जुड़े हैं। अक्सर उनके लेख राष्ट्रीय स्तर की पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहते हैं। —संपादक]

पिछले कुछ वर्षों से देश में महिलाओं में स्तन कैंसर के अधिक मामले सामने आ रहे हैं। बंबई की महिलाओं में यह रोग दूसरे नगरों की महिलाओं से अधिक व्यापक है।

कम उम्र में विवाह और अधिक गर्भधारण भारतीय महिलाओं में गर्भाशय ग्रीवा के कैंसर का एक बड़ा कारण रहा है। विवाह को अधिक उम्र तक टालते जाने, गर्भधारण का फासला बढ़ाने या स्वेच्छा से उससे बचने की शहरी औरतों की प्रवृत्ति भी उनमें स्तन कैंसर की संभावना बढ़ा रही है। 'इंडियन कैंसर सोसायटी' के निदेशक **डॉ० डी० जे० जस्सावाला** के अनुसार, "कैंसर एक शारीरिक रोग है।" अतः आप की जीवन शैली जैसी होगी, वैसा ही शरीर पर असर पड़ेगा। लेकिन 'अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान' के रोटेटरी कैंसर अस्पताल के प्रमुख **डॉ० बी० एम० एल० कपूर** ने एक भेटवार्ता में बताया कि स्तन कैंसर का एकदम सही-सही कारण बताना अभी भी संभव नहीं है।

स्तन कैंसर के मामले भारतीय महिलाओं की अपेआ यूरोपीय महिलाओं में बहुत अधिक पाए जाते हैं। स्तन कैंसर का उम्र से सीधा सम्बन्ध हैं। इसके अलावा आचार-व्यवहार और जीवन शैली का असर पड़ता है। यूरोपीय महिलाएँ, एशियाई महिलाओं के मुकाबले ज्यादा शिक्षित हैं, उनके रहन-सहन का स्तर ऊँचा है, जीवन भी अधिक उन्मुक्त है। शादी भी अधिक उम्र में होती है। 'भारतीव चिकित्सा अनुसंधान परिषद्' (आई० सी० एम० आर०) द्वारा किए गए एक शुरुआती सर्वेक्षण से पता चला है कि गरीब और अनपढ़ महिलाओं में गर्भाशय का कैंसर ज्यादा पाया जाता है, जबकि शिक्षित और धनाढ्य महिलाओं में स्तन कैंसर ज्यादा होता है।

डॉ० कपूर का मानना है कि भारत में महिलाएँ शर्म व लज्जा के कारण रोग के आरम्भ में जाँच के लिए आगे नहीं आतीं और रोग के काफ़ी बढ़ जाने पर जब डॉक्टर के पास जाती हैं तब तक काफी देर हो गई होती है। इसके लिए काफी हद तक अशिक्षा भी ज़िम्मेदार है। ऐसे में प्राथमिक स्वास्थ्य कार्यकर्ता व संचार माध्यम एक बड़ी ज़िम्मेदारी निभा सकते हैं।

एक ताज़े आकलन के अनुसार बम्बई में स्तन कैंसर के मामले 1964 में 12.6 प्रतिलाख के मुकाबले 1984 में बढ़कर 14.4 प्रति लाख हो गए। बम्बई का मामला खास तौर पर अनोखा है, क्योंकि यहाँ देश भर में सबसे ज़्यादा पारसी रहते हैं। पारसियों में अधिक उम्र में शादी करने (या नहीं भी करने) का रिवाज़ है। स्तर कैंसर की शिकायत उनमें ज़्यादा पाई जाती है। औसत भारतीय महिला की तुलना में उनमें इस बीमारी की सम्भावना दुगनी से भी ज़्यादा है।

हालाँकि स्तन कैंसर के सही कारणों का अभी भी पता नहीं चल पाया है, डॉ० कपूर का कहना है कि ऐसे सबूत मिले हैं कि शरीर में एक विशेष हारमोन के रिसाव से यह रोग होता है। इस हारमोन को "एस्ट्रोजेन" कहते हैं। चर्बीयुक्त भोजन, एसीटेट और

'संप्रेषण' : विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं पर्यावरण को समर्पित साप्ताहिक फीचर सेवा, सम्पर्क सूत्रः डी-320, सरस्वती विहार, दिल्ली–110034, टेलीफोन–7274720

कोलेस्ट्रॉल इसे बनाने में काफ़ी सहायक होते हैं। इस हारमोन के कारण स्तन में गाँठें बन जाती हैं। यह धारणा अब ग़लत साबित हो गई है कि कसे कपड़े पहनने से ऐसा होता है। प्रजनन काल में (रजस्वला होने से लेकर रजोनिवृत्ति तक) महिलाओं के हारमोनों में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन तेज़ी से होते रहते हैं। डॉक्टरों का मानना है कि कम उम्र में विवाह व प्रजनन तथा हारमानों की गतिविधि से स्तन कैंसर की संभावना काफी घट जाती हैं। कुछ डॉक्टरों का यह भी मानना है कि 18 वर्ष की उम्र में बच्चा होने से से स्तन कैंसर का ख़तरा 70 फीसदी तक कम हो जाता है।

डॉ० बी० एम० एल० कपूर का विचार है कि यह गर्भाशय ग्रीवा के बाद होने वाला दूसरा प्रमुख कैंसर है। इससे महिलाएँ बच सकती हैं, बशर्ते स्तनों में छोटी-सी गुठली या गाँठ होने पर या फिर किसी प्रकार की पीड़ा; तनाव होने पर किसी योग्य चिकित्सक से तुरन्त परामर्श कर लें। हालाँकि यह आवश्यक नहीं कि इसका कारण स्तन कैंसर ही हो, लेकिन इस स्थिति में किसी चिकित्सक विशेषज्ञ से जाँच करवा लेना ही बेहतर रहता है।

प्रारम्भिक स्थिति में **कीमोथेरैपी** (कैंसर नाशक दवाईयाँ) द्वारा इलाज किया जाता है। लेकिन रोग का पूर्ण विकास हो जाने पर सर्जरी ही एक मात्र इलाज रह जाता है। शल्य-चिकित्सा के दौरान वक्ष के साथ-साथ नीचे की मांसपेशियाँ तथा बगल के नीचे की 'लिम्फ नोड' कटने से शारीरिक आकृति बिगड़ जाती है।

डॉक्टरों का मानना है कि महिलाओं के पास इसके दो ही उपाय हैं। पहला तो किसी तरह की असामान्यता की जल्दी से जल्दी जाँच करवाना और दूसरा मासिक धर्म के बाद परीक्षण करवाते रहना। कैंसर का पता लगाने के लिए अत्याधुनिक उपकरण आ गए हैं, जिनसे रोग का काफी प्रारम्भिक अवस्था में ही पता चल जाता है। **जेरोमैमोग्राफ** से वह सब कुछ पता चल जाता है जो हथेली से पता नहीं चलता। डॉक्टरों को विश्वास है कि आने वाले कुछ वर्षों में **मैसोक्टोमी**, वक्ष की शल्य-क्रिया, अतीत की बात बन जाएगी। लेकिन यह निश्चित है कि हमारे यहाँ जिस गति से पश्चिमीकरण बढ़ रहा है, हमें उसका खमियाजा भुगतने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। □□

खाद्य पदार्थों में रासायनिक संदूषण

डॉ० कृष्णानन्द पाण्डेय

एक कहावत है, '**यदि मनुष्य का स्वास्थ्य बिगड़ गया तो समझिए उसने सभी कुछ गँवा दिया**', जो अक्षरशः सत्य है। स्वास्थ्य अच्छा बना रहे इसके लिए यूँ तो अनेक पहलू ज़िम्मेदार हैं जैसे—भोजन एवं उसकी पौष्टिकता, खान-पान की आदत, रहन-सहन, आस-पास का वातावरण आदि। परन्तु इसके अतिरिक्त और भी अनेक पहलू हैं जिनके प्रति जरा भी असावधानी बरतने पर हम रोग की चपेट में आ जाते हैं।

शरीर को स्वस्थ एवं निरोगी बनाए रखने में हमारे भोजन का महत्वपूर्ण स्थान है। वैसे हम काफ़ी हद तक यह ध्यान देते हैं कि भोजन पौष्टिक, स्वच्छ एवं संतुलित हो, पर इन सबके बावजूद कच्चे अनाज, सब्जियों तथा फलों के साथ अनेक विषाक्त पदार्थ रह ही जाते हैं, जो हमारे शरीर को रोगी बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ते।

रासायनिक संदूषकों के प्रभाव में आए खाद्य

तकनीकी अधिकारी, प्रकाशन एवं सूचना प्रभाग, भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद्, पोस्ट बाक्स 4508, नई दिल्ली-110029

पदार्थों की विषाक्तता जानने के उद्देश्य से 'विश्व स्वास्थ्य संगठन', 'संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम' तथा 'ग्लोबल पर्यावरण मॉनिटरिंग सिस्टम' के मिले-जुले प्रयास के फलस्वरूप विश्व के 35 विकसित एवं विकासशील देशों में जाँच की गई। प्रमुख नाशक-जीवनाशियों, औद्योगिक रसायनों तथा प्राकृतिक विषाक्तता से प्रभावित होने वाले लगभग 100 खाद्य पदार्थों की जाँच संदूषण का स्तर ज्ञात करने के उद्देश्य से की गई।

डी० डी० टी, एल्ड्रिन, डाइएल्ड्रिन जैसे नाशक जीवनाशियों, एफ्लाटॉक्सिन, सीसा, मरकरी तथा पॉलीक्लोरीनेटेड बाईफिनाइल आदि ऐसे रासायनिक संदूषक हैं, जो हमारे खाद्य पदार्थों को विषयुक्त बनाते रहते हैं। विकासशील देशों की श्रेणी में अग्रज भारत-वर्ष भी इन संदूषकों से अछूता नहीं है। और यही कारण है कि इस देश की आबादी का एक बड़ा हिस्सा विभिन्न रोगों से पीड़ित है।

हम खाद्य पदार्थों, सब्ज़ियों का भण्डारण भले ही बहुत साफ़-सुथरे स्थान पर करें अथवा स्वास्थ्य के हिसाब से अच्छे वातावरण में भोजन को तैयार करें, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि हमारा भोजन पूर्ण सुरक्षित है। प्राकृतिक स्रोतों से आए कुछ हानिकर रसायन तथा मानव द्वारा निर्मित रासायनिक तत्व एक बार आहार-श्रृंखला में प्रवेश कर जाने पर निःसन्देह गंभीर समस्या उत्पन्न कर देते हैं। इसके लिए हमारे आस-पास स्थित औद्योगिक प्रतिष्ठानों द्वारा हुए प्रदूषण, कृषि सम्बन्धी ग़लत रिवाजों, खाद्य पदार्थों का संसाधन तथा फफूँद द्वारा हुए संदूषण मुख्य रूप से ज़िम्मेदार हैं।

'भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्' के वैज्ञानिकों द्वारा किए गए सर्वेक्षण से पता चला है कि अण्डों तथा मांस में डी डी टी के अंश पाए जाते हैं। अण्डों में इसकी अधिक मात्रा पाई गई है। मुर्गियों को महामारी से बचाने के लिए मुर्गीपालन के स्थानों में डी डी टी का छिड़काव काफ़ी मात्रा में किया जाता है, जो मुर्गियों के चारे के साथ आसानी से मिल जाता है। मुर्गी में बढ़ रहे अण्डे की कवच पर हज़ारों सूक्ष्मछिद्र होते हैं, जिनके द्वारा गर्मी, नमी, वायु आदि के साथ मुर्गी के पेट में मौजूद डी डी टी के अंश भी अण्डे में प्रवेश कर जाते हैं। इस प्रकार ऐसे अण्डों का सेवन करने से शरीर में डी डी टी के अंश निश्चित रूप से प्रवेश कर जाते हैं और **कैंसर** जैसे भयावह रोग को जन्म देते हैं।

मूँगफली तथा अन्य कई अनाजों पर फफूँद का प्रकोप हो जाने से एफ्लाटॉक्सिन नामक विष पैदा हो जाता है। फफूँदग्रस्त इन खाद्य पदार्थों का सेवन करने से तरह-तरह के रोग तो उत्पन्न होते ही हैं साथ ही इनके नष्ट हो जाने से देश की अर्थ-व्यवस्था भी प्रभा-वित हो उठती है। मानव-शरीर में एफ्लाटॉक्सिन की अधिक मात्रा के प्रवेश से यकृत के कैंसरग्रस्त हो जाने की पूर्ण संभावना हो जाती है। इसे ध्यान में रखते हुए 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' तथा देश के सम्बद्ध अधिकारी वर्गों द्वारा खाद्य पदार्थों में एफ़लाटॉक्सिन के कम से कम बनने के लिए हर सम्भव प्रयास जारी हैं।

प्रोटीन के दृष्टिकोण से मछली एक अत्यन्त पौष्टिक आहार है। आज विश्व का शायद ही कोई जलस्रोत हो जो प्रदूषण से अछूता बचा हो। मरकरी द्वारा प्रदूषित जलस्रोत में पाई जाने वाली मछलियों के शरीर में मरकरी की काफ़ी मात्रा एकत्र हो जाती है। ऐसी मछलियों का प्रयोग करने से विभिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। न्यूज़ीलैण्ड के वैज्ञानिकों के अनुसार किन्हीं-किन्हीं मछलियों में तो हानिकर सीमा से कई गुना अधिक मरकरी पाई जाती है। शार्क में मरकरी की काफी अधिक मात्रा पाई गई है। मीठे जलमें पाई जाने वाली मछलियाँ भी इससे अछूती नहीं हैं। वैसे यह आम धारणा है ही कि मछली जितनी बड़े आकार की होगी, उसमें मरकरी की मात्रा भी उतनी अधिक होगी। मछलीपालन के तालाबों में अवांछित छोटी-छोटी मछलियों, मेढ़कों और अन्य हानिकर जन्तुओं तथा खरपतवार के विकास को रोकने के लिए एल्ड्रिन, डाइएल्ड्रिन आदि रासायनिक दवाओं का प्रयोग करते हैं। ये मछलियों के शरीर में

आसानी से प्रवेश कर जाते हैं और इस प्रकार इनका सेवन करने वालों के शरीर में प्रवेश कर कई रोगों का कारण बनते हैं।

आज डिब्बाबन्द खाद्य पदार्थों का युग है जिससे विभिन्न प्रकार के संसाधित खाद्य पदार्थ कई माह तक सुरक्षित रखे जा सकते हैं। हाल के वर्षों में डिब्बाबन्द खाद्य पदार्थों के लिये डिब्बों में लेड (सीसा) की ढलाई की जाती रही है। परन्तु लेड संदूषण की भयावह स्थिति से बचने के लिए बिना सीसे द्वारा ढलाईयुक्त डिब्बों का प्रयोग आरंभ हो गया है। विकासशील देशों की अपेक्षा विकसित देशों में इस पद्धति का चयन आम हो गया है, जिसके फलस्वरूप काफ़ी हद तक संदूषण में कमी आने की संभावना है।

मक्खन, अनाजों, अण्डों, सब्ज़ियों, मछलियों तथा अन्य मांस में एल्ड्रिन तथा डाइएल्ड्रिन की उपस्थिति को देखते हुए इन नाशकजीवनाशियों के प्रयोग पर रोक लगाने अथवा अवैध घोषित करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। इनके स्थान पर ऐसे विकल्प खोजने का प्रयास किया जाना चाहिए जो हानिकारक न हों और न ही हमारी अर्थ-व्यवस्था प्रभावित हो। फिर भी इन रसायनों, विशेषकर डी डी टी और पॉलीक्लोरीनेटेड बाईफिनाइल, के निर्माण अथवा उसके प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगा देने से इसके संदूषण की समस्या हल नहीं हो सकेगी, क्योंकि बेशुमार प्रयोग के कारण इनकी रसायनिक स्थिरता विभिन्न जलस्रोतों (नदियों, झीलों, नहरों, मुहानों, तालाबों, समुद्र आदि) और कृषि योग्य भूमि में आने वाले कई वर्षों तक बनी रहेगी। अतः दूध, मक्खन, अनाजों, मछली, अण्डा, मांस आदि खाद्य पदार्थों में इन हानिकर रसायनों की उपस्थिति की निगरानी करने की आवश्यकता पर बल दिया जाना चाहिए। इससे न केवल हम मानव जाति को तरह-तरह के रोगों की चपेट में आने से बचा सकेंगे वरन् आने वाली पीढ़ी को एक स्वस्थ वातावरण प्रदान करने में सहायक भी साबित होंगे। रासायनिक संदूषकों के प्रयोग को हम अचानक रोक तो नहीं सकेंगे परन्तु धीरे-धीरे कम अवश्य कर सकते हैं। संदूषण की आशंका वाले खाद्य पदार्थों की धुलाई एवं सफाई के फलस्वरूप इनके स्तर को कम किया जा सकता है। ऐसे स्रोतों से प्राप्त अण्डों, मछलियों एवं मांस का सेवन नहीं करना चाहिए जहाँ इनके संदूषित होने की जरा भी आशंका हो। □□

पुण्यतिथि 6 फरवरी पर

ऑक्सीजन के खोजी : जोजेफ प्रीस्टले

कु० पूनम वार्ष्णेय

वर्ष 1983 में प्रसिद्ध रसायनवेत्ता **जोजेफ प्रीस्टले** के जन्म की 250वीं जयंती सारे संसार में बड़े धूम-धाम से मनाई गई। प्रीस्टले एक प्रायोगिक रसायनवेत्ता, धर्मशास्त्री, शिक्षाशास्त्री और मानव की स्वतन्त्रता के समर्थक थे। अपने जीवन काल में उनका धार्मिक तथा सामाजिक मामलों में काफी प्रभाव था, पर अब उन्हें वैज्ञानिक के रूप में ही विशेषतः स्मरण किया जाता है।

जोजेफ प्रीस्टले का जन्म योर्कशायर में लीड्स के समीप बर्सटाल फील्डहैड में 13 मार्च 1733 को एक कपड़े बुनने का काम करने वाले व्यापारी के घर छठें बच्चे के रूप में हुआ। वह सब बच्चों में सबसे छोटे थे। अपने बचपन के कई वर्षों में वह बीमार रहे। उनके माता-पिता केलविनिस्ट थे, लेकिन अपने बच्चों के लिए उन्होंने सभी धर्मों के विचारों को जानने

द्वारा प्रो० वाई० पी० वार्ष्णेय, भौतिकी विभाग, ओटावा विश्वविद्यालय, ओटावा, कनाडा

की छूट दे रखी थी। वह चाहते थे कि जोजेफ डिसेंटिंग चर्च की मिनिस्टरी में जाये।

इनकी माता का देहान्त सन् 1740 में हो गया था। इस कारण बालक जोजेफ को उनकी एक बुआ ले गयीं। 1752 में वे मिनिस्टरी की पढ़ाई के लिए डेवेनटरी (Daventary) की नॉन कन्फारमिस्ट (Non Conformist) एकेडमी में गये।

फिर प्रीस्टले सफक (Suffolk) के नीडहेम मार्केट में पादरी हो गये और इसके बाद नैन्टविच (Nontwich), चेशायर (Cheshire) में पादरी बनें। 1761 में वह भाषायें पढ़ाने के लिए वारिंगटन एकेडमी में नियुक्त किये गये।

इनका विवाह 1762 में 18 वर्षीया **मेरी बिलकिनसन** से हुआ। इस विवाह से इनके एक पुत्री व तीन पुत्र हुए। वारिंगटन में ही उन्होंने 'रुडिमेण्ट्स ऑव इंगलिश ग्रामर' और अपना 'चार्ट ऑव बायोग्राफी' प्रकाशित कराया।

प्रीस्टले ने पाठ्यक्रम को अपनी 'थियरी ऑव लैंग्वेज एण्ड यूनिवर्सल ग्रामर' (1762), 'चार्ट ऑव बायोग्राफी' (1765), 'एसे ऑन ए कोर्स ऑव लिबरल एजूकेशन फॉर सिविल एण्ड एक्टिव लाइफ' (1765) और 'लेक्चर्स ऑन हिस्ट्री एण्ड जेनेरल पॉलिसी' (1765, 1788), से समृद्ध बनाया। वह विद्यार्थियों को वास्तविक जीवन का सामना करने के लिए तैयार करना चाहते थे। इसलिये विश्वविद्यालय के क्लासिक पाठ्यक्रम की अपेक्षा उन्होंने विद्यार्थियों को इतिहास, विज्ञान और कलाओं के अध्ययन पर ज़ोर दिया। प्रीस्टले के शैक्षिक योगदानों के कारण वारिंगटन एकेडमी, इंग्लैंड के सभी स्कूलों में प्रसिद्ध हो गयी। 1765 में इबिनबरा (Ebinburgh) विश्वविद्यालय की ओर से प्रीस्टले को एल० एल० डी० (L.L.D.) की डिग्री दी गयी।

1765 के प्रारम्भ से ही प्रीस्टले प्रत्येक वर्ष एक महीना लन्दन में व्यतीत करते थे, जहाँ उन्हें प्रमुख व्यक्तियों से मिलने का अवसर मिला। लन्दन में वे विज्ञान के क्षेत्र में कार्य कर रहे प्रमुख व्यक्तियों तथा साथ ही अमेरिकन राजनीतिज्ञ और आविष्कारक **बेंजामिन फ्रेंकलिन** से भी मिले। अपने विद्युत् सम्बन्धी प्रयोगों के कारण प्रीस्टले 1766 में 'रॉयल सोसाइटी ऑव लन्दन' के सदस्य चुने गये। फ्रेंकलिन ने उन्हें प्रोत्साहित किया तथा उन्हें वैज्ञानिक पुस्तकें अध्ययन करने की सुविधा दी। अगले वर्ष (1767), उन्होंने अपनी पुस्तक 'द हिस्ट्री एण्ड प्रेजेन्ट स्टेट ऑव इलेक्ट्रिसिटी' प्रकाशित करायी, जिसमें उन्होंने अपने व्यक्तिगत प्रयोगों तथा अपने समय के वैद्युत् सम्बन्धी ज्ञान का संक्षिप्तीकरण प्रस्तुत किया।

1767 से 1773 तक प्रीस्टले लीड्स के मिल हिल चैपिल में पादरी रहे। उनका गैस का शोध कार्य लीड्स में ही शुरू हुआ।

प्रीस्टले ने अनाज में खमीर उठाने पर पाया कि एक गैस उत्पन्न होती है। यह गैस लपटों को बुझा देती है, वायु से भारी है और एक सीमा तक जल में घुलायी जा सकती है। इस गैस का उन्होंने उत्सुकता व रुचि के साथ अध्ययन किया। यह गैस कार्बन डाइऑक्साइड थी।

जब उन्होंने कार्बन डाइऑक्साइड को पानी में घुलाया और चखा, तो पाया कि उन्होंने एक खट्टे व व ताज़गी भरे पेय का आविष्कार किया है। इसे आजकल हम सोडा वाटर कहते हैं। उनका यह पेय पदार्थ, 'सोडा वाटर' पूरे यूरोप में प्रसिद्ध हो गया।

इससे प्रीस्टले की रुचि गैसों में बढ़ी। जब उन्होंने कार्य प्रारम्भ किया, उस समय केवल तीन गैसों से लोग परिचित थे—वायु, कार्बन डाइऑक्साइड और हाइड्रोजन। उन्होंने कई नयी गैसों की खोज की।

इनमें से तीन गैसों की खोज 1767-73 के बीच लीड्स में की—नाइट्रिक ऑक्साइड, (Nitric oxide), नाइट्रोजन डाइऑक्साइड (Nitrogen dioxide) व नाइट्रस ऑक्साइड (Nitrous oxide)।

अपने प्रयोगों के कारण प्रीस्टले 'फ्रेंच एकेडमी ऑव साइन्सेस' के 1772 में सदस्य बनाये गये। लीड्स प्रवास के दौरान उन्होंने तीस पुस्तकें लिखीं, जिनमें अधिकतर सैद्धान्तिक और शैक्षिक थीं।

सन् 1773 से 1779 तक प्रीस्टले **लार्ड सोलबर्न** के पुस्तकालय के अध्यक्ष रहे, पर उन्हें शोध कार्य के लिये काफी समय मिलता था। वह गर्मियाँ बिल्टशायर के निकट एक स्थान कालने में बिताते थे तथा जाड़े लन्दन में। नवम्बर, 1773 में 'रॉयल सोसायटी' ने उन्हें 'कौपले मैडल' देकर सम्मानित किया। कालने में प्रीस्टले ने गैसों को पानी के बजाय पारे के ऊपर एकत्रित करने की विधि आरम्भ की। इस प्रकार ऐसी गैसों की भी खोज की जा सकी जो पानी में घुलनशील होती हैं। साथ ही वह पदार्थों को गरम करने के लिये सूर्य किरण तथा लेन्स काम में लाने लगे, जिससे प्रयोगों में अशुद्धियाँ (**Impurities**) न आने पावें। इस प्रकार उन्होंने अमोनिया (**Ammonia**) सल्फर डाइऑक्साइड (**Sulphurdioxide**) तथा हाइड्रोजन क्लोराइड (**Hydrogenchloride**) की खोज की—तीनों गैसें पानी में घुलनशील होती हैं।

प्रीस्टले की सबसे प्रसिद्ध खोज 1 अगस्त 1774 को हुई। उस दिन उन्हें लाल मरक्यूरिक ऑक्साइड (**Mercuric oxide**) को गरम करने पर एक रंगहीन गैस मिली। उन्होंने प्रयोग करने पर पाया कि इस नई गैस में मोमबत्ती बहुत तेज़ी से जलती हैं तथा चूहों को उस गैस में साँस लेने से बहुत स्फूर्ति मिलती है और वह प्रफुल्लित हो उठते हैं तथा उछलते कूदते हैं। उन्होंने स्वयं भी इस गैस में साँस ली तथा बहुत अच्छा अनुभव किया।

प्रीस्टले ने नई गैस की उस समय प्रचलित 'फ्लोजिस्टन सिद्धान्त' के आधार पर व्याख्या की। 'फ्लोजिस्टन सिद्धान्त' के अनुसार कोई पदार्थ जलाने पर या साँस लेने पर, साधारण वायु में फ्लोजिस्टन भरता जाता है और एक स्थिति ऐसी आती है कि वायु में फ्लोजिस्टन सोखने की क्षमता समाप्त हो जाती है और तब ऐसी हवा में मोमबत्ती नहीं जल सकती थी। प्रीस्टले ने नई गैस को फ्लोजिस्टन विहीन वायु (**dephlogisticated air**) नाम दिया।

अगले अक्टूबर में **लार्ड रोलबर्न** के साथ प्रीस्टले ने बेल्जियम, हालैंड, जर्मनी व फ्रान्स की यात्रायें कीं। पेरिस में उनकी भेंट फ्रान्सीसी रसायनज्ञ **लेवोजिये** (**Lavoisier**) से हुई। प्रीस्टले ने उन्हें अपनी नई गैस के बारे बताया। लेवोजिये ने प्रीस्टले के प्रयोगों को दोहराया और 1775 से 1780 तक उन्होंने इस नई गैस पर बहुत से प्रयोग किये तथा इस गैस का वस्तुओं के जलने तथा साँस लेने में क्या भूमिका होती है, इसे अच्छी तरह समझा। उन्होंने ही इस गैस का नाम ऑक्सीजन दिया (1789) तथा उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि फ्लोजिस्टन सिद्धान्त सही नहीं है। प्रीस्टले ने लेवोजिये के सब निष्कर्षों को नहीं स्वीकार किया और जीवन के अन्त तक फ्लोजिस्टन सिद्धान्त के पक्षपाती रहे।

यहाँ पर यह उल्लेख करना उचित होगा कि वास्तव में ऑक्सीजन की खोज प्रीस्टले से लगभग 2 वर्ष पहले **शीले** (**Scheele**) नाम के एक स्वीडन के वैज्ञानिक ने कर ली थी। उन्होंने अपनी खोजें एक पुस्तक में लिखीं, पर उनके प्रकाशक की सुस्ती के कारण वह पुस्तक प्रीस्टले के शोध कार्य के प्रकाशित होने के बाद ही प्रकाशित हो पाई। इस कारण प्रीस्टले को ही ऑक्सीजन की खोज करने का मुख्य श्रेय दिया जाता है।

प्रीस्टले ने गैसों पर किये जा रहे अपने अध्ययन को जारी रखते हुए सिलिकन टेट्राफ्लोराइड (**Silicon tetrafluoride**) की भी खोज की। उनके परीक्षणों से एक महत्वपूर्ण बात यह भी ज्ञात हुई कि पौधों की बढ़वार के लिये प्रकाश आवश्यक होता है और हरे पौधे ऑक्सीजन देते हैं।

आजकल जिस 'रबर' को हम पेंसिल से लिखा मिटाने के काम में लाते हैं, उसका नाम 'रबर' भी प्रीस्टले के द्वारा ही दिया गया था। दक्षिण अमेरिका के एक पेड़ से निकले रस को सुखाने से जो पदार्थ बनता है, वह उन दिनों यूरोप पहुँचा था। प्रीस्टले ने पाया कि इस पदार्थ से पेन्सिल से लिखी चीजें रगड़ने (**rub**, से साफ़ हो जाती हैं और उन्होंने इसका नाम 'रबर' (**rubber**) रख दिया।

इन वर्षों में प्रीस्टले ने बीस से अधिक पुस्तकें लिखीं, जिनमें 'एक्सपेरीमेंट्स एण्ड आवजर्वेशन ऑन डिफरेण्ट काइण्ड्स ऑव एयर' के तीन भाग भी सम्मिलित हैं। इसमें उन्होंने गैसों पर किये प्रयोगों का विवरण दिया है। इन ग्रन्थों को आगे उन्होंने 'एक्स-पेरीमेण्ट्स एण्ड ऑवजर्वेशन ऑन डिफरेण्ट काइन्ड्स ऑव एयर' के नाम से सीरीज के रूप में जारी रखा।

1780 से 1791 के अंत तक प्रीस्टले बर्मिंघम में रहे, जहाँ वह न्यू मीटिंग सभा के पादरी थे। वर्मिंघम की 'लूनर सोसाइटी' में उन्हें वैज्ञानिक आत्मीय मित्रों का साथ मिला, जिनमें **जेम्स वॉट, जोसिया वेजवुड, जेम्स कीर** और **मैथ्यु बोलटन** विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने कैमिकल यंत्रों तथा नये विचारों द्वारा इन्हें सहयोग दिया।

प्रीस्टले की धार्मिक और राजनीतिक पुस्तिकायें और किताबें प्रचलित कट्टर-पंथी चर्च की आलोचना का साधन बनीं और वे लोग इसके विरोधी हो गये।

प्रीस्टले की वैज्ञानिक उपलब्धियाँ उन्हें अपने पड़ोसियों में लोकप्रिय बनाने में सहायक नहीं हुईं। यूनीटेरियन **जीसस** को ईश्वर नहीं मानते हैं। इस कारण कट्टरपंथी धार्मिक लोग यूनीटेरिज्म से घृणा करते हैं और चूँकि प्रीस्टले भी यूनीटेरियन थे, इसलिये वे भी उनके शत्रुओं की श्रेणी में आ गये। साथ ही प्रीस्टले को फ्रांस के क्रान्तिकारियों के साथ पूरी हमदर्दी थी, जबकि अधिकांश ब्रिटिश जनता फ्रांस-क्रान्ति के विरुद्ध थी। इस कारण वर्मिंघम की जनता उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखती थी।

इन वर्षों के दौरान प्रीस्टले फ्रांस-क्रान्ति के सिद्धान्तों के पक्षपाती और नागरिक व धार्मिक स्वतंत्रता के एक दृढ़ एडवोकेट के रूप में प्रसिद्ध हो गये।

14 जुलाई 1791 को फ्रान्स की क्रांति की द्वितीय जयंती पर बर्मिंघम में भीड़ ने उपद्रव किया, जिसमें प्रीस्टले का घर, पुस्तकालय और प्रयोगशाला नष्ट कर दी गयी। प्रीस्टले बर्मिंघम से हमेशा के लिये निकाल दिये गये।

अगले दो वर्ष प्रीस्टले लंदन के समीप हैकनी (Hackney) में रहे, जहाँ वह हॉकने कॉलेज में पढ़ाते थे। लेकिन फ्रांस की क्रांति की उन्नति, **लूइस सोलहवें** के 1993 में प्राण-दण्ड और उसी वर्ष फ्रांस के विरुद्ध ब्रिटेन द्वारा युद्ध की घोषणा से, फिर उनके प्रति लोगों की घृणा जाग्रत हुई। उनके तीन पुत्र अगस्त, 1793 में अमेरिका के वासी हो गये। उसके बाद शीघ्र ही प्रीस्टले और उनकी पत्नी अप्रैल, 1794 में पेंनसिलबेनिया के नोरदमबरलैंड में आकर बस गये। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रीस्टले के ब्रिटेन छोड़ने से लगभग एक सप्ताह पहले फ्रांस के क्रान्तिकारियों ने लेवोजिये को प्राणदण्ड दे दिया था। अमेरिका में कई प्रतिष्ठित सोसायटीज तथा 'अमेरिकन फिलोसफिकल सोसायटी' ने उनका स्वागत किया और पेंनसिलबेनिया विश्वविद्यालय में रसायनशास्त्र में प्रोफेसर का पद ग्रहण करने के लिये आमंत्रण दिया। लेकिन उन्होंने यह स्वीकार नहीं किया।

नोरदमबरलैंड में उनकी **टॉमस जेफरसन** के साथ मित्रता हुई। उनके जीवन के अन्तिम दस वर्ष यहीं शान्ति से बीते। प्रीस्टले से सबसे छोटे व प्रिय पुत्र की मृत्यु 1795 में और पत्नी की मृत्यु 1796 में हो गयी। इस कारण वह बहुत अकेलापन महसूस करने तथा बीमार रहने लगे।

जोजफ प्रीस्टले का स्वर्गवास 71 वर्ष की आयु में नोरदमबरलैंड में 6 फरवरी 1804 को हुआ था। उनकी मृत्यु के बाद, उनके घर को म्यूजियम में बदल दिया गया।

प्रीस्टले एक महान प्रायोगिक रसायनज्ञ थे। लेकिन जैसा कि वह स्वयं जानते थे, उनके निष्कर्ष हमेशा सही नहीं होते थे। वह जीवन के अन्त तक 'फ्लोजिस्टन सिद्धान्त' के समर्थक रहे, जब कि **लवोजिये** के प्रयोगों से सिद्ध हो चुका था कि **'फ्लोजिस्टन सिद्धान्त'** ग़लत है।

उन्होंने कुल मिलाकर लगभग 150 पुस्तकें लिखीं, जिनमें अधिकतर धार्मिक व शैक्षिक थीं।

कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी व्यक्ति की मृत्यु

के बाद लोग उनका महत्व समझते हैं। अपने जीवन काल में तो बर्मिघम वासियों ने प्रीस्टले को वह शहर छोड़ने पर मजबूर कर दिया था, उनकी मृत्यु के 17 वर्ष बाद, बर्मिघम वासियों ने ऑक्सीजन की खोज की शतवार्षिकी पर, **1875** में प्रीस्टले की मूर्ति स्थापित की।

प्रीस्टले के जन्म की 250वीं जयंती के अवसर पर अमेरिका के डाक विभाग ने इस प्रसिद्ध रसायनज्ञ का अभिनन्दन करने के लिये 20 सेंट का टिकट निकाला है, जिस पर प्रीस्टले का चित्र बना है। 'अमेरिकन इन्स्टीट्यूट ऑव केमिस्ट्स' ने प्रीस्टले के विशेष अभिनन्दन के रूप में इनका प्रथम दिवस स्मारक कार्ड निकाला है, जिसमें जोजफ प्रीस्टले के साथ ही नोरदमबरलैंड, पैंनसिलबेनिया की प्रयोगशाला में ऑक्सीजन तथा अन्य गैसों का आविष्कार करने में प्रयुक्त कुछ उपकरणों को दिखाया गया है। □□

आवश्यकता है एक पर्यावरणीय सुरक्षा परिषद् की

बर्ट्रेन्ड श्नाइडर

विश्व में इधर कुछ सकारात्मक घटनाएँ घटित हुयी हैं, जैसे कुछ क्षेत्रों की लोकतंत्र और स्वतन्त्रता की ओर अप्रत्याशित प्रगति। यद्यपि ऐसा सीमित क्षेत्रों में बहुधा अनिश्चित और कभी-कभी नाटकीय घटनाओं के साथ घटित हुआ है, परन्तु इस प्रकार की प्रगति अंतर्राष्ट्रीय तनाव में कुछ कमी लाई है और इनसे आशा को वास्तविक आधार मिला है।

परन्तु जन-नेताओं और जन-मत के लिये उपरोक्त उदाहरण यह भुलाने के लिये पर्याप्त कारण नहीं बन सकता कि हमारी पृथ्वी पहले की अपेक्षा अधिक संकट की स्थिति में है। यद्यपि वातावरण पर दुष्प्रभावों की आशंका के विषय में जागृति बढ़ी हैं, जिसका प्रमाण अनेक बैठकों में राज्याध्यक्षों की उपस्थितियों से मिलता है। यह रोम-क्लब जैसी संस्थाओं का कार्य है कि उन्होंने इन खतरों को पहचान कर उनसे बचाव, स्थायीकरण या सीमाबद्धीकरण से सुझाव प्रस्तुत किये हैं।

रोम-क्लब के सदस्य के रूप में हमारा विश्वास है कि हमारे पर्यावरण और विश्व-जीवन के सामने आने वाली इन चुनौतियों से संघर्ष करने के लिये प्रतियोगिता और सहयोग के संयोग से एक अंतर्क्षेत्रीय ढाँचे के भीतर एक व्यवस्था निर्मित करने का यह अत्यन्त उपयुक्त अवसर है।

पर्यावरण को हानि पहुँचाने वाले अनेक कारक सतत् जनसंख्या वृद्धि, भविष्य के तथाकथित सुरक्षित ऊर्जा-रूपों की उपलब्धि के संबन्ध में शंकाएँ, कृषि-उत्पादनों की अनिश्चितता जैसे जटिल, परस्पर गुम्फित अनेक कारकों से प्रभावित होते हैं।

उत्तर और दक्षिणा के बीच की लगातर चलाने वाली असमानताएँ इन समस्याओं को और अधिक जटिल तथा असमाधानीय बना देती हैं। रोम क्लब की हनोवर-बैठक ने 'विश्व-औद्योगीकरण' से सम्बन्धित विषयों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया था। इन विषयों के सम्बन्ध में गंभीर सामग्री हमें यूनेस्को के महानिदेशक **फेडरिको मेयर**, यू० एन० पर्यावरण कार्यक्रम (**UNEP**) के प्रशासनिक निर्देशक **मुस्तफा तोल्बा** और विश्व मौसम संगठन (W.M.O.) के महासचिव **जी० ओ० पी० ओबासी** के साथ कार्यकारी-सत्रों में प्राप्त हुयी।

पहले तीन प्रश्न सामने आए—

- क्या औद्योगीकृत देशों के आर्थिक विकास, जो सूचनाओं और सेवाओं पर अत्यधिक निर्भरता

महासचिव, क्लब आफ रोम, पेरिस

सौजन्य—डेवलेपमेंट फोरम, सितम्बर—अक्टूबर 1989

प्रदर्शित करता है, की वास्तविकता से 'औद्योगीकरण' शब्द की संगति है ?

- क्या आर्थिक अभिवृद्धि तकनीक पर जो सभी देशों और संस्कृतियों में विकास का एकमात्र अवश्यंभावी आदर्श है, पर आधारित है ?
- औद्योगीकृत देशों के सतत विकास द्वारा प्रभावित वातावरण को सुरक्षित रखने की सीमाओं को ध्यान ध्यान में रखते हुए हम तृतीय विश्व के देशों की तात्कालिक वैकासिक आवश्यकताओं को कैसे पूरा कर सकते हैं ?

हम इस बात पर एकमत थे कि विश्व-आर्थिक व्यवस्था के अनेक रूपों के विकास ने औद्योगीकृत देशों के शक्तिशाली समूहों का निर्माण किया है। यह समूह बर्बर और दयारहित आर्थिक प्रतियोगिता में प्रवेश ले रहे हैं—यह प्रवृत्ति विध्वंसक आर्थिक संघर्षों की ओर नहीं जाने दी जानी चाहिये।

उपरोक्त विश्व-आर्थिक-संघर्षों के निषेधात्मक परिणाम भी अब दिखाई देने लगे हैं, जिनसे धन और ऊर्जा की अत्यधिक हानि, तथा मानवीय और प्राकृतिक संसाधनों की अनियंत्रित फिजूलखर्ची संभव हो रही है। इनसे औद्योगीकृत, समाजवादी और विकासशील देशों के भीतर की सांस्कृतिक अस्मिताओं और नैतिक मूल्यों के लिये भी ख़तरा उत्पन्न हो गया है।

प्रतियोगिता आज प्रगति और समृद्धि का आधारभूत माध्यम सिद्ध हो चुकी है, जिससे नवाचार को प्रोत्साहन मिलता है। परन्तु असभ्यशोषण के एक स्तर पर पहुँचने के उपरांत प्रतियोगिता केवल भ्रष्टाचार, आधिपत्य, निर्धनता और मृत्यु की दिशा में जा सकती है, अन्य किसी ओर नहीं।

साथ-साथ तकनीक-आधारित उपभोक्ता समाज से उत्पन्न 'विश्व-औद्योगीकरण' पर्यावरण को इस रूप में हानि पहुँचाता है कि हमारे औद्योगिक समुदायों की जीवन-पद्धति को ही बदलना आवश्यक हो जाएगा।

विकासशील देशों की आर्थिक अभिवृद्धि, फिर भी एक मूलभूत आवश्यकता, एक चिन्ता का विषय और ऐसा दायित्व बनी रहती है जो पूरे अंतर्राष्ट्रीय समुदाय पर दबाव डालती है।

मानव-इतिहास में पहली बार, मनुष्य अपने ही पर्यावरण के अस्तित्व का विनाश करने को उद्यत है और पृथ्वी के अपकर्ष की प्रक्रिया प्रारम्भ कर चुका है। अब तक, प्रदूषण समस्याएँ कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित रही हैं और उनके समाधान भी क्षेत्रीय स्तर पर ही होते रहे हैं। 'हरित गृह अम्ल-वृष्टि (एसिड रेन); ओज़ोन पर्त की क्षति और संपूर्ण विश्व में अविघटनीय रासायनिकों के फैलाव जैसी विश्व-जनीन घटनाओं की उपस्थिति के कारण पर्यावरणीय समस्याओं का किसी एक देश द्वारा अकेले समाधान संभव नहीं रह गया है।

पर्यावरण-संतर्जनों को सीमांतीय भी नहीं कहा जा सकता, वरन् यह ऐसे तत्वों को निर्मित करते हैं जिन्हें उद्योग, कृषि, ऊर्जा और अन्य क्षेत्रों के नीति निर्धारणों में स्थान दिया जाना चाहिये।

शीर्षस्थ व्यक्तियों में, उद्योग-नेताओं को उनके कार्य की नवीन सामाजिक दृष्टि प्रस्तुत करने के लिये प्रोत्साहित किया जाना चाहिये। नीति-निर्माता अब उद्योग के पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभावों के प्रति अधिक सचेत होने के कारण नवीन प्रतिबन्धों की चर्चा करने लगे हैं।

यह प्रतिबन्ध, भविष्य के निर्धारक कारक बनेंगे, इनके लिये दूरगामी उद्देश्यों की स्वीकृति की आवश्यकता होगी जिनसे गुणवत्ता को बल देने वाली बेहतर अभिवृत्ति सुरक्षित हो सकेगी—यह सब कुछ उत्पादन और प्रबंधन की सर्वथा नवीन प्रणाली पर आधारित होगा। आज भी—औद्योगिक संगठन वित्तीय परिणामों की निरंकुशता पर उँगली उठाने लगे हैं जो उनकी विकास-नीतियों को आरोपित करते हैं।

हरित गृह प्रभाव

आज मानव जाति के समक्ष सबसे भयानक ख़तरा हमारे ग्रह की सतह का पहले से अधिक गर्म होते जाना है जिसके प्रभाव अक्षांश वाले क्षेत्रों के लिये विषुवत्-रेखीय क्षेत्रों की तुलना में अधिक स्पष्ट हैं। इनके अंतर्गत तापीय धाराओं, वर्षा के परिणाम और वार्षिक

वितरण और संम्बन्धित कृषि में होने वाले परिवर्तन आते हैं।

यद्यपि यह बढ़ता हुआ तापक्रम अनुत्क्रमणीय है परन्तु ऐसे अनेक कार्य हैं जिनके द्वारा इस प्रभाव की तीव्र गति कम की जा सकती हैं और इसे रोका जा सकता है। परन्तु इसके लिये एक विश्व-रणनीति की आवश्यकता पड़ेगी।

तात्कालिक उपायों में सबसे पहले ऊर्जा को बेहतर रूप में प्रयोग करने तथा उसके संरक्षण के लिये एक विश्व स्तरीय अभियान हो सकता है। ऐसे उपाय, जिन्हें किसी भी रूप में अपव्यय की कोटि में नहीं आना चाहिये, विश्व के नेताओं से अपेक्षा करते हैं कि जहाँ संभव हो वे एक राजनीतिक निर्णय लेकर प्राकृतिक गैस के उपयोग को प्रात्साहित करें और कोयले तथा तेल के उपयोग को कम करें। वे काटे गए जंगलों को पुनः लगवाने का कार्य भी तत्काल प्रारम्भ कराएँ क्योंकि इस प्रक्रिया के लाभकारी परिणाम सुदूर भविष्य में ही प्राप्त हो सकते हैं।

साथ-साथ हमको आवश्यकताओं के विस्तृत परास पर भी ध्यान केन्द्रित करना होगा और ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों तथा वातावरण के परिवर्तनों को सहन कर सकने वाले नवीन प्रकार के बीजों की खोज करनी होगी। खेती के नए तरीकों पर भी अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया जाना आवश्यक होगा। आज की कृषि उर्वरकों, कीटनाशकों और अपतृण-नाशकों के अंधाधुन्ध उपयोग के कारण अत्यधिक ऊर्जा-साध्य हो गयी है और यह वस्तुएँ पृथ्वी के जल भंडार को अत्यधिक प्रदूषित करती जा रही हैं।

पर्यावरण-प्रदूषण की समस्या का उत्तर-दक्षिण समस्या से अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। उत्तरी गोलार्द्ध के औद्योगीकरण की सफलता अनेक त्रुटियों तथा प्रकृति और उसके संसाधनों के शोषण के अप्रत्याशित और अवांछित परिणामों से धूमिल हुयी है। समस्याओं के समाधान मँहगे और प्रतिबन्धयुक्त होंगे। इन उपायों जैसे ओज़ोन के संरक्षण के उपायों पर सहमति, दक्षिणी गोलार्द्ध के देशों द्वारा इसलिये विरोध का विषय बनती है क्योंकि मूलतः यह समस्या उत्तरी गोलार्द्ध के देशों की भूलों का परिणाम है और दक्षिणी गोलार्द्ध के देश इन भूलों के लिये क्षतिपूर्ति नहीं करना चाहते।

इसी प्रकार, यह भी हमें समझना चाहिये कि वातावरण के संरक्षण की दृष्टि उत्तरी गोलार्द्ध के उद्योगों और विकास-प्रक्रिया को धीमा किया जाना विकासशील और अविकसित देशों को स्वीकार्य नहीं होगा क्योंकि औद्यौगिक और आर्थिक विकास उनके अस्तित्व की अनिवार्य शर्त है।

वैसे सारी संभावनाएँ निषेधात्मक ही नहीं हैं परन्तु यदि हमें इस दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति से बचना हो तो एक जुट होकर कार्य करना होगा। ऐसे कार्य में विलम्ब के परिणाम नाटकीय रूप भी ले सकते हैं।

वार्तालाप और शिक्षा

रोम-क्लब यह अनुभव करता है कि यह समय सभी सहयोगी घटकों—सरकारों, एन० जी० ओ०, शिक्षकों, उद्योगपतियों और ट्रेड-यूनियनों—को संघटित करने तथा मानव समाज को घातक रूप से हानि पहुँचा सकने वाले कारकों के विरुद्ध विश्व स्तर पर बचाव की प्रक्रिया प्रारम्भ करने का है। इस नई चेतना को बढ़ाने के लिये वार्तालाप और शिक्षा दोनों का उपयोग किया जाना चाहिये।

यह कार्य यू० एन० पर्यावरण कार्यक्रम (UNEP) यूनेस्को तथा शिक्षकों द्वारा निर्मित एक कार्यकारी दल बनाकर, जो व्यक्तियों और राष्ट्रों के लिये शिक्षण और सूचना प्रसारण का एक विस्तृत कार्यक्रम निर्मित करे, बढ़ाया जा सकता है।

रोम-क्लब ऐसी पहलें-जैसे संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण सुरक्षा परिषद् के निर्माण के उद्देश्य से उत्तर-दक्षिण के वार्तालाप के लिये गोष्ठियाँ आयोजित करने के कार्यक्रम को भी अपना सहयोग प्रदान करने को प्रस्तुत है।

हम विश्व-विकास के लिये सहयोग के उद्देश्य से एक 'गोलमेज़ सम्मेलन', जिसमें उद्योगपति, बैंक और पाँचों महाद्वीपों के राष्ट्रों की सरकारों के प्रतिनिधि भाग लें, के निर्माण का भी आह्वान करते हैं। इसके

विचारणीय विषयों में पर्यावरणीय प्रतिबन्धों के अंतर्गत प्रतियोगिता और सहयोग के समन्वय की आवश्यकता हो सकती है। इसे **सी० जी० डी० राउन्ड** का नाम दिया जा सकता है।

हम विश्व-औद्योगीकरण के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण की आवश्यकता का भी अनुभव करते हैं, जिसमें नवीन प्राथमिकताओं—पर्यावरण तथा ऊर्जा और प्राकृतिक संसाधनों की सुरक्षा—का समावेश होना चाहिये और इसे शैक्षिक-पाठ्यक्रमों में स्थान प्राप्त होना चाहिये। इस प्रकार के नवीन दृष्टिकोण के उपादान के रूप में शिक्षा मंत्रालयों, विद्यालयों, अध्यापकों, अभिभावक संघों और दूरदर्शन कार्यक्रमों का उपयोग किया जायेगा।

1972 में रोम-क्लब ने इस सम्बन्ध में अपनी पहली चेतावनी दी थी। तब से राजनीतिक जगत् और सामान्य जनता में इन समस्याओं के प्रति अधिक सचेतनता आ गयी है। तकनीक के छोटी और अधिक स्वच्छ औद्योगिक इकाइयों की ओर जाने और ऊर्जा और संसाधनों के मितव्ययी बनने की प्रवृत्ति विश्व औद्योगीकरण के प्रति नवीन आशा जगाती है। यह भी एक तथ्य है कि अध्ययन और संस्तुतियाँ तब तक व्यर्थ हैं जब तक उनके पीछे ठोस कार्यक्रम न हों। □

अनुवादक : राधवेन्द्र कृष्ण प्रताप, शिक्षाशास्त्र विभाग, ए० पी० एन० कॉलेज, बस्ती-272001

ऊर्जा संरक्षण

टोकामेक : मानव निर्मित सूर्य

प्रेम प्रकाश व्यास

पृथ्वी का सम्पूर्ण जीवन सूर्य पर निर्भर है। समस्त ब्रह्माण्ड को ऊर्जा देने वाले इस तारे को देवता यों ही नहीं कहा गया है। पृथ्वी के गर्भ से निकलने वाले ऊर्जा भण्डार, कोयला, पेट्रोलियम व प्राकृतिक गैस भी अपरोक्ष रूप से सूर्य से ही बने हैं, परन्तु जब से इन स्रोतों के समाप्त होने का खतरा मण्डराने लगा है, मानव ने नए ऊर्जा स्रोतों की खोज प्रारम्भ की। गैर परम्परागत ऊर्जा स्रोतों में सौर ऊर्जा, पवन ऊर्जा व सागर ऊर्जा के बाद अब बारी है **कृत्रिम सूर्य** की।

परमाणु ऊर्जा यद्यपि ऊर्जा का अपरिमित स्रोत है, किन्तु वह सुरक्षित नहीं कहा जा सकता है। 1968 में सोवियत रूस के वैज्ञानिक **लेव आन्द्रे विच आर्टेसिमोविच** ने एक अति सुरक्षित विधि खोज निकाली। इसका मूल सिद्धान्त सूर्य की ताप-न्युक्लीयर अभिक्रिया पर आधारित है, इसी कारण इसे कृत्रिम सूर्य भी कहा जाता है। "टोकामेक" रूसी भाषा का शब्द है जो "टोराइडल मैग्नेटिक चैम्बर" का संक्षिप्त रूप है। इसमें हाइड्रोजन के समस्थानिक ड्यूट्रियम का उपयोग किया जाता है। साधारण पानी के अणु में छः हजार अणु हाइड्रोजन पर एक अणु ड्यूट्रियम पाया जाता है, अतः पृथ्वी पर इसकी कमी नहीं है।

टोकामेक की कार्यप्रणाली समझने से पूर्व सूर्य की कार्यप्रणाली पर एक दृष्टि डाली जाय। सूर्य ऊर्जा का अपरिमित भण्डार है। इसमें उत्पन्न ऊर्जा का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इसमें उत्पन्न ऊर्जा का एक करोड़वाँ हिस्सा ही पृथ्वी तक पहुँच सकता है। सौर ऊर्जा सूर्य के मध्यभाग में उत्पन्न होती है, जिसका व्यास लगभग 14 लाख कि० मी० है तथा इसका तापक्रम लगभग एक करोड़ चालीस लाख डिग्री सैलिसियस होता है। इतने अधिक ताप पर कोई भी पदार्थ अपनी तीनों अवस्थाओं (ठोस, द्रव तथा गैस) में नहीं रह सकता है, वह अपनी चौथी अवस्था "प्लाज़्मा" में परिवर्तित हो जाता है। इस अवस्था में अणु तीव्र गति करते हैं और आपस में टकरा कर संयुक्त हो जाते हैं।

रा० मा० वि० जसाई 344001 (बाड़मेर), राजस्थान
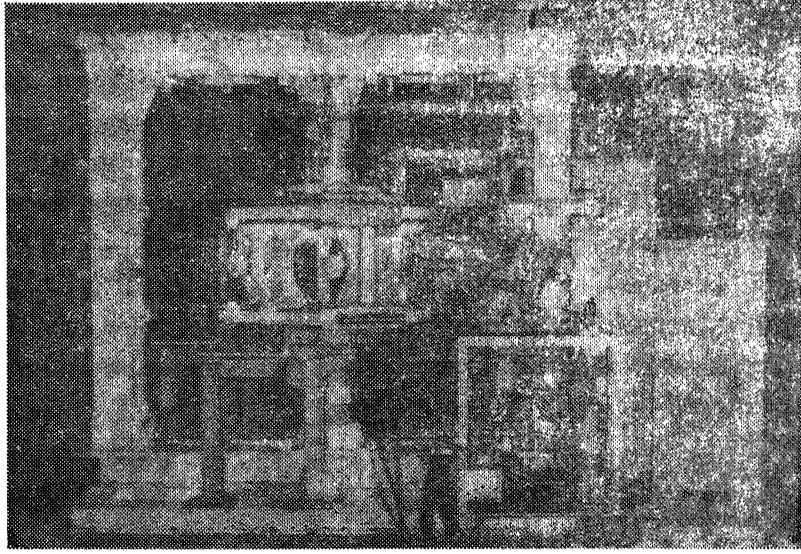
इसे 'नाभिकीय संलयन' कहा जाता है, इससे अत्यधिक मात्रा में ऊर्जा उत्पन्न होती है। अब तीव्र गति वाले प्रोटॉन पुनः इस नाभिक पर प्रहार करते हैं और उसे विखण्डित कर देते हैं; इसे 'नाभिकीय विखण्डन' कहते हैं। इसमें भी अत्यधिक ऊर्जा उत्पन्न होती है। सूर्य में निरन्तर हाइड्रोजन के अणु में हीलियम तथा हीलियम से हाइड्रोजन बनती रहती है। सूर्य की अपरिमित ऊर्जा का यही सिद्धान्त है।

टोकामेक या मानव निर्मित सूर्य में भी उपरोक्त सिद्धान्त काम में लिया गया है। इसमें हाइड्रोजन के स्थान पर उसका एक समस्थानिक ड्यूट्रियम का उपयोग किया जाता है। इसमें उच्च तापक्रम पर ड्यूट्रियम की प्लाज़्मा अवस्था प्राप्त की जाती है। टोकामेक दो प्रकार के होते हैं। प्रथम प्रकार के टोकामेक में तीव्र चुम्बकीय क्षेत्र के बीच गर्म प्लाज़्मा को रखा जाता है। इसे "एम० सी० एफ०" प्रकार का टोकामेक कहा जाता है। दूसरे प्रकार के टोकामेक में लेजर किरणों का उपयोग किया जाता है। इसे "आइ० सी० एफ०" प्रकार का टोकामेक कहते हैं। टोकामेक में एक धातु की वृत्ताकार नलिका में ड्यूट्रियम भरा रहता है व इसके चारों ओर तीव्र चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न किया जाता है। इसके मध्य उच्च तापक्रम रहता है जिससे ड्यूट्रियम प्लाज़्मा अवस्था में बदल जाता है और उसमें तीव्र गति से चक्रण प्रारम्भ हो जाता है। ये सभी परिस्थितियाँ उच्च शक्ति की विद्युत्धारा उत्पन्न करती हैं। इसके चारों ओर "जूलहीटींग कॉयल" नामक ट्रांसफार्मर लगा रहता है, जो विद्युत्धारा को आगे प्रवाहित करता है।

टोकामेक के आविष्कार के बाद से इसमें कई परिवर्तन व सुधार किए जाते रहे हैं। इस समय संयुक्त राज्य अमेरिका में "टी० एफ० टी० आर०", "अल्केटर" तथा "डी०-3" नामक टोकामेक कार्यरत है। जापान में "जे० टी०-60", सोवियत रूस में "टी०-10" व "टी० 15" तथा इंगलैण्ड में "जे० ई० टी०" (ज्वाइन्ट यूरोपियन टॉरस) नामक टोकामेक सफलतापूर्वक कार्य कर हैं। भारत भी इस क्षेत्र में पीछे नहीं है। भारत में प्रथम टोकामेक कलकत्ता की "साहा इंस्टीट्यूट ऑव न्यूक्लीयर फिजिक्स" के विधान नगर परिसर में जुलाई **1987** में स्थापित किया गया। जापान की 'तोशिबा इन्कॉर्पोरेशन' तथा 'साहा इंस्टीट्यूट' के वैज्ञानिकों के संयुक्त तत्वाधान में इसे प्रारम्भ किया गया। यह टोकामेक छोटे प्रकार के टोकामेक के सिद्धान्त पर

आधारित है। यह 269 से० मी० लम्बा व 252 से० मी० ऊँचा है, और इसका भार आठ टन है। इसकी भीतरी वृत्ताकार नली स्टेनलैस स्टील की बनी है। इसे प्रारम्भ करने के लिए तीव्र विद्युत्धारा से इसे गर्म किया जाता है। इसके पश्चात् इसमें ड्यूट्रियम को मिलाया जाता है। कुछ समय बाद ड्यूट्रियम प्लाज़्मा अवस्था में पहुँच जाता है और इसमें विद्युत्धारा उत्पन्न हो जाती है, जो ट्रांसफार्मर की सहायता से उपयोग में ली जाती है। एक बार ड्यूट्रियम डालने के बाद, यह वर्षों तक उपयोग में आता रहता है तथा इसमें विकिरण का ख़तरा बिल्कुल नहीं है।

भारत का दूसरा टोकामेट अहमदाबाद की 'भौतिकी अनुसंधान प्रयोगशाला' की इंस्टीट्यूट ऑव प्लाज़्मा रिसर्च में स्थापित किया गया है। इसका नाम "आदित्य" रखा गया है। अगले कुछ वर्षों में जापान में "एफ० ई० आर०", रूस में "ओ० टी० आर०" तथा अन्तर्राष्ट्रीय परमाणु एजेंसी के तत्वाधान में इंगलैण्ड में "एन० ई० टी०" नामक टोकामेक कार्य करना प्रारम्भ कर देंगे। बड़े टोकामेक की अपेक्षा छोटे संयन्त्र अधिक सफल साबित होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय परमाणु एजेन्सी ने इन संयन्त्रों को प्रोत्साहित करना प्रारम्भ किया है। नवम्बर 1986 में नगोया (जापान) में हुई सेमिनार में भी इसी बात पर बल दिया गया। लगता है अब छोटे-छोटे सूर्य मानव की ऊर्जा आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पृथ्वी पर उतर आए हैं। ◻◻

चूहे नुकसान पहुँचाते फिर भी पूजे जाते

प्रो० सीताराम सिंह 'पंकज'

पौराणिक पृष्ठभूमि

चूहे का इतिहास मानव इतिहास की तरह पुराना है। **भागवत पुराण** में ऐसी चर्चा आयी है कि मनुष्य को अगर अपने आवास गृह में मरे चूहे दिख जाएँ, तो उसे शीघ्र ही अपना आवास रिक्त कर देना चाहिए जाहिर है कि ऐसे उपदेशों का वैज्ञानिक महत्व है। क्योंकि चूहे प्लेग जैसे भयानक रोग के वाहक भीं हैं। सदियों से चूहों की पूजा होती आ रही है, क्योंकि ये देवताओं में प्रथम पूज्य **भगवान गणेश** के प्रिय वाहन हैं और विघ्न-विनाशक गणपति की प्रसन्नता के लिए उनके नन्हें किन्तु फुर्तीले वाहन-चूहे की पूजा स्वाभाविक ही है।

हेमेलिन का बाँसुरीवाला

कवि **राबर्ट ब्राउनिंग** की प्रसिद्ध कविता 'पाइड पाइपर ऑव हेमेलिन' से भला कौन अनभिज्ञ होगा? जर्मनी के हेमेलिन नगर में चूहों का आतंक इतना बढ़ गया कि नगर निगम के अधिकारी परेशान हो गए। जहाँ देखों, चूहे ही चूहे नज़र आते थे। संयोगवश उस नगर में एक बांसुरी वाला पहुँचा। उसने वादा किया कि वह सारे चूहों को शहर से भगा देगा। और हुआ भी ऐसा ही। वह बांसुरी बजाता हुआ शहर से गुजरने लगा और हेमेलिन के सभी चूहे उसके पीछे-पीछे चलने लगे। जर्मनी के शोधकर्त्ताओं के अनुसार यह एक सत्य घटना है। आज वैज्ञानिकों ने 'अल्ट्रासोनिक रैट रिपेलेण्ट' (Ultrasonic rat repellent) नामक यंत्र बना लिया है, जो चूहों को घर से दूर भगाने में सक्षम है।

बीकानेर का 'करणी माता' मन्दिर

राजस्थान के बीकानेर शहर के दक्षिण (30 मील दूर) एक गाँव है—'देशनोक'। यहाँ करणी माता का प्रसिद्ध मन्दिर है, जहाँ दिन-रात चूहों की पूजा होती

जंतु विज्ञान विभागाध्यक्ष, केदारसंत रामाश्रय महाविद्यालय, सरायरंजन, समस्तीपुर--848127 (बिहार)

है। कहते हैं, यहाँ लगभग 80 किलो अनाज प्रतिदिन चूहों को खिलाया जाता है। मन्दिर परिसर में असंख्य चूहे नजर आयेंगे। वहाँ दिन-प्रतिदिन चूहों की संख्या बढ़ती जा रही है। राजस्थान की चमत्कारी देवी 'करणी माता' का मंदिर पूरे भारतवर्ष में चूहों का एकमात्र अभय स्थल है। इस गाँव के लोग चूहों का बहुत आदर-सम्मान करते हैं। यहाँ के चूहे तरह-तरह के पकवान और मिठाइयों का रसास्वादन करते हैं। चूहों की इतनी अधिक आबादी के बावजूद इस गाँव में कभी प्लेग का आक्रमण नहीं हुआ। करणीमाता को शक्ति का अवतार माना जाता है।

घरेलू चूहा यानी एक ख़तरनाक स्तनधारी

धार्मिक मान्यताएँ जो भी हों, वैज्ञानिक दृष्टि से चूहे सबसे अधिक नुकसान पहुँचाने वाले स्तनधारी प्राणी हैं। ये फसलों, अनाजों, फलों आदि को बहुत अधिक नुकशान पहुँचाते हैं। इतना ही नहीं, चूहों से मनुष्य में तीस से अधिक प्रकार की बीमारियों के फैलने का ख़तरा भी बना रहता है। विशेषज्ञों का अनुमान है कि भारत में सम्पूर्ण फ़सल का लगभग पाँचवाँ भाग चूहों द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। ताजा सर्वेक्षण से यह ज्ञात हुआ है कि चूहे भारत में प्रतिवर्ष तकरीबन 25 मिलियन टन अनाज हज़म कर जाते हैं। इसके साथ ही भारी मात्रा में चूहे अनाज को इस कदर बर्बाद कर देते हैं कि वह मानव के उपयोग लायक नहीं रह जाता।

अदभुद् प्रजनन क्षमता

घरेलू, चूहा, जिसे जंतु वैज्ञानिक **'रैट्स रैट्स'** कहते हैं, की विचित्र प्रजनन क्षमता पर वैज्ञानिक भी दंग हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन (W.H.O.) के विशेषज्ञों के अनुसार चूहे और चूहिया का एक जोड़ा प्रति वर्ष साठ बच्चे पैदा कर सकता है। अगर ये सब बच्चे ज़िदा रह जाएँ और इनके बच्चे भी ज़िदा रहें, तो तीन वर्ष में इनकी संख्या 35 करोड़ हो जाएगी।

बैंगलोर स्थित केन्द्रीय खाद्य तकनीकी शोध संस्थान (Central Food Technological Research Institute) के वैज्ञानिकों ने चूहे के व्यवहार, उनकी प्रजनन क्षमता और उनके भोजन ग्रहण की आदतों पर विशेष अध्ययन किया है। इन अध्ययनों से यह ज्ञात हुआ है कि अपने देश में चूहों की संख्या लगभग 2,400 मिलियन है। यही नहीं, चूहे अन्न बर्बाद करने वाले सबसे ख़तरनाक जीव हैं। चूहों की संख्या इस देश में मनुष्यों की जनसंख्या से दस गुनी अधिक है। कर्नाटक में एक बार किये गए सर्वेक्षण-अध्ययन से यह ज्ञात हुआ कि फ़सल के समय प्रत्येक चूहा अपने बिल में 15 किलोग्राम तक अन्न जमा कर लेता है। तकरीबन 150 चूहे साल भर में आधा टन अनाज खा जाते हैं।

भारत में चूहों की 110 प्रजातियाँ हैं। चूहे बहुत तेज़ फ़ुर्तीले और हानिकारक जीव हैं। तेज़ प्रजनन क्षमता के कारण इनकी संख्या प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। संयुक्त राष्ट्र संघ के एफ० ए० ओ० संगठन के अनुसार पूरे विश्व में चूहों की संख्या 42, 500 करोड़ से भी ज़्यादा है। अगर चूहों को स्वच्छन्द छोड़ दिया जाय अर्थात् उन पर कोई प्रतिबंध न लगाया जाय, तो मनुष्य को खाने के लिए मुट्ठी भर अनाज न बचेगा और सर्वत्र भुखमरी की स्थिति व्याप्त हो जाएगी।

पिछले दिनों तिरुसाला स्थित **भगवान वेंकटेश्वर** के मन्दिर परिसर में चूहों के आतंक से सब कुछ अस्त व्यस्त हो गया था। हुआ यह कि चूहों के एक विशाल दल ने मन्दिर के भंडार घर में हमला बोल दिया। परिणामस्वरूप पूजा के लिए प्रसाद बनाना भी मुश्किल हो गया। मारक-ओषधियों के प्रयोग से उन पर नियंत्रण किया गया।

दिन-दिन बढ़ता आतंक

चूहों की दिन-दूनी और रात-चौगुनी बढ़ती जनसंख्या के साथ-साथ उनका आतंक भी निरंतर बढ़ता जा रहा है। भारत ही नहीं, अन्य विकासशील देशों—चीन, इटली, जावा, पाकिस्तान आदि में भी चूहों ने उत्पात मचा रखा है। ग़रीब देशों की हालत और भी बदतर है। इन देशों में खाद्यान्नों का अधिकांश चूहों तथा अन्य कीटों द्वारा बर्बाद कर दिया जाता है। चूहों

से मुक्ति पाने के लिए नित नए अनुसंधान किए जा रहे हैं। कई देशों में तो चूहे को मारने या उसकी पूँछ काट कर लाने के लिए इनाम भी दिये जाते हैं।

चूहे अनाज तो खाते ही हैं, अनाज बर्बाद भी करते हैं। चूहों द्वारा संदूषित अनाज के प्रयोग से अनेक प्रकार के रोगों के फैलने की संभावना बनी रहती है। चूहे की एक प्रजाति '**टेट्रा इंडिका हार्डविके**' प्लेग का प्रमुख वाहक है। खाद्यानों के अतिरिक्त चूहे पौधों के तनों, जड़ों, पत्तियों, फलों को भी नुकसान पहुँचाते हैं। घर में चूहे कपड़ों, किताबों, बिजली के तारों को कुतर देते हैं, जिससे आर्थिक क्षति और परेशानी होती है। इस दृष्टि से चूहे किसानों ही नहीं, आम जनता के भी शत्रु हैं।

चूहा उन्मूलन आवश्यक

ज़ाहिर है कि खेतों से गोदामों तक पहुँचने से पहले ही अनाज का बहुत बड़ा हिस्सा चूहों द्वारा हड़प लिया जाता है। निःसंदेह चूहों पर काबू पाकर अनाजों की भारी क्षति को बहुत हद तक कम किया जा सकता है। इस प्रकार चूहा उन्मूलन कार्यक्रमों को सफल बनाकर खाद्यान्न संकट पर नियंत्रण किया जा सकता है। किन्तु चूहों पर नियन्त्रण आसान नहीं है। इसका मुख्य कारण है चूहे की तेज़ प्रजनन क्षमता।

चूहों से मुक्ति के लिए **डॉ० एम ओहत्सु** नामक वैज्ञानिक ने एक नई विधि विकसित किया है। इस नई विधि में तरल नाइट्रोजन का प्रयोग किया जाता है। चूहे के बिलों में तरल नाइट्रोजन डाली जाती है। इसके अंदर पहुँचते ही बिलों के अंदर की ऑक्सीजन समाप्त हो जाती है और चूहे दम घुटने के कारण मर जाते हैं। इस विधि से एक बिल के चूहों को मारने के लिए 300-500 मिली लीटर तरल नाइट्रोजन की आवश्यकता पड़ती है।

भारत जैसे कृषि प्रधान देश के लिए चूहा उन्मूलन कार्यक्रम बहुत महत्वपूर्ण है। मारक ओषधियों के अतिरिक्त चूहेदानी के प्रयोग से भी चूहों को नष्ट किया जा सकता है। किन्तु **हैनरी साइमन** के अनुसार अल्ट्रासोनिक ध्वनि तरंग चूहों को मारने का सबसे शक्तिशाली उपाय है। इससे मानव को कोई क्षति नहीं पहुँचती। कुछ ऐसे भी रसायन हैं—फ्यूरोडेन्टीन कॉल्कीसाइन इत्यादि जिसे अनाजों में मिलाकर खिला दिया जाय, तो चूहे की प्रजनन क्षमता समाप्त हो जाती है।

चूहे से बहुत नुकसान हैं। किन्तु इसके कुछ उपयोग भी हैं। मानव की कुछ जातियों में चूहे का मांस काफी प्रिय हैं। इसके अतिरिक्त चूहे पर अनेक प्रयोग भी किये जाते हैं। सफ़ेद चूहे (**Albino ra's**) पर जीव-वैज्ञानिकों ने बेशुमार महत्वपूर्ण प्रयोग किये हैं। नई दवाओं का प्रयोग पहले चूहों पर किया जाता है। तत्पश्चात् उसे मानव के प्रयोग के लिए जारी किया जाता है।

खाद्यान्न संकट से मुक्ति पाने के लिए चूहे का उन्मूलन लाज़िमी है। चूहे चाहे जितने प्रणम्य और पूज्य हों, इनकी बढ़ती जनसंख्या मानव के लिए सदैव नुकसानप्रद और ख़तरनाक है। □□

रसीले अंगूर का उद्यान भी लगाएँ

दर्शनानन्द

अंगूर विश्व का एक लोकप्रिय फल है। यह बड़ा ही पौष्टिक, मधुर और स्वादिष्ट होता है। अंगूर के रस में शर्करा प्रचुर मात्रा में पाई जाती है। इसी के साथ इसमें अन्य लाभदायक लवण भी होते हैं। अंगूर का फल खाने पर शरीर में एक विशेष प्रकार की ताज़गी का अनुभव होता है। यह स्फूर्तिदायक भी होता है। अंगूर का फल आसानी के साथ हज़म हो जाता है।

उपनिदेशक उद्यान, इलाहाबाद मण्डल (से० नि०) सी-67, गुरु तेग बहादुर नगर (करेली हाउसिंग स्कीम) इलाहाबाद-211016

अंगूर **विटेसी** कुल का एक पौधा है, जो बेल के रूप में वृद्धि करता है। इसकी बेलें तारों पर चढ़ा और फैला कर अंगूर की पैदावार ली जाती है। अंगूर का वांशिक नाम **विटिस** और जाति नाम **विनिफेरा** है। इस प्रकार इसका लैटिन (वानस्पतिक) नाम **विटिस विनिफेरा** बना है। संस्कृत में अंगूर का नाम "द्राक्षा" है। हिन्दी में इसे अंगूर, पंजाबी में 'दाख' और 'अंगूर', गुजराती में 'द्राक्ष' तथा मलयालम में 'मधुरलम' और 'चारूफल' कहते हैं। सिन्धी में अंगूर का नाम 'द्राक' और केनारीज में 'द्राक्षे' व 'अंगूर' है।

उपयोग की दृष्टि से अंगूर तीन किस्मों में बाँटा गया है।

(1) ताज़ा खाने वाले अंगूर, जिन्हें टेबल-ग्रेप कहते हैं। ये अंगूर ताज़ा खाने में प्रयोग किए जाते हैं।

(2) सुखाने वाले अंगूर—ये अंगूर सुखा कर किशमिश व मुनक्का बनाने के काम में लाये जाते हैं। ताज़ा खाने में भी ये बहुत स्वादिष्ट होते हैं।

(3) मदिरा एवं रस बनाने वाले अंगूर—इस वर्ग के अंगूर के दाने मदिरा और रस बनाने में प्रयोग किए जाते हैं।

अंगूर का जन्म स्थान कैस्पियन सागर के समीप आरमेनिया नामक जिले में माना जाता है। वंश **विटिस** की **विनिफेरा** के अतिरिक्त अन्य बहुत सी जातियाँ (स्पीशीज़) हैं। इसकी बहुत अधिक किस्में हैं जो विश्व के विभिन्न भागों में वितरित हैं।

यह सर्वसिद्ध है कि अंगूर अब उत्तरी भारत में भी सफलतापूर्वक पैदा किया जा सकता है, जिसके लिए सर्वोपयुक्त किस्म "पर्लेट" का चयन किया जा चुका है। पहले इस क्षेत्र में अंगूर की बाग़वानी सफल नहीं थी। इसका मुख्य कारण यह था कि जो किस्में उपलब्ध थीं वे खट्टी थीं। इसके अतिरिक्त यदि कुछ मीठी किस्में थीं भी तो उनके पकने के समय वर्षा हो जाया करती थी। इस प्रकार वर्षा के कारण दाने फट जाते थे, जिससे सारी फ़सल नष्ट हो जाती थी।

इस समस्या के समाधान के लिए फल शोध संस्थान (अब औद्योगिक प्रयोग एवं प्रशिक्षण केन्द्र), सहारनपुर में कैलीफोर्निया और विदेशों के अन्य भागों से विभिन्न किस्मों का संकलन किया गया। इन किस्मों की कृतियों का अध्ययन करके अंगूर की कई किस्मों का चयन किया गया। इनमें से कुछ किस्मों का संकलन अध्ययन और चयन फल शोध केन्द्र (अब औद्योगिक प्रयोग एवं प्रशिक्षण केन्द्र) वस्ती में भी किया गया। चयनित किस्मों में पर्लेट, ब्यूटी सीडलेस, डिलाइट, रोमूलस, शूलर ह्वाइट, पूसा, सीडलेस, हिमरॉड, किशमिश सुर्ख, गुलाबी, कॉनवेन्ट लार्ज ह्वाइट व चण्डीगढ़ प्रमुख हैं।

अंगूर की इन किस्मों में पर्लेट, ब्यूटी सीडलेस, डिलाइट, रोमूलस, पूसा सीडलेस व हिमरॉड बीजरहित, किस्में हैं। शूलर ह्वाइट, किशमिश, सुर्ख गुलाबी, कॉनवेन्ट लार्ज ह्वाइट और चण्डीगढ़ बीजदार किस्में हैं। इसके अलावा ब्यूटी सीडलेस, शूलर ह्वाइट, गुलाबी, कॉनवेन्ट लार्ज ह्वाइट और चण्डीगढ़ के दाने रंगीन होते हैं जो गुलाबी रंग से लेकर काले रंग के होते हैं।

इन सभी किस्मों में सर्वोपयुक्त किस्म "पर्लेट" ही पाई गई, जिसे व्यापारिक स्तर पर उगा सकते हैं। उत्तरी भारत में लगाने हेतु अंगूर की किस्म का चयन करने में इसी बात का विशेष ध्यान रखना होता है; कि वर्षा होने के पहले ही उसके दाने पक जाएँ।

पर्लेट शीघ्र पकने वाली मध्यम वृद्धि की एक बीजरहित किस्म है, जो ताज़ा खाने के लिए अच्छी किस्म है। दाने मई के तीसरे सप्ताह से पकना आरम्भ होते हैं और अंतिम मई या अधिक से अधिक जून के प्रथम सप्ताह तक पक कर समाप्त हो जाते हैं। पर्लेट का गुच्छा गठा हुआ, माप में बड़ा, 17.7×10.7 सेमी० और बेलनाकार होता है। गुच्छे का औसत भार 287 ग्राम होता है। एक गुच्छे में दाने की संख्या 312 होती है।

पर्लेट का दाना हरियाली लिए हुए हल्के पीले रंग का तथा कुछ सफेद झलक लिए हुए मध्यम माप का होता है। एक दाना 1.27 सेमी० लम्बा और 1.27

सैमी० ही चौड़ा, भार में 1.49 ग्राम तथा गोलाकार होता है। दाने का छिलका पतला, गूदे से लगा हुआ तथा गूदा सफ़ेदी लिए हुए पारदर्शक, रसदार मीठा, मुँह में डालते ही घुल जाने वाला और मधुर सुवास का होता है। फलन अच्छी होती है। एक बेल से 12 किग्रा० तक अंगूर की पैदावार हो जाती है। दाने समान रूप से पकते हैं। रस में कुल घुलनशील ठोस पदार्थों (टोटल सॉल्यूबल सॉलिड्स-टी० एस० एस०) की मात्रा 18 प्रतिशत होती है।

जलवायु और मिट्टी

बिलोचिस्तान की भाँति उत्तरी भारत में अंगूर की बेलें शीतकाल में सुषुप्तावस्था में हो कर विश्राम करती हैं। इस समय बेलों की सारी पत्तियाँ झड़ जाती हैं। पाला पड़ने पर भी इन पौधों पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। बसन्त ऋतु अर्थात् फरवरी-मार्च में ये बेलें पुनः जाग्रत हो कर हरी-भरी होने लगती हैं।

बलुई दोमट मिट्टी, जिसमें जल निकास की समुचित व्यवस्था हो, अंगूर के लिए सर्वोपयुक्त होती है। चयनित स्थान पर जलस्तर भूमि-धरातल से कम से कम 2 मीटर नीचे रहना चाहिये। चयनित स्थान का पानी हल्का व मीठा होना चाहिए।

चयनित स्थान खुला हुआ होना चाहिए और वहाँ सूर्य का प्रकाश सरलतापूर्वक पहुँचना चाहिए। अंगूर लगाने के लिये छायेदार स्थान कभी नहीं चुनना चाहिए। जो स्थान पूर्व की ओर से आती हुई हल्की गर्म धूप के लाभों से वंचित रहे उसे भी नहीं चुनना चाहिए। अंगूर की बेलें लगाए जाने वाला स्थान गर्म हवा, आँधी, तूफ़ान, और गर्द के झोंकों से भी बचा रहना आवश्यक है।

प्रसारण

अंगूर के पौधों का प्रसारण कृन्तन (कटिंग) द्वारा होता है। कृन्तन तैयार करने के लिये अंतिम ऋतु की पकी टहनियों का चुनाव करना चाहिए। जनवरी के मास में जब अंगूर की बेलों की सालाना काट-छाँट होती है, उस समय कृन्तनों के लिए टहनियाँ इकट्ठी कर लेना चाहिए। कृन्तनों की मोटाई लगभग 1/2 सेमी० होनी चाहिए तथा लम्बाई 25-30 सेमी० होनी चाहिए। कृन्तन की लम्बाई डंठल की पर्व (इण्टरनोड) अर्थात् दो पर्वसंधियों (गाँठों) के बीच के स्थान की लम्बाई के ऊपर निर्भर करती है, क्योंकि हर कृन्तन में कम से कम चार पर्व-संधियों (नोड्स) का होना आवश्यक है।

कृन्तन काटने में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ऊपर का कटाव पर्व संधि (नोड) की आँख से एक सेमी० ऊपर हो। यह कटाव इस प्रकार तिरछा होना चाहिए कि आँख ऊपर वाले ढाल की ओर पड़े। नीचे वाला कटाव पर्व-संधि के समानान्तर ठीक पर्व-संधि (गाँठ) के नीचे होना चाहिए। कृन्तनों को पौधशाला की क्यारियों में कुछ तिरछा कर के इस प्रकार गाड़ना चाहिए कि दो गाँठें ज़मीन के भीतर गड़ जाएँ और दो गाँठों वाला भाग ऊपर से दिखाई पड़ता रहे। ये कृन्तनें क्यारियों में 30 सेमी० की दूरी पर गाड़नी चाहिए। अंगूर के उद्यान से कटिंग तैयार कर के पौधशाला तक ले जाने के लिये इन्हें 50 से 100 की संख्या में करके बंडलों में बाँध लेना चाहिए। अगर 2-3 दिन के बाद लगाना हो तो किसी छायेदार ठण्डे स्थान पर बंडलों को रखकर पानी छिड़कते रहना चाहिए।

अंगूर की कृन्तनों को गाड़ते समय इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखने की आवश्यकता है कि कृन्तनें उल्टी न गड़ जाएँ बल्कि सीधी ही गाड़ी जाएँ। एक सीधी कृन्तन में आँख की स्थिति गाँठ या पर्व-संधि के घेरे के ऊपर रहती है। इस प्रकार सीधी और उल्टी कृन्तन की दशा सुनिश्चित की जा सकती है।

कृन्तनों को क्यारियों में गाड़ने के बाद समय-समय पर सिंचाई व निराई-गुड़ाई करते रहना चाहिए। अंतिम फरवरी में या मार्च के प्रथम सप्ताह में कृन्तनें फुटाव लेने लगती हैं। इस प्रकार इनमें नई कोंपलें निकलने और वृद्धि करने लगती हैं। सितम्बर-अक्टूबर तक इनमें वृद्धि चलती रहती है। अगले वर्ष सुषुप्तावस्था

आने पर जाड़े के मौसम में ये पौधे उद्यान के रूप में मुख्य स्थान पर लगाने योग्य हो जाते हैं।

रोपण

अंगूर के पौधों के रोपण के पूर्व उपयुक्त दूरी पर गड्ढे खोद लेना चाहिए। अंगूर की एक बेल, जो 7.2×3.6 मीटर (24 × 12 फिट) की दूरी पर लगाने से 27 वर्ग मीटर (लगभग 300 वर्ग फीट) स्थान घेरती है, के लिये एक गड्ढा 1×1×1 मीटर माप का खोदा जाना चाहिए। इन्हें भरने के लिये प्रति गड्ढा 200-300 किलोग्राम गोबर की खाद, 3-5 कि० ग्रा० सुपर फॉस्फेट सिंगल, 10 कि० ग्रा० गोबर या लकड़ी की खाद तथा 10-12 कि० ग्रा० नीम या अंडी की खली के मिश्रण को सतह वाली मिट्टी के साथ मिला कर खूब कसकर भर देना चाहिए। यह कार्य नवम्बर के अन्त तक समाप्त कर डालना चाहिए।

आमतौर से अंगूर का रोपण 3×3 मीटर (10×10 फीट) की दूरी पर किया जाता है। ऐसी स्थिति में गड्ढों का माप 60×60×60 सेमी० (2×2×2 फीट) कर देनी चाहिए। इन गड्ढों में उपरोक्त खादों की एक तिहाई मात्रा सतह वाली मिट्टी के साथ भरना चाहिए। ऊपर से प्रति गड्ढा 40 ग्राम एल्ड्रेक्स भी छोड़ना चाहिए, जिससे दीमक से बचाव रहे। इस प्रकार एक गड्ढे में गोबर की खाद 100 किग्रा०, सुपरफॉस्पेट 1.5 किलोग्राम, राख 3 किग्रा० और नीम की खली 4 किग्रा० भरना चाहिए। पौधों का वास्तविक रोपण दिसम्बर-जनवरी में करना चाहिए, क्योंकि इस समय लताएँ सुषुप्तावस्था में रह कर विश्राम करती हैं। रोपण करने के लिए एक वर्ष की आयु का पौधा सर्वोत्तम होता है। रोपण के समय पौधा 30 से 45 सेमी० ऊँचा होना चाहिए। यदि अधिक ऊँचा हो तो ऊपर से छाँट देना चाहिए।

सधाई

रोपण के पश्चात् अंगूर की बेलों की सधाई तथा काट-छाँट की व्यवस्था करनी होती है। सधाई की कई प्रणालियाँ हैं जिनमें निफेन या पण्डाल प्रणाली प्रायः अपनाई जाती है। प्रत्येक प्रणाली में वृद्धि करती हुई बेल को आरम्भ में लकड़ी का सहारा देना चाहिए। समय-समय पर तने की शिखा और पार्श्व टहनियों को काटते और निकालते रहना चाहिए जिससे कि तने को एक पुष्ट रूप दिया जा सके। फिर भी यह ध्यान रखना चाहिए कि पत्तियाँ न टूटने पाएँ, जिससे कि भोजन पकाने और प्रदान करने का कार्य चलता रहे।

बेल का पुष्ट ढाँचा तैयार करने के लिए विभिन्न प्रणालियों में विभिन्न ऊँचाईयों के कोणीय लोहे के खम्भों एवं जस्ता चढ़े हुए मोटे तारों की आवश्यकता होती है। ये खम्भे ज़मीन में गाड़ कर उनके सहारे तार खींच दिए जाते हैं, जिन पर अंगूर की बेलें फैलती हैं।

काट-छाँट

चालू ऋतु की नवीन टहनी को कच्ची टहनी (शूट) कहते हैं। पिछले ऋतु की पुरानी टहनी को पकी टहनी (केन) कहते हैं। छँटाई करने के बाद पकी टहनी (केन) का बचा हुआ भाग 'स्पर' कहलाता है। बसन्त ऋतु में इन्हीं स्पर के फुटावों पर फूल और फल निकलते हैं।

काट-छाँट का कार्य अनिवार्य रूप से करना आवश्यक होता है। यह कार्य पिछले ऋतु की पकी टहनियों पर करते हैं। काट-छाँट करने के लिए मध्य जनवरी का समय सर्वोपयुक्त होता है। साधारणतः वेग से वृद्धि करने वाली किस्मों में पकी टहनियों को 6-12 गाँठों पर छाँटते हैं, जिसे 'केन प्रूनिंग' कहते हैं। जो बेलें कम वृद्धि करती हैं उन्हें 3-4 गाँठों पर छाँटते हैं, जिसे 'स्पर प्रूनिंग' कहते हैं।

फिर भी प्रत्येक किस्म की बेल के लिए एक विशेष गाँठ निर्धारित होती है, जिस पर छँटाई की जानी चाहिए। पर्लेट को 5-6 गाँठ पर छाँटना चाहिए, हिचरॉड को 6-7 गाँठ पर, कानवेन्ट लार्ज ह्वाइट को 7 गाँठ पर और पूसा सीडलेस तथा चण्डीगढ़ किस्मों को 7-8 गाँठ पर छाँटना चाहिए।

खाद प्रयोग एवं सिंचाई

खाद प्रयोग का कार्य काट-छाँट के तुरन्तु बाद करना चाहिए। अंगूर की बेल में नाइट्रोजन, फॉस्फोरिक अम्ल और पोटाश 2:1:4 के अनुपात में प्रदान करना चाहिए। 27 वर्ग मीटर (7.5 × 3.5 मीटर) या लगभग 300 वर्ग फीट (24 × 12 फीट) स्थान घेरने वाली एक वर्ष आयु की एक लता के लिए एक किग्रा० पोटेशियम सल्फ़ेट अर्थात् आधा किलोग्राम पोटाश की आवश्यकता होती है। इसी के आधार पर अन्य तत्वों व उर्वरकों की मात्रा ज्ञात की जा सकती है। अतः 3 × 3 मीटर पर लगी 9 वर्गमीटर या 100 वर्गफीट (10 × 10) स्थान घेरने वाली लता के लिए खाद की उपरोक्त मात्राओं का 1/3 भाग कर देना चाहिए। इस प्रकार विभिन्न आयु की बेलों की खादें व उर्वरक निम्नलिखित तालिका में दर्शाए गये हैं—

आयु	गोबर की खाद	सुपर फॉस्फेट सिंगल	नीम की खली	अमोनियम सल्फेट	पोटेशियम सल्फेट
एक वर्ष	15.50 किग्रा०	—	165 ग्राम०	—	250 ग्राम
दो वर्ष	25 "	—	335 "	—	505 "
तीन वर्ष	35 "	—	1000 "	—	770 "
चार वर्ष	35 "	—	1335 "	335 ग्राम	1100 "
पाँच वर्ष	40 "	—	1335 "	485 "	1385 "
छः वर्ष	50 "	—	1335 "	650 "	1660 "
सात वर्ष	50 "	160 ग्रा०	2000 "	865 "	1965 "
आठ वर्ष व उससे ऊपर	50 "	490 "	2000 "	1300 "	2300 "

खादों को निम्न प्रकार तीन बार में प्रयोग करना चाहिए—

(1) काट-छाँट के बाद

गोबर की खाद, सुपर फॉस्फेट और नीम की खली की पूर्ण मात्रा तथा अमोनियम सल्फेट की आधी मात्रा और पोटेशियम सल्फेट की 1/3 मात्रा काट-छाँट के बाद जनवरी में प्रयोग करना चाहिए।

(2) फूल आने के समय

अमोनियम सल्फेट की शेष आधी मात्रा तथा पोटेशियम सल्फेट की दूसरी 1/3 मात्रा फूल आने के समय मार्च के प्रथम सप्ताह में प्रयोग करना चाहिए।

(3) दाने पकने के एक मास पूर्व

पोटेशियम सल्फेट की शेष 1/3 मात्रा दाने पकने के एक मास पूर्व (15 अप्रैल से 15 मई के बीच) प्रयोग करें। पर्लेट में यह मात्रा अप्रैल के तीसरे सप्ताह में प्रयोग करनी चाहिए।

खाद प्रयोग के बाद तुरन्त पानी चला देना चाहिए। और समय-समय पर पानी देते और निराई गुड़ाई करते रहना चाहिए। दाने लग जाने पर दानों की वृद्धि हेतु सिंचाई की दशा में विशेष रूप से सतर्क रहना चाहिए। तेज़ धूप और गर्म हवा चलने पर 4-5 दिन पर भी सींचने की आवश्यकता पड़ती है।

पुष्पण-फलन

खाद-पानी प्रयोग करने के बाद अंगूर की बेलें बसंत ऋतु अर्थात् फरवरी-मार्च में जागृत हो जाती है और नई कोंपले निकलने लगती हैं। इसी समय फूलों के गुच्छे बेलों से निकलती नवीन कच्ची टहनियों के आधारिक भागों पर लगते हैं। लगभग एक मास बाद प्रायः अप्रैल के प्रथम सप्ताह में फूलों की कलियाँ खिलती हैं और उसी के साथ फल भी लग जाते हैं।

फसल मई-जून में प्राप्त होती है। वैसे तो अंगूर की बेलें दूसरे वर्ष से ही फल देने लगती हैं, फिर भी संतोष-जनक फलन तीन वर्ष में मिलता है।

कीट-व्याधियाँ

उद्धया भृंग (अंगूर फ्ली बीटल—**सिलॉडेन्ट स्ट्रीजिकॉलिस**) तथा ग्रेप वाइन गर्डलिंग बीटल (**गर्डलर-स्थनियाज ग्राइसेटर**) अंगूर के प्रमुख कीट हैं। उद्धया भृंग रात में पत्तियों में छेद बना कर क्षति पहुँचाते हैं। दिन में ये अंगूर की बेलों की ढीली छालों में छिप जाते हैं। इस कीट की रोकथाम के लिए बेलों की ढीली छालें निकाल कर जला देना चाहिए। इसके अतिरिक्त 0.02 से 0.04 प्रतिशत डाएजनान या एन्ड्रिन या 0.25 प्रतिशत डी० डी० टी० के घोल का छिड़काव करना चाहिए।

ग्रेपवाइन गर्डलर बेलों की पकी टहनियों को रात में गोलाई में आरी की तरह काट कर अलग कर देता है। इस बीच ध्वनि भी होती है जिससे कीट के आक्रमण का पता चल सकता है। बचाव के लिए भेदी गई टहनियों को एकत्रित करके जला देना चाहिए। इसके अलावा 0.04 प्रतिशत एन्ड्रिन या 0.02 प्रतिशत रोगर-40 का छिड़काव करके बचाव किया जा सकता है।

उपरोक्त के अतिरिक्त चैफर बीटल (भृंग) भी एक ऐसा कीट है जो रात में पत्तियों को खाता है और दिन में जमीन घुस जाता है और दिखाई नहीं पड़ता। कीट का गिड़ार जड़ों में घुस कर पौधों को समाप्त कर देता है। रोक-थाम के लिये 0.25 प्रतिशत डी० डी० टी०, 0.03 प्रतिशत एन्ड्रिन का छिड़काव किया जाना चाहिए।

थ्रिप्स (**राइपीफोरो थ्रिप्स क्रूजेन्टेटस**) भी हानि-कारक कीट हैं, जो पत्तियों का रस चूस डालती हैं। इस प्रकार पत्तियाँ पीली पड़ कर गिर जाती हैं। इसके अलावा ये कीट वृद्धि करते हुए अंगूर के दानों को भी क्षति पहुँचाते हैं। कीट के प्रभाव से अंगूर के दानों पर स्कैब (सूखी पपड़ी) जम जाती है। पुष्प-गुच्छों के रस भी ये कीट चूस लेते हैं। एन्ड्रिन 0.02 प्रतिशत या मैलाथियान 0.05 प्रतिशत का छिड़काव करना चाहिए।

व्याधियों में कालाव्रण (**एन्थ्रेक्नोज-ग्लोएसपोरियम एम्पीलोफेगम**) खर्रा रोग (पाउड्री मिल्ड्यू-'अनसीनुला निकेटर') तथा तुलासिता (डाउनी मिल्ड्यू-**प्लाज़्मोपारा विटीकोला**) रोग प्रमुख हैं। ये सभी कवक वाले रोग हैं।

कालाव्रण का प्रभाव वर्षा ऋतु में होता है, जिसमें कोमल पत्तियाँ व टहनियाँ काली पड़ कर झुलस सी जाती हैं। 450 लीटर पानी में 1.35 कि० ग्रा० फाइटोलान का घोल बना कर रख लेते हैं। तत्पश्चात् प्रति 450 लीटर उपरोक्त घोल में 4500 सी० सी० टेनक मिला लेना चाहिए। इसका छिड़काव जून के तीसरे सप्ताह से सितम्बर के अन्त तक 10-15 दिन के अन्तर पर करना चाहिए।

खर्रा रोग में पत्तियों पर सफेद पाउडर जम जाते हैं। बचाव के लिए सल्फर डस्ट का बुरकाव करना चाहिए।

तुलसिता रोग में पत्तियों के नीचे वाले भाग में सफ़ेद कवक की वृद्धि होने लगती है। बोर्डो मिक्सचर के छिड़काव से रोग का नियंत्रण किया जा सकता है।

फसल की कटाई और उपज

अंगूर के गुच्छे इनकी बेलों पर से केवल उसी समय काटने चाहिए जब कि दाने पूर्ण रूप से पक गये हों। कच्चा या अधपका गुच्छा काटने पर दाने बाद में नहीं पकते। दाने पकने पर मुलायम हो जाते हैं। इस अवस्था में गुच्छों की डण्ठलें भी नरम पड़ जाती हैं और उनमें सिकुड़नें आ जाती है। दाने चमकदार हो जाते हैं और पकने पर अपना विशेष रंग-रूप ग्रहण कर लेते हैं। दाने अर्धपारदर्शक हो जाते हैं और बाहर से बीज या बीज वाले भाग भी झलकने लगते हैं। दाने गुच्छों के आधार अर्थात् डण्ठल की ओर से पकते हैं। पर्लेट, ब्यूटी सीडलेस, डिलाइट, शूलर ह्वाइट मई के मध्य से मई के अन्त तक पकती हैं। हिमरॉड एवं पूसा सीडलेस मध्य जून या अन्तिम मई तक पक जाते हैं। कॉन्वेन्ट लार्ज ह्वाइट के दाने मध्य जून से अन्तिम जून तक पकते हैं। गुच्छों को तेज़ चाकू या सिकेटियर से काटना चाहिए। कटाई उस समय करनी चाहिए जबकि वायुमण्डल में नमी न हो और ओस न पड़ रही हो।

निफेन प्रणाली से लगाई गई अंगूर की एक बेल से 15 कि० ग्रा० अंगूर की उपज हो जाती है। इस प्रकार निफेन प्रणाली में प्रति हेक्टेयर 17000 कि० ग्रा० और पण्डाल प्रणाली में 40,000 से 50,000 कि० ग्रा० अंगूर की पैदावार हो जाती है।

उपयोग

अंगूर के दानों को ताजा खाने के अलावा डिब्बा-बन्दी करने तथा किशमिश व मुनक्के, रस, स्क्वाश, शर्बत, जैम, जेली, चटनी, अचार, सिरका एवं मदिरा का निर्माण करने में उपयोग करते हैं। □□

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय विज्ञान लेख प्रतियोगिता 1990

व्हिटेकर पुरस्कार

सर्वश्रेष्ठ लेख को 500 रु० का पुरस्कार

शर्तें

(1) लेख विज्ञान के इतिहास से संबन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।
(2) केवल प्रकाशित लेखों पर ही विचार किया जायेगा।
(3) लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है।
(4) प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।
(5) इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख जनवरी 1990 से दिसम्बर 1990 माह के बीच प्रकाशित हों।
(6) लेखक को साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख मौलिक है।
(7) विज्ञान परिषद् के सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।

लेख निम्न पते पर भेजें—

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव
संपादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

अखिल भारतीय विज्ञान लेख प्रतियोगिता—1990

हिन्दी विज्ञान साहित्य परिषद एवं **राजभाषा कार्यान्वयन समिति** (भा० प० अ० केन्द्र) के संयुक्त तत्वावधान में आयोजित हिन्दी विज्ञान लेख प्रतियोगिता हेतु प्रविष्टियाँ आमंत्रित हैं। लेख में किसी भी वैज्ञानिक विषय पर आधुनिक जानकारी होनी चाहिए। दो टंकित अथवा स्पष्ट लिखित प्रतियाँ (लगभग 3000 शब्द) वैज्ञानिक कार्यालय को भेजें। चित्रों को सफ़ेद काग़ज़ पर काली रोशनाई से बनाएँ।

पुरस्कार : प्रथम रु० 750; द्वितीय रु० 500; तृतीय रु० 250

इसके अतिरिक्त पाँच प्रोत्साहन पुरस्कार व अहिन्दी भाषी प्रतियोगियों के लिए दो विशेष पुरस्कार प्रत्येक रु० 150 के दिये जायेंगे। अतएव अपनी मातृभाषा का स्पष्ट उल्लेख करें।

अंतिम तिथि : 31 जुलाई 1990

विशेष : पुरस्कृत रचनाएँ वैज्ञानिक की संपत्ति होगी। वैज्ञानिक से संबंधित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकेंगे।

"वैज्ञानिक" हेतु रचनाएँ भी आमन्त्रित हैं। सभी प्रकाशित रचाओं पर पारिश्रमिक दिया जाता हैं।

पत्र व्यवहार का पता :
डॉ० शिव प्रकाश गर्ग
व्यवस्थापक, "वैज्ञानिक", भौतिकी धातुकी प्रभाग, भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र, बम्बई–400085

चमत्कारिक किरण : लेसर

विश्व देव

वीसवीं सदी के प्रारम्भ से लेकर अब तक सिद्धांतिक एवं व्यावहारिक भौतिक विज्ञान में अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटी हैं। किन्तु पिछले पाँच दशकों में भौतिक विज्ञान में जो सबसे महत्त्वपूर्ण घटना घटी वह है—लेसर का आयिष्कार।

लेसर का आविष्कार सन् 1958 में **चार्ल्स टाउन्स आर्थर शैलोव तथा टी० एच० मेनन** ने किया था। शुरू-शुरू में तो ऐसा लगा कि मनुम्य को लेसर के रूप में एक विनाशकारी अस्त्र मिल गया है परन्तु अचानक ही कुछ समय पश्चात् लोगों की इस धारणा में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया क्योंकि वैज्ञानिकों ने अब लेसर के शान्तिपूर्ण उपयोग ढूंढ लिए हैं।

वस्तुतः लेसर शब्द का अंग्रेजी में पूर्ण अर्थ 'लाइट एम्प्लिफिकेशन बाई स्टिमुलेटेड एमिशन ऑव रेडिएशन' है। इसका हिन्दी अर्थ 'विकिरण के उद्दीपित उत्सर्जन द्वारा प्रकाश प्रवर्धन' है।

लेसर किरण का सबसे अधिक रचनात्मक उपयोग अंतरिक्ष अनुसंधान के संबंध में हो सकता है। लेसर का एक विचित्र गुण यह है कि लाखों मील भेजे जाने पर भी यह किरण अत्यधिक कम क्षेत्र में फैलती है। वैज्ञानिक परीक्षणों के पश्चात् यह निष्कर्ष निकला है कि अगर लेसर को चंद्रमा पर भेजा जाये तो यह केवल 3 कि० मी० व्यास में ही फैलेगी।

लेसर किरण की अन्य बहुत सारी विशेषतायें हैं। लेसर मात्र ऊर्जा रूपांतरण का तरीका है, जिसके अंदर विद्युत् ऊर्जा की विशेषगुणों वाली विद्युत्-चुबकीय किरण में बदला जाता है।

लेसर दिशात्मकता, संबद्धता तथा उच्च तीव्रता का गुण होता है। चूंकि ये किरणें प्रकाश प्रवंधन की क्रिया के पश्चात् निकलती हैं अतः इन्हें अंग्रेजी के शुरू के अक्षरों को गढ़ कर लेसर का नाम दिया गया है। वैज्ञानिकों के अनुसार लेसर उन्हें भी कहा जाता है जहाँ से लेसर किरण की उत्पत्ति होती है।

प्रथम लेसर

विश्व के प्रथम लेसर का निर्माण सन् 1958 में हुआ था। **लेसर** से पहले **मेसर** का आविष्कार हुआ था। मेसर के आविष्कार का श्रेय संयुक्त रूप से तीन वैज्ञानिकों **जे० पी० गोरडन, एच० जे० गीगर** तथा **सी० एच० टाऊन्स** को जाता है। ये तीनों वैज्ञानिक अमेरिका के थे। मेसर निकलने वाली सूक्ष्म तरंगें आँखों को दिखाई नहीं देती हैं। लेसर तथा मैसर में यही सबसे महत्त्वपूर्ण अंतर है कि लेसर में प्रकाश किरणें पैदा होती हैं, जबकि मेसर में सूक्ष्म तरंगें पैदा होती हैं। मेसर का सम्पूर्ण अँग्रेजी अर्थ माइक्रोव एम्प्लिफिकेशन बाई स्टिमुलेटेड ऑव रेडिएशन'' है। मेसर का आविष्कार लेसर से 4 वर्ष पूर्व अर्थात् सन् 1954 में हुआ था।

लेसर के प्रकार

लेसर को मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित किया गया है।

(1) गैस लेसर

कार्बनडाइऑक्साइड हीलियम-नियॉन लेसर एक प्रमुख गैस लेसर है, जिसका नाम कार्बनडाइऑक्साइड लेसर है। इस लेसर के द्वारा 10 वाट तीव्रता का प्रकाश पुंज 1 वर्ग से० मी० क्षेत्र में केन्द्रित किया जा सकता है।

(2) ठोस पदार्थ लेसर

इस लेसर वर्ग में रूबी लेसर के साथ-साथ यांग नियोमिडियम लेसर इत्यादि आते हैं।

(3) अर्धचालक लेसर

कुछ पदार्थ विद्युत् के सुचालक होते हैं जैसे—लोहा, ताँबा, चाँदी आदि जबकि कुछ पदार्थ विद्युत् के

मकान नं० 1/2392 गली नं० 2, शांति बिल्डिंग के समीप, रामनगर मंडोलीरोड, शाहदरा, दिल्ली-110032

कुचालक होते हैं जैसे—लकड़ी, कागज़, काँच आदि। परन्तु कुछ पदार्थ ऐसे भी होते हैं जो विद्युत् के न तो सुचालक होते हैं और न ही पूर्ण रूप से कुचालक। ऐसे पदार्थ विद्युत् का थोड़ा-बहुत विरोध ज़रूर करते हैं। इन पदार्थों को वैज्ञानिकों ने अर्धचालक का नाम दिया। सिलिकॉन, गैलियमआर्सेनाइड जैसे कुछ पदार्थ अर्धचालक हैं। अनेक प्रयोगों के पश्चात् सन् 1962 में प्रथम अर्धचालक लेसर का जन्म हुआ। अर्धचालक लेसर बनाना अत्यधिक कठिन है। अर्धचालक लेसर में किरण पुंज गैलियम आर्सेनाइड अर्धचालक से प्राप्त की जाती है।

लेसर और चिकित्सा

चिकित्सा विज्ञान में लेसर द्वारा अनेक ऐसी बीमारियों का इलाज किया जा सकता है जिनमें शल्य-क्रिया के अलावा कोई और रास्ता नहीं बचता है यथा पथरी का इलाज, कैंसर का उपचार इत्यादि।

पथरी में लेसर

डॉक्टर **डटलर** तथा **एम० जॉन पेरिश** ने एक साथ मिलकर इस तकनीक का विकास किया। इस तकनीक में गुर्दे और मूत्राशय में बनी पथरियों को छोटे-छोटे टुकड़ों में लेसर के द्वारा तोड़ लिया जाता है तथा पथरियाँ मूत्र के साथ छोटे-छोटे बारीक टुकड़ों के रूप में बाहर आ जाती हैं।

कैंसर में लेसर

वैसे तो इस भयानक रोग का इलाज पूर्णतः संभव नहीं हो पाया है, लेकिन फिर भी यदि कैंसर का पता प्राथमिक अवस्था में चल जाए तो इससे छुटकारा पाया जा सकता है। परन्तु अब लेसर किरण द्वारा कैंसर का उपचार की संभावनाएँ पूरी तरह निश्चित सी होती जा रही हैं। लेसर द्वारा अब तक कैंसर पर किए गए सभी परिणाम आशाजनक निकले हैं। लेसर द्वारा मनुष्य के अंदर स्थित कैंसर ट्यूमरों को, स्वस्थ कोशिकाओं को बिना हानि पहुँचाए नष्ट किया जाता है। इस प्रक्रिया के परिणाम आशाजनक हैं।

लेसर के अन्य उपयोग

(2) दूरी नापने में,
(2) संचार सेवाओं में,
(3) धातुओं को काटने, छेदने, जोड़ने में,
(4) अंतरिक्ष विज्ञान में, और
(5) प्रतिरक्षा विज्ञान में।

इनके अतिरिक्त अन्य अनेक क्षेत्रों में भी इस चमत्कारिक किरण लेसर का उपयोग बखूबी किया जा रहा है। इस प्रकार लेसर के आविष्कार ने पिछले कुछ दशकों से भौतिक विज्ञान को एक नया आयाम दिया है। विज्ञान के इतिहास में एक नया अध्याय जुड़ गया है। □□

भागीरथी नदी में प्रदूषण अध्ययन —भौतिक एवं रासायनिक गुण

डॉ० आशुतोष गौतम

भागीरथी नदी गढ़वाल हिमालय में स्थित गंगोत्री हिमनद में गोमुख (ऊँचाई 3950 मी०) नामक स्थान से जन्म लेकर अपना लम्बा सफर शुरू करती है एवं ऊँचे-नीचे पहाड़ी मार्गों में हिचकोले खाती हुयी ऋषिकेश (335 मीटर) में अपने आरामदायक मैदानी सफर के लिए प्रवेश करती है। यह अपने पहाड़ी सफर में कई विकासशील शहरों एवं गाँवों से गुजरती है। साथ ही साथ अनेक छोटी-नदियों को भी अपने अन्दर समावेशित करती हुयी निरन्तर बढ़ती रहती है। देवप्रयाग में यह अलकनन्दा (जो कि अलकापुरी ग्लेशियर से जन्म लेकर देवप्रयाग तक लगभग 179.0 कि० मी० का सफर तय करती है) से संगमित होकर भारत की पवित्र नदी "गंगा" के नाम से उच्चारित की जाती है। इस पवित्र नदी के तट पर स्थित तीन शहर-उत्तरकाशी (1160 मी०), टिहरी (778 मी०) एवं देवप्रयाग (460 मी०) तीव्र विकास के क्षणों से गुजर

रुकमणी माई की धर्मशाला, मालवीय मार्ग, ऋषिकेश-249201, देहरादून, उत्तर प्रदेश

रहे हैं। इनमें सड़क निर्माण, शहर का विस्तार तथा बाँध निर्माण प्रमुख हैं। इनके साथ-साथ यहाँ की जनसंख्या भी निरन्तर बढ़ती जा रही है। इन सभी की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए यहाँ के प्राकृतिक साधनों का अन्धाधुन्ध दोहन किया जा रहा है, जिसके फलस्वरूप यहाँ का प्राकृतिक सन्तुलन बिगड़ रहा है एवं पर्यावरण प्रदूषित हो रहा है। मुख्यतः यहाँ पर जलीय पर्यावरण अधिक संकट में है। अतः इस पर विभिन्न विकास कार्यों का प्रभाव देखने के लिए भागीरथी पर दो वर्षों तक सर्वेक्षण किया गया एवं पाया गया कि इस नदी का जल निरन्तर प्रदूषण की ओर अग्रसरित है।

इसके लिए नदी पर एक प्रारम्भिक सर्वेक्षण किया गया तथा छः स्थानों को अध्ययन के लिए चुना गया (उत्तरकाशी-1, 2, 3; टिहरी-4, 5; तथा देवप्रयाग-6)। इन स्थानों से प्रत्येक माह एक निश्चित तिथि के जल के नमूनों का रासायनिक एवं भौतिक गुणों के आधार पर परीक्षण किया गया। विभिन्न गुणों ने उतार-चढ़ाव दर्शाये, उसी के आधार पर प्रस्तुत हैं कुछ निष्कर्ष—

भागीरथी, हिमनद से उत्पन्न होने वाली नदी है जिसके कारण यह अन्य नदियों से भिन्न जल-स्तर के उतार-चढ़ाव को दर्शाती है। इसमें सर्दियों में बहुत कम जल बहता है जिसका स्तर वर्षा के मौसम तक लगातार बढ़ता जाता है एवं पुनः कम होना प्रारम्भ कर देता है। इस नदी के लगभग सभी भौतिक गुण इसके जल स्तर से प्रभावित हैं। जल का तापमान सर्दियों में कम पाया जाता है जो कि वर्षाकाल तक बढ़ता रहता है। यह तापमान नदी के ऊपरी भाग से निचले भाग की ओर लगातार बढ़ता रहता है। इसका तापमान सन् 1986 की अपेक्षा 1987 में अधिक पाया गया।

कण्डक्टिविटी का मान सर्दियों में अधिक पाया गया। इसका मुख्य कारण पानी का कम स्तर होना है, जिसमें कि घुलित पदार्थों की मात्रा अधिक होती हैं। जबकि वर्षा एवं गर्मी के मौसम में अधिक पानी होने के कारण इनकी सान्द्रता कम हो जाती है। इसका मान नदी के ऊपरी भाग से बढ़ता है जो कि मल-जल आदि डाले जाने के कारण होता है।

पानी में गँदलापन, जो कि पानी के अन्दर सूर्य प्रकाश को जाने से रोकता है, गर्मी एवं बरसात में अधिक पाया गया तथा इसका मान ऊपरी भाग से नीचे की ओर बढ़ता है, जिसका कारण मल-जल का डाला जाना तथा विभिन्न निर्माण कार्य हैं, जिनसे प्राप्त मलबा सीधे नदी में डाल दिया जाता है।

पूर्ण ठोस पदार्थ भागीरथी के जल में गर्मी एवं वर्षा के समय अधिक पाये गये, जिसका कारण पहाड़ों से मिट्टी का बहना है। प्रत्येक मौसम में इसका मान ऊपरी भाग से निचले भाग की ओर बढ़ता है। इसका मुख्य कारण विभिन्न निर्माण कार्य हैं।

जब किसी भी जल में मल-मूत्र का विसर्जन किया जाता है तो उस जल में कार्बनिक पदार्थों की मात्रा बढ़ जाती है, जिसके कारण जल प्रदूषित हो जाता है। भागीरथी के जल में भी उसका मान बढ़ रहा है। क्योंकि जैविकीय ऑक्सीजन आवश्यकता एवं रासायनिक ऑक्सीजन आवश्यकता का मान सन् 1986 की अपेक्षा 1987 में अधिक पाया गया। इनका मान गर्मी एवं बरसात की अपेक्षा सर्दियों में अधिक पाया गया तथा निचले भागों की ओर बढ़ता है। इसका मुख्य कारण इस क्षेत्र की बढ़ती जनसंख्या है जिसके कारण नदी में जाने वाले मल-जल की मात्रा दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।

जैविकीय ऑक्सीजन आवश्यकता तथा रासायनिक ऑक्सीजन आवश्यकता के अलावा ऑक्सीकरण अपचयन विभव तथा सूचक भी जल में कार्बनिक पदार्थों की स्थिति बताने में सहायक हैं। इन दोनों का मान जब घटता है तो उसमें जैविकीय अभिक्रिया बढ़ती है, जिसका मुख्य कारण कार्बनिक पदार्थों का बढ़ना है। भागीरथी में भी इनका मान सर्दियों में गर्मी एवं वर्षा काल की अपेक्षा कम पाया गया तथा निचले भाग में भी ऊपरी भाग की अपेक्षा घटता जाता है। अतः भागीरथी के जल में कार्बनिक पदार्थों की मात्रा वर्ष प्रतिवर्ष बढ़ रही है।

घुलित ऑक्सीजन, ऑक्सीजन की वह मात्रा है जो कि किसी भी जल में पाई जाती है और प्रत्येक प्राणी के लिए आवश्यक है। भागीरथी के जल में इसकी मात्रा वर्ष 1987 में 1986 की अपेक्षा कम पाई गई। इसका मान गर्मी एवं वर्षाकाल में कम तथा सर्दियों में अधिक पाया गया जो कि गर्मी एवं बरसात में जल में ठोस पदार्थों की अधिकता तथा तापमान बढ़ने के कारण होता है। इसकी मात्रा नदी के ऊपरी भाग से निचले भाग में आमतौर से कम पायी गयी।

भागीरथी के जल में स्वतंत्र कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा गर्मी एवं वर्षा में अधिक पायी गयी। सर्दियों में इसकी कम मात्रा जल में उपस्थित सूक्ष्म पौधों की संख्या बढ़ जाने के कारण होती है, क्योंकि इससे फोटोसिन्थेसिस की अभिक्रिया भी बढ़ जाती है एवं स्वतंत्र कार्बन डाइऑक्साइड का उपयोग बढ़ जाता है। इसका ऊपरी भाग से निचले भाग की ओर बढ़ने का मुख्य कारण मल-जल है जिससे कि नदी में कार्बनिक त्याज्यों की मात्रा बढ़ जाती है, जैसा कि बी० ओ० डी० एवं सी० ओ० डी० भी दर्शाते हैं।

पूर्ण क्षारकता में बाईकार्बोनेट्स हमेशा पाये गये। इनका मान सर्दियों में अधिक तथा गर्मी एवं वर्षाकाल में कम पाया गया जो कि जल का स्तर बढ़ जाने के कारण हुआ।

पूर्ण कठोरता का मान सर्दियों में अधिक तथा गर्मी एवं वर्षाकाल में कम पाया गया जो कि कैल्शियम एवं मैग्नीशियम आयनों की मात्रा के तनु हो जाने के कारण होता है। इसका मान नदी के ऊपरी भाग से निचले भाग की ओर बढ़ने का कारण मल-जल तथा आसपास की चट्टानें हैं।

इन सभी निष्कर्षों से पता चलता है कि भागीरथी के जल में कार्बनिक त्याज्यों की मात्रा एवं रेत-मिट्टी आदि की मात्रा यद्यपि विभिन्न मानकों के अनुसार कम है, परन्तु लगातार बढ़ रही है, जिसके कारण इसके जल की गुणवत्ता निरन्तर कम होती जा रही है। अर्थात् इसका जल प्रदूषण की ओर बढ़ रहा है। यदि यही स्थिति रही तो भविष्यकाल में यह अत्यधिक प्रदूषित हो जायेगी तथा जब गंगा की जननी ही प्रदूषित होगी तो फिर गंगा की क्या स्थिति होगी, यह समस्या विचारणीय है। □□

साबुन और स्वास्थ्य

प्रो० अजय कुमार चतुर्वेदी

स्वच्छता, अच्छे स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अच्छे स्वास्थ्य से ही जीवन सरल व सुखमय हो जाता है। स्वच्छता से तात्पर्य यह है कि हम उन वस्तुओं, गन्दगी को हटा दें जो कीटाणुओं को पैदा कर, बीमारियों को निमंत्रण देती हैं, जिससे हमारा स्वास्थ्य गिर जाता है और जीवन नीरस बन जाता है जहाँ हम रहते हैं उस स्थान को झाड़-पोंछकर स्वच्छ रखें जिससे कीटाणु पैदा न हों और देखने में भी अच्छा लगे। सब वस्तुएँ व्यवस्थित हों। हमारा शरीर व कपड़े भी गन्दे हो जाते हैं यदि इनकी सफाई न करें तो देखने में तो अच्छे नहीं ही लगते बीमारियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। इसलिए कपड़े को साफ रखने के लिए धोना चाहिए। यदि यह सफाई किसी रासायनिक पदार्थ के द्वारा होती है तो स्वच्छता अधिक आती है और देखने में भी सुन्दर लगता है। यही रासायनिक पदार्थ साबुन के नाम से जाना जाता है।

साबुन का प्रयोग तो आज सभ्यता का मापदण्ड बन गया है। तभी यह माना गया है कि जो देश जितना अधिक साबुन का प्रयोग करता है वह उतना ही अधिक सभ्य है। इसका तात्पर्य यह है कि वहाँ के नागरिक स्वच्छता की ओर विशेष ध्यान देते हैं और अपने स्वास्थ्य को अच्छा बनाये रखते हैं। इसलिए आज साबुन सभ्य समाज की ज़रूरत बन गया है, विलासिता की वस्तु नहीं।

रसायनशास्त्रियों के अनुसार साबुन एक रासा-

रसायन विभाग, धर्म समाज कॉलेज, अलीगढ़, उत्तर प्रदेश

यनिक पदार्थ है। साबुन उच्च आयु भार वाले वसा अम्लों का सोडियम या पोटेशियम लवण है। इसमें जो वसा अम्ल प्रयोग में आते हैं उनके कार्बन की संख्या कम से कम 17 या अधिक भी होती है। ये अम्ल हैं औलिक, पामिटिक, स्टायटिक अम्ल।

साबुन ठोस जल में घुलनशील होता है। इसका घोल चिकना होता है इसका मुख्य गुण गंदगी (चिकनाई को दूर करना है साथ ही शरीर और कपड़े को कोई हानि नहीं पहुँचता इसीलिए सफाई में साबुन की मुख्य भूमिका है।

साबुन दो प्रकार का होता है। इस वर्गीकरण का आधार वसा अम्ल का स्वभाव व सोडियम और पोटेशियम की उपस्थिति है।

(1) कठोर साबुन

उस साबुन को कहते हैं जिसमें संतृप्त वसा अम्ल व सोडियम होता है। यह कपड़े धोने के काम आता है।

(2) मुलायम साबुन

उस साबुन को कहते हैं जिसमें संतृप्त वसा अम्ल होते हैं। यह साबुन नहाने व हजामत बनाने के काम आता है।

साधारणतया साबुन, तेल और वसा के जल अपघटन, जोकि सोडियम हाड्रोऑक्साइड के द्वारा सम्पन्न होती है, से प्राप्त किया जाता है क्योंकि तेल और वसा ग्लिसरोल और वसा अम्ल के ट्राईएस्टर हैं। यह जल अपघटन पर वसा अम्ल का सोडियम लवण देता है, जिसे साबुन कहते हैं।

$$\begin{array}{ll} CH_2.O.CO.R & CH_2-OH \\ | & | \\ CH.O.COR + 3NaOH = & CH\text{-}OH + 3RCOONa \\ | & | \\ CH_2.O.CO.R & CH_2-OH \end{array}$$

वसा ग्लिसरोल साबुन
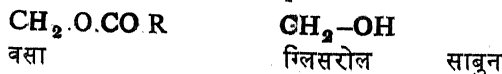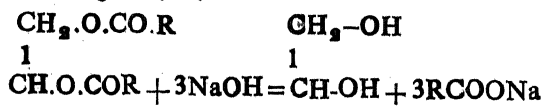
इस जल अपघटन द्वारा साबुन बनाने की क्रिया को रसायनशास्त्री 'सोपेनीफिकेशन' कहते हैं। साबुन बनाने की विधि दो प्रकार से प्रयोग में आती है।

(1) ठन्डी विधि

इस विधि में तेल को लोहे के बर्तन में लेकर हिलाते हैं और कास्टिक सोडा का विलयन मिलाते जाते हैं। कुछ मात्रा में सिलीकेट या स्टार्च भी डालते है। इसे जमने के लिए रात्रि भर रख देते हैं फिर इच्छानुसार टुकड़ों में काट लेते हैं और उपयोग करते हैं।

(2) गर्म विधि

इस विधि में तेल और कास्टिक सोडा को मिला कर गर्म करते हैं, इसलिए यह गर्म विधि कहलाती है। इस विधि को दो तरीकों से अपनाया जाता है, इस कारण दो विधियाँ हैं, [1] केटल विधि [2] हाइड्रोलाइजर विधि।

(1) केटल विधि

यह विधि पुरानी विधि है। इस विधि द्वारा छोटे पैमाने पर साबुन तैयार किया जाता है। इस विधि में स्टील की विशेष केटल का प्रयोग करते हैं इसलिए इस विधि को केटल विधि कहते हैं। यह कई चरणों में पूरी होती है।

(i) सोपेनीफिकेशन

तेल को केटिल में लेते हैं और इसे भाप से गर्म करते हैं। अब कॉस्टिक सोडा का 10% घोल धीरे-धीरे मिलाते हैं। इसे गर्म करते रहते हैं जिससे तेल और सोडा अच्छी तरह से मिल जाते हैं। कई घण्टे तक गर्म करते हैं जिससे 'सोपेनीफिकेशन' क्रिया पूर्ण हो जाय।

$$C_3H_5\ (O.CO.C_{17}H_{35})_3 + 3NaOH =$$

तेल

$$C_3H_5\ (OH)_3 + 3C_{17}H_{35}\ COONa$$

ग्लिसरोल साबुन
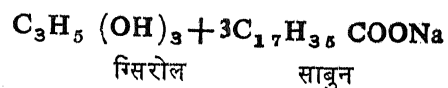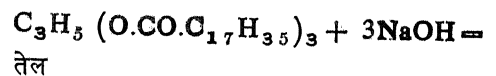
(ii) नमक मिलाना

जब सोपेनीफिकेशन पूर्ण हो जाती है तब नमक मिलाते हैं और बराबर गर्म करते रहते हैं, जिससे साबुन अलग हो जाता है। साबुन हल्का होता है इसलिए सतह पर तैरता है। इस साबुन को अलग कर लेते हैं।

(iii) दुबारा सोडा मिलाना

साबुन जो प्राप्त हुआ इसे कॉस्टिक सोडा के साथ उबालते हैं जिससे सोपेनीफिकेशन पूर्ण हो जाती है और अधिक साबुन बनता है। इसे अलग कर लेते हैं। अब साबुन को पानी के साथ उबालते हैं, जिससे सोडा की अधिकता दूर हो जाती है। इस घोल को स्थिर करते हैं। जिससे साफ साबुन ऊपर आ जाता है। इसे अलग कर लेते हैं।

(iv) पूर्ण क्रिया

साफ साबुन को स्विग पाइप की मदद से क्रूचर में डाल देते हैं। क्रूचर में पंखे वाला स्टटर होता है और चारों ओर भाप की जैकेट होती है। क्रूचर में भार बढ़ाने वाले पदार्थ जैसे स्टार्च, टेल्क, मारबल, बोरेक्स, सिलीकेट, रंगीन पदार्थ, खुशबू डालकर हिलाते हैं, जिससे सब मिल जाय। अब साबुन को गर्म हवा में सुखाते हैं, और टुकड़ों में काट लेते हैं। इस प्रकार साबुन बन जाता है।

(2) हाइड्रोलाइजर विधि

यह विधि लगातार विधि है यह विधि आधुनिक है। इस विधि में वसा की हाईड्रोलिसिस होती है इसी कारण यह हाइड्रोलाइजर विधि कहलाती है। यह विधि भी कई चरणों में पूर्ण होती है।

(i) वसा की हाइड्रोलिसिस

जिस बर्तन में हाइड्रोलिसिस होती है। वह हाइड्रोलाइजर कहलाता है। यह 65 फुट लम्बी चिमनी होती है। इसमें वसा उत्प्रेरक जिंक ऑक्साइड के साथ रखते हैं। नीचे से पानी मिलाते हैं। इस चेम्बर को 250 से० ताप व 40-50 वायुमण्डलीय दाब पर गर्म करते हैं। वसा हाइड्रोलाइज्ड होकर वसा अम्ल और ग्लिसरोल में परिवर्तित हो जाती है। ग्लिसरोल का घनत्व अधिक होने के कारण वह चेम्बर के नीचे भाग में जमा हो जाती है और वसा अम्ल पानी के साथ भाप के रूप में ऊपर की ओर से बाहर आते हैं। इन वसा अम्लों को ठण्डाकर वेक्यूम स्टिल में डाल देते हैं।

(ii) वेक्यूम डिस्टीलेशन

शून्य में उबालने पर पानी की मात्रा धीरे-धीरे कम हो जाती है। वसा अम्ल की भाप जो प्राप्त होती इकट्ठा कर ठण्डा कर देते हैं, और द्रव वसा अम्लों को प्राप्त कर लेते हैं।

(iii) उदासीनीकरण

जो वसा अम्ल प्राप्त हुए उनमें 10% कॉस्टिक सोडा का घोल धीरे-धीरे मिलाते हैं और हिलाते रहते हैं जिससे अम्ल उदासीन होकर लवण बनाते हैं, वही साबुन है। इस प्रकार साफ साबुन बन जाता है। इसे टुकड़ों में काट कर प्रयोग में लाते हैं।

साबुन को साफ करने की क्रियाविधि

शरीर की त्वचा पर प्राकृतिक तेल की पर्त होती है जो कि धूल को पकड़ लेती है और कपड़े जो पहने जाते हैं, गन्दे हो जाते हैं। इस गन्दगी को साबुन से साफ करते हैं।

साबुन के अणु के दो भाग होते हैं—

(1) **सिर भाग** जो ध्रुवीय होता है, में लवण भाग होता है। यह भाग पानी में घुलनशील है।

(2) पूँछ भाग

यह अध्रुवीय लम्बी हाइड्रोकार्बन शृंखला का बना होता है। यह भाग तेल में घुलनशील है।

जब साबुन और गन्दगी, पानी की उपस्थिति में एक दूसरे से मिलते हैं तब साबुन का अध्रुवीय भाग गन्दगी के तेल में घुल जाता है और ध्रुवीय भाग जल में घुल जाता है। इस प्रकार साबुन का अध्रुवीय भाग गन्दगी के तेल के चारों तरफ फैल जाता है। इस भाग के दूसरे सिरे पर कार्बोजलेट आयन उपस्थित होते हैं। इस तरह तेल के चारों तरफ ऋण ध्रुवीय वातावरण हो जाता है। यह वातावरण पूरे घोल में होता है। चूंकि समान आवेश एक दूसरे को धकेलता है। अतः ऋण ध्रुवीय के कारण तेल की एक बूंद दूसरी बूंद से अलग हो जाती है और रगड़ने पर गन्दगी निकल कर पानी में फैल जाती है। इसे इमल्सीफिकेशन कहते है। इमल्सीफाइड तेल गन्दगी के साथ पानी के द्वारा धोने पर आसानी से अलग हो जाता है। और कपड़ा या शरीर स्वच्छ हो जाता है।

इस प्रकार साबुन स्वच्छता प्रदान करने में मुख्य भूमिका निभा रहा है। स्वच्छता जहाँ देखने में अच्छी लगती है वहीं यह कीटाणुओं को पैदा नहीं देती, जिससे बीमारियाँ नहीं होतीं, और हमारा स्वास्थ्य अच्छा रहता है। इस प्रकार साबुन का हमारे स्वास्थ्य से सीधा सम्बन्ध है। साबुन स्वास्थ्य को बनाता नहीं है, वरन् उसको बनाये रखता है। साबुन के प्रयोग से गन्दगी नहीं होती वरन् स्वच्छता होती है, वही अच्छे स्वास्थ्य को बनाये रखने में सहायक है। इसी कारण आज साबुन का प्रयोग सभ्यता का मापदण्ड माना गया है और सभ्य समाज की मूल आवश्यकताओं में से एक है।

अतः आज साबुन हमारे लिए बहुउपयोगी वस्तु बन गया है। इसके अभाव में कष्ट अधिक है। साबुन स्वच्छता व स्वास्थ्य को प्रदान कर जीवन को सुखमय बना रहा है। ◻◻

भारत के खनिज संसाधन

डॉ० विजय कुमार उपाध्याय

आज के युग में किसी भी देश की सभ्यता के मापदण्ड का आधार उसके द्वारा खनिजों का उपयोग है। विभिन्न उद्योग खनिजों पर ही आधारित हैं, और उद्योग हमारे विकास के प्रतीक हैं। खनिजों से हम कई प्रकार की धातुओं को प्राप्त करते हैं जिनसे विभिन्न प्रकार के औजारों, यंत्रों तथा घरेलू उपयोग के सामानों का निर्माण होता है। खनिज कोयला तथा तेल कई बड़े-बड़े उद्योगों में तो उपयोग में आते ही हैं, घरेलू ईंधन के लिये भी आवश्यक हैं। कृषि के क्षेत्र में बैलों का स्थान ट्रैक्टर ने ले लिया है तथा जैव खाद के बदले अब रासायनिक खाद उपयोग में आ रही है। तात्पर्य यह कि आज जीवन के हर क्षेत्र में हम खनिजों का उपयोग प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में कर रहे हैं।

भारत कई देशों की तुलना में खनिज सम्पदा के क्षेत्र में आगे है। सन् 1975 ई० में अपने देश में खनिज कोयले का उत्पादन लगभग 9 करोड़ 60 लाख टन था जिसका मूल्य लगभग 5 अरब 65 करोड़ रुपये था। भारत में कोयले का कुल अनुमानित भंडार लगभग 11800 करोड़ टन है, जो धरातल से 600 मीटर तक की गहराइयों में पाया जाता है।

कोयला उत्पादन में बिहार का स्थान प्रथम है। बिहार के प्रमुख कोयला क्षेत्र हैं—झरिया (कोयला पट्टी पूरब से पश्चिम तक 38.6 कि० मी० लम्बी तथा उत्तर से दक्षिण तक 19 कि० मी० चौड़ी), बोकारो (कोयला-पट्टी का क्षेत्रफल 361 वर्ग कि० मी०), रामगढ़ (अनुमानित भंडार 93.6 करोड़ टन), कर्णपुरा (कोयला पट्टी 1424 वर्ग कि० मी०) तथा राजमहल कोयला क्षेत्र (अनुमानित भंडार 1.6 करोड़ टन)। बिहार के अतिरिक्त अन्य कोयला उत्पादक राज्य हैं—पश्चिम बंगाल (रानीगंज कोयला क्षेत्र 1555 वर्ग कि० मी०), मध्य प्रदेश (सिंगरौली कोरबा, चिरमिरी, झिलमिली, सोहागपुर तथा पेंच कन्हात क्षेत्र), आंध्र प्रदेश (सिंगरेनी तथा कोठागुदम क्षेत्र), महाराष्ट्र (बन्दर, बरोरा, माजरी, घुगुस तेलवासा, बल्लारपुर, सस्ती राजुर तथा चन्दा क्षेत्र) तथा उड़ीसा (तालचीर) इत्यादि। भारत में लिगनाइट का कुल अनुमानित भंडार लगभग 200 करोड़ टन है। सन् 1975 ई० में देश में लगभग 28 लाख 22 हजार टन लिगनाइट का उत्पादन हुआ जिसका मूल्य लगभग 12 करोड़ 65 लाख रुपये था। लिगनाइट-उत्पादन में तमिलनाडु का स्थान प्रथम है। इस राज्य में आर्काट जिले के नेवली नामक स्थान पर लिगनाइट का विशाल भंडार है। यह स्थान मद्रास से 241 कि० मी० की दूरी पर स्थित है।

भारत में सन् 1975 ई० में ग्रैफाइट का उत्पादन लगभग 19 हजार टन था, जिसका मूल्य लगभग 17 लाख 43 हजार रुपये था। भारत में ग्रैफाइट मुख्यतः

सह प्राध्यापक भूगर्भ, इंजिनियरी कॉलेज, भागलपुर—813210

पुरानी परिवर्तित चट्टानों के साथ मिलता है। ऐसी चट्टान खौंडेलाइट कहलाती हैं। अपने देश में सबसे अधिक ग्रैफाइट उड़ीसा में मिलता है। उड़ीसा में सबसे उच्च दर्जे का ग्रैफाइट ढेंकानल जिले में पाया जाता है। उड़ीसा के दूसरे क्षेत्र जहाँ ग्रैफाइट उपलब्ध है, वे हैं—कालाहंडी, बोलनगीर तथा फुलबानी जिले। दूसरे राज्य जहाँ ग्रैफाइट पाया जाता है, वे हैं—राजस्थान, गुजरात, आंध्र प्रदेश तथा बिहार।

भारत में खनिज तेल का अनुमानित भंडार लगभग 13 करोड़ टन है तथा प्राकृतिक गैस का लगभग ?92 करोड़ घनमीटर। तेल तथा प्राकृतिक गैस मुख्यतः आसाम, गुजरात तथा महाराष्ट्र में पाया जाता है। आसाम में भारत का प्रसिद्ध तेल क्षेत्र है डिगबोई। यहाँ खनिज तेल की पट्टी 13 कि० मी० लम्बी तथा एक कि० मी० चौड़ी है। यह लखीमपुर जिले में स्थित है। सन् 1889 ई० में इस तेल क्षेत्र की खोज के बाद अब तक यहाँ लगभग 1000 तेल के कुएँ खोदे जा चुके हैं। आसाम के अन्य तेल क्षेत्र हैं—नहर-कोटिया, मोरान, रुद्रसागर, लकवा तथा गुलेकी। गुजरात में तेल अंकलेश्वर क्षेत्र में मिलता है जो बड़ौदा से 80 कि० मी० दक्षिण-पश्चिम में तथा बड़ोच से 15 कि० मी० दक्षिण है। दूसरा क्षेत्र है कलोल जो अहमदाबाद से 25 कि० मी० उत्तर में है। काम्बे शहर से उत्तर-पश्चिम में प्राकृतिक गैस उपलब्ध है। अन्य क्षेत्र हैं नवगाँव तथा सानन्द। महाराष्ट्र में बम्बई से 160 कि० मी० उत्तर पश्चिम अरब सागर में बम्बई हाई नामक स्थान पर तेल का उत्पादन होता है। सन् 19 5 ई० में भारत में लगभग 83 लाख टन तेल का उत्पादन हुआ।

भारत में लौह अयस्क मुख्यतः बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, कर्नाटक, गोआ, आंध्र प्रदेश तथा तमिलनाडु में पाया जाता है। अपने देश में लौह अयस्क का कुल अनुमानित भंडार लगभग 11 अरब टन है। सन् 1975 ई० में भारत में लौह अयस्क का कुल उत्पादन 4.12 करोड़ टन था, जिसका मूल्य लगभग 74 करोड़ रुपये था। भारत में लौह अयस्क का सबसे अधिक उत्पादन गोआ में होता है। उसके बाद स्थान आता है क्रमशः मध्य प्रदेश, उड़ीसा, बिहार, कर्नाटक, महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश तथा राजस्थान का। अपने देश में उत्पादन और अयस्क का लगभग ?7% जापान तथा दूसरे देशों को निर्यात कर दिया जाता है।

भारत में मैंगनीज अयस्क मुख्यतः मध्य प्रदेश, उड़ीसा तथा महाराष्ट्र में पाया जाता है। परन्तु बिहार, कर्नाटक, आंध्र प्रदेश तथा गोआ में भी कुछ मैंगनीज अयस्क छिटपुट रूप से मिलते हैं। अपने देश में मैंगनीज अयस्क का कुल अनुमानित भंडार लगभग 10 करोड़ टन है। सन् 1975 ई० में देश में लगभग 15 लाख टन मैंगनीज अयस्क का उत्पादन हुआ जिसमें लगभग 12 लाख टन का निर्यात किया गया। मैंगनीज उत्पादन के क्षेत्र में भारत का स्थान छठा है। साधारणतः भारत में पाया जाने वाला मैंगनीज अयस्क कड़ा है तथा ढेले के रूप में उपलब्ध है। इसमें अधिकतर पाइरोलुसाइट है परन्तु कहीं-कहीं सिलोमिलेन भी मिलता है। भारत में उत्पादित कुल मैंगनीज अयस्क का एक तिहाई भाग उड़ीसा में निकलता है।

भारत में क्रोमियम अयस्क (क्रोमाइट) बहुत कम पाया जाता है। देश में क्रोमाइट का कुल अनुमानित भंडार लगभग 48.5 लाख टन है। सन् 1975 ई० में भारत में कुल 4.99 लाख टन क्रोमाइट का खनन हुआ, जिसका मूल्य लगभग 6 करोड़ 81 लाख रुपये था। इसमें लगभग 2 लाख टन का निर्यात कर दिया गया। अपने देश में क्रोमाइट मुख्यतः उड़ीसा तथा कर्नाटक में पाया जाता है। परन्तु छिटपुट रूप से बिहार तथा आंध्र प्रदेश में भी उपलब्ध है। सन् 1975 ई० में भारत में कुल क्रोमाइट उत्पादन का लगभग 99.4% उड़ीसा से प्राप्त हुआ। उड़ीसा में क्रोमाइट के मुख्य खनन केन्द्र हैं कटक, ढेंकानल तथा केओंझर जिले के कुछ क्षेत्र। □□

[शेष अगले अंक में]

विज्ञान वक्तव्य

प्रिय पाठकगण !

आपको यह अंक मिलने तक कोचीन में 77वाँ 'भारतीय विज्ञान कांग्रेस' समाप्त हुए लगभग 10-12 दिन बीत चुकेंगे। समाचारपत्रों के माध्यम से इस अधिवेशन की खबर से आप परिचित भी हुए होंगे। इस विज्ञान कांग्रेस की सफलता-असफलता को लेकर जो परस्पर विरोधी रिपोर्टें देखने को मिली हैं, उनसे देश में विज्ञान के वर्तमान माहौल पर चकित भी अवश्य हुए होंगे।

4 फरवरी को 'कोचीन यूनिवर्सिटी ऑव साइंस एण्ड टेक्नॉलोजी' परिसर में विज्ञान कांग्रेस के शुभारम्भ के अवसर पर बोलते हुए प्रधान मन्त्री ने तो विज्ञान कांग्रेस के मुख्य विषय को ही चुनौती दे दी ! प्रधान मंत्री के अनुसार विज्ञान कांग्रेस का मुख्य विषय 'समाज में विज्ञान' न होकर 'विज्ञान और कांग्रेस' होना चाहिए था।

वैसे आज की विश्व की पर्यावरणीय और अन्य ज्वलंत समस्याओं यथा दिशाहीन औद्योगिकीकरण, हवा में कार्बनडाइऑक्साइड का बढ़ता स्तर, ऊर्जा और प्राकृतिक संसाधनों के छीजते स्रोतों आदि को लेकर प्रधान मंत्री की चिंता स्वाभाविक ही है। प्रधान मंत्री के अनुसार आज वैज्ञानिकों के सामने सबसे बड़ी चुनौती 'मनुष्य की गरिमा को फिर से बहाल करने और सृष्टि को विनाश से बचाने की है।' उन्होंने आगे बोलते हुए कहा कि वैज्ञानिकों का यह दायित्व है कि वे विज्ञान और तकनीकी को ऐसी गलत दिशा न दें जिससे विज्ञान और तकनीकी 'मनुष्य को ही निगल जाये' वरन् वैज्ञानिकों को शोध की दिशा को 'सम्पूर्ण मानव' की संरचना की ओर मोड़ना चाहिए। उन्होंने हथियारों के निर्माण पर होने वाले प्रतिवर्ष 650 अरब अमेरिकी डॉलर के खर्च पर भी गहरी चिंता व्यक्त की। उन्होंने आगे बोलते हुए कहा कि यदि कंदरा में रहने वाला आदिमानव गुस्से में शत्रु के ऊपर पत्थर फेंकता था और आज का मानव प्रक्षेपास्त्र तो मानव ने वास्तविक अर्थों में कोई प्रगति नहीं की। वैज्ञानिकों को उनके दायित्व का स्मरण कराते हुए उन्होंने कहा कि मानवता आज बड़ी आशा के साथ वैज्ञानिकों को निहार रही है। अतएव वैज्ञानिकों को सृष्टि को बचाने के लिए आगे आना चाहिए।

77वें विज्ञान कांग्रेस एसोसिएशन के अध्यक्ष **प्रो० यशपाल** ने अपने अध्यक्षीय भाषण में समाज के विभिन्न वर्गों के बुद्धिजीवियों—वैज्ञानिकों, तकनीकीविदों, अर्थशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों—को एकजुट होकर धरती की रक्षा के कार्यक्रम बनाने का प्रयत्न करने की अपील की। उन्होंने इस बात पर विशेष बल दिया कि विज्ञान और तकनीकी के समयानुकूल परिवर्त्तन के अभाव में आज 'गुटनिरपेक्षता' और 'आत्मनिर्भरता' जैसे शब्द अर्थहीन से हो गए हैं।

विज्ञान कांग्रेस के शुभारंभ के पूर्वदिवस 3 फरवरी को कोचीन यूनिवर्सिटी ऑव साइन्स एण्ड टेक्नॉलोजी के वाइस चांसलर **डॉ० हर्ष के० गुप्ता** ने विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित 'विज्ञान अनुसंधान गोष्ठी' के अवसर पर 'कृत्रिम जलाशय तथा भूकम्प: विश्वव्यापी स्थिति' विषय पर अपना अध्यक्षपदीय भाषण राष्ट्रभाषा हिन्दी में दिया। डॉ० गुप्ता के अनुसार जल-विद्युतशक्ति, बाढ़ नियंत्रण, तथा सिंचाई कार्यों के लिए सारे विश्व में वृहद् कृत्रिम जलाशय बनाये जाते हैं। अब तक जलाशय प्रेरित भूकम्पनीयता में होने वाले परिवर्तनों के लगभग 80 उदाहरण ज्ञात हैं। डॉ० गुप्ता के शोधों के फलस्वरूप वे कसौटियाँ निकाली जा सकी हैं, जिससे प्राकृतिक भूकम्पों तथा प्रेरित भूकम्पों में अंतर बतलाया जा सकता है। इन कसौटियों का सम्प्रयोग अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हो रहा है। डॉ० गुप्ता के अनुसार हिमालय की पाद-पहाड़ियों में प्रेरित भूकम्प न आने का कारण मूलत: क्षेप-भ्रंश परिवेश (**Thrust fault environment**) है जो जलाशय प्रेरित भूकम्पनीयता के अनुकूल नहीं है। किन्तु ये बाँध उच्च भूकम्पनीयता के क्षेत्रों में स्थित हैं जहाँ 7 या अधिक मात्रा के भूकम्प आ चुके हैं। डॉ० गुप्ता का पूरा भाषण 'विज्ञान परिषद् अनुसंधान पत्रिका' के जनवरी-मार्च 1990 अंक में प्रकाशित किया जा रहा है।

विज्ञान परिषद् के प्रधानमंत्री प्रोफेसर **हनुमान प्रसाद तिवारी** और कुछ अन्य सभ्य 77 वें भारतीय विज्ञान कांग्रेस और परिषद् द्वारा आयोजित विज्ञान अनुसंधान गोष्ठी में भाग लेने कोचीन गये हैं। अगले अंक में आपको 77 वीं भारतीय विज्ञान कांग्रेस पर कुछ विस्तार में पढ़ने को मिलेगा। अगले अंक में हम कुछेक ऐसी विशेष पठनीय सामग्री भी आपके सामने प्रस्तुत करेंगे जो अन्यत्र दुलर्भ है। सो अगले अंक की प्रतीक्षा करें।

आपका

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

उत्तर प्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है, यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिये। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं :

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०; आधा पृष्ठ 100.00 रु०; चौथाई पृष्ठ 50.00 रु०; आवरण द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ 500·00 रु०।

मूल्य

आजीवन : 200 रु०

वार्षिक : 25 रु०

त्रिवार्षिक : 60 रु०

प्रति अंक : 2 रु० 50 पैसे

प्रेषक : विज्ञान परिषद्

महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

परिषद् की मुख पत्रिका
मार्च 1990
2 रुपया 50 पैसे
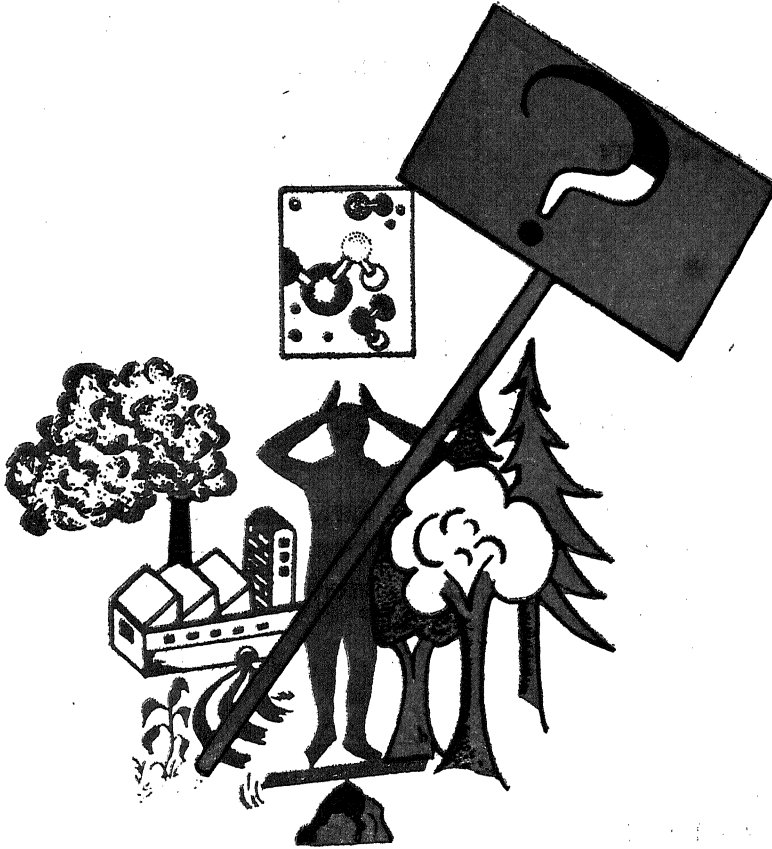
विज्ञान परिषद्, प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 1913; 'विज्ञान' का प्रकाशन अप्रैल 1915
मार्च 1990; वर्ष 75, अंक 12

प्रकाशक
डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी
प्रधान मंत्री
विज्ञान परिषद्, प्रयाग

●

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

●

मुद्रक
श्री सरयू प्रसाद पाण्डेय
नागरी प्रेस
186 अलोपी बाग
इलाहाबाद

●

सम्पर्क
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002

मूल्य
आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत; 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु०
वार्षिक : 25 रु०
एक प्रति : 2 रु० 50 पैसे

विज्ञान विस्तार

तोड़-फोड़ की अंतर्राष्ट्रीय कार्यवाही में विज्ञान

मनोज कुमार पटैरिया

भारत ही नहीं वरन् पूरी दुनिया इस समय आतंकवाद के दौर से गुज़र रही है और नित नई आतंकवादी कार्यवाहियों की सूचनाएँ विश्व के अनेक भागों से देखने-सुनने को मिलती हैं। इन आतंकवादी कार्यवाहियों में वैज्ञानिक और तकनीकी साधनों का खुलकर इस्तेमाल किया जा रहा है। वास्तव में आतंकवाद में विज्ञान का इस्तेमाल दो तरह से होता है। एक तो आतंकवाद फैलाने में और दूसरा आतंकवाद को रोकने में। आज यहाँ पहले तरह की तकनीकें इतनी अधिक परिष्कृत हो चुकी हैं, कि आतंकवाद विरोधी पुरानी तकनीकों से काम नहीं चल पाता, वहीं दुनिया भर में विशेषज्ञ आतंकवादी तकनीकों के साथ ही आतंकवाद विरोधी तकनीकों का अध्ययन और विकास करने में जुटे हुए हैं। लॉस ऐलमॉस की राष्ट्रीय रक्षा प्रयोगशाला इसका पक्का पता लगाने का प्रयास कर रही है कि आतंकवादी और प्रति आतंकवादी (टेरोरिज्म एंड एंटी-टेरोरिज्म) तकनीकों में किसका हाथ ऊपर है। प्रयोगशाला के पूर्व संयुक्त-निदेशक **पॉल रॉबिंसन** कहते हैं कि कोई आतंकवादी संगठन जो भी हरकतें करता है, प्रति-आतंकवादी तकनीकें उससे कहीं अधिक प्रभावी ढँग से उन्हें निष्फल कर सकती हैं।

परमाणु हथियार और आतंकवाद

अमेरिका की गुप्तचर एजेंसियाँ इस बात का पता लगा रही हैं कि अगर आतंकवादी परमाणु हथियार पा लेते हैं तो उससे क्या ख़तरे पैदा हो सकते हैं। 'वाशिंगटन टाइम्स' में छपे लेख के अनुसार गुप्तचर एजेंसियाँ उन देशी और अन्तर्राष्ट्रीय गिरोहों का पता लगा रही है जो परमाणु हथियारों के ज़रिए आतंक फैलाने की क्षमता रखते हैं। लेख में कहा गया है कि कुछ विशेषज्ञों ने ऐसे आतंकवादी गिरोह का पता लगा लिया है जो न कि सिर्फ परमाणु सामग्री हथियाने का इरादा रखते हैं बल्कि उनसे विस्फोटक बनाने की क्षमता भी रखते हैं।

परमाणु ऊर्जा विभाग के एक अध्ययन के अनुसार कोई आतंकवादी इस्लामी गिरोह परमाणु बम बनाने की सामग्री प्राप्त करने के लिए किसी अमेरिकी परमाणु प्रतिष्ठान पर हमला कर सकता है। 'परमाणु नियंत्रण संस्थान' के अध्यक्ष **पॉल लेवेंथल** ने परमाणु बिजली घरों को उस ख़तरे से सचेत कर दिया है। विशेषज्ञों ने कहा है कि देश-विदेश में आतंकवादी आजकल तकनीकी रूप से आधुनिक होते जा रहे हैं। वे जानकार वैज्ञानिकों की मदद से परमाणु बम बना सकते हैं। विशेषज्ञों का कहना है कि परमाणु हथियारों या सामग्री के लिए आतंकवादियों की नज़र परमाणु बिजलीघर पर लगी रहती है। अमेरिका का ऊर्जा विभाग परमाणु बिजलीघर की सुरक्षा पर प्रति वर्ष **75** करोड़ डॉलर ख़र्च करता है।

आतंकवाद क्यों ?

वाशिंगटन स्थित एक आतंकवाद विशेषज्ञ **ओमर कादर** ने बताया है कि आतंकवादी प्रायः दो तरह के होते हैं। एक तो **नैतिक राष्ट्रवादी** जैसे आई० आर० ए० (आइरिश रिपब्लिकन आर्मी) और पी० एल० ओ०, जो भाषायी, धार्मिक और क्षेत्रीय सम्बन्धों के लिए लड़ रहे हैं और दूसरे **प्रेरित दल,** जैसे लातीनी अमेरिका में भूराजनैतिक रैड ब्रिगेड्स या राइड विंग डैथ स्क्वैड्स। हाल ही में अमेरिका में "आतंकवाद का भय" विषय पर आयोजित संगोष्ठी में **रॉबर्ट कुपरमैन** ने कहा है कि आतंकवाद की सफलता इस पर निर्भर नहीं करती है कि आतंकवादियों ने कितना अधिक शक्तिशाली विस्फोटक प्रयोग किया या कितनी अधिक संख्या में लोग मारे गये। **रोबिंसन** पूछते हैं कि क्या आतंकवादी पूरे शहर की आबादी को नष्ट कर देना

प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय, सी० एस० आई० आर०, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली—110012

चाहते हैं, और क्या यह तकनीकी से सम्भव है ? या वे किसी घोषित कारण के लिए लोगों का ध्यान बँटाना चाहते हैं ? **कादर** ने कहा कि अधिकांश आतंकवादी, नाशवादी नहीं हैं और वे परिवर्तन चाहते हैं। सुरक्षा सलाहकार **एम० सी० जॉर्ज** ने कहा कि आतंकवादी कभी भी एक सीमा तक तकनीकी स्तर नहीं गिरने देते, और यदि हम प्रति-आतंकवादी तकनीकों का स्तर बढ़ाते हैं, तो वे भी इसकी बराबरी करते हैं।

दुनिया विस्फोटकों की

23 अक्टूबर 1953 को प्रात: 6.22 बजे बेरूत अंतर्राष्ट्रीय हवाई अड्डे के निकट बटालियन लेंडिंग टीम मुख्यालय के 4 मंजिले भवन को विस्फोटक से उड़ा दिया गया था, जिसमें 300 से अधिक नाविक सो रहे थे। इसमें से 241 से अधिक मारे गए थे। इसे फेडरल ब्यूरो ऑव इन्वेस्टिगेशन की अपराध प्रयोगशाला ने भयंकर गैरपरमाणुविक विस्फोट कहा था। इस विस्फोट में 6 टन टी एन टी (ट्राई नाइट्रो टॉल्वीन) का उपयोग किया गया था जो सामान्य डायनामाइट से दो गुना शक्तिशाली होता है। 1970 में विस्कांसिन विश्वविद्यालय के अनुसंधान भवन को उड़ाने के लिए 1700 पौंड डॉक्टर्ड फर्टिलाइज़र विस्फोट का इस्तेमाल किया गया था। प्लास्टिक जैसा **सी-4** और **सेमटेक्स** नामक दो विस्फोटक हैं जो **टी एन टी** से एक तिहाई अधिक शक्तिशाली होते हैं। प्लास्टिक विस्फोटक दूसरे विश्व युद्ध के दौरान विकसित किए गये थे। इन्हें ईंटों, जूतों के तल्लों, वस्त्रों, और डिब्बों के आकार का बनाया जाता है। सबसे घातक प्लास्टिक विस्फोटकों में **आरडीएक्स** है। इसके बाद की श्रेणी में **सी टी एम टी एन** (साइक्लोट्राइमेथाइलेनट्राइनाट्रामीन) या **पी ई एन टी** (पेंटाएरिथ्राइटटेट्रानाइट्रेट) आते हैं। 1790 में जर्मन वैज्ञानिकों ने ये विस्फोटक तैयार किये थे। ब्रिटेन ने 88.3% आर डी एक्स और 11.7% गैरविस्फोटक मिलाकर हाथ से विस्फोट करने वाले हथगोले बनाए। सी-4 एक तीव्र विस्फोटक है, जो उच्च ताप पर भी स्थाई रहता है। यह गंधहीन, गंदा सफेद और हल्का भूरा होता है। इसमें 91 आर डी एक्स, 53 डाई- (2-एथिल हेक्सिल) सेबेकेट, 2 1 पॉलीआइसोब्यूटिलीन और 1.6 प्रतिशत मोटर का तेल होता है। इसके चौथाई पौंड से किसी सामान्य भवन को नष्ट किया जा सकता है। सेमटेक्स को प्राय: कम पसंद किया जाता है, क्योंकि इसे जल्दी पहचान लिया जाता है। इसी कारण 11 अप्रैल, 1986 को ई एल ए आई उड़ान के लिए लन्दन में एक ईरानी महिला **अन्ना मारिआ मर्फी** को रोक लिया गया था, जिसके सूटकेस में उसके पुरुष मित्र **पॉल एस्टिनियन** का एक बम पहचाना गया था। बाद की जानकारी जनता के लिए जारी नहीं की गई।

हथियार भी पीछे नहीं

एम० सी० जॉर्ज कहते हैं कि अधिकांश आतंकवादी संगठन नई आतंकवादी तकनीकों के प्रति भ्रमित नहीं हैं। वे सरल और सामान्य तकनीकें इस्तेमाल करते हैं, लेकिन इन तकनीकों से मतलब निम्न श्रेणी की तकनीकें नहीं समझनी चाहिए। इसका तात्पर्य है ऐसी युक्तियाँ जो गल्तीरहित हों और आसानी से संचालित की जा सकें तथा विश्वसनीय हों। जैसे सोवियत रूस में निर्मित 'कालाश्निकोव बंदूक' जो वहाँ क्रांतिकारी आंदोलन में खूब प्रयुक्त हुई है। जैक निर्मित स्कॉर्पियॉन बी जेड-61 एक हल्की मशीन है, जिसका इस्तेमाल रेड ब्रिगेड्स ने इटली के पूर्व प्रधानमन्त्री **एल्डो मोरो** को मारने के लिए 1978 में किया था। यह अपने छोटे आकार और प्रभावी मारक दर के कारण मूल्यवान है। अब प्लास्टिक की बनी एक नई पीढ़ी विकसित हो रही है। इसी शृंखला में, मिमी, ग्लॉक-17 पिस्तौल विशेष रूप से चर्चित है। इसका भार भरने से पहले 22 औंस होता है। यह अपेक्षाकृत सस्ती है और आसनी से एक दूसरे स्थान को ले जाई जा सकती है। और तो और यह एक्सरे मशीनों की पकड़ में नहीं आती और डिटेक्टरों के पर्दे पर भी प्रकट नहीं होती, क्योंकि यह गैर धात्वीय मज़बूत

पॉलीमर की बनी है। इसे आस्ट्रेलिया ने बनाया है। अमेरिकी सेना भी 35 औंस भारी 9 मिमी० बेरेटा पिस्तौल प्रयोग कर रही है। इसके पहले आतंकवादियों के पास पतले एल्युमिनियम की बनी हल्की पिस्तौल थी, जिसे भी पहचानना बड़ा मुश्किल काम था।

रॉकेट और मोरटार का प्रयोग

विदेशों में आतंकवादियों ने अधिक आक्रमक ढँग से नवीनतम तकनीकों का प्रयोग किया है। इनमें अत्याधुनिक हैं सोवियत आर पी जी-7 ग्रेनेड लांचर और एस ए एम-7 स्ट्रेला एंटी-एयरक्राफ्ट मिशाइल। आर पी जी-7 जो स्टील में 14 इंच तक घुसने में समर्थ है और एक आरमर्ड कार को रोक सकता है। एम ए एम-7 एक सुबाह्य रूप से विकसित किया गया है, जिसे सूटकेस में बन्द करके रखा जा सकता है। हथियारों में सुधार करने की दिशा में सम्भवतः यह आई आर ए अधिक आविष्कारशील रहा है। इसने 1700 मी० की रेंज का 60-मिमी० मोरटार विकसित किया है, जो सूटकेस में फिट हो सकता है। आतंकवादी तकनीकों के निर्माण में विशेषरूप से **क्रिश्चियन क्लार** का नाम उल्लेखनीय है, जो इस समय जर्मनी की जेल में बंद हैं। उन्होंने अपना कैरियर रेड आर्मी फ्रेक्शन में आरम्भ किया, और ड्रोन हेलिकॉप्टर तथा 40-बेटेलरियन फायर मोरटार का विकास किया। इनके अलावा अन्य अनेक तरह के हथगोले, विस्फोटक, बंदूक, स्टेनगन, टाइमबम, कार बम आदि आतंकवादी कार्यवाहियों के आम तरीके हैं। इनकी पहचान के लिए विभिन्न प्रकार की तकनीकें विकसित भी की गई हैं, जिन्हें आतंकवाद विरोधक तकनीकें कहा जाता है।

धातु सूचक यन्त्र (मेटल डिटेक्टर)

प्रायः कोई भी हथियार किसी न किसी धातु का बना होता है, जिसे धातु सूचक द्वारा आसानी से पकड़ा जा सकता है। यह यंत्र एक तरह की तरंगें छोड़ता है। ये तरंगें केवल धातु विशेष से टकराकर वापस यंत्र में आती हैं, जिससे पीं पीं का स्वर उत्पन्न होता है, और इससे हथियार की पहचान हो जाती है। सैंडियाप्रयोगशाला, एल्बुरवेकेने ऐसे मेटल डिटेक्टर बनाएँ हैं, जो इस तरह समायोजित किए जा सकते हैं, जिनमें चाबी का गुच्छा, बेल्ट बक्कल और ऐसी ही छोटी चीज़ों को नज़रंदाज़ करने की क्षमता है और जाँच में अधिक समय नहीं लगता। इस तरह सुरक्षित क्षेत्रों में तथा संदिग्ध स्थानों पर मेटल डिटेक्टरों की मदद से आतंकवादी कार्यवाहियों को रोका जा सकता है।

विस्फोटक की पहचान

विस्फोटक पदार्थ आतंकवादी कार्यवाहियों के प्रमुख साधन हैं और विस्तार से प्रयोग किये जाते हैं, चाहे कार बम हो या बारूदी सुरंग, सभी में विस्फोटक प्रयुक्त होता है। विस्फोटकों की पहचान करना अपेक्षाकृत अधिक कठिन कार्य है। सैंडिया प्रयोगशाला की मुख्य रुचि, विस्फोटक डिटेक्टर विकसित करने में है। लगभग एक दशक से ऐसे सूचक प्रयोग किये जा रहे हैं, जो उसके पास गुज़रने वाले व्यक्तियों या सामानों से लगने वाली हवा के नमूने के द्वारा विस्फोटक की जाँच करते हैं, पर ये केवल डायनामाइट तक ही सीमित हैं। एक अन्य युक्ति में डिटेक्टर के मध्य खड़े व्यक्ति के समीप की 5 घन फीट हवा एक पंखे द्वारा ली जाती है। इसमें अक्रिय गैस आगे मिलती है जैसे आर्गन या हीलियम। इस मिश्रण पर रेडियोएक्टिव स्रोत से बीटा कीरणों की बौछार की जाती है। यदि विस्फोटक के कण उपस्थित होते हैं, तो उसके इलेक्ट्रॉन अवशोषित हो जाते हैं, और विद्युत्धारा उत्पन्न होती है जिसे प्रवर्धित कर एक अलार्म बज जाता है, जो विस्फोटक होने की सूचना देता है।

सैंडिया के एक अनुसंधानकर्ता **फ्रेंक कोनाडे** ने बताया कि एक अति संवेदनशील उपकरण काम में लाया जा सकता है, जो आर डी एक्स की पहचान कर सकता है। इसे आमतौर पर पर्यावरण में अंशमात्र विषैले रसायनों का पता लगाने के काम में लाया जाता है। यह अणु आयनन की विधि का कार्य करता है। छुपे विस्फोटकों को खोज निकालने की एक और तकनीक है रासायनिक प्रतिदीप्ति। यह युक्ति नाइट्रोजन कणों के होने पर ओज़ोन की उपस्थिति में प्रतिदीप्ति

उत्पन्न करती है। लेकिन ये सभी विधियाँ केवल तभी उपयोगी हैं, जब विस्फोटक कण हवा में आ जाएँ। पर यदि विस्फोटक प्लास्टिक या पॉलीथीन की पर्तों में पैक हो तो उसका संसूचन किया जाना मुश्किल है। ब्रिटिश एयरोस्पेस ने इलेक्ट्रॉनिक स्फितर तकनीक खोजी है। यह विस्फोटकों के कणों और टुकड़ों को ढूँढ़ निकालती हैं चाहे विस्फोटक पॉलीथीन की चद्दर में ही क्यों न लिपटे हों। इसमें दो मिनट लगते हैं, और यह शीघ्रता से जाँच करने में सक्षम बतायी जाती है। इंग्लैंड के पश्चिम किनारे पर डापर स्थित हवाई अड्डों पर "ग्रीन चैनल" लगाया गया है, जिसमें लगी एक्स-रे युक्ति सारी गड़बड़ सेकेंडो में साफ़ कर देती है। फेडेरल एविएशन एडमिनिस्ट्रेशन ऐसा विस्फोटक सूचक विकसित कर लेने का दावा रखता है, जो **3-6** सेकंड में डायनामाइट, अमोनियम नाइट्रेट उत्पाद, ब्लैक पाउडर, टी० एन० टी०, सी-**4**, पी० ई० टी० एन० और आर डी एक्स को खोज निकालेगा।

बुलेट प्रूफ पोशाक और वाहन

कई बार आपने सुना होगा प्रधान मन्त्री ने बुलेट प्रूफ बाक्स के पीछे से भाषण दिया। अनेक देशों के राष्ट्राध्यक्ष बुलेटप्रूफ पोशाक पहनते हैं। यह ऐसे पदार्थ की बनी होती है, जिसे गोली नहीं बेध सकती। इस पदार्थ का नाम है केवलर, जो मूल रूप से रेडियल टायरों को मज़बूत करने के लिए डू पोन्ट से तैयार किया जाता है। यह हल्का और परतें बनने योग्य होता है। यह स्टील के भार के अनुसार **5** गुना अधिक मज़बूत होता है। बुलेट रोधी कपड़े केवलर की परतों के बनाए जाते हैं। रेनकोट, शर्ट, सूट, सदरी आदि इसकी लोकप्रिय पोशाकें हैं। ये पोशाकें काफी समीप के वार को भी रोक सकती हैं। केवलर के साथ अन्य पदार्थ मिलाकर इससे बुलेटप्रूफ गाड़ियाँ और बाक्स भी बनाए जाते हैं, जो अनेक सुरक्षा कार्यों में काम में लाये जाते हैं। अमेरिका के राष्ट्रपति का बुलेटप्रूफ कोट **16** केवलर पर्तों का बना होता है, जिसकी एक परत को भी **357** मैग्नम बुलेट पार करने में सफल नहीं हो सकी, और एक निशान छोड़ कर दूर छिटक गई।

हर हालत में सुरक्षा

हाल में अमेरिकी प्रशासन ने आतंकवाद को अधिक आक्रमक ढँग से दबाने के लिए हर स्तर पर सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिए क़दम उठाए हैं। आतंकवाद से ग्रस्त अन्य देश भी इसका अनुसरण कर रहे हैं। किटलेंड वायुसेना आधारित आणुविक हथियारों के बड़े भण्डार को भूमिगत बनाया गया है, जहाँ ताप-नाभिकीय हथियार रखे गए हैं। इसे चारों ओर से तीन पर्तों से गहन विद्युत्-अनुक्रमों द्वारा घेरा गया है और आर्मर्ड ट्रेक्टर ट्रेलर पहरा दे रहे हैं। उधर ट्रक विस्फोटक से भरे ट्रक को टार्गेट से पहले ही पहचान कर नष्ट करने में सक्षम हैं। अमेरिका ने दुनिया भर में अपने दूतावासों को आतंकवादी कार्यवाहियों से सुरक्षा के लिए पुनः उनमें आवश्यक सुधार करने के लिए **1985** में कार्लिस ब्यूरो की स्थापना की जो **44** करोड़ डॉलर ख़र्च करके विश्व भर में फैले अमेरिकी दूतावासों में अतिरिक्त निर्माण कार्य करायेगा। अब तेज़ी से ऐसी तकनीकों का विकास और निर्माण किया जा रहा है जो आतंकवादी गति-विधियों को रोकने में सहायक हों। एक स्कॉटिश आविष्कारक ने ऐसी सुरक्षा युक्ति डिज़ाइन की है, जो सुरक्षा में सहायक पाई गई है। इसके इस्तेमाल में 45 वर्षीय आतंकवादी **नजर हिंडवी** को कारागार भेजा गया, जिसे विमान में बम रखने के षडयंत्र में गिरफ्तार किया गया था।

अपहरण और घुसपैठ पर अंकुश

कई देशों में प्रायः हवाई जहाज़ों का अपहरण करके आतंकवादी अपनी माँगों को मनवाने का प्रयास करते हैं। ऐसी स्थिति से बचने के लिए **रोबिंसन** ने बताया है कि संयुक्त और ब्रिटिश सरकारों के अनु-संधानकर्ता एक तीव्र क्रियाकारी गैस का ऐरोसॉल मिश्रण तैयार कर रहे हैं, जो शीघ्रता से फैल कर स्थितियाँ परिवर्तित कर सकता है और रक्षा कर्मी मोर्चा संभाल सकते हैं। उन्होंने स्वचालित हथियारों से शीघ्रमारक रबर की स्वचालित गोलियों का भी विकास किया है। सेंडिया, जो घुसपैठ अलार्म की

अग्रदूत है, अब घुसपैठ अलार्म के अतिरिक्त थर्मो-प्लास्टिक फोम का निर्माण कर रही है। इसके साथ ही वे ठंडे रासायनिक धुयें और अन्य क्रियाशील पदार्थों का निर्माण कर रहे हैं, जो शीघ्रता से पंप द्वारा फैल कर उच्च सुरक्षा क्षेत्रों में घुसपैठियों को अक्रिय बना सकते हैं।

आज वास्तविकता यह है कि आतंकवाद के संत्रास से त्रस्त विश्व की आँखें अब आतंकवाद निरोधक टेक्नोलॉजी की ओर गड़ी हुई हैं कि ये टेक्नोलॉजी किस तरह कारगर ढँग से आतंकवाद का मुक़ाबला करती है। लेकिन रक्षा तकनीकी के संयुक्त-निदेशक **डेनियल कालिन** का कहना है कि इतना कुछ आतंकवाद निरोधक साधन होते हुए भी पूरी सफलता परिश्रमी पुलिस बल की सर्तकता तथा तत्परतापूर्वक किए गए कार्य व जनसहयोग पर निर्भर करती है। हवाई अड्डा तथा अन्य सुरक्षा स्थानों पर पक्की और गल्तीरहित जाँच से भी काधी सीमा तक आतंकवाद विरोधी तकनीकों की सार्थकता सिद्ध हो सकती है। उन्होंने कहा कि विज्ञान तों केवल साधन प्रस्तुत करता है। यह उसे उपयोग करने वालों पर निर्भर करता है कि वे उसका उपयोग किस हद तक करते हैं या कर सकते हैं।

□□

मिठासयुक्त रसायनों की उपयोगिता

अनिल वशिष्ठ

खट्टा, मीठा, चटपटा या नमकीन स्वाद मनुष्य की कमज़ोरी रही है। यदि रसगुल्ला स्वादहीन हो तो भूखा व्यक्ति भी उसे खाने से मना कर देगा। मीठा स्वाद दुनिया भर में मान्यता प्राप्त सर्वश्रेष्ठ स्वाद है। मिठास उत्पन्न करने वाले पदार्थों को "मधुरक" कहा जाता है। मधुरक पदार्थ प्राकृतिक अवस्था में मिलते हैं तथा कृत्रिम उपायों से भी बनाये जाते हैं। ये मधुरक पदार्थ रासायनिक संरचना के आधार पर अलग-अलग वर्गों से जुड़े हैं। "मधुरक" पदार्थों के कारण ही चुकन्दर, डेट खजूर, गन्ना, अंगूर, केला, संतरा, सेब जैसे अनेक फल तथा पेड़-पौधे लोकप्रिय रहे हैं।

मिठास की अनुभूति के अनुभव के पीछे जीभ का विशेष योगदान है, यदि जीभ न होती तो मनुष्य स्वाद अनूभव करने से वंचित रह जाता। जीभ में छोटे-छोटे छिद्र होते हैं, जिन्हें "स्वाद रंध्र" कहते हैं। स्वाद रंध्र के ठीक तीचे के भाग को "स्वाद कलिका" कहते हैं। "स्वाद कलिकाओ" का सम्बन्ध मस्तिष्क तक पहुँचता है, जहाँ से मीठेपन का आदेश वापस आता है और हम तभी कह बैठते हैं कि यह वस्तु अधिक या कम मीठी है। सभी स्वाद कलिकाएँ मिठास का अनुभव नहीं करातीं। स्वाद कलिकाएँ अलग-अलग स्वाद के लिये जीभ के अलग-अलग भाग पर पायी जाती हैं। मिठास अनुभव कराने वाली स्वाद कलिकाएँ जीभ के अगले भाग पर पायी जाती हैं। यदि मिठासयुक्त पदार्थ को सीधे जीभ के पिछले भाग पर रख दें तो हम स्वाद का अनुभव नहीं कर सकते। स्वाद का अन्य महत्वपूर्ण पहलू यह भी हैं यदि मिठासयुक्त पदार्थ ठोस है और जल में विलेय नहीं है तो ठोस अबस्था में सूखी जीभ पर उस पदार्थ को रखने पर स्वाद की अनूभूति नहीं होगी। इससे स्पष्ट होता है कि मिठास अनुभव कराने वाली स्वाद कलिकाओं पर पदार्थ को तरल अवस्था में रखें तभी मिठास का अनुभव होगा अन्यथा नहीं। उदाहरण के तौर पर सूखी पूर्ण अवस्था की सैंकरीन जीभ से चखने पर वहुत कड़ुवी लगती है। जबकि उसका पानी की भारी मात्रा में बना विलयन बहुत मीठा लगता है। मिठास उत्पन्न करने वाले पदार्थों को मुख्यतया तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—**प्राकृतिक मधुरक, कृत्रिम मधुरक तथा अर्द्ध संश्लेषी मधुरक।**

पोस्ट-घोड़ाखाल, ज़िला-नैनीताल—263156 (उत्तर प्रदेश)

प्राकृतिक मधुरक

वे रसायन है जो पेड़ पौधों के विभिन्न भागों में प्राकृतिक अवस्था में पाये जाते हैं जैसे—सुक्रोज, फ्रक्टोज, ग्लूकोस, मोनेलिन, थीमेटिस, लैक्टोज, माल्टोज आदि।

कृत्रिम मधुरक

वे रसायन जो प्राकृतिक अवस्था में नहीं पाये जाते हैं तथा जिन्हें प्रयोगशाला में बनाया जा सकता है।

अर्द्ध संश्लेषी मधुरक

वे रसायन जो प्राकृतिक अवस्था में उतने मीठे नहीं होते जितना उनके रसायनिक रूप परिवर्तित करने पर हो जाते हैं जैसे—जाइलिटोल, बाइनकासिल आदि।

सबसे मीठा कौन और कैसे

सबसे मीठा पदार्थ कौन सा है यह जान पाना बहुत ही कठिन कार्य है, क्योंकि अभी तक मिठास को नापने वाला कोई यंत्र या मशीन नहीं बनी है। मिठास अनुमापन का अभी तक एक ही उपाय प्रचलित है, जिसकी अनुमापकता पर संदेह किया जाता रहा है। वह है विभिन्न मधुरक पदार्थों का निश्चित मात्रा के जलीय घोल बनाकर उस घोल की चीनी के घोल या सुक्रोज के जलीय विलयन से विभिन्न व्यक्तियों को स्वाद लेने के लिए माध्यम वनाकर, मिठास की तुलना करना। इसी तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर मिठास से जुड़े तरह-तरह के पदार्थ सामने आये हैं। जैसे—दुनिया को अब तक का सर्वाधिक मीठा पदार्थ'' 1-एन प्रोपॉक्सी, 2-एमिनो, 3-नाइट्रो-बेन्ज़ीन'' आँका गया है जो सुक्रोज के एक प्रतिशत विलयन से 5,600 गुना अधिक मीठा है। दूसरा पदार्थ **डिस्कोरियोफिलस क्येमेंसई** नामक, पौधे का ''मोनेलिन'' नामक प्रोटीन है जो चीनी से 3000 गुना अधिक मीठा है। **थीमेटोकोकस डेनिलाई** पौधे से प्राप्त प्रोटीन ''थीमेटिस'' सुक्रोज से 1600 गुना अधिक मीठा है, जो ''एस्पार्टम'' नामक कृत्रिम मधुरक चीनी से 300 गुना अधिक मीठा होता है। जो 'एस्पार्टिक' नामक अम्ल तथा फेनिल एलानीन के कारण होता है। ''साइक्लामैट'' नामक कृत्रिम मधुरक सुक्रोज से 30 गुना अधिक मीठा होता है। कार्वोहाइड्रेट तथा इससे व्युत्पन्न मधुरकों में ''जाईलिटोल'' सर्वाधिक मीठा है। उसके बाद मीठेपन में क्रमशः ''फ्रक्टोज'', ''सुक्रोज'' तथा ''ग्लूकोज'' आदि आते हैं। आजकल वैकल्पिक तथा कृत्रिम मधुरक बनाने की दिशा में भारी कार्य चल रहा है। इसका मुख्य कारण प्राकृतिक मधुरकों से होने वाली बीमारियों जैसे **मधुमेह** या मोटापा आदि हैं। ये बीमारियाँ अधिक मात्रा में चीनी आदि लेने तथा उसके पूर्ण पाचन न होने के कारण होती हैं, क्योंकि प्राकृतिक मधुरकों की ऊर्जा अधिक होती है। जबकि कृत्रिम पदार्थों में ऊर्जा (या कैलोरिक वेल्यू) बहुत कम होती है।

मधुरक पोषकता तथा उपयोगिता

मधुरकों में अधिकतर पदार्थ ''कार्बोहाइड्रेट'' वर्ग के होते हैं। कार्बोहाइड्रेट में शर्करा श्रेणी के रसायन ही मधुरकों की श्रेणी में आते हैं, अन्य नहीं। ये पदार्थ विभिन्न फल-फूलों में भारी मात्रा में पाये जाते हैं। इन पदार्थों में ऊर्जा बहुत अधिक मात्रा में होती है, जिसे कैलोरी में मापते हैं। अधिक कैलोरी ऊर्जा के कारण इन पदार्थों की पोषकता बहुत अधिक होती है। उदाहरणार्थ अंगूर में डैक्स्ट्रोज, दूध में लैक्टोज चीनी, चुकन्दर तथा खजूर में सुक्रोज, चुकन्दर तथा अनाज में रैफिनोज, भूरे शैवाल में मैन्निटोल, सेब, नाशपाती तथा खुबानी में डी-सार्बिटोल नामक शर्करा पायी जाती है। शहद में विभिन्न प्रकार की शर्करा का मिश्रण होता है। फलों में अन्य शर्करा के साथ फ्रक्टोज भी पायी जाती है। पौष्टिकता के कारण ही फल भोजन का एक हिस्सा बन गये हैं। किन्तु अधिक मात्रा में ऐसे पदार्थ लेने पर, पैंक्रियाज की गामा कोशिकाओं को असंतुलित कर देते हैं और शरीर में इन्सुलिन नाम के रसायन का बनना कम हो जाता है या रुक जाता है, जो शर्करा के पाचन में सहायक है। शर्करा का पाचन पूर्णतया न होने से ''मधुमेह'' नामक रोग हो जाता है, जिसमें शरीर की प्रतिरोधक क्षमता समाप्त हो जाती है।

2—प्राकृतिक मधुरकों में दूसरे प्रकार के पदार्थ जैसे प्रोटीन या एमिनो अम्ल होते हैं, जिनमें मधुरकता तो बहुत अधिक होती है किन्तु कैलोरिपिक मात्रा कम होती है। जैसे "मोनेलिन, थीमेंटिस व स्टेवियोसायड आदि। इन पदार्थों पर अभी अध्ययन चल रहा है ताकि इनके शरीर में प्रभाव आदि को जाना जा सके।

3—तीसरी श्रेणी में कृत्रिम मधुरकों को रखा जा सकता है। इस श्रेणी में मधुरकों में सर्वप्रथम 'एस्पार्टम' है जो एस्पार्टिक अम्ल तथा फेनिल एलेनीन का मिश्रण है तथा चीनी की तुलना में इसकी मधुरकता 2 कैलोरी है, जहाँ पर चीनी के लिये यह 18 कैलोरी होती है। इस पदार्थ को "न्यूट्रास्वीट" नाम से भी जाना जाता है। इसका उपयोग सुगन्धयुक्त कॉफ़ी बनाने, अनाज से भोज्य पदार्थ बनाने तथा चाय बनाने में किया जाता है। भारत के बाज़ारों में यह अभी प्रचलित नहीं है। इसी श्रेणी के रसायन "सैकरीन" की खोज 1880 के आस-पास **फलबर्ग** नामक वैज्ञानिक ने कोलतार के एक अंश से की। यह फ्लेवर आदि के साथ चीनी के स्थान पर प्रयोग किया जाता है। मधुमेह के रोग में मीठी स्वाद अनुभूति के लिए इसका प्रयोग करते हैं। 'साइक्लामेट' चीनी से 30 गुना मीठा है। पचास से सत्तर के दशक में इसका उपयोग ठंडे पेय में किया गया। आजकल कैंसरजन्य लक्षण उत्पन्न करने के कारण इस रसायन के उपयोग पर रोक लगी हुई है।

4—अर्द्ध संश्लेषी मधुरकों पर आजकल विशेष अनुसंधान किये जा रहे हैं, क्योंकि ये पोषक होने के साथ-साथ शर्करा की मात्रा रक्त में नहीं बढ़ाते हैं। इस वर्ग के मधुरकों में जाइलिटोल तथा बाइनकासिन प्रमुख हैं। बाइनकासिन को मंड के हाइड्रोजनीकृत करने पर प्राप्त किया जाता है, जबकि ज़ाइलिटोल हेमीसैलूलोज के अपघटन तथा किण्वनीकरण से प्राप्त किया जाता है। ज़ाइलिटोल का शरीर पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता व दूसरे यह चीनी से मीठा है इस कारण यूरोप में यह सर्वाधिक प्रचलित मधुरक हो गया है। भारत में भी इस पर अनुसंधान कार्य चल रहा है।

मनुष्य को विभिन्न प्रकार के स्वाद की अनुभूति ग्रहण करने की प्राकृतिक लालसा है। यदि डॉक्टर मधुमेह के रोगी के लिये शर्करा का उपयोग पूर्णतया बन्द करने को कहें तो यह पूर्णतया संभव नहीं कि मीठा खाना छोड़ दिया जाय। आजकल शर्करा को छोड़कर कृत्रिम मधुरकों का उपयोग करके बीमारी रोकने का उपाय तथा मीठे स्वाद की अनुभूति दोनों ही प्राप्त किये जा सकते हैं। दूसरे शर्करा के प्राकृतिक साधन माँग के अनुसार कम पड़ते जा रहे हैं। ऐसे में अर्द्ध संश्लेषित पदार्थों का निर्माण कर जैसे ज़ाइलिटोल आदि से मधुर स्वाद की अनुभूति तथा उचित मात्रा में उच्च कैलोरी ऊर्जा से पोषकता भी अर्थात् स्वाद तथा पोषकता दोनों ही रहेगी। संश्लेषित तथा अर्द्ध संश्लेषित पदार्थों के निर्माण से प्राकृतिक पदार्थों पर दबाव कम होगा और पोषकता तथा स्वाद दोनों उद्देश्यों को पूरा किया जा सकेगा। □□

ग्रामीण शिल्पी के लिए रस्सी बटने की हस्तचालित मशीन

निर्मल भटनागर

[प्राचीन काल स ही रस्सी मानव सभ्यता के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। यह कल की जरूरत थी, आज की ज़रूरत है और कल की ज़रूरत होगी। घर पर रस्सी बुनकर हमारे किसान भाई अच्छी आमदनी भी कर सकते हैं। प्रस्तुत है रस्सी बटने की कला पर रोचक जानकारी निर्मल जी की कलम से।

—**सम्पादक**]

डी–720, सरस्वती विहार, दिल्ली–110034

रस्सी का उपयोग आदि मानव ने लगभग 10,000 साल से भी पहले शुरू कर दिया था। वह चमड़े की पट्टियों को हाथ से बटकर अथवा गूँथ कर रस्सियाँ बनाता था।

बताया जाता है कि **ईसा** से लगभग 3500 वर्ष पूर्व मिस्रवासियों ने अपने विशाल आराधना गृहों और 'पिरामिडों' को बनाते समय बड़े-बड़े पत्थरों को ढोने और ऊँचाई पर पहुँचाने के लिए जिन मज़बूत रस्सों का उपवोग किया वे चमड़े के पट्टों और **पपीरस पौधे** के डंठलों के रेशों से बनाए जाते थे।

ईसा से लगभग 3000 वर्ष पूर्व मिस्र और भूमध्य सागर के पूर्व में बसे देशों में समुद्री जहाज़ों के मस्तूल बाँधने और लम्बी समुद्री यात्राएँ करने में भी रस्सों का उपयोग किया जाने लगा। रस्सी बटने के लिए **सन** का उपयोग लगभग 3000 वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ बताया जाता है। ईसा से 2800 वर्ष पूर्व चीन में उपयोग होने का वर्णन मिलता है। आधुनिक संवत प्रारम्भ होते-होते रस्सी बनाने के लिने जगह-जगह सन के रेशों का उपयोग होने लगा।

रस्सी बटने के लिए मशीन का उपयोग सबसे पहले इंग्लैण्ड में लगभग 230 वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ। इंग्लैण्ड के निवासी **रिचर्ड मार्श** ने 1754 में दुनिया की सबसे पहली रस्सी बटने की मशीन का पेटेंट प्राप्त किया और 1775 आते-आते मशीन व्यापक रूप से काम में लाई जाने लगी।

हमारे देश में रस्सी वटने के लिए परम्परागत रूप से व्यवहृत तरीके में एक व्यक्ति दो खराड़ियाँ घुमाता हुआ आगे-पीछे चलता है। खराड़ी रस्सी बटने के लिए काम में लाए जाने वाले उस उपकरण को कहते हैं, जिसे स्थानीय तौर पर इस काम के लिए बनाया जाता है। दो अन्य व्यक्ति इन दोनों खराड़ियों में साथ-साथ रेशों को भरते भी जाते हैं। इस प्रकार दो रेशों के परस्पर बट जाने से एक तन्तु गुच्छ बनता है। इन तन्तु गुच्छों की विभिन्न संख्याओं को आपस में बटकर विभिन्न मोटाइयों की रस्सियाँ तैयार कर ली जाती हैं।

इस काम को और अच्छा, तेज़ गति से तथा कम श्रम से करने के लिए कम लागत की एक मशीन महात्मा फुले कृषि विश्वविद्यालय, राहुड़ी (अहमदनगर) में अभिकल्पित और विकसित की गई है। यह चार छोटी घिरनियों के समूह से बनी है, जो लकड़ी की बनी एक बड़े आकार की घिरनी से चलाई जाती है। बड़ी घिरनी को एक संचालक घुमाता है। इस मशीन से एक साथ चार तंतु तैयार किये जा सकते हैं।

बनावट

इस मशीन की बनावट बड़ी सरल है। इससे लकड़ी का एक फ्रेम लकड़ी के तीन पहियों पर आरोपित है। बड़े आकार की एक घिरनी इसमें लगी होती है, जिस पर चमड़े का पट्टा (बेल्ट) वहन करने के लिए दो खाँचे बने होते हैं। इस पर एक क्रैंक युक्त हैण्डल भी लगा होता है। जब संचालक इस घिरनी को घुमाता है तो इसके कारण फ्रेम के निचले भाग में लगी लकड़ी की चार घिरनियाँ घूमती हैं। बड़ी घिरनी से छोटी घिरनियों तक शक्ति का स्थानांतरण चमड़े के दो पट्टों से पूरा होता है। इन छोटी घिरनियों के शैफ्टों पर भी घिरनियाँ लगी होती हैं, जिनके साथ रेशे बाँधे जाते हैं। मशीन पर उपयुक्त ऊँचाई पर एक हैंडल लगा होता है ताकि उसके सहारे मशीन को पीछे खिसकाया जा सके।

उपयोग

इस मशीन में लगे चारों हुकों को रेशों का भरण करने के लिए मशीन के सामने चार व्यक्तियों को वैठाना पड़ता है। संचालक मशीन के पीछे खड़ा होता है। अब संचालक फ्रेंक वाले हैंडल को घुमाता है। इससे जैसे-जैसे तंतु की लम्बाई बढ़ती है, वैसे-वैसे वह मशीन के पीछे खिसकता जाता है। जब चारों तंतुओं की एक उचित लम्बाई प्राप्त हो जाती है तो मशीन को पीछे खिसकाना रोक दिया जाता है। भरण किये जाने वाले सिरे पर दो-दो तंतुओं को परस्पर बाँध कर तंतुओं के जोड़े वना लिए जाते हैं। इन युग्म तंतुओं को परस्पर बट कर दो अलग तंतु गुच्छ प्राप्त कर लिये जाते हैं। इस प्रकार मशीन की एक ही सैटिंग

में दो तंतु गुच्छ तैयार हो जाते हैं। इसी तरीके से इस मशीन का उपयोग चार तंतुगुच्छ वाली रस्सी तैयार करने के लिए भी किया जा सकता है।

इस मशीन की कार्यक्षमता परखने के लिए किये गए परीक्षणों से सिद्ध हुआ है कि इसकी उत्पादन दर परम्परागत रस्सी बटने के तरीके के मुकाबले ढाई गुनी अधिक है।

इस मशीन द्वारा रेशों को अपेक्षाकृत अधिक ऐंठन दी जा सकती है, जिसके फलस्वरूप रस्सी की गुणता में वृद्धि हो जाती है। इसके अलावा इस मशीन के लिए कम व्यक्तियों की ज़रूरत होती है तथा मनुष्य की शारीरिक शक्ति भी कम खर्च होती है।

इस मशीन की मरम्मत स्वयं शिल्पी आसानी से कर सकता है, क्योंकि इसके अधिकांश पुर्जे लकड़ी के बने होते हैं। फिर इस मशीन की कीमत भी 300 रुपये के आसपास है जो ग्रामीण शिल्पी की पहुँच के भीतर है।

इस मशीन का उपयोग अन्य किस्म के रेशों से रस्सी बटने के लिए भी किया जा सकता है। □□

[सम्प्रेषण]

ऊर्जा, खेती तथा पर्यावरण

डॉ० प्रशान्त कुमार मिश्र

ऊर्जा संकट आज समस्त विश्व के लिए प्रमुख समस्या बना हुआ है। औद्योगिक क्रांति के बाद कोयला एवं पेट्रोलियम का उपयोग प्रमुख ऊर्जा स्रोत के रूप में किया जाने लगा। परन्तु शनैः शनैः कम होता कोयले का भण्डार एवं आकाश को छूता पेट्रोलियम का मूल्य इस बात का संकेत है कि वैकल्पिक ऊर्जा स्रोत को खोज निकालना अब अनिवार्य हो गया है। इसी सन्दर्भ में वृक्षों एवं अन्य पौधों का उपयोग ऊर्जा उत्पादन में किया जाने लगा। हमारे देश में वैसे भी लकड़ियों का उपयोग ईंधन के रूप में आज भी उतना ही प्रचलित है जितना कोई अन्य साधन। परन्तु जबसे वैज्ञानिकों ने पौधों से विद्युत् उत्पादन करने की विधि को विकसित किया है; "ऊर्जा के लिए खेती" पर लोगों का ध्यान ज़्यादा आकृष्ट हुआ। जैव-ईंधन के महत्व को समूल नकारा नहीं जा सकता, परन्तु इनके उपयोग के साथ कुछ पर्यावरण की समस्याएँ भी जुड़ी हैं जिनके प्रति लापरवाही अन्ततः घातक साबित हो सकती है।

बड़े पैमाने पर सामान्य भूमि पर वृक्षारोपण से कुछ समय के बाद मिट्टी में कार्बनिक पदार्थों एवं अन्य पोषक तत्वों की कमी होने लगती है। ईंधन एवं ऊर्जा के लिए वृक्षारोपण की सफलता वृक्षों के छोटे जीवन-चक्र एवं उनकी पूर्णरूपेण कटाई पर निर्भर करता है और यह दोनों ही अवस्थायें मिट्टी को और भी बेकार बना देती हैं। मिट्टी को पुनः उपजाऊ बनाने के लिए उर्वरक का उपयोग किया जा सकता है, परन्तु इसके लिए भी उपयोगकर्ता को पूर्ण प्रशिक्षित होना आवश्यक है। बहुधा ऊर्वरक के अविवेकपूर्ण उपयोग से मिट्टी में अनेक प्रकार की रासायनिक प्रतिक्रियाएँ होने लगती हैं, जिससे किसी अन्य पोषक तत्व की काफी कमी हो जाती है। इसके अतिरिक्त सघन वृक्षारोपण तथा उसके पश्चात् होने वाली वृक्षों की कटाई से भूमि में कार्बनिक पदार्थों की जो कमी हो जाती है, उसे पूरा करना और भी कठिन हो जाता है।

अभी तक के अध्ययन एवं अनुभव के आधार पर ऊर्जा उत्पादन के लिए सर्वाधिक उपयुक्त पौधा **गन्ना** (*Saecharum officinarum*) माना जाता है। वस्तुतः प्रत्येक वनस्पति के उत्पादन, वरिवहन तथा उससे उपयोगी ऊर्जा प्राप्त करने की प्रक्रिया में भी ऊर्जा की आवश्यकता होती है। गन्ने के सन्दर्भ में इस आवश्यक ऊर्जा की मात्रा उपलब्ध ऊर्जा की मात्रा से काफ़ी कम

वनस्पति विज्ञान विभाग, आर० एस० मोर कॉलेज, गोविन्दपुर, धनबाद—828109 (बिहार)

है। सर्वप्रथम पौधों से **इथेनॉल** नामक रसायन बनाया जाता है जिससे विभिन्न प्रकार के ईंधन बनाए जा सकते हैं। परन्तु पौधे से इथेनॉल प्राप्त करने की प्रक्रिया अत्यन्त प्रदूषणकारी होती है। एक अध्ययन के अनुसार पौधे से प्राप्त एक घन मीटर ईंधन के साथ करीब तेरह घनमीटर प्रदूषक पदार्थ पैदा होते हैं। अतः ऊर्जा के लिए वनस्पतियों के उपयोग को प्रचलित करने के पूर्व इससे होने वाले प्रदूषण का निदान ढूंढना आवश्यक है।

जैव-ईंधन परियोजनाओं में वनस्पति रोपण के लिए उचित भू-खण्ड का निर्धारण भी अति आवश्यक होता है। जमीन पर वृक्षारोपण तथा उसके पश्चात् वृक्षों की कटाई से मृदा-क्षरण की समस्या ज्वलन्त रूप में सामने आ सकती है। इसके अतिरिक्त वृक्षों की कटाई से वन्यजीवों के प्राकृतिक आवास को भी क्षति पहुँचती है। और तो और ऊर्जा के लिए वृक्षारोपण से कृषि संसाधनों पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। अक्सर अधिक आमदनी के लालच में खेती के लिए उपयुक्त भू-खण्ड पर भी अन्य पौधे लगा दिये जाते हैं। इन समस्याओं के समाधन के लिए जलोद्भिद् विशेषतः **जलकुम्भी** (*Eichhornia*) के उपयोग का सुझाव भी सामने आया है। परन्तु इस विकल्प के साथ भी पर्यावरण की समस्याएँ हैं। तालाबों और जलाशयों में जलकुम्भी की उपस्थिति स्वयं एक समस्या है। अतः इन पौधों को व्यापारिक रूप से उपजाने के परिणाम-स्वरूप जलाशय के अन्य पौधों एवं जीवों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है।

जैव-ईंधन का उपयोग विशेषतः विकासशील देशों में काफ़ी पूर्व से होता आ रहा है। हाल के वर्षों में पौधों से इथेनॉल तथा विद्युत्-ऊर्जा प्राप्त करने का प्रावधान सामने आया। यह वैकल्पिक ऊर्जा के खोज की दिशा में एक क्रान्तिकारी क़दम था। परन्तु इस विकास के साथ कुछ गम्भीर पर्यावरण सम्बन्धी समस्याएँ भी सामने आईं। इन समस्याओं का निदान खोज निकालना अनिवार्य है। सर्वप्रथम उचित वनस्पति एवं उचित भू-खण्ड का चुनाव करना आवश्यक होगा। इसके साथ ही मृदाक्षरण तथा भूमि की ऊर्वरक क्षमता का ह्रास भी रोकना होगा। प्रदूषण की समस्या का निदान भी खोज निकालना आवश्यक होगा। इसके अतिरिक्त आर्थिक कसौटी पर भी जैव-ईंधन परि-योजनाओं को खरा उतरना आवश्यक है। अतएव इस दिशा में अनुसंधान पर विशेष बल देना होगा। □□

टिहरी बाँध के वैज्ञानिक विकल्प हैं

रमेश दत्त शर्मा

[उत्तर प्रदेश के गढ़वाल मंडल में अब से कोई पौने दो साल पहले बसे टिहरी नगर के ठीक पास से बहती भागीरथी नदी पर बनाया जा रहा टिहरी बाँध वैज्ञा-निक दृष्टि से इतना ख़तरनाक है कि फिलहाल इसका निर्माण कार्य रोक दिया गया है। लेकिन इस बाँध से करोड़ों रुपया कमाने वाले इसे फिर से चालू कराने के चक्कर में हैं। प्रस्तुत है टिहरी बाँध से जुड़े वैज्ञानिक पक्ष पर एक बेबाक रपट प्रसिद्ध विज्ञान लेखक **रमेश दत्त शर्मा** द्वारा।

—संपादक]

"अभी-अभी समाचार मिला है कि 260 मीटर ऊँचा टिहरी बाँध फट पड़ा है। इस क्षेत्र में भूकंप के कारण यह दुर्घटना हुई है। भूकंप के झटकों ने बाँध की ऊँची-ऊँची दीवारों में जहाँ-जहाँ भारी दरारें डाल

बी–38, कृष्ण विहार, नई दिल्ली–110048
इस्वा संपर्क सूत्र–40, गुलमुहर पार्क, नई दिल्ली-110049, फोन : 669820

दी हैं। बाँध फटने से टिहरी से लेकर हरिद्वार और उधर देहरादून तक प्रलयकारी बाढ़ आ गई है। यह बाढ़ रास्ते में जो भी पड़ा, उसे बहा ले गई। लाखों लोग जान से हाथ धो बैठे हैं। गाँव, बस्तियाँ और शहर के शहर बह गए हैं। बाँध के पास बना बिजली घर और उसके आसपास बनी कर्मचारियों की बस्ती 10 मीटर पानी के नीचे डूबी पड़ी है। बचाव कार्य के लिए सेना बुलाई गयी है। हेलीकॉप्टर और मोटर बोट तथा नौकाएँ इस्तेमाल की जा रही हैं। प्रधान मंत्री और मुख्यमंत्री नुकसान का जायजा लेने गए हैं।"

कटु वैज्ञानिक सत्य : कच्ची पहाड़ियाँ और भूकंप क्षेत्र

यह एक काल्पनिक समाचार है। लेकिन सच इससे भी ज़्यादा भयंकर होगा। अभी तो टिहरी बाँध बनाने की जगह पर धारा का मुँह मोड़ने के लिए सुरंगें ही बनी हैं। कुछ सड़कें और इमारतें बनी हैं। इसी पर 429 करोड़ के लगभग रुपया खर्च हो चुका है। पूरा बाँध बनाने पर इस समय 3 हजार करोड़ रुपया खर्च होने का अनुमान है। अगले दस साल में यह खर्च दूना होकर छः हजार करोड़ से ऊपर पहुँचेगा। फिलहाल बड़े बाँध की जगह छोटे बाँध बनाकर बिना किसी को डुबोए बिजली और सिंचाई के लक्ष्य पूरे किए जा सकते हैं।

बाँध के विकल्पों पर सिंचाई विशेषज्ञ और वैज्ञानिक विचार कर चुके हैं। पर ठेकेदार, नेता और इंजीनियरों की तिकड़ी मिलकर बड़ा बाँध बनाकर कड़ी चाँदी काटने के चक्कर में वैज्ञानिक तथ्यों को सामने ही नहीं आने दे रहे।

वैज्ञानिक तथ्य यह है कि टिहरी बाँध, जिन पहाड़ियों के बीच में बनाया जा रहा है, वे कच्ची पहाड़ियाँ हैं और भूकंप क्षेत्र में हैं। वैज्ञानिक तथ्य यह है कि टिहरी बाँध का पर्यावरणीय मूल्यांकन करने के लिए बनाई गई समिति ने इस बाँध को रद्द कर दिया और पर्यावरण-मंत्रालय ने इस बाँध को बनाने की अनुमति नहीं दी। यह रिपोर्ट उच्च न्यायालय में सीलबंद करके रख दी गई है, ताकि जनता तक सही जानकारी नहीं पहुँच सके। फिर भी भारतीय सांस्कृतिक निधि (इनटैक) के पर्यावरण-निदेशक **श्री नलिनीधर जयाल** ने मूल्यांकन समिति के अध्यक्ष **श्री सुनीलकुमार राय** का 28 अगस्त 1989 का वह पत्र प्रकाशित कर दिया है, जो पर्यावरण विभाग के तत्कालीन सचिव **श्री टी० एन० शेषन** के नाम लिखा गया था।

इस पत्र में निष्कर्ष के तौर पर श्री राय ने कहा है कि "पर्यावरण की दृष्टि से टिहरी बाँध का स्थान 260.5 मीटर ऊँचे बाँध के लिए उपयुक्त नहीं हैं।···" अंतिम पैरा में श्री राय ने चिंता व्यक्त की है कि "टिहरी बाँध का स्थान ऋषिकेश और हरिद्वार के ऊपर होने के कारण इसमें होने के कारण इसमें होने वाली कोई भी दुर्घटना कितनी गंभीर होगी, इसका अनुमान लगाना भी मुश्किल है। इसके नियोजन में किसी भी संभावित त्रुटि या गलत संगणना का या इस क्षेत्र में किसी बड़े भूकम्भ के कारण पैदा होने वाली असंख्य विपत्तियों के लिए भावी पीढ़ियों के प्रति उत्तरदायी होने को कौन तैयार होगा।

वैज्ञानिकों के सवाल

अनेक भू-वैज्ञानिकों ने टिहरी बाँध पर सवाल उठाये हैं, जिन्हें "इनटैक" ने एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया है। उदाहरण के लिए 'वाडिया इन्स्टीट्यूट ऑव हिमालयन जिओलोजी' के सर्वेक्षण के निदेशक **डॉ० एस० पी० नौटियाल** का कहना है कि "भागीरथी और भिलगना नदियाँ हिममंडित मध्य हिमालय के दक्षिणी ढलानों पर बहकर आती हैं। यहाँ असाधारण गति से भू-स्खलन होते रहते हैं और वर्ष भर में 8 महानदियाँ अपने साथ बालू, रेत तथा मलबा बहाकर लाती हैं।······टिहरी बाँध का जीवन प्रत्याशित 100 वर्ष की बजाय 30–40 वर्ष का ही हो सकता है।" उन्होंने आगे लिखा है, "अभी तक भारतीय इन्जीनियरों द्वारा मिट्टी के भराव से बनाया गया सबसे ऊँचा बाँध राम गङ्गा बाँध है। इसी सामग्री से 850 फुट ऊँचा टिहरी बाँध बनाना खासतौर से टिहरी

जैसे सँकरी घाटियों वाले भूकम्प-प्रवण स्थान में, बहुत बड़ा जोखिम हैं।''

कुमायूँ विश्वविद्यालय के भूविज्ञान विभाग के अध्यक्ष **डॉ० के० एस० वाल्दिया** ने अपनी रपट में बताया है कि टिहरी बाँध की जगह के पहाड़ जहाँ ज़मीन में धँस रहे हैं, वहाँ विखण्डनशील भ्रंश हैं। और चट्टानें तथा शैलखण्ड टूटी-फूटी हालत में हैं। इस कारण बाँध में भरा पानी रिसकर नीचे ज़मीन में जा सकता है। गहरे में इस पानी का दबाव बढ़ने से ज़मीन फट सकती है और भूकम्प आ सकते हैं।

'राष्ट्रीय भू-भौतिकी अनुसंधान' के निदेशक **डॉ० विनोद गौड़** अब दिल्ली में 'सागर विकास विभाग' के सचिव हैं। उन्होंने अपने अध्ययन में अनेक सवाल उठाये हैं और कहा है कि इनका जवाब मिलने पर ही बाँध के बारे में अंतिम निर्णय करना चाहिए। कुछ प्रश्न इस प्रकार हैं :

(1) 7.5 गुरुत्व या उससे अधिक शक्ति के किसी ऐसे बड़े भूकम्प के आने की अगले दस सालों में क्या सम्भावना है ?

(2) भूकम्प आने की स्थिति में बाँध टिका रहे, इसके लिए डिज़ाइन में क्या उपाय शामिल किए गये हैं ?

(3) यदि इस क्षेत्र में संकटपूर्ण दबाव बना हुआ है, तो बड़े जलाशय के कारण, चट्टानें खिसकने के कारण क्या दुष्परिणाम होगें ?

डॉ० गौड़ का अपना विचार यह है कि " 897 के असम के भयानक भूकम्प के बाद से हिमालय क्षेत्र में 7.5 गुरुत्व या इससे अधिक शक्ति के आठ बड़े भूकम्प और अनेक छोटे-छोटे भूकम्प आ चुके हैं। अत: तर्क यह दिया जा सकता है कि उस क्षेत्र में जिस पर पहले से ही संकट की स्थिति तक का दबाव बना हुआ है, किसी बड़े जलाशय के निर्माण से चट्टानें खिसक सकती हैं। यदि बाँध के निकट चट्टानें खिसक गईं तो समुद्र स्तर से 550 मीटर की ऊँचाई से बहकर आती हुई 260 मीटर ऊँची पानी के दीवार से नीचे नदी के बहाव-क्षेत्र के आसपास निश्चय ही भयंकर विध्वंस हुए बिना नहीं रहेगा।''

भूकम्प आने की ऐसी ही आशंका 'भू-चुम्बकीय अनुसंधान संस्थान' के निदेशक **डॉ० हर्ष गुप्ता** ने भी व्यक्त की है। ये अंटार्कटिका अभियान का भी नेतृत्व कर चुके हैं। भू-विज्ञानी **प्रो० पी० एल० सकलानी** तथा **प्रो० बी० एन० बाजपेयी** के अनुसार 'टिहरी बाँध की जगह में चट्टाने भुरभुरे और चूर्णशील पत्थर की हैं।······जलाशय में 260.5 मीटर जलस्तर से न केवल बाँध की तिलहटी पर उसके भार का दबाव पड़ेगा, बल्कि आसपास की ज़मीन भी कट-कटकर गिरेगी। रुड़की विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों द्वारा गङ्गा तथा यमुना घाटियों की जलसंसाधन परियोजनओं के लिए तैयार की गई रिपोर्ट से पता चलता है कि इस क्षेत्र में भूकम्प-क्रियाएँ लगातार बढ़ रही हैं। 1971 के पहले हर साल भूकम्प के एक या दो झटके महसूस किये जाते थे। लेकिन 1974 में 5 बार और 1975 में 7 बार भूकम्पों के झटके आये। बाँध स्थल पर ही एक बड़ा भ्रंश हैं, जिसकी चौड़ाई 15 मीटर है। वहाँ बाँध के पानी का दबाव पड़ते ही, भूकम्प आ जायेगा।

बड़े बाँध का विश्वव्यापी विरोध

महाराष्ट्र में कोयना बाँध में 6 7 शक्ति के ही भूकम्प के कारण जान-माल का भारी नुकसान हुआ था। दुनियाभर में 10 हज़ार बाँधों में से कम से कम 466 बाँध दुर्घटनाग्रस्त और 140 बाँध पूरी तरह ध्वस्त हो चुके हैं। भारत में 1500 से ऊपर बड़े बाँध हैं, जिनमें से कोई भी अपनी अपेक्षाएँ पूरी नहीं कर सका। इनमें से 41 बाँधों में दरारें पड़ चुकी हैं और 14 से ज्यादा बाँध पूरी तरह असफल हो चुके हैं। सन् 1961 में पंचेट बाँध टूटने से भारी विनाश हुआ। 1958 में कदम बाँध, 1967 में नानक सागर, 1972 में चिकाहोले, 1973 में दाँतावाला, 1978 में भरान बाँध टूटे और लाखों जानें गईं और करोड़ों का असबाब नष्ट हुआ। 1978 में हिगलों बाँध टूटा था और

अगस्त **1979** में मोरवी बाँध। भाखड़ा में गाद जमा हो जाने से हर साल उसका पानी छोड़ा जाता है और बाढ़ पैदा की जाती है। इस बाँध के कारण पंजाब में ज़मीनों में लवण ऊपर आ गए हैं और रेह की समस्या बढ़ रही है।

घाटे का सौदा

टिहरी का बाँध बना तो टिहरी शहर के अलावा **22** गाँव डूबेंगे और **86** हज़ार लोग विस्थापित हो जायेंगे। 72 गाँवों के खेत-खलिहान डूब जाएँगे। कोई **5200** हैक्टेयर भूमि डूबेगी, जिसमें से **1600** हेक्टेयर बहुत ऊपजाऊ भूमि है। जून **1988** में पूना के **प्रो० विजय परांजपे** की विस्तृत रिपोर्ट टिहरी बाँध के बारे में इनटैक ने प्रकाशित की है। इसके अनुसार टिहरी बाँध पर खर्चे एक रुपये से **56** पैसे मिलेंगे, जबकि योजना आयोग उसी परियोजना को स्वीकृत देता है, जिस पर खर्चे एक रुपये से डेढ़ रुपया मुनाफा हो। ऊपर से अनेक दुर्लभ जीव-जन्तु और वनस्पतियाँ हमेशा के लिए लुप्त हो जाएँगी सो अलग।

भारतीय डिज़ाइन में **1100** मीटर चौड़ी नींव है, जबकि रूसी इसे **1500** मीटर चौड़ी चाहते हैं। टिहरी बाँध के लिए रूस ने **30** करोड़ रूबल (लगभग **2000** करोड़ रुपये) की आर्थिक सहायता दी है और **150** के करीब रूसी इंजीनियर भेजे हैं। इन्होंने **2** अक्टूबर **1987** को पत्र लिखकर भारत सरकार को शिकायत की है कि बाँध की भारतीय डिज़ाइन में भूकंप-शंका का ख्याल नहीं रखा गया। **श्री गोर्वाचोव** को पत्र भेजा गया है कि वे ग़लत डिज़ाइन वाले बाँध से समर्थन वापस लें। उनकी सहायता किसी और भले काम में लगे तो अच्छा।

इस तरह टिहरी बाँध हर तरह से घाटे का सौदा है। इसकी जगह मनेरी टेलरेत के पानी को एक छोटी नहर बनाकर इधर लाया जाय और टिहरी बाँध-स्थल पर बिजली बनाने के लिए हैड डिफरेंल में उपलब्ध जल-कल का उपयोग किया जाय। बाँध की ऊँचाई **130** मीटर यानी आधी कर दें, तो बिना किसी को डुबोए बिजली बना सकते हैं और ख़तरा भी आधा रह जायेगा। भागीरथी और भिलंगना पर दो छोटे-छोटे पन बिजली घर बना सकते हैं। टिहरी बाँध की मूल परियोजना में इस विकल्प पर भी विचार किया गया है और उसे स्वीकारा गया है। 'गैर परम्परागत ऊर्जा विभाग' के सचिव **डॉ० महेश्वर दयाल** के अनुसार **100** करोड़ रुपये ख़र्च करके **100** मैगावाट बिजली पैदा करने वाला एक सौर-ऊर्जा चालित बिजलीघर बना सकते हैं। यानी **3000** करोड़ में ऐसे **30** बिजलीघर बन सकते हैं, जिनसे न पर्यावरण बिगड़ेगा, न भूकंप आयेंगे, न विनाश होगा और न कोई डूबेगा।

टिहरी बाँध विरोधी संघर्ष समिति इन्हीं वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर सर्वोच्च न्यायालय में बाँध के ख़िलाफ़ याचिका दे चुकी है। नई सरकार के वन और पर्यावरण मंत्री तथा ऊर्जा मंत्री तथा योजना आयोग के विद्वान सदस्य भी टिहरी के विनाशकारी बाँध के पक्ष में नहीं हैं। फिर भी बाँध बना तो यही माना जायेगा कि चाँदी की चकाचौंध ने सबको अन्धा कर दिया। ☐☐

(इस्वा फीचर्स)

हार्मोन और स्वास्थ्य

डॉ० अजय कुमार चतुर्वेदी

वे रासायनिक पदार्थ, जो ग्रंथियों में उत्पन्न होते हैं, शरीर के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं और शरीर के विभिन्न अंगों का नियन्त्रण करते हैं तथा आपस में समन्वय कर जैविक क्रियाओं को चलाते हैं, उन्हें हार्मोन कहते हैं। हार्मोन प्रत्येक सजीव में पाये जाते हैं। हार्मोन की गति मन्द होती है अतः मन्द गति से चलने वाले प्रक्रमों जैसे वृद्धि, प्रजनन, उपापचयिक क्रियाएँ आदि, का नियमन करते हैं। एक विशेष क्रिया के लिए विशेष हार्मोन होता है। अतः विभिन्न क्रियाओं के लिए विभिन्न हार्मोन की आवश्यकता होती है। एक ही हार्मोन सब क्रियाओं में काम नहीं कर पाता। विभिन्न क्रियाओं में विभिन्न हार्मोन काम करते हैं। विशिष्ट हार्मोन विशिष्ट कोशिकाओं को ही प्रभावित करता है। इसीलिए ये समन्वय भी करते हैं।

हार्मोन उपापचयिक क्रियाओं का सूत्रपात नहीं करते उनकी दर को कम या अधिक कर उनका नियमन करते हैं। इसी कारण हार्मोन की कमी या अधिकता से शरीर में विशिष्ट रोग उत्पन्न हो जाते हैं। मनुष्य का सामान्य से अधिक लम्बा होना या सामान्य से छोटा होना हार्मोनों की अधिकता व कमी के प्रभाव का फल है। लड़के-लड़कियों में, स्त्री-पुरुष में अन्तर हार्मोनों के प्रभाव के द्वारा ही होता है।

हार्मोन शरीर के अन्दर विशेष प्रकार की ग्रंथियों के अन्दर स्रावित होते हैं। इन ग्रंथियों को अन्तःस्रावी ग्रंथियाँ कहते हैं। इन ग्रंथियों में कोई नलिका नहीं होती। इस आधार पर इन ग्रंथियों को नलिकाविहीन ग्रंथियाँ भी कहते हैं। हार्मोनों का परिवहन विभिन्न अंगों तक रुधिर की धारा के द्वारा ही होता है। रुधिर एक स्थान से दूसरे स्थान मन्दगति से जाता है। अतः हार्मोन भी मन्द गति से चलते हैं। इसीलिए हार्मोनों द्वारा समन्वय एक मन्दगति का प्रक्रम है। हार्मोन हमारे जीवन को सुखमय बनाने में प्रमुख भूमिका निभाते हैं अतः हार्मोन बहुत ही महत्वपूर्ण हैं।

एक कोशिक जन्तुओं में जैविक क्रियाओं का नियंत्रण और समन्वयन केन्द्रक द्वारा होता है। बहुकोशिक जन्तुओं में कार्य-विभाजन होता है। भिन्न कार्य के लिए भिन्न अंग ही काम आते हैं। जैसे श्वसन, संवेदना आदि कार्यों को अलग कोशिकाएँ समूहबद्ध होकर करती हैं। कोशिकाओं के समूह अंग-तंत्र बनाते हैं। विशेष कोशिकाएँ विशेष कार्य करने में दक्ष हो जाती हैं—जैसे आमाशय की कोशिकाएँ पाचन हेतु, यकृत की कोशिकाएँ उपापचयिक क्रियाओं हेतु विशेषीकृत होती हैं। बहुकोशिक जन्तुओं में जैव-क्रियाओं का नियंत्रण एवं समन्वयन हार्मोनों के द्वारा होता है। अतः बहुकोशिक जन्तुओं में हार्मोनों का विशेष महत्व है।

पौधों में भी जैव-क्रियाएँ जैसे अंकुरण, वृद्धि, पुष्प लगना, फल लगना का नियंत्रण एवं समन्वयन हार्मोनों के द्वारा ही होता है। इन हार्मोनों को पादप हार्मोन या वृद्धि नियंत्रक हार्मोन कहते हैं। ये हार्मोन मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं। (1) आक्सिन—ये पौधे को प्रकाश की ओर ले जाते हैं ओर पौधे की आकृति के विकास पर नियंत्रण करते हैं, (2) जिबरेलिन—ये तने की लम्बाई को बढ़ाने में सहायक होते हैं, (3) साइटोकाइनिन—ये हार्मोन पोषक पदार्थों को एक भाग से दूसरे भाग में पुनर्गमन में सहायता करते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य में भी प्रमुख अन्तःस्रावीग्रन्थियाँ पाई जाती हैं, जो हार्मोन स्रावित कर जैव क्रियाओं को प्रभावित करती हैं। हार्मोन के प्रभाव से ही हमारा विकास सम्भव है। इनकी कमी या अधिकता से विकास में तथा जैव क्रियाओं में रुकावट आ जाती है। अतः हार्मोन की उचित मात्रा ही आवश्यक है।

मनुष्य के शरीर में विभिन्न भागों में विभिन्न अन्तःस्रावी ग्रंथियाँ पाई जाती हैं, जो भिन्न-भिन्न

रसायन विभाग, धर्म समाज कॉलेज, अलीगढ़, उत्तर प्रदेश

हार्मोन उत्पन्न कर विभिन्न जैव-क्रियाओं पर नियन्त्रण व समन्वय करती हैं। सामान्य-क्रिया होने पर सामान्य विकास होता है, अन्यथा कुछ असामान्यता आ जाती है।

मनुष्य में निम्न अन्तःस्रावी ग्रंथियाँ पाई जाती हैं (1) **थाइरॉइड**—यह ग्रंथि गर्दन में पाई जाती है। यह ग्रंथि थाइरॉक्सिन नामक हार्मोन स्रावित करती है। इस हार्मोन में आयोडीन की मात्रा पाई जाती है। आयोडीन की कमी से घेघा रोग हो जाता है। यह हार्मोन कोशिकाओं की वृद्धि को नियंत्रित करती है। इस कारण इस ग्रंथि को वृद्धि-प्रेरक ग्रन्थि भी कहते हैं। यह हार्मोन उपापचयिक क्रियाओं का नियन्त्रण व नियमन भी करती है। मस्तिष्क का विकास भी इसी हार्मोन के द्वारा होता है। इस हार्मोन की कमी से हृदय की गति धीमी, शरीर में सुस्ती, व मस्तिष्क कमज़ोर हो जाता है। इसकी अधिक मात्रा भी हानिकारक है। इसकी अधिक मात्रा से उपापचयिक क्रियाओं की गति तेज़ हो जाती है, स्वभाव चिड़चिड़ा व घबराहट हो जाती है। और तो और आँखें भी बड़ी हो जाती हैं।

(2) **पैराथाइरॉइड**—यह ग्रन्थि भी गर्दन में पाई जाती है। यह थाइरॉइड ग्रन्थि के निचले भाग के पास होती है। यह ग्रन्थि पैराथारमोन नामक हार्मोन उत्पन्न करती है। यह हार्मोन मांसपेशिओं को क्रियाशील रखता है। इसके साथ यह हार्मोन हड्डियों की वृद्धि एवं दाँतों के बनने का नियमन करता है। इस हार्मोन की कमी से हड्डियों का बढ़ना रुक जाता है और दाँतों के बनने में कैल्शियम व फॉस्फोरस की कमी हो जाती है, जिससे मजबूत दाँत नहीं बनते और हड्डियाँ भी कमज़ोर हो जाती हैं।

(3) **थाइमस**—यह ग्रन्थि छाती के ऊपरी भाग में स्थित है। पैराथाइरॉइड ग्रन्थि के नीचे, यह ग्रन्थि दो थैलों के रूप में उपस्थित रहती है। इस ग्रन्थि का हार्मोन जननग्रन्थियों को सक्रिय बनाने में काम आता है। 12 वर्ष की आयु के बाद छोटी होने लगती है।

(4) **आहार नली**—आमाशय की भीतरी दीवार की कोशिकाओं से जो हार्मोन निकलता है उसे गैस्ट्रिन कहते हैं। यह हार्मोन जठर ग्रन्थियों को उत्तेजित करता है। इसी प्रकार ड्यूओडिनम की श्लेष्मिका से सीक्रीटन तथा कोलेसिस्टोकाइनिन हार्मोन निकलता है। ये अग्न्याशय तथा पित्ताशय को उत्तेजित करता है तथा रक्त-परिवहन का नियमन करता है।

(5) **अग्न्याशय**—यह ग्रन्थि ग्रहण और आमाशय के मध्य स्थित होती है। यह हल्के पीले रंग की लम्बी चपटी अनियमित आकार की होती है। यह अनेक छोटे पिण्डकों से मिलकर बनती है। यह ग्रन्थि इन्सुलिन नाम का हार्मोन स्रावित करती है। यह हार्मोन भोजन के कार्बोहाइड्रेट को ग्लाइकोजन में बदल देता है। यह ग्लूकोज के उपापचय से ऊर्जा भी देता है। इस हार्मोन की कमी से ग्लूकोज का उपापचय नहीं हो पाता। ग्लूकोज की मात्रा काफी बढ़ जाती है। ग्लूकोज की यह बढ़ी मात्रा मूत्र के साथ निकलती है। इसे मधुमेह के नाम से जानते हैं।

(6) **एड्रीनल**—यह ग्रन्थि वृक्क के प्रतिपृष्ठ तल पर होती है। यह हल्के पीले रंग की लम्बी ग्रन्थि होती है। यह ग्रन्थि दो हार्मोन स्रावित करती है। एक हार्मोन ग्रन्थि के बाहरी भाग से निकलता है, जो कारटिन कहलाता है। कारटिन उपापचय क्रियाओं की गति पर नियंत्रण करता है। यह प्रोटीन संश्लेषण में भी सहायक है। इस हार्मोन की कमी से रुधिर का पानी व लवण निकल जाता है। इससे मांशपेशियाँ शिथिल हो जाती हैं। हार्मोन की अधिक मात्रा होने पर लिंग बदल जाता है। एड्रीनल ग्रन्थि का दूसरा हार्मोन एड्रीनेलीन है। यह ग्रन्थि के अन्दर के भाग में होता है। यह हार्मोन रुधिर-दाब का नियमन करता है। इस हार्मोन की अधिक मात्रा होने पर हृदय की गति तेज़ हो जाती है, रोंगटे खड़े हो जाते हैं, आँखें बड़ी हो जाती हैं। हृदयगति कम होने पर ऐड्रीनेलीन का इन्जेक्शन दिया जाता है।

(7) **वृषण ग्रन्थि**—यह ग्रन्थि नर मनुष्य में पाई जाती है। यह जनन ग्रन्थि है। यह ग्रन्थि टेस्टोस्टोरोन और एन्डोस्टोरोन नामक हार्मोन उत्पन्न करते हैं।

ये हार्मोन पुरुषत्व के लक्षणों को प्रदर्शित करते हैं। इस हार्मोन की कमी से प्रजनन के लिए मनुष्य बेकार हो जाता है।

(8) **अण्डाशय**—यह भी जनन ग्रन्थि है। यह ग्रन्थि मादा मनुष्य (औरत) में पाई जाती है। यह ग्रन्थि ईस्टरोन नामक हार्मोन उत्पन्न करती है। यह हार्मोन स्त्री के लक्षणों का नियमन करता है। इस ग्रन्थि का दूसरा हार्मोत प्रोजेस्टिरोन है। यह हार्मोन भ्रूण को स्थापित करने में सहायक है और साथ ही गर्भाशय को सक्रिय बनाता है। मासिक धर्म का नियमन भी करता है। स्तनों के विकास व वृद्धि में भी सहायक है।

(9) **पिट्यूटरी ग्रन्थि**—यह ग्रन्थि मस्तिष्क में पाई जाती है। यह ग्रन्थि अन्य अन्तःस्रावी ग्रन्थियों पर नियंत्रण कर उनका नियमन करती है। इसीलिए इस ग्रन्थि को मास्टर ग्रन्थि भी कहते हैं। यह ग्रन्थि अन्य ग्रन्थियों को क्रियाशील होने में सहायता प्रदान करती है। जैविक क्रियाओं यथा ऐच्छिक और अनैच्छिक क्रियाओं के सम्पन्न होने में इस ग्रन्थि का विशेष योग-दान है। उदाहरणस्वरूप रुधिर दाब का सही रहना, शरीर का सही विकास होना जैसी जैविक क्रियाएँ। भूख लगना, नींद आना ऐच्छिक क्रियाएँ हैं। डर के कारण मुंह से चीख़ निकलना, रोंगटे खड़े होना, आँखों के सामने अँधेरा छा जाना आदि अनैच्छिक क्रियाएँ हैं। इन सब क्रियाओं के पूर्ण होने में पिट्यूटरी ग्रन्थि की महत्वपूर्ण भूमिका है। इन्हीं कारणों से पिट्यूटरी ग्रन्थि का हमारे जीवन में बहुत महत्व है।

पिट्यूटरी ग्रन्थि एक द्रव उत्पन्न करती है, जिसे पिट्यूटीन द्रव कहते हैं। इसमें नौ-दस हार्मोन होते हैं। ये हार्मोन प्रोटीन या पॉलीपेप्टाइड प्रकृति के होते हैं। ये हार्मोन अपना व्यक्तिगत और सामूहिक प्रभाव प्रदर्शित करते हैं, जिससे शारीरिक व मानसिक विकास पूर्ण होता है।

पिट्यूटरी ग्रन्थि से निम्न हार्मोन उत्पन्न होते हैं। इस ग्रन्थि का सबसे महत्वपूर्ण हार्मोन सोमेटोट्रोफिन है। यह हार्मोन वृद्धिप्रेरक हार्मोन है। यह हार्मोन कंकाल और मांसपेशियों की वृद्धि, वसा और कार्बो-हाइड्रेट का उपापचय और ऊतकों में प्रोटीन नाइट्रोजन का प्रतिधारण करता है। यह शरीर की वृद्धि का नियंत्रण करता है। इसकी अधिकता से महाकायता हो जाती है। इसकी कमी से मनुष्य बौना (सामान्य से कम लम्बाई) हो जाता है। इसके अतिरिक्त यह हार्मोन थाइरॉइड ग्रन्थि, अधिवृक्क वल्कुट और जनन अंगों पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव दिखाता है। चूंकि यह हार्मोन वृद्धि और उपापचय को प्रभावित करता है इसलिए इस हार्मोन को वृद्धि-उपापचय हार्मोन भी कहते हैं।

काट्रिकोट्राफिन—यह हार्मोन अधिवृक्क कोर्टेकज से अन्य हार्मोनों के स्राव के लिए अत्यावश्यक है। दूसरे यह हार्मोन उपापचयात्मक प्रभाव भी डालता है।

थाईरोट्राफिन—थाइरॉइड ग्रन्थि को क्रियाशील बनाने में यह हार्मोन आवश्यक है। इस हार्मोन के द्वारा ही थॉइराइड ग्रन्थि में हार्मोन का निर्माण होता है। अतः यह हार्मोन थाइरॉइड ग्रन्थि का संचालन व नियंत्रण करता है।

गोनेडोट्राफिन—यह हार्मोन जनन अंगों के कार्यों का नियंत्रण करता है। कुछ अन्य हार्मोन भी इसमें सहायता प्रदान करते हैं। अंतरालीय कोशिका उद्दीपक हार्मोन जनन ग्रन्थि की परिपक्वता और लिंग हार्मोन के उत्पादन पर नियंत्रण करता है। फालिकल उद्दीपक हार्मोन अण्डाशय के ऊतकों की वृद्धि को उद्दीप्त करता है।

मिलेनोसाइट—यह उद्दीपक हार्मोन वर्ण कणिकाओं के फैलाव के लिए कार्य करता है और त्वचा के वर्ण को गहरा बनाता है।

मिलैनोफोर—यह संकेद्रक हार्मोन है। यह वर्ण कणिकाओं में आकुंचन उत्पन्न करता है।

वैसोप्रेसिन—यह हार्मोन धमनियों के आकुंचन द्वारा रुधिर दाब को बढ़ाने में सहायता करता है।

ऑक्सीटॉक्सिन—यह हार्मोन गर्भाशय की पेशियों को उत्तेजित कर आकुंचन को बढ़ाने में सहायक है। दुग्ध ग्रन्थि के परिवर्तन व दुग्ध-उत्पादन में भी यह हार्मोन सहायता प्रदान करता है।

एन्टीडाइयूरेटिक—यह हार्मोन उत्सर्जन-क्रिया का नियंत्रण करता है। इससे रुधिर दाब सही रहता है।

प्रोलेक्टिन—यह हार्मोन मुख्यत: लैंगिक संरचनाओं और क्रियाओं पर नियंत्रण करता है। यह दुग्ध के निर्माण में सहायक है। यह हार्मोन दुग्ध स्राव को उद्दीप्त करता है। प्रोजेस्टेरोन का स्राव भी इससे प्रभावित होता है, जिससे यौन-परिपक्वता पर भी नियंत्रण होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पिट्यूटरी ग्रन्थि के विभिन्न हार्मोन विभिन्न जैविक, ऐच्छिक, अनैच्छिक क्रियाओं के पूर्ण होने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसीलिए इस ग्रन्थि का हमारे शरीर में विशेष महत्व है। इसी कारण इस ग्रन्थि को मास्टर ग्रन्थि कहते हैं। यह ग्रन्थि अन्य ग्रन्थियों का संचालन, नियंत्रण और समन्वयन कर हमारा शारीरिक व मानसिक विकास करती है। अत: यह ग्रन्थि एक महत्वपूर्ण ग्रन्थि है।

इस विवरण से स्पष्ट है कि हार्मोन लड़के-लड़की, पुरुष-स्त्री में अन्तर प्रगट करते हैं साथ ही हार्मोन विभिन्न जैविक, ऐच्छिक व अनैच्छिक क्रियाओं का संचालन, नियंत्रण और समन्वयन कर हमारा शारीरिक, मानसिक, विकास करते हैं, जिससे हम स्वस्थ रहते हैं। यदि किसी स्तर पर इन हार्मोनों की मात्रा में कमी या अधिकता हो जाय तो हमारे विकास में गतिरोध उत्पन्न हो जायेगा, जिससे हम स्वस्थ नहीं रह पायेंगे। तब हमारा जीवन नीरस बन जायेगा।

अत: हार्मोन हमारे सुखद जीवन की मूल आवश्यकता हैं। इनका प्रभाव हमारे जीवन पर सीधा पड़ता है। इसलिए हार्मोन हमारे जीवन के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। □□

साक्षात्कार

हिन्दी विज्ञान लेखन के पुरोधा : गुणाकर मुले

[हमारे सौभाग्य से लब्धप्रतिष्ठ हिन्दी विज्ञान लेखक श्री गुणाकर मुले जी विज्ञान परिषद् और भारतीय भाषा संस्थान, (मैसूर) द्वारा आयोजित 'हिन्दी-उर्दू में बाल विज्ञान लेखन' कार्यशाला में भाग लेने, अपने अतिव्यस्त जीवन से समय निकाल कर, यहाँ पधारे। हमने इस अवसर का भरपूर लाभ उठाया। अपने सहज स्वभाव के कारण उन्होंने साक्षात्कार के हमारे निवेदन को स्वीकार कर लिया। यह अनौपचारिक साक्षात्कार 'विज्ञान' पत्रिका की ओर से 'विज्ञान' की सुपरिचित लेखिका श्रीमती मंजुलिका लक्ष्मी ने लिया। इसके लिए मैं परिषद् की ओर से और अपनी ओर से भी श्री मुले जी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ और मंजुलिका जी के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। —सम्पादक]

श्री गुणाकर मुले हिन्दी विज्ञान लेखकों की नित सुदृढ़ होती सैन्य पंक्ति के एक सुयोग्य और सफल सेनापति रहे हैं, ऐसा कहें तो अत्युक्ति न होगी। विज्ञान और वैज्ञानिक लेखन में रुचि लेने वाला समस्त पाठक वर्ग उनके नाम और कृतित्व से सुपरिचित है। मन की सहज जिज्ञासा सदैव ऐसी सफल यात्राओं के बीच आने वाले मोड़ों और पड़ावों की पृष्ठभूमि कुरेदने की आदी रही है। केवल रचना का स्वरूप ही मन को संतुष्ट नहीं कर पाता—रचना से इतर उस रचनाकार के जीवन-व्यसन, प्रेरणाओं-निराशाओं के बारे में जानना भी मन के कौतूहल का इष्ट रहा है। इसी खोजी प्रवृत्ति से विवश होकर 'विज्ञान परिषद्, प्रयाग' के अतिथिकक्ष में सुविख्यात विज्ञान लेखक श्री गुणाकर मुले से लिया गया यह साक्षात्कार।

परन्तु साक्षातकार वार्ता से पूर्व कुछ साक्षात्कार के औचित्य के सम्बन्ध में। किसी सफल व्यक्ति से साक्षातकार का एक सर्वप्रमुख उद्देश्य होता है उसकी सफलताओं से प्रेरणा पाना, असफलताओं से सीख

लेना, उससे ऊर्जा और उत्साह को ग्रहण करना और अपनी दिशा, अपने पथ का निर्माण। किन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है उस बिन्दु की पहचान जो उस व्यक्ति विशेष के निर्माण में निर्णायक रहा। भले ही यह बिन्दु हर व्यक्ति के जीवन में भिन्न-भिन्न रहते आये हों, पर साक्षात्कारों में उसकी पहचान निस्संदेह अपनी पहचान क्षमता की सीमाओं को विस्तार देती है। इसीलिए साक्षात्कार की आवश्यकता भी है और सार्थकता भी—

श्री गुणाकर मुले से लिया गया यह साक्षात्कार प्रारम्भ में तो पारम्परिक औपचारिक प्रश्नोत्तरी की लीक पर ही चला पर बहुत शीघ्र और अनजाने ही उसने अनौपचारिक, निर्बन्ध वार्तालाप का स्वरूप ग्रहण कर लिया। बातों से बातें निकलीं और उनके व्यक्तित्व की गरिमा, ऊर्जा, निश्छल विनम्रता और जुझारू आक्रोश सब शब्द बन कर फूटे। संभवत: उस समूचे अनावश्यक विस्तार के लिए यहाँ स्थान न हो पर थोड़े विस्तार की क्षमा माँगते हुए और 1% (एक प्रतिशत) की छूट लेते हुए उनकी बातें 99% (निन्नानबे प्रतिशत) उन्हीं की शैली और शब्दों में—

प्रश्न—मुले जी, अनेक वर्षों से आपके विज्ञान लेख पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ती आ रही हूँ। इस कार्यशाला (विज्ञान परिषद्, प्रयाग और भारतीय भाषा संस्थान, मैसूर के सहयोग से 'हिन्दी-उर्दू में बाल विज्ञान लेखन' पर 11-16 सितम्बर 1989 के बीच विज्ञान परिषद्, प्रयाग में चलने वाली 6 दिवसीय कार्यशाला) में आपके दर्शन का सौभाग्य भी मिला तो यह जानने की सहज उत्कंठा हुई कि आपसे ही आपके विषय में कुछ जानूँ। क्या आप बताएँगे कि आपका जन्म कब और कहाँ हुआ और आपकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा एवं वह परिस्थितियाँ कैसी थीं जिन्होंने आपको हिन्दी विज्ञान लेखन के शिखर तक पहुँचाया ?

उत्तर—मेरा जन्म महाराष्ट्र के विदर्भ स्थित अमरावती जिले के एलिचपुर तहसील में—आज उसको अचलपुर कहते हैं—सतपुड़ा की तराई के एक गाँव सिन्डी बुज़रुग में सन् 1935 में हुआ था। मेरे पिताजी किसान थे—बहुत कम पढ़े-लिखे, बस चौथी तक। गाँव में बस चौथी तक का एक मराठी स्कूल था। वहीं मैंने भी पढ़ाई शुरू की। मेरे सबसे अधिक पढ़े लिखे रिश्तेदार सातवीं पास मेरे मामा थे, जो स्कूल में अध्यापक थे। शिक्षा, एम० ए०, बी० ए०, विश्वविद्यालय यह सब क्या होता है, यह मैं जानता तक नहीं था तब। पिताजी मुझे पढ़ाना भी नहीं चाहते थे। पर माँ चाहती थीं। शायद स्कूल अध्यापक मेरे मामा के प्रभाव से वह यह चाहती थीं कि मैं भी कम से कम सातवीं तो पास करूँ, जिससे स्कूल अध्यापक बन सकूँ।

चौथी से आगे के लिए तीन मील दूर के एक दूसरे गाँव में दो नाले पार कर जाना पड़ता था। सुबह रोटी बाँध कर जाता। इस तरह ग्यारह वर्ष की उम्र में सातवीं पास की। पर नॉर्मल स्कूल का अध्यापक बनने के लिए वह उम्र कम थी। मैट्रिक की परीक्षा में भी नहीं बैठ सकता था। समस्या थी कि बीच के इस खाली समय में क्या करूँ। तब तक गाँव में पंजाब से आए महानुभाव संप्रदाय के एक शास्त्री जी के प्रयत्न से एक पाठशाला खुल चुकी थी। वहाँ मैंने संस्कृत और हिन्दी की पढ़ाई की। मेरे गाँव में कुछ मुस्लिम जनसंख्या भी थी, जिसके सम्पर्क से हिन्दी मेरे लिए पहले भी अपरिचित नहीं थी। इस तरह मैंने संस्कृत की प्रथमा, मध्यमा परीक्षाएँ पास कीं।

प्रश्न—मुले जी, क्या आप अपने बाल जीवन की किसी ऐसी विशेष घटना का उल्लेख कर सकते हैं, जिसने आपको विज्ञान पढ़ने की ओर प्रेरित किया ?

उत्तर—आप जानती होंगी कि मैं गणित का विद्यार्थी रहा हूँ। आज जब मैं स्वयं से पूछता हूँ कि

वह कौन सी प्रेरणा थी जिसने मुझमें गणित के प्रति रुचि उत्पन्न की तो मुझे सातवीं कक्षा के अपने गणित अध्यापक की याद आती है। उनका नाम था **लक्ष्मण राव कुलकर्णी**। मैं उनके स्नेह से भरे पढ़ाने से तरीके को नहीं भूल सकता। शिक्षक के प्रति श्रद्धा और सम्मान की भावना वहीं से पैदा हुई। मैंने आगे चलकर भी पढ़ने के लिए जो गणित विषय चुना उसका कारण उनके द्वारा डाली गई वह नींव ही थी। शिक्षा के प्रति उत्साह के मूल में मेरी माँ थीं और विज्ञान की ओर बढ़ने के मूल में कुलकर्णी जी। मेरे पिता बिल्कुल नहीं चाहते थे कि मैं आगे पढ़ूं।

प्रश्न—फिर आपकी आगे की शिक्षा-दीक्षा और आपके अंदर छिपे लेखक का उद्‌घाटन कैसे हुआ ?

उत्तर—खेती का काम देखना मुझे स्वीकार नहीं था। पढ़ने की लालसा जाग चुकी थी। मैं गाँव से वर्धा चला आया। वर्धा की 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' की तीन परीक्षाएँ मैं गाँव से ही पास कर चुका था। समिति के तत्कालीन प्रधान मंत्री **भदन्त आनन्द कौसल्यायन** के पास पहुँचा और नौकरी माँगी। अब 14 वर्ष के लड़के के मुख से नौकरी की बात सुन शायद वे समझ गये कि सचमुच मुझे पढ़ने के लिए नौकरी की आवश्यकता है। 25 रु० प्रतिमाह की, प्रमाणपत्रों पर नाम भरने की वह नौकरी मेरे जीवन की पहली और आखिरी नौकरी थी जो डेढ़ वर्ष तक चली।

यहाँ आकर पहली बार अंग्रेज़ी की ए, बी, सी, डी सीखी। कौसल्यायन जी से **पाली सीख** कर 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग' की **विशारद परीक्षा** पास की, फिर मैट्रिक करने 1951 में प्रयाग आ गया। शायद इसीलिए कि सम्मेलन के कारण प्रयाग के नाम से परिचय था। यहीं मैंने अंग्रेज़ी के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों में विशेष योग्यता के साथ मैट्रिक पास किया। अब घर वालों को भी लगा कि इसकी मदद करनी चाहिए।

फिर मन में इच्छा जगी, शायद **मेघनाद साहा, जे० सी० बोस, पी० सी० रे** जैसी वैज्ञानिक विभूतियों के कारण कि मैं प्रेसीडेन्सी कॉलेज, कलकत्ता में पढ़ूं।

कौसल्यायन जी के साथ कलकत्ता पहुँचा, जहाँ उन्होंने **प्रो० सुनीतिकुमार चटर्जी** से मिलवाया, पर प्रेसीडेन्सी कॉलेज में तब तक एडमिशन (प्रवेश) बन्द हो चुके थे। प्रो० चटर्जी के कहने से स्कॉटिश चर्च में एडमिशन तय हो गया पर मैं अस्वस्थता के कारण वहाँ समय पर पहुँच नहीं पाया। अन्त में एडमिशन हुआ, शिलांग के सेंट एडमसन कॉलेज में। पर एक ओर मेरे शाकाहारी संस्कार और होस्टल मेस का मांसाहारी भोजन, दूसरे आइरिश अध्यापकों का उच्चारण समझने में कठिनाई, तीसरे मौसम की प्रतिकूलता। मैं 'प्रीवियस' (प्रथम वर्ष) के बाद ही इलाहाबाद लौट आया तथा इंटर यहीं से 'प्राइवेट' (व्यक्तिगत) किया।

मेरी विशेष रुचि गणित में थी इसलिए बी० ए० में विज्ञान तो छूट गया और अंग्रेज़ी साहित्य, भूगोल और गणित लेकर मैंने बी० ए० पास किया। **एस० सी० देब, फ़िराक साहब, डॉ० पी० एल० श्रीवास्तव** और **बी० एन० प्रसाद** सरीखे अपने विषय के धुरंधर विद्वान मेरे अध्यापक थे। फिर गणित से ही एम० ए० किया। और कुछ दिन रिसर्च भी की।

यहाँ एक बात मैं स्पष्ट कर दूँ कि बचपन से ही मेरे मन में स्वाभिमान की एक तीव्र भावना थी। घर की खेती के कारण नौकरी क्या होती है? कैसे की जाती है? यह मैं जानता ही न था। न स्वयं किसी का 'सबॉर्डिनेट' (मातहत) बन कर रहना, न किसी को अपना 'सबॉर्डिनेट' बनाना—यह मैंने सीखा ही नहीं। इसीलिए मुझे लगा कि रिसर्च करने का जो तरीका है, जो अपने 'गाइड' (निर्देशक) की खुशामदें करनी पड़ती हैं, उनके घर दौड़ना पड़ता है, वह सब मैं कर नहीं सकूँगा। तो स्वाभिमान से पी-एच०

डी० नहीं मिल सकेगी इसलिए पी-एच० डी० नहीं कर सका।

प्रश्न—आप तो मराठी भाषी हैं, हिन्दी की ओर आप कैसे उन्मुख हुए ?

उत्तर—हिन्दी से तो, जैसा कि मैंने बताया, मेरा परिचय बचपन से ही हो गया था। फिर मैंने संस्कृत भी पढ़ी थी। अतः हिन्दी के लिए एक तैयार पृष्ठभूमि मेरे पास थी। यह अवश्य है कि विश्वविद्यालय के प्रारम्भिक तीन वर्षों की अवधि में मेरा हिन्दी से कोई लगाव नहीं रह गया था। वहाँ घुसने पर, वह जो छात्रों पर प्रारंभिक दिनों का नशा होता है, मुझ पर भी हावी हो गया था। हिन्दी न बोलना, पश्चिमी ढँग के वस्त्र पहनना, अंग्रेज़ी में ही बातें करना, अंग्रेज़ी न बोलने वालों से दूरी रखना, **रसेल** और **'लिसनर'** (पत्रिका) पढ़ना जैसी और सारी बातें जो इन आदतों के साथ फैशन के रूप में चलती हैं, मुझे भी घेरे हुए थीं। 'फाइनल ईयर' (अंतिम वर्ष) एम० ए० में पहुँचते-पहुँचते मैं 'रेगुलर' (नियमित रूप से) क़ॉफ़ी-हाउस जाने लगा था।

यहीं से एक बड़ा बदलाव आया। ये वो दिन थे जब इलाहाबाद हिन्दी का गढ़ था। **पंत, महादेवी, निराला** तो थे ही, इनके अतिरिक्त **कमलेश्वर, मार्कण्डेय, साही, अमरकांत, भारती**, और भी दूसरे बहुत से लोगों की हर शाम कॉफी हाउस में ही बीतती थी। उन दिनों इलाहाबाद में 'परिमल' संस्था भी पूरी तरह 'एक्टिव' (सक्रिय) थी। अपनी हर शाम कॉफी-हाउस में हिन्दी के इन स्थापित लेखकों के साथ बिताने ने मुझे बदलने में एक बड़ी भूमिका अदा की। इन सभी से मुझे बहुत अपनत्व मिला और आज भी इनमें से अधिकांश के साथ मेरे बड़े अच्छे सम्बन्ध हैं। इसी साहित्यिक वातावरण ने मुझे हिन्दी और फिर लेखन की ओर प्रवृत्त किया।

आपने इससे पहले पूछा था न कि मैं लेखक कैसे बना? तो इन्हीं दिनों मैंने एक किताब लिखी थी **'सूरज, चाँद, सितारे'**। किताब 'राजकमल' के **ओम प्रकाश जी** को पसंद आ गई और छप गई। फिर वहीं से दूसरी-तीसरी भी छपीं।

विश्वविद्यालय के बाद मैं 'ऑसिलेट' (दोलन) कर रहा था। इधर लेखन में सफलता मिल रही थी। ज़िंदगी चल निकली। तुरन्त ही अपने पैरों पर खड़ा हो गया। अतः स्वाभाविक ही झुकाव लेखन की ओर ही हो गया।

शुरू में हिन्दी में दिक्क़तें आईं, पहले लोगों ने कहा कि बीच-बीच में मराठी शब्द आ जाते हैं। अहिन्दीभाषी के लिए इलाहाबाद में स्वयं को हिन्दी लेखन में स्थापित करना कठिन था। पर मैं आतंकित नहीं था। मैंने समझौते नहीं किए और धीरे-धीरे चल निकला। आज मेरे लगभग **तीन हज़ार प्रकाशित लेख हैं और चालीस पुस्तकें**, जिनमें कई के दूसरे-तीसरे संस्करण भी आए हैं।

प्रश्न—आप अपनी रचनाधर्मिता के लिए किस वैज्ञानिक, लेखक अथवा अध्यापक की प्रेरणा को उत्तरदायी मानते हैं ?

उत्तर—ऐसा तो नहीं कि किसी से प्रभावित नहीं पर यह पूरे परिवेश के लिए कहना अधिक उचित होगा। मैं साहित्यकारों के बीच रहा। मेरी पूरी 'ग्रोथ' (विकास) उन्हीं में हुई। आज मैं यह कह सकता हूँ कि मैं जो कुछ हूँ इलाहाबाद के कारण हूँ।

प्रश्न—आपने लेखकों की तीन पीढ़ियाँ देखी हैं। एक अपने पूर्व की, एक अपनी समकालीन और एक आज की नवीन पीढ़ी। क्या इन तीनों पीढ़ियों के विज्ञान लेखकों की सोच में कोई अन्तर है? क्या आप इसे स्पष्ट करना चाहेंगे ?

उत्तर—मैंने जब लिखना प्रारम्भ किया तब **डॉ० गोरख प्रसाद, डॉ० सत्यप्रकाश,** जैसे लोग काफ़ी लिख चुके थे। पर यह लोग हिन्दी में विज्ञान साहित्य ला रहे थे। इनका लेखन पत्रकारिता के स्तर पर नहीं था। तब तक

'भारत', 'आज', 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' जैसे समाचार-पत्र और पत्रिकाओं में नियमित रूप से वैज्ञानिक लेख नहीं आते थे। धीरे-धीरे मेरी पीढ़ी के समय यह परिवर्तन आया कि इन पत्रिकाओं में विज्ञान का एक-एक लेख अवश्य आने लगा। शायद मैं भी इसमें 'इन्स्ट्रूमेन्टल' (सहायक) रहा। अब पाठक भी जुड़े हैं। तीस वर्ष पूर्व यह स्थिति नहीं थी। इन तीस वर्षों में रुचियाँ बदलीं। छपने के साधन भी उपलब्ध हुए। विषयवस्तु प्राप्त करने की सुविधाएँ बढ़ीं। पर उस अनुपात में श्रम करना कम हो गया है। जितने वैज्ञानिक बाहर निकलते हैं उस अनुपात में लेखक नहीं।

प्रश्न—आपने बड़ी उम्र वाले सचेत पाठकों के लिए भी लिखा है और छोटे-छोटे बालकों के लिए भी। इसके अतिरिक्त आपके लेखन के विषय भी अंतरिक्ष, भौतिकी, रसायन से लेकर प्रेरणादायक जीवनियों तक होते हैं। तो आप अपने लेखन में यह वैविध्य कैसे लाते हैं?

उत्तर—मैं अपने लेखन के प्रति प्रामाणिक और प्रतिबद्ध रहना चाहता हूँ। क्योंकि वही मेरा स्रोत है। गणित मेरा प्रिय विषय है, पर पुरातत्व, इतिहास (पुरालिपि), विज्ञान साहित्य, खगोल विज्ञान आदि मैं विद्यार्थीकाल से ही पढ़ता रहा हूँ। फिर अंतरिक्ष अनुसंधान युग आया तो उससे भी जुड़ा। जब कंप्यूटर का सरकारी रेला आया तो लगा कि जनता को समझाना चाहिए कि ये क्या है? हिन्दी में उसे समझाने की चुनौती स्वीकार की। तब तक मैं स्वयं उसके विषय में कुछ नहीं जानता था, पर फिर मैंने बाइनरी अल्जेब्रा, एलेक्ट्रॉनिक्स और साइबरनेटिक्स पढ़ा। इस तरह कम्प्यूटर के विषय में आसान भाषा में लिखकर उसका हौवा हटाया। यूँ लिखा तो बहुत पर मुख्यत: फ़िज़िकल साइन्सेज़ (भौतिक विज्ञान) पर ही लिखा, जीव विज्ञान पर बहुत कम। स्रोत सामग्री के रूप में संदर्भ ग्रन्थ मेरे पास हैं। जर्नल (शोध पत्रिकाएँ) मैं मँगाता हूँ। इस तरह पापुलर राइटिंग (लोकप्रिय लेखन) के लिए मैं एक 'एकेडेमिक' (शास्त्री) की तरह ज़िन्दगी बिताता हूँ। एक ज़िम्मेदारी भी महसूस करता हूँ, अलग भाषा के शब्दों के लिए हिन्दी समानार्थी रखने के पहले बार-बार सोचकर, छानकर तब लिखता हूँ। '**आकाश दर्शन**' (पुस्तक) में कई तारों के नाम नये सोचने पड़े। पर मेरे शब्दों को आगे दूसरों द्वारा भी प्रयोग किया गया। तो तलवार तो लटकती रहती है, सावधान रहना पड़ता है, पर इसमें सुख मिलता है।

प्रश्न—बालोपयोगी विज्ञान साहित्य का स्वरूप आपके विचार में कैसा होना चाहिए? उसमें किस स्वर पर अधिक बल देना चाहिए? बालक तक अधिकाधिक सूचनाएँ पहुँचा देने की चेष्टा पर अथवा सीमित सूचनाएँ जो बालक को बोधगम्य हों और शैली की रोचकता पर?

उत्तर—देखिए यह टी० वी० वीडियो का युग है अत: पुस्तकों में बच्चों की रुचि बढ़े इसके लिए यह बहुत आवश्यक है कि पुस्तकें सचित्र हों और आकर्षक हों। पारिभाषिक शब्दावली का उपयोग नहीं होना चाहिए। अब कोई निश्चित प्रतिमान तो नहीं है पर पुस्तकें उनकी मातृभाषा में हों, क्षेत्रीय शब्दों का प्रयोग हो, सचित्र हों और सरल भाषा में तथा संक्षेप में हों। इन सब बातों पर बल देना चाहिए। अभी हिन्दी में इसका बहुत अभाव है। वस्तुत: बालोपयोगी लेखन लोगों को निम्नस्तरीय लगता है। विश्वविद्यालय के अध्यापक, जिनकी मातृभाषा हिन्दी है, वे भी नहीं लिखते। वास्तव में शुरूआत वहीं से होनी चाहिए।

प्रश्न—हिन्दी में उच्चकोटि के वैज्ञानिक साहित्य के विषय में काफ़ी वर्षों से कुछ मतभेद की सी

स्थिति रही है। अधिकतर कहा जाता है कि हिन्दी में अच्छी पुस्तकें ही नहीं हैं। अतः हिन्दी में उच्च शिक्षा और शोध आदि संभव नहीं है। आपके इस सम्बन्ध में क्या विचार हैं?

उत्तर—हमने चालीस वर्षों में शोध के स्तर में कोई वृद्धि नहीं की। क्योंकि हर जगह 'ब्यूरोक्रैटिक' (नौकरशाही) बाधाएँ हैं। नई पीढ़ी को हिन्दी-अंग्रेजी दोनों नहीं आती। जैसे तैसे जो वह लिखता है वह अंग्रेजी है नहीं। लिखना और विषय की जानकारी दो अलग-अलग चीजें हैं। आपको भाषा, विषय सब आता है, आप लिखना चाहते भी हैं, पर चूँकि लेखन एक विशिष्ट कला है अतः पैराग्राफ कहाँ शुरू करना, कहाँ उसकी सीमा हो, कैसे प्रस्तुत करना—यह प्रस्तुतिकरण–आपको नहीं आता तो सब गड़बड़ हो जाता है। फिर वर्तनी, एकरूपता और व्याकरण पर भी ध्यान देना होता है। इसलिए हिन्दी में सामर्थ्य तो बहुत है, उच्च शिक्षा और शोध सब सम्भव है, पर प्रयास की कमी है।

वस्तुतः शिक्षा, संस्कृति, आचरण, धर्म सब समाज की जो तत्कालीन अर्थव्यस्था और राजनीति है, उससे प्रमुखता से प्रभावित होते हैं अतः शिक्षण और विश्वविद्यालयों की जो दुर्गति है, वह आज की राजनीति और अर्थव्यवस्था के कारण।

प्रश्न—मुले जी! साहित्यकार के लेखकीय सामाजिक दायित्व की बात बड़ी ज़ोर-शोर से की जाती है। एक लोकप्रिय विज्ञान लेखक के रूप में आप कैसे अपने इस दायित्व का निर्वाह करते हैं?

उत्तर—मैंने बताया न कि समाज राजनीति से प्रभावित होता है। आज़ादी के बाद के वर्षों में वैज्ञानिक नीतियों के तहत विश्वविद्यालयों को जाने वाला पैसा विज्ञान के सरकारी संस्थानों को स्थानान्तरित होने लगा। इसके पूर्व के वैज्ञानिकों ने थोड़े पैसों से भी देश के लिए ख्याति अर्जित की थी। बाद में ब्यूरोक्रैटिक तंत्र में उलझ कर विज्ञान में भी राजनीति शुरू हो गई। बल्कि यूँ कहें कि विज्ञान पीछे रह गया और राजनीति ही 'प्रीडॉमिनेन्ट' (अभिभावी या प्रधान) हो गई। तो ईमानदार विज्ञान लेखक को विज्ञान ही नहीं, विज्ञान 'पॉलिसी' (नीति) के बारे में भी लिखना चाहिए। केवल वैज्ञानिक लेख लिखना अपर्याप्त है। यह उसका दायित्व है। मैं यह प्रयत्न करता रहता हूँ (यहाँ श्री मुले ने 'धर्मयुग' के 7-13 अगस्त 1988 के अंक में छपे अपने लेख 'आज़ादी की लौ को वैज्ञानिकों ने भी तेज़ किया' का उल्लेख किया, जिनमें उनके इस दृष्टिकोण की व्यापक झलक उपलब्ध है)। दायित्व यदि हम साहित्य में समझते हैं तो विज्ञान लेखन में क्यों नहीं? नरोरा प्लांट, नर्मदा घाटी, टेहरी बाँध की समुचित आलोचना आवश्यक है।

प्रश्न—आपने गुणवत्ता और मात्रा दोनों की दृष्टि से हिन्दी में विशाल वैज्ञानिक साहित्य उपलब्ध कराया है। क्या आप अनुशासन के तहत प्रतिदिन कुछ घंटे नियमित लेखन करते हैं? या आप अपनी इच्छानुसार लेखकीय मूड के अनुरूप जब चाहा तब लिखने की शैली के अनुयायी हैं?

उत्तर—नियमित लेखन करता हूँ। मैंने बताया न कि यह लेखन मेरी जीविका है। इसलिए संसार से बहुत जुड़ा नहीं। सभा-सोसाइटियों में कम जाता हूँ। कभी तैयार लेख कहीं समय पर पहुँचाना ही हो तो निकलता हूँ, अन्यथा नहीं। मैं लेखन के लिए अपनी शक्ति और समय संचित करना चाहता हूँ। टाइपराइटर पर ही लिखता हूँ। एक बार में 'फिनिश्ड' (तैयार) प्रति ही निकलती है। पुस्तक की प्रेस कॉपी स्वयं तैयार हो जाती है। पूछता हूँ

कितने पैसे दे रहे हैं? कितनी जगह दे रहे हैं? उसी हिसाब से लिखता हूँ।

प्रश्न—आप लेखों के माध्यम से **विज्ञान परिषद्** की पत्रिका 'विज्ञान' से बार-बार जुड़ते रहे हैं। 'विज्ञान' को संपुष्ट करने के विषय में आपके क्या सुझाव हैं?

उत्तर—कुछ अंक तो 'विज्ञान' के बहुत अच्छे आये हैं। पर विज्ञान की पत्रिका को काफी सचित्र होना चाहिए। एक बात और है कि विद्यार्थियों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए उस पक्ष पर विशेष बल देना चाहिए। वैसे 'विज्ञान' और विज्ञान परिषद् को मैं अपना पूरा सहयोग अवश्य दूँगा।

प्रश्न—अनुमति दें तो एक नितांत व्यक्तिगत-सा प्रश्न। आप स्वतन्त्र लेखन करते हैं, क्या स्वतन्त्र लेखन करने वाले पत्रकार या लेखक अपना और परिवार का जीवन-यापन मात्र इसी के बल पर सुचारु रूप से कर सकते हैं? और फिर इस कार्य में आपको पत्नी या परिवार से क्या सहयोग मिल पाता है?

उत्तर—मैं तो पूरी तरह स्वतन्त्र लेखन पर निर्भर हूँ। संघर्ष भी करना पड़ा। पर शिकायत नहीं। आज दिक्कत भी नहीं है। एक सामान्य अफसर जैसा घर बैठे स्वाभिमान से प्राप्त कर लेता हूँ। किसी भी पत्र-पत्रिका से लेख की माँग आने पर में पूछता हूँ कि आप का किसी भी लेखक को उच्चतम पारिश्रमिक क्या है? और मैं उससे कम नहीं लेता। इस बात पर मैंने कभी समझौता नहीं किया। मैं कहता हूँ विज्ञान लेखक को दूसरे लेखकों से कम मत समझो। तो मैं विज्ञान के लिए लड़ता हूँ। पूरे विज्ञान लेखक वर्ग के लिए उनकी लड़ाई लड़ता हूँ। और एक सीमा तक मैं अपनी इस लड़ाई में सफल भी हुआ हूँ। मेरा स्वागत हुआ है।

रही परिवार और पत्नी की बात तो परिवार तो पत्नी ही चलाती है। आज उसी की बदौलत मुझे परिवार की कोई चिन्ता नहीं। वह एम. ए. है 'पॉलिटिकल साइन्स' (राजनीति विज्ञान) से। नौकरी करती थी, पर परिवार की देखभाल के लिए उसने नौकरी छोड़ दी। वह चाहती है कि मेरा सारा समय लेखन में लगे।

प्रश्न—आपको अपने लम्बे लेखकीय सफर में अनेक उपलब्धियाँ मिली हैं। आप अपने जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि क्या मानते हैं?

उत्तर—साहित्यकार शायद सरलता से इसका उत्तर दे सकता था। मेरे लिए कठिनाई है। मैं जहाँ से सफर शुरू करना चाहता था, वहाँ से नहीं किया। सोचा था 'टीचर' (अध्यापक) बनूंगा। गणित (एकेडेमिक शिक्षा क्षेत्र में) के क्षेत्र में नहीं जा सका। लेखन में चला आया। तो सोचता रहा क्या टिक सकूँगा? क्या स्वागत होगा? या अलग फेंक दिया जाऊँगा? पिछले तीस वर्षों से एक डर निरन्तर बना रहा कि अगले साल क्या होगा? पर 'कंसिस्टेन्ट' (अविचल) रहा, अपने लेखन के लिए प्रतिबद्ध और ईमानदार बना रहा। कोइ 'रॉयल रोड (राजमार्ग) नहीं खोजी। अपना एक प्रगतिवादी, 'मार्क्सवादी' दृष्टिकोण रहा और शब्द या विचारधारा कुछ भी, कभी किसी के कहने से या दबाव से कभी नहीं बदले। आज मुझे छपने की पूरी संतुष्टि है। पाठकों का 'फीड-बैंक' (पुनर्निवेशन) ही मेरा सुख है। चिट्ठियाँ बल देती हैं, मेरा लेखन पसंद किया जा रहा है। इतने वर्षों बाद इलाहाबाद आया। यहाँ सब इतने अपनत्व से मिले। यही मेरी उपलब्धियाँ हैं। इतनी मुझे अपेक्षा नहीं थी।

प्रश्न—आज के युवा विज्ञान लेखकों को आप क्या संदेश देना चाहेंगे?

उत्तर—उनको यही संदेश है कि वे अपने को साहित्यकारों से अलग न समझें। आज आवश्यकता है दस कहानी के बदले एक विज्ञान लेख की। हिन्दी, विज्ञान को वहन नहीं कर सकती, यह व्यर्थ की बदनामी हो रही है। पर इसे दूर करने के लिए उनके प्रयास, श्रम और सहयोग की ज़रूरत है। □□

भारत के खनिज संसाधन

डॉ॰ विजय कुमार उपाध्याय

[गतांक से आगे]

भारत में टाइटेनियम-अयस्क (इल्मेनाइट) का कुल अनुमानित भंडार लगभग 15 करोड़ टन है जो मुख्यतः तमिलनाडु तथा केरल में पाया जाता है। आजकल टाइटेनियम का मुख्य उपयोग पिगमेंट उद्योग में है। टाइटेनियम का दूसरा मुख्य अयस्क है रूटाइल। इल्मेनाइट तथा रूटाइल महाराष्ट्र के रत्नागिरि, केरल के क्विलोन तथा कन्नानोर के बीच तथा तमिलनाडु के रामनाथपुरम, तिरुवेनली तथा तांजावुर के समुद्र तटीय बालू के साथ पाये जाते हैं।

भारत में अलमुनियम अयस्क (बॉक्साइट) मुख्यतः बिहार, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु, गुजरात तथा उड़ीसा में पाया जाता है। अपने देश में बॉक्साइट का कुल अनुमानित भंडार लगभग 25 करोड़ टन है। सन् 1975 ई॰ में भारत में बॉक्साइट का कुल उत्पादन लगभग 12 लाख 69 हजार टन था, जिसका मूल्य लगभग 2 करोड़ 97 लाख रुपये था। उपर्युक्त उत्पादन का 36.6% बिहार में, 28% मध्य प्रदेश में, 19% महाराष्ट्र में तथा 9.8% गुजरात में खनन हुआ। बिहार में बॉक्साइट लोहरदग्गा जिले के सिरानडुंग, बगडूपत, लुपुंगपत तथा लुचुतपत आदि स्थानों में पाया जाता है।

सोना हालाँकि भारत के अनेक राज्यों जैसे बिहार, आसाम, आंध्र प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, कर्नाटक, केरल, मध्य प्रदेश, मेघालय, उड़ीसा, पंजाब, सिक्किम, तथा तमिलनाडु में उपलब्ध है, परन्तु व्यवसायिक मात्रा में सिर्फ कर्नाटक के दो क्षेत्रों कोलार तथा हट्टी में पाया जाता है। सन् 1975 ई॰ में भारत में 2824 कि॰ ग्रा॰ सोने का खनन हुआ जिसका मूल्य 11 करोड़ रुपये से अधिक था। सन् 1982 ई॰ में बिहार के मुंगेर जिले में जमुई अनुमंडल के करमटिया ग्राम में सोने का पता चला है। यहाँ घुटने पहाड़ी से करमटिया होते हुए नारगंजो तक लगभग साढ़े पाँच कि॰ मी॰ लम्बी पट्टी में स्वर्ण मिश्रित सल्फाइड तथा पाइराइट के चट्टानी परत (**host rock**) भरे पड़े हैं। करमटिया में 100 मीटर की गहराई तक खुदाई (**drill**) करने के बाद जो चट्टानी परत का नमूना मिला है उससे पता चलता है कि यहाँ जो सोना मिलेगा वह कोलार से उच्चतर दर्जे का होगा।

भारत में ताँबा कम मात्रा में उपलब्ध है। सन् 1975 ई॰ में लगभग 18 लाख 31 हजार टन ताम्र-अयस्क का खनन किया गया जिसका मूल्य लगभग 20 करोड़ रुपये थे। इसमें से लगभग 10 लाख 37 हजार टन ताँबा-अयस्क बिहार में निकाला गया, 7 लाख 34 हजार टन राजस्थान में, 57 हजार टन कर्नाटक में तथा 3 हजार टन आंध्र प्रदेश में। बिहार में ताम्र-अयस्क के मुख्य खनन केन्द्र सिंहभूम जिले के मोसाबनी तथा राखा माइन्स हैं। सिंहभूम ताम्र-अयस्क की पट्टी लगभग 128 कि॰ मी॰ लम्बी है जो पश्चिम में बामिनी नदी के तट पर स्थित द्वारपुरम से प्रारम्भ होकर खरसाँवा, सरायकेला तथा ढालभूम होते हुए पूरब में बहारगोरा तक फैली है। राजस्थान में खेत्री ताम्र-अयस्क की पट्टी 80 कि॰ मी॰ लम्बी है जो सिंधाना के रघुनाथगढ़ तक फैली हुई है।

सीसा-अयस्क (**Lead ore**) भारत में राजस्थान के उदयपुर जिले के जावर क्षेत्र में पाया जाता है। सन् 1975 ई॰ में यहाँ 13830 टन सीसा-अयस्क का खनन हुआ जिसका मूल्य लगभग एक करोड़ 92 लाख रुपये था। जावर के मोचिया मोंगरा क्षेत्र में सीसे एवं जस्ते के लिये पुराने खनन के संकेत मिलते हैं। इस क्षेत्र में खनिज निक्षेप की दो पट्टियाँ हैं। एक पट्टी पिपली-कुंडला-बिला-बरला में फैली है जिसमें सीसे का अयस्क गैलेना मिलता है। दूसरी

सह प्राध्यापक भूगर्भ, इंजीनियरी कॉलेज, भागलपुर–813210

पट्टी मोचिया-मोंगरा-बलरिया क्षेत्र में फैली है जिसमें जस्ते का अयस्क मिलता है। इस क्षेत्र में सीसा, जस्ता अयस्क का अनुमानित भण्डार लगभग 12 करोड़ टन है, जिसमें औसत धातु की मात्रा लगभग 3% है। उदयपुर जिले में ही जावर पट्टी से सटी हुई दरीबा-राजपुरा 17 कि० मी० लम्बी सीसा-जस्ता अयस्क की पट्टी है।

रांगा-अयस्क (**Tin ore**) बिहार, राजस्थान, तथा मध्य प्रदेश में पाया जाता है। भारतीय भूतत्व सर्वेक्षण विभाग (**Geological Survey of India**) के प्रतिवेदन के अनुसार उच्च दर्जे का कैसीटेराइट (रांगा-अयस्क) मध्य प्रदेश में बस्तर जिले के गोविन्द-पाल, चिउड़वाद, चितलवार, मुंडवाल तथा जोगपाल आदि क्षेत्रों में पाया जाता है। कैसीटेराइट में रांगा की मात्रा 55% से **67%** तक रहती है। बिहार में कैसीटेराइट गया, हजारीबाग तथा राँची जिले के अनेक क्षेत्रों में पाया जाता है। हजारीबाग के नुरूंगो क्षेत्र में सन् 1867 से 1914 ई० के बीच कभी-कभी कैसीटेराइट का खनन होता था इस कैसीटेराइट में औसत 1.8% रांगा उपस्थित था। राजस्थान में भीलवाड़ा जिले के सोनियाना क्षेत्र में कैसीटेराइट के बड़े-बड़े मणिभ (**Crystal**) उपस्थित हैं। गुजरात के बनासकाँठा ज़िले में भी कैसीटेराइट पाया जाता है।

अभ्रक (**Mica**) उत्पादन के क्षेत्र में भारत विश्व में अग्रणी रहा है। सन् **1975** ई० में अपने देश में **11244** टन अभ्रक का उत्पादन हुआ जिसका मूल्य लगभग **2** करोड़ **22** लाख रुपये था। देश के अंदर अभ्रक की खपत अधिक नहीं है, अतः अधिकतर मात्रा का निर्यात जापान, ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा रूस को कर दिया जाता है। बिहार सबसे बड़ा अभ्रक उत्पादक राज्य है। यहाँ अभ्रक पट्टी गया से भागल-पुर तक फैली है जिसकी लम्बाई लगभग **145** किलो-मीटर है। बिहार में अभ्रक-खनन के मुख्य केन्द्र हैं— कोडरमा, चटकारी, डोमचाँच, ठाब, गावाँ इत्यादि। भारत में दूसरी अभ्रक पट्टी आंध्र प्रदेश के नेल्लोर में है जो लगभग **96** किलोमीटर लम्बी तथा **13** से 15 कि० मी० चौड़ी है।

परमाणविक खनिजों में यूरेनियम के खनिज बिहार में सिंहभूम जिले के जादुगुड़ा, नरवार पहाड़, तामा डुंगरी तथा धनतुप्पा आदि स्थानों में पाये जाते हैं। जादुगुड़ा में यूरेनियम खनिज के खनन का कार्य विगत कई वर्षों से चल रहा है। यहाँ पर यह खनिज **300** से 600 मीटर तक की गहराई में पाया जाता है। यहाँ यूरेनियम खनिज का अनुमानित भंडार लगभग **2** करोड़ टन है। परमाणु ऊर्जा आयोग ने यूरेनियम खनिजों का पता राजस्थान के उदयपुर भीलवाड़ा, अलवर, डुंगरपुर तथा झुंझुनू जिलों में भी लगाया है। थोरियम के अयस्क व्यवसायिक स्तर पर केरल, तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश तथा उड़ीसा में समुद्री किनारे पाये जाने वाले बालू में उपलब्ध हैं। यहाँ पाया जाने वाला अयस्क मोनाजाइट है।

भारत में उर्वरक-उत्पादन के लिये कच्चे माल के रूप में रॉक फॉस्फेट तथा जिप्सम का उपयोग किया जाता है। रॉक फॉस्फेट का काफी बड़ा भंडार उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान में है। मसूरी के पास फॉस्फेट का अनुमानित भंडार एक करोड़ 90 लाख टन है। राजस्थान में जैसलमेर जिले के बीरमहिया क्षेत्र में 48 लाख टन फॉस्फेट का अनुमानित भंडार है। देश में जिप्सम का कुल अनुमानित भंडार लगभग **117** करोड़ टन है। राजस्थान के नागौर क्षेत्र में जिप्सम का सबसे बड़ा भंडार है।

तेज़ी से बढ़ते हुए सीमेंट, लोहा एवं इस्पात तथा रसायन उद्योग को ध्यान में रखते हुए भारतीय भूतत्व सर्वेक्षण विभाग ने बहुत बड़े पैमाने पर चूना पत्थर तथा डोलोमाइट के सर्वेक्षण का कार्य अपने हाथों में लिया। भारत में चूना पत्थर का कुल अनुमानित भंडार लगभग 260 करोड़ टन है, जिसमें सीमेंट में उपयोग लायक चूना पत्थर का अनुमानित भंडार **180** करोड़ टन है। इस तरह का चूना पत्थर अधिक-तर आंध्रप्रदेश, आसाम, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा राजस्थान में मिलता है। भारत में डोलोमाइट का

कुल अनुमानित भंडार लगभग 125 करोड़ टन है, जिसमें 45 करोड़ टन ऊष्मसह (refractory) स्तर का है तथा 20 करोड़ टन प्रद्रावक (flux) स्तर का।

गंधक-अयस्क पाइराइट अधिकतर बिहार तथा राजस्थान में पाया जाता है। बिहार के अमझोर क्षेत्र में पाइराइट का अनुमानित भंडार लगभग 7.9 करोड़ टन है जिसमें 41% गंधक उपलब्ध है। यहाँ पाइराइट का खनन विगत 25 वर्षों से पाइराट्स एवं केमिकल डेवलपमेंट कारपोरेशन द्वारा किया जा रहा है। राजस्थान में पाइराइट्स का अनुमानित भंडार लगभग 4.4 करोड़ टन है जिसमें 30% गंधक उपलब्ध है। कर्नाटक के इंगलवालू क्षेत्र में पाइराइट्स का अनुमानित भंडार लगभग 15 लाख टन है जिसमें 30% गंधक उपलब्ध है।

कुछ खनिज ऐसे हैं जो वर्णक (Pigment) निर्माण में व्यवहृत होते हैं। प्राकृतिक रूप में प्राप्त होने वाले खनिज वर्णकों में शामिल हैं लौह ऑक्साइड, गेरू तथा ग्रैफाइट आदि। ये रंग में क्रमशः लाल, भूरे तथा काले हैं। लाल रंग का वर्णक हेमाटाइट नामक खनिज से प्राप्त होता है, तथा भूरे रंग का लाइमोनाइट से। हरा वर्णक ग्लौकोनाइट से प्राप्त होता है। सन् 1975 ई० में भारत में 89739 टन गेरू का खनन हुआ जिसका मूल्य 1759000 रुपये का था। राजस्थान में गेरू बीकानेर, भरतपुर, बूँदी तथा चित्तौरगढ़ आदि स्थानों पर मिलता है। बिहार में सिंहभूम जिले के जैरडीह तथा रोहतास जिले के कैमूर पहाड़ी में मिलता है। □□

[समाप्त]

यूरेनियम का विद्युत्-उत्पादन में योगदान

दिलीप भाटिया

भारत में यूरेनियम के प्रचुर भण्डार हैं। हमारे पास 70,000 टन यूरेनियम उपलब्ध है। इसका सबसे अच्छा, लाभकारी व शांतिमय उपयोग है—विद्युत् उत्पादन। परमाणु बिजलीघरों में यूरेनियम को यूरेनियम डाइऑक्साइड ईंधन के रूप में काम में लाकर विद्युत्-उत्पादन किया जाता है। यूरेनियम के तीन आइसोटोप होते हैं—यूरेनियम-234, यूरेनियम-235 और यूरेनिवम-238। प्राकृतिक यूरेनियम में 0.7 प्रतिशत यूरेनियम-235 होता है, जो नाभिकीय प्रक्रिया में भाग लेकर विखण्डन क्रिया द्वारा उष्मा देता है व विद्युत्-उत्पादन में निरन्तर काम में आता है। तारापुर-राजस्थान, मद्रास व नरोरा परमाणु बिजलीघरों से 1465 मेगावाट विद्युत्-उत्पादन हो रहा है। भविष्य में 10,000 मेगावाट का लक्ष्य है, जो इस योगदान को सन् 2000 तक 10 प्रतिशत कर सकेगा। कम ईंधन, अधिक सुरक्षा, संतुलित व दोषहीन पर्यावरण, आत्मनिर्भरता व तकनीकी क्षमता, ये कुछ ऐसे गुण हैं जो इस बहुमूल्य नाभिकीय ईंधन को हमारे लिए वरदान सिद्ध करते हैं व नाभिकीय ऊर्जा के महत्त्व को प्रभावशाली बनाते हैं।

ताप बिजलीघर की अपनी सीमाएँ व समस्याएँ हैं। सीमित भण्डार हैं कोयले के व एक सीमित क्षेत्र में ही स्थित हैं। ईंधन की मात्रा अधिक चाहिए। 3000 मेगावाट बिजली बनाने के लिए प्रतिदिन 20000 टन कोयला चाहिए। इससे हानिकारक गैसें, प्रतिवर्ष 150.000 टन सल्फर डाइ ऑक्साइड 75,000 टन नाइट्रोजन डाइ ऑक्साइड व असीमित मात्रा में कार्बन डाइ ऑक्साइड निकलेगी।

पन बिजलघर भी दोष रहित नहीं हैं। इसके लिए ईंधन की आवश्यकता प्रकृति पर निर्भर है। पन बिजलीघर लगाने के लिए लोगों को विस्थापित करना होता है व पानी एक जगह भरा होने से बाढ़ का खतरा तो है ही—मलेरिया व अन्य बीमारियाँ भी फैलती हैं।

अभियंता-एस ई, राजस्थान परमाणु बिजलीघर, अणु शक्ति—323303 (कोटा), राजस्थान

बढ़ती हुई बिजली की आवश्यकता पूरी करने के लिए आज सर्वश्रेष्ठ व अत्यधिक सुरक्षित विकल्प यूरेनियम है। यूरेनियम का यह सर्वश्रेष्ठ सदुपयोग है। विकिरण, रेडियोधर्मिता व अन्य पहलुओं का पूरा ध्यान रखा जाता है व किसी भी परिस्थिति को सही करने के लिए आपात्कालीन प्रावधान व योजनाएँ हैं। पर्यावरण प्रयोगशाला व स्वास्थ्य भौतिकी विभाग इस बात का बराबर ध्यान रखता है कि पर्यावरण दूषित न हो व जनता व कर्मचारियों के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल असर न हो। अन्तर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी द्वारा निर्धारित मानदण्डों का पालन किया जाता है।

विद्युत्-उत्पादन के बाद अपशिष्ट ईंधन का भी उपयोग होता है। इस अपशिष्ट यूरेनियम से प्लूटोनियम निकालकर कई क्षेत्रों में काम में लिया जाता है। यूरेनियम के साथ प्लूटोनियम मिलाकर बनाया गया मिश्र ईंधन पुनः परमाणु बिजलीघर में काम में लाकर अधिक विद्युत्-शक्ति प्राप्त की जा सकती है। फास्ट ब्रीडर रिएक्टर के लिए अनुसंधान व अन्य कार्यक्रमों के लिए भी इस प्लूटोनियम का उपयोग होता है। इस प्रकार यह यूरेनियम विद्युत्-उत्पादन के बाद भी कई लाभकारी कार्यों में काम आता है।

यूरेनियम बहुत महत्त्वपूर्ण पदार्थ है। हमारी योजनाओं के लिए हमारे पास पर्याप्त यूरेनियम उपलब्ध है। मितव्ययिता से इसका उपयोग करके अधिकतम लक्ष्य को प्राप्त करना है व अपशिष्ट यूरेनियम का भी उपयोग करना है। हम आश्वस्त हैं कि यूरेनियम विद्युत्-उत्पादन में अपना योगदान देकर राष्ट्र की प्रगति में, देशवासियों के जीवन स्तर को उन्नत बनाने में, **भाभा, नेहरू** के सपनों को साकार करने में समर्थ होगा व इस वैज्ञानिक उपलब्धि द्वारा विश्व में हम एक गौरवशाली कीर्ति स्थापित कर सकने में सफल होंगे। ❑❑

पुस्तक समीक्षा

(1) आर्थिक वनस्पति विज्ञान

लेखक—रघुनाथ प्रसाद, सरस्वती प्रकाशन, विण्ढमगंज-**232221**, मिर्जापुर, उत्तर प्रदेश, मूल्य 20 रु०।

पुस्तक बी० एस-सी० (सामान्य एवं प्रतिष्ठा) तथा सेण्ट्रल बोर्ड ऑफ़ सेकेण्डरी एजूकेशन की चिकित्सीय परीक्षा को दृष्टिगत रखते हुए लिखी गयी है। पुस्तक में दालों, शाकसब्जियों, धान्य, फलों, खाद्य तेल प्रदाय पौधों, शर्करा प्रदाय पौधों, मसाले तथा सुगन्धियाँ, ओषधीय पौधों, स्फूर्तिदायक पेय, नशीले पदार्थों तथा रेशा प्रदाय पौधों से सम्बन्धित आर्थिक वनस्पति विज्ञान की जानकारी दी गयी है।

पृष्ठ 92 पर "अधिक जानकारी के लिए" शीर्षक के अन्तर्गत अंग्रेज़ी की 10 पुस्तकों का उल्लेख है पर हिन्दी में प्रकाशित बहुचर्चित एवं उपयोगी सन्दर्भ ग्रन्थ "भारत की सम्पदा" का उल्लेख न होना खटकता है।

यद्यपि विषय वस्तु की प्रस्तुति में कोई नयापन और मुद्रण आकर्षण नहीं बन पाया है तथापि हिन्दी में स्नातक स्तर पर विज्ञान विषय में पुस्तक लेखन का पुनीत कार्य करने के लिए लेखक तथा प्रकाशक दोनों ही साधुवाद के पात्र हैं।

(2) स्नातक वनस्पति विज्ञान

सूक्ष्मजैविकी एवं पादप रोग विज्ञान (प्रतिष्ठा सैद्धान्तिक द्वितीय पत्र), लेखक—रघुनाथ प्रसाद, सरस्वती प्रकाशन, विण्ढमगंज, सोनभद्र (उ० प्र०) **232221**; मूल्य-30 रु०, **1989-90** संस्करण।

पुस्तक बिहार के बी० एस-सी० (प्रथम वर्ष) त्रिवर्षीय पाठयक्रम के छात्रों की आवश्यकता को देखकर लिखी गयी है। सूक्ष्य जैविकी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, कल्चर माध्यम का निर्माण, सूक्ष्मजीवों के पृथक्ककरण की तकनीक, जीवाणु कोशिका की आधुनिक अवधारणा, तम्बाकू मोजैक विषाणु, जीवाणु भोजी, नाइट्रोजन स्थिरीकरण में सूक्ष्मजीवों की भूमिका, जीवाणु तथा कवक का औद्योगिक महत्व, कृषि उत्पादों के भण्डारण में सूक्ष्म जैविक विघटन, पादप रोगों में टॉक्सिन के महत्व, पादप रोगों में विकरों का महत्व,

तथा बिहार के कुछ प्रमुख पादप रोग, लक्षण तथा उनके रोकथाम के उपायों के सम्बन्ध में स्नातक स्तरीय जानकारी पुस्तक में उपलब्ध करायी गयी है।

पुस्तक में जो बात खटकती है वह है कोष्ठकों में आवश्यकता से अधिक अंग्रेज़ी शब्दों का दिया जाना उदाहरणस्वरूप प्रथम पृष्ठ पर नंगी आँख (**unaided eye, Naked eye**), पृष्ठ 15 पर टैबलेट (**tablet**) आदि। अच्छा होता यदि केवल पारिभाषिक वैज्ञानिक शब्दों के ही अंग्रेज़ी रूपान्तर को कोष्ठकों में दिया जाता। चित्रों के निरूपण में और अधिक सावधानी और स्वच्छता अपेक्षित है।

—**डॉ० सुप्रभात मुकर्जी**
संयुक्त मंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

यह दशक भी याद रहेगा

विज्ञान समाचार | हरीश अग्रवाल

[सौर मंडल की नयी खोजें, नया सुपरनोवा तारा, अंतरिक्ष और अंटार्कटिका में भारत के क़दम, दुनिया पर एड्स का हमला और नस प्राण रक्षक टीके, रोबोट आपकी सेवा में—यह था, गुज़रा हुआ विज्ञान-दशक, जिसकी झलक प्रस्तुत कर रहे हैं जाने-माने विज्ञान लेखक **हरीश अग्रवाल**। —संपादक]

अस्सी का दशक विज्ञान के लिए याद रखा जाएगा। अब हम नब्बे के दशक में आ गए और दस साल बाद इक्कीसवीं सदी में प्रवेश कर जाएँगे। तो विज्ञान हमारा सबका जीवन किस तरह ढाल रहा है, यह तो ये दोनों दशक तय करेंगे। सब आशा करते हैं कि विज्ञान के किसी आविष्कार का दुरुपयोग नहीं होगा और दुनिया कायम रहेगी।

एक नज़र गुज़रे दशक की प्रगति पर डालते हैं। यह तो मानना पड़ेगा कि जहाँ सफलताएँ मिलीं, वहाँ असफलताएँ भी झेलनी पड़ी। मानना पड़ेगा कि कंप्यूटर सारे दशक दुनिया पर छाया रहा, जिसका असर, भारत पर भी रहा। दशक के मध्य में 'चेलेंजर दुर्घटना' से अमेरिकी अंतरिक्ष कार्यक्रम पर बहुत बुरा असर पड़ा, लेकिन महीने की देरी के बाद कार्यक्रम फिर शुरू हो गया। 1986 में रूसी परमाणु रिएक्टर (चेरनोबिल) दुर्घटना से सारे संसार के परमाणु कार्यक्रमों पर असर पड़ा। सबने इस बात पर पुनर्विचार किया कि परमाणु टेक्नोलॉजी के क्या-क्या ख़तरे हैं, और किस तरह सुरक्षित परमाणु रिएक्टर बनाए जा सकते हैं।

भूकम्पों ने भी बहुत विनाश किया, लेकिन इसकी भविष्यवाणी संभव नहीं हुई। अल्जीरिया, आर्मीनिया तथा सान फ्रांसिस्को में भीषण भूकंप आए। हज़ारों लोग मरे, अनेक नगर के नगर ध्वस्त हो गए।

दशक ने तारों की दुनिया में आदमी के पहले क़दम देखे जब पायनीयर 90 अंतरिक्ष-यान जून 1983 में सौरमंडल से दूर जाने में पहला मानव-निर्मित यान बाना। पृथ्वी से जाने वाले तीन और मानवरहित यान इसके साथी बन गए। इसी दशक में इन्हीं यानों से सौरमंडल की खोज का पहला चरण पूरा हुआ। वायजर अंतरिक्ष यान से सबसे पहले 1981 में शनि ग्रह के रोमांचकारी चित्र मिले। इसके बाद 1986 में यूरेनस तथा 1989 में नेप्चून व उसके चन्द्रमा ट्राइटन के चित्र मिले।

ब्रह्माण्ड के अनेक रहस्य खुले। फिर भी यह रहस्यमय बना रहा। 1987 में एक सुपरनोवा तारे का पता चला, जो सैकड़ों वर्षों में पहली बार की बहुत बड़ी ब्रह्माण्डीय घटना थी। हमारी आकाश गंगाएँ कैसे बनती हैं, अभी तक यह एक बड़ा रहस्य है। लेकिन दशक के अंत में आकाश गंगाओं की एक विशाल दीवार का पता चला, जिससे आकाश गंगा निर्माण के

40 गुलमूहर पार्क, नई दिल्ली—110049 फोन : 669820

वर्तमान सिद्धान्तों को गंभीर चुनौती का सामना करना पड़ा।

भारतीय वैज्ञानिकों को दशक के शुरू में प्रथम स्वदेशी उपग्रह प्रक्षेपण वाहन एस० एल० वी०–3 छोड़ने में सफलता मिली। 1981 में अंटार्कटिका को प्रथम भारतीय अभियान दल गया। भारत का प्रथम अंतरिक्ष यात्री 1984 में सोवियत यान में अंतरिक्ष पर गया। भारत ने दशक के उत्तरार्द्ध में संसार के प्रक्षेपास्त्र क्लब ने शामिल होने में सफलता प्राप्त की। उसने "त्रिशूल", "पृथ्वी" तथा "अग्नि" प्रक्षेपास्त्र छोड़े, जो सब सफल रहे। ये सब स्वदेशी टेक्नोलॉजी से बनाए गए।

दूरसंचार, कृत्रिम बुद्धि तथा जैवतकनीकी में भी भारत को अद्वितीय सफलता मिली। भारत में प्रथम स्वदेशी टेलीफोन एक्सचेंज बना। जैवतकनीकी अनुसंधान देश में 1980 में शुरू हुआ तथा दशक समाप्त होने से पहली इसमें उपलब्धियाँ शुरू हो गईं। भारतीय अनुसंधान केन्द्रों में रोग-निदान किट, टीके तथा नई आनुवंशिक फिंगरप्रिंट विधि विकसित की गई।

उत्तरार्द्ध में भारत को अंतरिक्ष कार्यक्रम में धक्का लगा। एक साथ 1987 तथा 1988 में संवंधित उपग्रह प्रक्षेपण वाहन में असफलता हाथ लगी। 1989 में दुर्घटना के कारण इनसेट एक-डी संचार उपग्रह को क्षति पहुँची तथा इनसेट एक-सी का एक यंत्र खराब हो गया।

एड्स का आतंक और अतिचालकता

दशक में घातक रोग एड्स ने सारे संसार को डस लिया। इसकी शुरूआत 1983 में हुई और महाद्वीप इसके शिकार हो गए। इससे तीन लाख लोग मर गए और एक करोड़ संक्रमित हो गए। वैज्ञानिकों ने वचन लिया कि वे इस दशक में एड्स विषाणु मारने के लिए टीका बनाने में सफलता प्राप्त कर लेंगे। संसार की कई प्रयोगशालाओं में अनुसंधान कार्य चल रहा है।

अतिचालकता बिजली के प्रवाह का एक ऐसा गुण है, जिसमें प्रवाह के दौरान बिजली नष्ट नहीं होती। लेकिन यह विशेष प्रकार की विद्युत् संवाहक सामग्री के इस्तेमाल से ही संभव होता है। 1986 में इसी प्रकार की नई सामग्री का आविष्कार हुआ। इसके बाद संसार की प्रयोगशालाओं में कमरे के तापमान पर अतिचालक सामग्री बनाने के प्रयत्न शुरू हो गए। यह खोज अभी जारी है।

"डिस्कवर" पत्रिका ने एक साल पहले एक विशेषांक निकाला था—**'सन् 2001'**। हमारा जीवन वास्तव में कैसा होगा? यही वर्ष होगा जब इक्कीसवीं सदी शुरू होगी, लेकिन समारोह सन् 2000 में ही शुरू होने लगेंगे। पत्रिका ने बताया था कि हमने अब तक क्या पाया है? हमारी उपलब्धियों में अस्सी के दशक की अहम भूमिका रही। घरों में ऐसे रोबट होंगे जो कार साफ़ करेंगे और बगिया में पानी देंगे। प्लास्टिक के घर होंगे, जिनमें एक मास्टर कंट्रोल पेनल होगा जो स्टीरिओ से लेकर सुरक्षा प्रणाली तक पर नियंत्रण रखेगा।

पत्रिका के प्रधान सम्पादक ने विचार प्रकट किया था कि उन्होंने ऐसा दशक देखा है जब टेक्नोलॉजी पर आदमी का नियंत्रण बढ़ना शुरू हुआ। उन्होंने कहा, "यदि हमने इस दुनिया को बनाए रखा, वनों को सुरक्षित रखा, जल संरक्षण बनाए रखा, तो भविष्य हमारा अभिनन्दन करेगा।" □□

विज्ञान वक्तव्य

पाठक स्वजन !

मार्च मास भारतीय नव वर्ष का अग्रदूत होने के साथ ही साथ 'विज्ञान परिषद्' के जन्म दिवस (10 मार्च) का वाहक भी है। साथ ही इसी महीने से 'विज्ञान' अपनी निरन्तर अनथक जीवन-यात्रा के 75 वर्ष भी पूरे करने जा रहा है। ऐसे सुखद संयोग के अवसर पर हम उपस्थित हैं अपने वायदे के अनुरूप इस अंक में आपके लिए कुछ विशिष्ट सामग्री लेकर। जी हाँ, हमारा आशय लब्धप्रतिष्ठ विज्ञान लेखक **श्री गुणाकर मुले** के अद्यतन साक्षात्कार से है। इसमें नवीनता तो है ही 'विज्ञान' के लिए एक नई बिधा के रूप में भी इसका महत्व है। आशा है आपकी पाठकीय क्षुधा को संतुष्ट करेगा।

असंतोष केवल एक बात का है कि हम कतिपय अपरिहार्य कारणों से भारतीय विज्ञान कांग्रेस के 77वें अधिवेशन की पूर्व घोषित विस्तृत रिपोर्ट नहीं प्रकाशित कर पा रहे हैं। तथापि समसामयिक ज्वलंत प्रश्नों पर प्रकाशित सामग्री से संभवतः उस कमी की आपूर्ति हो सके।

अन्दर के पृष्ठों पर आप पायेंगे विवादास्पद **टेहरी बाँध** से सम्बन्धित एक विचारोत्तेजक लेख जो समस्या के सभी आयामों को आपके सामने प्रस्तुत कर सकेगा। टेहरी बाँध की निर्माण योजना अपने जन्मकाल 1969 से ही **हां-नहीं** और **आरोपों-प्रत्यारोपों** की दुविधा में जकड़ी रही है। नई सरकार द्वारा सोवियत विशेषज्ञों की सम्मति से रुके हुए निर्माणकार्य को पुनः हरी झंडी दिखा देने के निर्णय ने प्रसिद्ध पर्यावरण आन्दोलकारी **श्री सुन्दर लाल बहुगुणा** के आक्रोश को फिर जगा दिया है। श्री बहुगुणा बाँध के निर्माण से बेहद क्षुब्ध हैं। वैसे श्री बहुगुणा के इस बाँध विरोधी आन्दोलन पर प्रश्नचिह्न लगाये जा रहे हैं और इस पर इसके राजनीतिप्रेरित होने का आरोप है, पर उनकी दृष्टि में इससे पर्यावरण (भूक्षरण और भूस्खलन आदि द्वारा) को तो हानि पहुँचेगी ही, स्वयं बाँध के उम्र के लिए 40% तक घट जाने की आशंका से इंकार नहीं किया जा सकता। यह तो सर्वविदित है कि बाँध भूकम्प सक्रिय क्षेत्र में है। अंटार्कटिका अभियान दल के भूतपूर्व प्रमुख, कोचीन विश्वविद्यालय के उपकुलपति और भूकम्प विशेषज्ञ **श्री हर्ष कुमार गुप्ता** भी वर्तमान योजना के अनुरूप बाँध-निर्माण के विरुद्ध हैं। पर भारतीय मानस सम्भवतः स्वदेशी को नकार कर विदेशी को सम्मान देने में गर्व का अनुभव करता है। तभी तो सोवियत विशेषज्ञों द्वारा बाँध योजना को सहमति दिये जाने को सहर्ष स्वीकार कर लिया गया और भारतीय विशेषज्ञों की सम्मति उपेक्षणीय बनी रही। सोवियत वैज्ञानिकों का मत है कि भूकम्प से बचाव के लिए बाँध-निर्माण में जिन सुरक्षा साधनों का प्रयोग किया जाने वाला है वह उस क्षेत्र के भीषणतम भूकम्प के लिए पर्याप्त है। पर क्या सचमुच ? पर्याप्त सुरक्षा सावधानियाँ तो चेर्नोबिल में भी बरती ही गई होंगी।

और एक दूसरा महत्वपूर्ण मानवीय प्रश्न वहाँ से विस्थापित, अपनी जड़ से कटे, अपनी भूमि से उखड़े लोगों का ? क्या उसे भी अनदेखा किया जा सकता है ? तो टेहरी बाँध के प्रश्न पर एक सुरक्षित पर्यावरण और भविष्य को ध्यान में रखते हुए आप सभी पाठकों की सम्मतियों और प्रतिक्रियाओं की प्रतीक्षा में अगले अंक तक के लिए विदा।

आपका
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय विज्ञान लेख प्रतियोगिता 1990

व्हिटेकर पुरस्कार

सर्वश्रेष्ठ लेख को 500 रु० का पुरस्कार

शर्तें

(1) लेख विज्ञान के इतिहास से संबन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।
(2) केवल प्रकाशित लेखों पर ही विचार किया जायेगा।
(3) लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है।
(4) प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।
(5) इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख जनवरी 1990 से दिसम्बर 1990 माह के बीच प्रकाशित हो।
(6) लेखक को साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख मौलिक है।
(7) विज्ञान परिषद् के सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।

लेख निम्न पते पर भेजें—

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव
संपादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

अखिल भारतीय विज्ञान लेख प्रतियोगिता—1990

हिन्दी विज्ञान साहित्य परिषद् एवं **राजभाषा कार्यान्वयन समिति** (भा० प० अ० केन्द्र) के संयुक्त तत्वावधान में आयोजित हिन्दी विज्ञान लेख प्रतियोगिता हेतु प्रविष्टियाँ आमंत्रित हैं। लेख में किसी भी वैज्ञानिक विषय पर आधुनिक जानकारी होनी चाहिए। दो टंकित अथवा स्पष्ट लिखित प्रतियाँ (लगभग 3000 शब्द) वैज्ञानिक कार्यालय को भेजें। चित्रों को सफ़ेद काग़ज़ पर काली रोशनाई से बनाएँ।

पुरस्कार : प्रथम रु० 750; द्वितीय रु० 500; तृतीय रु० 250

इसके अतिरिक्त पाँच प्रोत्साहन पुरस्कार व अहिन्दी भाषी प्रतियोगियों के लिए दो विशेष पुरस्कार प्रत्येक रु० 150 के दिये जायेंगे। अतएव अपनी मातृभाषा का स्पष्ट उल्लेख करें।

अंतिम तिथि : 31 जुलाई 1990

विशेष : पुरस्कृत रचनाएँ **वैज्ञानिक** की संपत्ति होगी। **वैज्ञानिक** से संबंधित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकेंगे।

"वैज्ञानिक" हेतु रचनाएँ भी आमन्त्रित हैं। सभी प्रकाशित रचनाओं पर पारिश्रमिक दिया जाता हैं।

पत्र व्यवहार का पता :
डॉ० शिव प्रकाश गर्ग
व्यवस्थापक, "वैज्ञानिक", भौतिकी धातुकी प्रभाग, भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र, बम्बई–400085

फार्म 4/ FORM IV

[नियम 8 देखिये (See Rule 8)]

1. प्रकाशन स्थान	विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद–211002
2. प्रकाशन अवधि	मासिक, प्रत्येक मास का 15 दिनांक
3. मुद्रक का नाम	श्री सरयू प्रसाद पाण्डेय
(क्या भारत का नागरिक है ?)	हाँ
पता	नागरी प्रेस, अलोपी बाग, इलाहाबाद
4. प्रकाशक का नाम	डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी
(क्या भारत का नागरिक है ?)	हाँ
पता	प्रोफेसर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
5. सम्पादक का नाम	प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव
(क्या भारत का नागरिक है ?)	हाँ
पता	वनस्पति विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
6. उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार-पत्र के स्वामी हों तथा जो समस्त पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों।	विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद–211002

मैं, हनुमान प्रसाद तिवारी, एतत् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

दिनाक 1-3-90

हनुमान प्रसाद तिवारी
प्रधानमंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

उत्तर प्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है, यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिये। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं :

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०; आधा पृष्ठ 100.00 रु०; चौथाई पृष्ठ 50.00 रु०; आवरण द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ 500·00 रु०।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत; 500 रु० संस्थागत
वार्षिक : 25 रु०
त्रिवार्षिक : 60 रु०
प्रति अंक : 2 रु० 50 पैसे

प्रेषक : विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद–211002

विज्ञान

परिषद् की मुख पत्रिका
अप्रैल 1990
2 रुपया 50 पैसे

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 1913; 'विज्ञान' का प्रकाशन अप्रैल 1915
अप्रैल 1990; वर्ष 76, अंक 1

प्रकाशक
डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी
प्रधान मंत्री
विज्ञान परिषद्, प्रयाग

●

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

●

मुद्रक
श्री सरयू प्रसाद पाण्डेय
नागरी प्रेस
186 अलोपी बाग
इलाहाबाद

●

सम्पर्क
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002

मूल्य
आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत; 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु०
वार्षिक : 25 रु०
एक प्रति : 2 रु० 50 पैसे

विज्ञान विस्तार

कचरे से कंचन

डॉ शिवगोपाल मिश्र

कचरा, छीजन, अवशेष, अपशिष्ट या कूड़ा-करकट कहलाने वाली और प्रायः निकृष्ट लगने वाली वस्तु वह **साधन** (resource) है जो फिलहाल ग़लत स्थान पर जा पड़ी है, किन्तु जिसे उपयोगी बनाया जा सकता है। यह कचरा कृषि-कार्यों से प्राप्त हो सकता है, यह वनोपज के रूप में मिल सकता है, यह पशुओं के मल-मूत्र से उत्पन्न हो सकता है और बड़े-बड़े नगरों में यह कूड़ा-करकट तथा मलमूत्र के रूप में अथवा उद्योगों से निकले व्यर्थ पदार्थों के रूप में पाया जा सकता है। यह ठोस, तरल तथा गैस तीनों रूपों में हो सकता है।

प्रायः कचरे को घृणित एवं अस्वास्थ्यकर समझा जाता रहा है, किन्तु अब इस विचारधारा में परिवर्तन आ रहा है और देश के कर्णधार इसे "नक़दी माल", "कल का कच्चा माल" या "भावी सम्पत्ति" कहने लगे हैं।

व्यर्थ की वस्तुओं को एक बार प्रयोग में लाने के बाद फेंक देना बर्बादी का सूचक हो सकता है, अमीरी का नहीं। क्योंकि जिस गति से प्राकृतिक साधनों का ह्रास हो रहा है और माँग बढ़ती जा रही है उसे देखते हुए इस कचरे के उपयोग का विचार वैज्ञानिकों को काफी पहले सूझा था। इसे वे **पुनर्चक्रण** (recycling) कहते हैं। उदाहरणार्थ, यदि एक टन रद्दी काग़ज़ का फिर से उपयोग किया जाय तो इससे एक टन लकड़ी की बचत होगी, जिसका अर्थ होगा बारह वृक्षों को काटने से बचा लेना। पुनर्चक्रण की सबसे बड़ी विशेषता है ऊर्जा की बचत और प्राकृतिक साम्य का संरक्षण।

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान जर्मनी, फ्रांस, इंगलैंड आदि यूरोपीय देशों को जब खाने-पीने की वस्तुओं तथा चारे की आपूर्ति बन्द हो गई तो इन राष्ट्रों ने 4 वर्षों के भीतर अपने वैज्ञानिकों एवं नागरिकों के सहयोग से सभी प्रकार के व्यर्थ पदार्थों या कचरों का सदुपयोग ढूँढ़ निकाला। यहाँ तक कि स्कूली बच्चों तथा अध्यापकों ने भी इस अभियान में हाथ बँटाया। इसीलिए किसी भी देश की समृद्धि का मापदण्ड उसके अपने साधनों को चुका देने में नहीं अपितु उन साधनों के मितव्ययी उपयोग में है। कचरे का पुनर्चक्रण किसी फैशन या दिखावे के लिए नहीं अपितु राष्ट्रीय नीति का अंग होना चाहिए।

अनुमान है कि हमारे देश का हर नागरिक प्रतिदिन औसतन 500-800 ग्राम कचरा निकालता है। इस तरह देश में प्रतिवर्ष कुल 204 मिलियन टन कचरा निकलता है। इस कचरे में पशुओं से प्राप्त होने वाले गोबर तथा मूत्र सम्मिलित नहीं जिनकी मात्रा इस कचरे से पाँच गुनी अधिक है। यूरोप तथा अमेरिका जैसे समृद्ध देशों में प्रतिव्यक्ति निकलने वाला कचरा 2-3 किलोग्राम है अर्थात् हमारे देश की तुलना में प्रति व्यक्ति 4 गुना अधिक है।

हमारे देश में कचरे के जितने साधन हैं उनमें कृषि से निकलने वाले व्यर्थ पदार्थों की मात्रा अत्यधिक है। इन्हें 'कृषि अपशिष्ट' कहा जाता है। कृषि अपशिष्टों के अन्तर्गत आलू तथा शकरकंद की लतरें, खरपतवार, भूसा, सनई, तथा जूट के डंठल, फसलों की जड़ें, सड़ा अन्न, मक्के की गिल्ली, फलों तथा तरकारियों के अवशेष तथा विविध कुटीर उद्योगों से निकलने वाला रद्दी माल—यथा गुड़ उद्योग से निकली खोई, धान कूटने से प्राप्त धान की भूसी, लकड़ी चिराई से प्राप्त बुरादा, तेलघानी से निकली खलियाँ, आम की गुठलियों, नारियल की जटा या फिर बबूल तथा खैर की छाल अथवा ताल-तलैयों में उगी जलकुम्भी या सिंघाड़े की लतरें, काइयाँ आदि उल्लेखनीय अपशिष्ट हैं।

प्रोफेसर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद—211002

एक अनुमान के अनुसार 1965-66 में कृषि से प्रति हेक्टेयर $2\frac{1}{4}$ (सवा दो) टन कचरा निकलता था जो 1979-80 में बढ़कर $4\frac{3}{4}$ (पौने पाँच) टन प्रति हेक्टेयर हो गया। वर्तमान समय में कुल कृषि अपशिष्ट की मात्रा 283 मिलियन टन आँकी गई है, जो 2000 ई० में बढ़कर 336 मिलियन टन हो जायेगी। इस तरह इन अपशिष्टों की मात्रा में 20 प्रतिशत से अधिक की वृद्धि सम्भावित है। स्पष्ट है कि इतनी विशाल मात्रा का सदुपयोग किया जाना है।

इस समय कृषीय कचरे के चार मुख्य उपयोग हैं—1. चारे के रूप में, 2. कम्पोस्ट बनाने में, 3. ऊर्जा उत्पन्न करने में तथा 4. रासायनिक पदार्थ तैयार करने में। स्मरण रहे इस कचरे के सदुपयोग के पूर्व इसकी प्रकृति की सही-सही जानकारी उपलब्ध होनी चाहिए। कचरे का अधिक अंश वानस्पतिक अवशेष के रूप में होता है जिसमें लिग्नोसेल्यूलोस नामक रासायनिक अंश रहता है। यह अंश सीधे आहार, ईंधन तथा चारे के अतिरिक्त विविध रासायनिक उत्पादों–वसा, एल्कोहॉल आदि में परिणित किया जा सकता है। किन्तु इसके लिए सूक्ष्म जैविकी, रसायन विज्ञान, एंज़ाइम टेक्नोलॉजी, कृषि तथा रासायनिक इंजीनियरी, सामाजिकी एवं अर्थशास्त्र को एकजुट होकर काम करना होता है।

कृषीय कचरे या अन्य किसी कचरे के उपयोगों पर बल दिये जाने के अनेक कारण हैं। यथा—1. साधन का संरक्षण, 2. पर्यावरण की सुरक्षा, 3. रोज़गार की उपलब्धि, 4. आर्थिक विकास में सहयोग तथा 5. जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति।

यदि कचरे को यों ही पड़ा रहने दिया जाय तो वह सड़ेगा, पर्यावरण प्रदूषण बढ़ेगा, रोग फैलेंगे और कचरे के तमाम तत्व घुल-घुल कर मिट्टी में संचित होंगे जिन्हें पौधे ग्रहण करेंगे, जिनसे वे पशुओं तथा मनुष्यों में पहुँचेंगे। इसलिए पर्यावरण की स्वच्छता के लिए कचरे का निपटान आवश्यक है। यह निपटान सामान्य विधियों से अथवा उच्च प्राविधिक तरीकों से सम्भव है।

किन्तु कचरे की प्रभूत मात्रा को देखते हुए उसका संचय करने एवं उसको संसाधित करके उपयोगी उत्पादों का रूप देने के लिए हमें व्यक्तियों का समूह या कर्मीगण चाहिए। स्पष्ट है कि जितने ही अधिक व्यक्ति इस कार्य में लगेंगे उतनी ही जल्दी यह कार्य सम्पन्न होगा और ये कर्मी जितना ही अधिक प्रशिक्षित होंगे उतनी दक्षतापूर्वक यह कार्य पूरा हो सकेगा। इस तरह कृषीय कचरे से रोज़गार उत्पन्न हो सकेगा और हमारे नवयुवकों के लिए अभूतपूर्व अवसर प्राप्त होगा कि वे ग्रामीण क्षेत्रों में अपना योगदान दें।

यह संचय या संग्रह कार्य खर्चीला हो सकता है, लेकिन कचरे के अल्प या नगण्य कीमत में उपलब्ध होने के कारण स्थानीय साझेदारी तथा सहयोग से इसे सहज ही सम्पन्न किया जा सकता है। सारे कृषीय अपशिष्टों को नगरों में ले जाकर फिर उसका उपचार या संसाधन न तो आर्थिक दृष्टि से लाभकर होगा, न ही किसी स्वस्थ उद्योग को जन्म दे सकेगा। इसलिए कृषि अपशिष्ट का उपयोग गाँवों में ही होना चाहिए। गाँवों में ही संसाधन की इकाइयाँ स्थापित की जानी चाहिए और ग्रामीण युवकों को प्रशिक्षित करके इन इकाइयों का भार उन्हें ही सौंप दिया जाना चाहिए।

दुर्भाग्यवश ग्रामीण क्षेत्रों में अभी भी विज्ञान का सही ढंग से प्रवेश नहीं हो पाया है। यदि किसी ग्रामीण से कृषीय अपशिष्ट से आहार बनाये जाने की बात की जाय तो उसे आश्चर्य होगा और यदि उसे ऐसा आहार काम में लाने के लिए कहा जाय तो वह इसके लिए तैयार भी नहीं होगा। वह तो ईंधन, चारा तथा खाद इन तीनों रूपों में कृषीय अपशिष्टों का उपयोग अपने ढंग से करता रहा है इसलिए उसे इस दिशा में नवीनतम उपलब्धियों से परिचित कराये जाने की आवश्यकता है। साथ ही कृषीय अपशिष्टों से बहुउपयोगी रसायन भी बनाये जाने की आवश्यकता है।

यद्यपि ज्वार, बाजरा तथा मक्के के डंठलों को कुट्टी बनाकर पशुओं को चारे के रूप में खिलाया जाता है, किन्तु भविष्य में कृषि के मशीनीकरण के साथ ही पशुओं की संख्या में कमी आवेगी। अतः फसलों के इन डण्ठलों का उपयोग चारे के रूप में नहीं हो पावेगा। तब वे व्यर्थ पड़े रह सकते हैं। ऐसी दशा में इनका कोई श्रेष्ठ उपयोग होना चाहिए। विदेशों में ऐसा किया जा चुका है। उदाहणार्थ, अमेरिका में मक्का के डण्ठलों को सुखाकर ईंधन के रूप में कोयले के साथ जलाया जाता है। चूँकि मक्का के डण्ठलों में गंधक की मात्रा कम होती है इसलिए इस प्रकार के ईंधन से पर्यावरण प्रदूषण कम होगा।

हमारे देश में कृषीय कचरे के सदुपयोग का पहला प्रयास 1924 ई० में **होवर्ड** तथा **वैड** नामक दो वैज्ञानिकों ने किया था। उन्होंने कपास के डण्ठलों, खलिहानों से निकले सभी तरह के अपशिष्टों एवं चीथड़ों को गड्ढों में भर कर कम्पोस्ट तैयार की। यह विधि 'इन्दौर प्रणाली' के नाम से विख्यात है। इस प्रणाली की **महात्मा गाँधी** तक ने भूरि-भूरि प्रशंसा की थी।

इसी तरह इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अन्तर्गत 'शीलाधर मृदा शोध संस्थान' के भूतपूर्व निदेशक एवं सुप्रसिद्ध रसायनविज्ञानी स्वर्गीय **डॉ० नीलरत्न धर** ने 1935 ई० से ही लगातार इस बात पर बल दिया कि सभी प्रकार के कृषि अपशिष्टों को यदि खेतों में डालकर जोत दिया जाय तो मिट्टी की उर्वरता बढ़ती है। इस तरह ग़रीब किसानों के लिए कृषीय अपशिष्ट उत्तम कार्बनिक खाद का काम दे सकते हैं।

सुप्रसिद्ध ग्रामविज्ञानी **चन्द्रशेखर लोहुमी** ने मक्के की गिल्ली से कोयला तथा राख़ बनाने की विधि निकाली है, जिसे उन्होंने पन्तनगर कृषि विश्वविद्यालय की सहायता से अत्यन्त उपयोगी प्रदर्शित किया है। राख का उपयोग फ़सलों तया तरकारियों के कीटों का नाश करने के लिए किया जा सकता है।

कुछ रसायनशालाओं एवं कुछ संस्थानों ने कृषीय अपशिष्टों से कुछ उपयोगी खाद्य पदार्थ, रसायन तथा व्यापारिक वस्तुएँ तैयार करने में सफलता प्राप्त की है। उदाहरणार्थ फ़सलों की हरी पत्तियों से प्रोटीन निकालने के प्रयास हुए हैं। इसी तरह कपास के डण्ठलों से सेल्यूलोस प्राप्त किया जाता है। यही नहीं, छाल निकालने के बाद डण्ठलों से काठ-कोयला भी बनाया जा सकता है।

नारियल के खोपड़े या धान की भूसी से 'ऐक्टिवेटेड कार्बन' तैयार किया जाता है, जिसका उपयोग बिजली उद्योग में होता है। धान की भूसी, जो अभी तक व्यर्थ जाती थी, को जला कर सोडियम सिलिकेट तथा ऐक्टीवेटेड कार्बन तैयार किया जाता है। यही नहीं, 'फरफ्यूरल' नामक उत्पाद भी प्राप्त किया जाता है, जिसका पेट्रोलियम उद्योग में उपयोग होता है। सोडियम सिलिकेट साबुनों के बनाने में प्रयुक्त होता है। अनुमान है कि हमारे देश में 15 मिलियन टन धान की भूसी प्रति वर्ष निकलती है। इसका उपयोग इन रसायनों के लिये अल्प लागत पर किया जा सकता है। लकड़ी के बुरादे तथा वृक्षों की चैलियों को क्षार से उपचारित करके पशु-आहार तैयार किया जाता है। बुरादे, पुआल तथा जलकुम्भी से एल्कोहॉल बनाया जाता है। टमाटर के बीज, अंगूर के बीज, तरबूज़ के बीज—इन सभी से तेल निकाला जाता है, जिसका उपयोग जलाने तथा साबुन बनाने में किया जाता है।

आम की गुठलियाँ ग़रीबों का भोजन हैं और पशु भी उन्हें खाते हैं, किन्तु अब विशेष उपचार द्वारा इनसे प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट तथा वसा विलग किया जाता है। 100 पौंड गुठलियों से उतना ही प्रोटीन मिल सकता है जितना 80 पौंड जौ से और उतना ही स्टार्च निकलेगा जितना 86 पौंड जौ में होता है।

यह अत्यन्त विचित्र बात लगती है कि एक ओर जहाँ जापान, जर्मनी, अमेरिका जैसे विकसित राष्ट्रों में कचरों के उपयोग की दिशा में बहुत पहले से ध्यान दिया जाता रहा है वहीं भारत जैसे विकासशील देश में कचरे के प्रति अभी संकल्प करना शेष है। विकासशील देशों को तो चाहिए कि कचरे को किसी भी दशा में व्यर्थ न जाने दें। यह एक महत्त्वपूर्ण कच्चा माल है—यह कंचन है—असली अर्थ में सोना। इसका संरक्षण एवं सदुपयोग हमारा राष्ट्रीय दायित्व है।

□□

(आल इंडिया रेडियो इलाहाबाद के सौजन्य से)

कुष्ठरोग कलंक नहीं

डॉ० अंजू शर्मा

पात्र : माँ, बेटी रूपा तथा डॉक्टर लीला।

दृश्य : घर का।

माँ—**रूपा**, ओ रूपा बेटी, कहाँ हो? देखो तो तुम्हारे लिए एक खुशखबरी है। तुम्हारी सगाई की तिथि निश्चित हो गई है।

रूपा—(अन्दर से आते हुए) क्या है माँ। इतना शोर क्यों कर रही हो? इसमें इतना खुश होने की क्या बात है?

माँ—रूपा, क्या बात है? तबियत तो ठीक है न तुम्हारी! तुम्हें इतना अच्छा घर मिल रहा है, यह क्या खुश होने की बात नहीं है?

रूपा—माँ, आखिर इतनी जल्दी क्या है? क्या इस बात को कुछ दिन टाला नहीं जा सकता?

माँ—क्या कह रही हो बेटी! ऐसा कहने का क्या कारण है? क्या तुम्हें यह रिश्ता पसन्द नहीं?

रूपा—नहीं माँ, आप ग़लत समझ रही हैं, परन्तु मैं अभी विवाह के पक्ष में नहीं हूँ।

माँ—अरे, तुम पढ़ी-लिखी लड़कियों की बुद्धि का कोई ठिकाना नहीं। जरा मुझे भी तो पता चले कि विवाह क्यों नहीं करना चाहती?

रूपा—माँ, आप बात को कहाँ से कहाँ ले जाती हो। अच्छा मैं चलती हूँ। ऑफिस जाने के लिए देर हो रही है।

दृश्य—शाम का समय। रूपा घर में प्रवेश करती है।

माँ—रूपा, क्या बात है? बड़ी थकी-थकी और परेशान लग रही है? क्या ऑफिस में कुछ बात हुई है?

रूपा—नहीं माँ, कुछ नहीं; ठीक है। (कुछ रुक कर) माँ, मैं सचमुच विवाह नहीं करूँगी। कारण मत पूछना।

माँ—कारण तो बताना ही होगा। ऐसी नासमझी की बातें क्या बिना किसी कारण के की जा सकती हैं?

रूपा—माँ, अगर आप जानना ही चाहती हैं तो सुनिए, मुझे कुष्ठरोग हो गया है।

माँ—(कानों पर हाथ रखते हुए) नहीं, नहीं! ये क्या अनाप-शनाप बक रही है? कुष्ठरोग? कभी नहीं। कुष्ठरोग तो पाप-कर्मों का फल होता है। भगवान का अभिशाप होता है। यह तुम्हें कैसे और क्यों हो सकता है?

रूपा—माँ, मैं जानती थी कि आपको दुःख होगा। इसीलिए बताना नहीं चाहती थी, पर आपने मजबूर कर दिया। देखिए यह सफ़ेद दाग़ (बाँह पर सफ़ेद गोल चकत्ता दिखाती है)।

माँ—रूपा, यह दाग़ कब से है? तुमने मुझे पहले क्यों नहीं दिखाया?

रूपा—माँ, मैंने भी यह दाग़ कुछ सप्ताह पहले ही देखा है। डर लगता है कि अगर किसी ने देख लिया तो मेरा तो सामाजिक बहिष्कार ही हो जाएगा। विवाह को भी इसीलिए मना कर रही हूँ। कौन करेगा कुष्ठरोग ग्रस्त लड़की से शादी। आज नहीं तो कल सभी को पता लग जाएगा। माँ, मैं यह सब नहीं सह सकती।

माँ—(कुछ गम्भीर होकर) रूपा, ऐसे हिम्मत हारने से क्या होगा? यह दाग़ कुछ और भी तो हो सकता है। चलो हम किसी डॉक्टर को दिखाते हैं।

रूपा—नहीं माँ, यह कुष्ठरोग ही है और डॉक्टर इस सत्य को क्या बदल सकता है?

माँ—नहीं रूपा, डॉक्टर की सलाह ज़रूरी है। चलो हमारे पड़ोस में डॉ० लीला रहती हैं, बहुत

अनुसंधान अधिकारी, प्रकाशन एवं सूचना प्रसार, भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली—110029

अच्छी हैं, और सुना है होशियार भी हैं। चलो उनकी सलाह लेते हैं।

माँ और रूपा डॉक्टर लीला के क्लीनिक की ओर प्रस्थान करती हैं।

दृश्य—डॉ० लीला का क्लीनिक।

माँ—नमस्कार डॉक्टर साहब !

डॉ० लीला—आइए माँ जी बैठिए, कहिए कैसे आना हुआ ?

माँ—डॉक्टर, यह मेरी बेटी रूपा है।

रूपा—नमस्कार डॉक्टर।

डॉ० लीला—आओ रूपा, बैठो।

माँ—डॉ० साहब, आपसे एक सलाह लेनी थी।

डॉ० लीला—हाँ हाँ, बोलिए !

माँ—रूपा ने कुछ सप्ताह पहले अपनी बाँह पर सफ़ेद दाग़ देखा है। तब से यह काफ़ी डर गई है। ये सोच कर कि इसे कुष्ठरोग हो गया है, इसने किसी को नहीं बताया। अब इसके विवाह की बात चल रही है और यह इन्कार करती है। कहती है कि ऐसी स्थिति में विवाह सम्भव नहीं।

डॉ० लीला—रूपा, जरा अपनी बाँह दिखाओ। (रूपा बाँह पर सफ़ेद दाग़ दिखाती है)

डॉ० लीला—क्या इस दाग़ पर स्पर्श का अहसास होता है ?

रूपा—नहीं, बिल्कुल नहीं।

डॉ० लीला—अच्छा यह बताओ कि ऐसे दाग़ कहीं और भी हैं ?

रूपा—जी नहीं, बस यही एक है।

डॉ० लीला—यह तुमने अच्छा किया जो मेरे पास आ गई। कुष्ठरोग का इलाज अब सम्भव है। दवाओं द्वारा इसे पूरी तौर से ठीक किया जा सकता है।

रूपा—क्या सचमुच डॉक्टर ? क्या मैं बिल्कुल ठीक हो सकती हूँ ?

डॉ० लीला—हाँ, हाँ, क्यों नहीं ?

माँ—क्या कुष्ठरोग 'भगवान' द्वारा दी गई सज़ा नहीं ?

डॉ० लीला—यह आप क्या कहती हैं माँ जी ! कुष्ठ-रोग किसी भी अन्य रोग की तरह होने वाला एक रोग है और इसे फैलाने वाले जीवाणु को **माइकोबैक्टीरियम लेप्री** कहते हैं।

रूपा—क्या यह रोग सारे संसार में होता है ?

डॉ० लीला—हाँ, वैसे तो इस रोग के रोगी सम्पूर्ण विश्व में पाये गये हैं, परन्तु एशिया तथा अफ्रीका में इसके रोगी अधिक हैं। यूरोप और अमेरिका में इस रोग को लगभग समाप्त कर दिया गया है, पर हमारे देश में कुष्ठरोगियों की संख्या अभी भी बहुत अधिक है। तुम्हें यह जान कर आश्चर्य होगा कि हमारे देश में प्रत्येक एक हज़ार व्यक्तियों में लगभग 4-5 कुष्ठरोगी पाये जाते हैं।

रूपा—यह तो काफी अधिक संख्या है।

डॉ० लीला—हाँ, यही नहीं बल्कि भारत के कुछ राज्यों जैसे तमिलनाडु, आंध्रप्रदेश, उड़ीसा आदि में कुष्ठरोगियों की संख्या बहुत अधिक है।

रूपा—डॉक्टर, क्या यह छूत का रोग है ?

डॉ० लीला—हाँ, कुछ हद तक ही क्योंकि सभी कुष्ठ-रोगी छूत नहीं फैलाते। परन्तु यह भी सच है कि संक्रमण फैलाने के लिए पूर्ण रूप से जिम्मेदार केवल आदमी है। इन रोग के प्रसार में किसी जानवर अथवा कीड़े का कोई योगदान नहीं होता। इस रोग के जीवाणु रोगी की नाक, त्वचा आदि से निकलते हैं। संक्रामक रोगी के छींकने, खाँसने तथा बोलने से उड़ने वाले नाक-थूक के छींटों में जीवाणु होते हैं। परन्तु यह भी ज़रूरी नहीं कि इन जीवाणुओं के सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को कुष्ठरोग हो ही जाएगा।

रूपा—डॉक्टर क्या सफ़ेद दाग़ होना ही कुष्ठरोग का लक्षण है ?

डॉ० लीला नहीं, केवल सफ़ेद दाग़ दिखाई देने का अर्थ कुष्ठरोग नही है। कुष्ठरोग होने पर दाग़ के स्थान की त्वचा पर संवेदनशीलता समाप्त हो जाती है। स्पर्श, गर्म अथवा ठण्डी वस्तु का अहसास नहीं होता। कुष्ठरोग की पुष्टि से लिए रोगकारक जीवाणुओं **माइकोबैक्टीरियम लेप्री** का परीक्षण आवश्यक है। नाक से निकलने वाले पदार्थ (श्लेष्म) का आलेप परीक्षण किया जाता है। त्वचा की जीवऊतिपरीक्षा (बायोप्सी) की जाती है। इन सब परीक्षणों के परिणाम के आधार पर ही रोग की सही पहचान सम्भव है।

रूपा—क्या कुष्ठरोग से बचाव के लिए कोई टीका उपलब्ध है ?

डॉ० लीला नहीं रूपा ! यद्यपि हमारे वैज्ञानिक इस दिशा में अनुसंधानरत हैं, पर अभी तक कोई सफल टीका विकसित नहीं हो पाया है। इस अवस्था में रोग प्रकट होने पर ही उपचार किया जा सकता है। आज कुष्ठरोग की चिकित्सा के लिए **डेपसोन**, **रिफेम्पिसिन, क्लोफ़ेजामीन** जैसी अनेक ओषधियाँ उपलब्ध हैं और वह ओषधि चिकित्सा तो अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध हुई है।

रूपा—क्या नियमित दवा लेने पर मैं ठीक हो सकूँगी ?

डॉ० लीला ज़रूर, परन्तु अभी कई महीनों तक नियमित रूप से डॉक्टर को दिखाना भी होगा ताकि दवा उस समय तक दी जा सके जब तक रोग के सभी लक्षण तथा जीवाणुओं की उपस्थिति पूरी तरह से समाप्त न हो जायें।

रूपा—डॉक्टर, आप मेरे सभी आवश्यक परीक्षण करवा दीजिए और मेरा उपचार आरम्भ कीजिए।

डॉ० लीला—शाबाश रूपा ! तुम जरूर स्वस्थ हो सकोगी और अपनी ज़िन्दगी सामान्य रूप से हँसी-खुशी व्यतीत कर सकोगी। पर याद रखना, कुष्ठरोग किसी पाप का फल नहीं है और मेरी नज़र में कोई ऐसा कारण नहीं जिसके लिए कुष्ठरोगी को समाज से बहिष्कृत किया जाए। कुष्ठरोग अन्य किसी भी रोग की तरह ही है और इसका उपचार पूर्णरूपेण सम्भव है।

रूपा—धन्यवाद डॉक्टर, आपने आज मेरे जीवन को एक नई दिशा दी है।

(माँ की तरफ़ देखते हुए)

चलो माँ ! (रूपा और माँ प्रस्थान करती हैं)

और इसी के साथ पर्दा गिरता है। □□

दिल के दौरे को रोकता है मछली का तेल | रणबीर सिंह

[नये अनुसंधानों से रक्त चाप, दिल के दौरे और गठिया की रोकथाम में मछली का तेल बड़ा फायदेमंद साबित हो रहा है। इस नई खोज का खुलासा कर रहे हैं भारतीय विज्ञान लेखक संघ के युवा सदस्य श्री रणबीर सिंह।

—**सम्पादक**]

दिल और रक्तवाहिकाओं के रोगों से मनुष्य को बचाने के लिये वैज्ञानिकों ने अनुसंधान के कई मोर्चे खोल रखे हैं। इनमें व्यवहार और परिवेश परिवर्तन, अधिक प्रभावी और सुरक्षित ओषधियों की खोज और सर्जरी के अलावा खान-पान में संशोधन भी शामिल है। पोषण वैज्ञानिकों द्वारा किये गये अनुसंधान से यह

जनसम्पर्क अधिकारी, भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद्, अंसारीनगर, नई दिल्ली-110029

जानकारी मिली है कि जहाँ कुछ प्रकार की वसा, जो खाद्य तेलों और घी से प्राप्त होती है, एथीरोस्क्लेरोसिस और हाइपरटेंशन को जन्म देते हैं वहीं इनकी किस्म और रचना में मामूली फेरबदल वाली कुछ दूसरी वसाओं का इस्तेमाल हमें दिल और रक्तवाहिकाओं के रोगों से बाहर निकाल ले जाने में काफी प्रभावपूर्ण साबित हुए हैं। अर्थात कुछ खाद्य स्रोतों से प्राप्त हुई वसा का चिकित्सीय महत्व है।

कुछ वैज्ञानिकों ने शोध करके हाल ही में इस धारणा की फिर से पुष्टि कर दी है कि ऐसी मछली खाने से जिसमें वसा की मात्रा दूसरों से कुछ ज्यादा होती है या जैसा है वैसे ही रूप में उपलब्ध मछली के तेल का इस्तेमाल करने से न केवल स्थायी हो चुकी हाइपरटेंशन से छुटकारा पाया जा सकता है बल्कि दिल के दौरे के बाद स्वास्थ्यलाभ करने वाले व्यक्तियों में पुनः दिल के दौरे को रोका जा सकता है।

बाजार में दर्जनभर खाने के रिफाइंड तेल और वनस्पति घी के अलावा देशी घी भी प्रचुरता से उपलब्ध हैं। इसके अलावा मांस, मछली और अण्डे में भी वसा की काफी मात्रा मौजूद होती है। शाकाहारी लोगों को दालों और हरी सब्जियों के खाने से भी कुछ मात्रा में वसा प्राप्त होती रहती है। वनस्पति से प्राप्त वसा में लाभकारी लिनोनिक अम्ल काफी मात्रा में होता है।

वसा में चिकने पदार्थ ग्लाइसिरोल, विटामिन ए० डी० और० ई० के अलावा कई तरह के वसीय अम्ल भी होते हैं। शरीर इन घटकों का कई उपयोगी जैविक क्रियाओं के लिये इस्तेमाल करता है। कोशिकाओं की दीवार के निर्माण के लिये इसेंशियल फैटी एसिड्स बड़े काम की चीज होते हैं। भुखमरी या ऐच्छिक उपवास के दिनों केलिये भी शरीर में त्वचा के नीचे और एडीपोज टिशू में काफी मात्रा में वसा जमा हो जाती है। परन्तु असली मुद्दा यह है कि वसा में मौजूद कई तरह के अम्ल अर्थात फैटी एसिड्स हमारे शरीर में क्या भूमिका अदा करते हैं?

पोषण वैज्ञानिकों का कहना है कि वसा अर्थात खाद्य तेलों और घी में मौजूद सैचुरेटेड फैटी एसिड्स हमारे दिल और खून की नसों (आरट्रीज) की सेहत के लिये खराब होते हैं जबकि अनसैचुरेटेड फैटी एसिड्स का प्रभाव लाभकारी होता है। खाद्य तेलों और घी में सैचुरेटेड और अनसैचुरेटेड दोनों किस्म के फैटी एसिड्स मौजूद होते हैं फर्क इतना है कि किसी खाद्य तेल और घी में सैचुरेटेड फैटी एसिड्स ज्यादा मात्रा में होते हैं और किसी में अनसैचुरेटेड फैटी एसिड्स। दुधारू पशुओं से प्राप्त घी और अन्य जंतुओं से प्राप्त होने वाले मांस में सैचुरेटेड फैटी एसिड्स काफी मात्रा में होते हैं। इसीलिये पोषण वैज्ञानिक और हृदयरोग विशेषज्ञ बारम्बार यह सलाह देते हैं कि जंतु उत्पादों यथा घी और मांस से प्राप्त वसा अर्थात् एनीमल फैट्स का उपयोग कम से कम करना चाहिए। इसकी अपेक्षा वनस्पति स्रोतों से प्राप्त वसा या खाद्य तेलों, न कि वनस्पति घी के उपयोग को तरजीह देनी चाहिये। अनुसंधान से यह स्पष्ट हो चुका है कि मूँगफली, बिनौला, तोरिया और सरसों, तिल, सोयाबीन, सूरजमुखी, मक्का और कुसुम से प्राप्त खाद्य तेलों में अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में अनसैचुरेटेड फैटी एसिड्स मौजूद होते हैं।

पोषण वैज्ञानिकों और हृदयरोग विशेषज्ञ पॉली-अनसैचुरेटेड फैटी एसिड्स की अधिकता वाली वसा के इस्तेमाल की सिफारिश इसलिये करते हैं ताकि ये वसीय अम्ल शरीर में एक लाभकारी पदार्थ प्रोस्टाग्लेंडिन के संश्लेषण को प्रेरित करते हैं।

जन्तुओं में केवल मछली ही एक ऐसा स्रोत है जिससे काफी मात्रा में अनसैचुरेटेड फैटी एसिड्स से भरपूर वसा प्राप्त होती है। यह वसा सीधे तौर पर मछली को खाने से प्राप्त हो सकती है या मछली के तेल का उपयोग करने से। कारखाने में मछली से इस वसा को अलग किया जाता है। यह वसा तरल रूप में और कैप्सूलों में बन्द करके बाज़ार में बेची जाती है। दवा निर्माता कम्पनियाँ मछली के तेल को कैप्सूलों

में बन्द करके अनेक प्रकार के व्यापारिक नामों से बेचती हैं। बाल-चिकित्सक मछली के तेल के कैप्सूलों को बच्चों के पोषण सम्बन्धी विकारों को दूर करने के लिए इस्तेमाल करते हैं।

काफी समय से इस बात के स्पष्ट संकेत तो थे कि मछली के तेल के प्रयोग से इसेंशियल हाइपरटेंशन और गठिया अर्थात् रूमेटाइड आर्थ्राइटिस रोग में कुछ राहत महसूस होती है, परन्तु चिकित्सीय परीक्षणों के अभाव में इसे पूरी तरह विश्वसनीय मान लेने में थोड़े और सब्र की ज़रूरत थी। सन् 1989 में दो ऐसे चिकित्सीय परीक्षणों के परिणाम प्राप्त हुए हैं जिनसे यह स्पष्ट हो गया है कि मछली के तेल में औषधीय गुण हैं जिनकी वजह से हाइपरटेंशन और दिल के दौरे से पीड़ित व्यक्तियों को राहत दी जा सकती है।

इन चिकित्सीय परीक्षणों के ब्यौरे चिकित्सा जगत् की प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्रिकाओं 'द लान्सेट' और 'द न्यू इंग्लैंड जरनल ऑव मेडिसिन' में प्रकाशित हुए हैं। इन दोनों पत्रिकाओं की विश्वसनीयता, पठनीयता और प्रतिष्ठा संदेह से परे है 'द लान्सेट' के 19 अगस्त 1989 के अंक में प्रकाशित एक सम्पादकीय लेख का ज़िक्र यहाँ करना ठीक होगा। सम्पादकीय में कहा गया है कि ब्रिटेन के बाज़ारों में **मैक्सीपा** नाम से एक दवा को यह कह कर बेचा जा रहा है कि इसके सेवन से उन रोगियों के रक्त में ट्राइग्लीसराइड्स (चर्बी) को कम किया जा सकता है जिनके रक्त में इसकी मात्रा ज़रूरत से ज़्यादा हो गई है और जिनमें दिल का दौरा पड़ने की संभावना व्यक्त कर दी गई है। ये ऐसे व्यक्ति हो सकते हैं जिनमें आहार परिवर्तन से भी अब कुछ भला होने वाला नहीं होता। ट्राइग्लीसराइड्स में स्टीयरिक, पॉमिटिक, ओलिक और लिनोलिक नाम के वसीय अम्ल होते हैं। मछली के तेल युक्त मैक्सीपा के बारे में यह भी कहा गया है कि इसका सेवन प्रोस्टाग्लेंडिन और रक्त में घुली चर्बी पर अपना प्रभाव छोड़ने के अलावा रक्तवाहिकाओं के भीतर की टूट-फूट की मरम्मत को ठीक से पूरा करवाने के लिए भी मददगार है। 50 ग्राम प्रतिदिन चार सप्ताह तक मछली के तेल के रूप में पॉलीअनसैचुरेटेड फैटी एसिड्स का सेवन करने के बाद यह पाया गया कि इससे रक्तचाप से पीड़ित व्यक्तियों का रक्तचाप कम हो गया और **थ्रोमबक्सेन ए**-2 नामक एक पदार्थ का संश्लेषण भी कम हो या जिसकी वजह से दिल का दौरा पड़ता है। यह भी देखा गया कि 10 सप्ताह तक मछली के तेलयुक्त 18 मैक्सीपा कैप्सूल रोजाना खाने से अस्थमा में काफी राहत महसूस हुई। सन् 1989 के सितम्बर महीने के '**द लान्सेट**' के अंत में प्रकाशित हुए अंक में मछली के तेल के चिकित्सीय प्रभाव का ब्यौरा देने वाले कई वैज्ञानिक पत्र प्रकाशित हुए। इनमें मछली के तेल के चिकित्सीय उपयोग के बारे में मिली-जुली राय दी गई है। कुछ अध्ययनों की बाबत लिखा गया है जिनमें मछली के तेल के सेवन से रोगियों या संभावित रोगियों को काफी लाभ हुआ। परन्तु कुछ ने यह भी बताया है कि मछली के तेल के सेवन से खास अन्तर नहीं पड़ता। सभी ने यह स्वीकार किया है कि शायद उनके अध्ययन सीमित पैमाने पर किये गये हैं और पूरी तरह नियंत्रित नहीं थे। इसीलिए नतीजों को लेकर सभी एकमत नहीं हैं। सभी ने बड़े पैमाने पर शोध करने का सुझाव दिया है। वैज्ञानिक जगत् में ऐसे सुझाव काफी समय तक मिलते रहे हैं। अत: 20 अप्रैल के '**द न्यू इंग्लैंड जरनल ऑव मेडिसिन**' और 30 सितम्बर के '**द लान्सेट**' में प्रकाशित ऐसे ही दो बड़े अध्ययनों के नतीजे अब हमारे सामने हैं।

अमेरिका के वेंडरबिल्ट विश्वविद्यालय में क्लिनिकल फार्माकोलॉजी डिविजन के **डॉ० हावर्ड आर० नॉप** और **गैरेट ए. फिज़गेराल्ड** ने 32 व्यक्तियों में आठ सप्ताह तक परीक्षण जारी रखे। यह ध्यान रखा गया कि इनमें से **कोई भी धूम्रपान करने वाला न हो तथा अतितनाव के अलावा किसी अन्य बीमारी से भी पीड़ित न हो।**

डॉ० फिज़गेराल्ड और **हावर्ड** ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इसेंशियल हाइपरटेंशन से पीड़ित

व्यक्तियों को एक महीने तक रोज़ाना 50 मिलीलीटर मछली के तेल की खुराक देने से उन्हें इस रोग से छुटकारा मिल गया था। पीड़ित को 50 ग्राम मछली के तेल से 9 मिलीग्राम ईकोसापेन्टानोइक एसिड और 6 ग्राम डिकोसाहैक्सानोईक एसिड नामक इसेंशियल फैटी एसिड्स मिले। ये वसीय अम्ल शरीर में प्रोस्टाग्लेंडिन एच-2 के संश्लेषण को प्रेरित करते हैं। प्रोस्टाग्लेंडिन, रक्त की प्रगाढ़ता को संतुलित रख कर इसके बहाव को कायम रखने, रक्तवाहिकाओं के संकुचन में रुकावट पैदा करने और रक्त प्लेटलेट्स के जमाव को रोकने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसके कारण एथीरोस्कलेरोसिस और हाइपरटेंशन के रोगियों को बड़ा आराम मिलता है।

इसके विपरीत परीक्षणाधीन जिन व्यक्तियों को मछली के तेल की कम मात्रा (10 मिलीलीटर) दी गई और साथ में वसा की प्रतिदिन आवश्यक न्यूनतम मात्रा पूरी करने के लिए अन्य खाद्य तेल जैसे सैंपलावर तेल (अमेरिका में इस खाद्य तेल का प्रचलन है), दिया गया तो उनमें अतितनाव के चिह्न कायम रहे। इसका अर्थ यह हुआ कि मिश्रित वसा अर्थात् जिसमें दोनों तरह के वसीय अम्ल मौजूद थे, के प्रयोग से कोई लाभ नहीं होता। पश्चिमी समाज में चूँकि एक स्वस्थ व्यक्ति को प्रतिदिन 50 ग्राम चिकनाई खाने में लेने की सिफारिश की गई है, इसलिए अगर यह पूरी मात्रा ही पॉलीअनसैचुरेटेड फैटी एसिड्स के रूप में हो तो व्यक्ति के वारे-न्यारे समझिए। भारत में राष्ट्रीय पोषण संस्थान, हैदराबाद के अनुसार एक औसत स्वस्थ व्यक्ति के आहार में प्रतिदिन कम से कम 35 से 40 ग्राम वसा अवश्य शामिल होनी चाहिए।

'द लान्सेट' में प्रकाशित शोधपत्र में जिस अध्ययन का ज़िक्र है उसमें ऐसे 2033 व्यक्तियों को शामिल किया गया था जिन्हें एक बार दिल का दौरा (मायोकार्डियल इनफार्कशन) पड़ चुका था। यह अध्ययन इसीलिये किया गया था ताकि यह मालूम हो सके कि मछली के तेल में चिकित्सीय गुण हैं या नहीं हैं। इस अध्ययन में शामिल किये गये **पीड़ितों को यह निर्देश दिया गया कि अगर वे धूम्रपान करते हों तो अध्ययन के दौरान इसे बिल्कुल छोड़ दें।** अनेक व्यक्ति ऐसे भी थे जिन्हें धूम्रपान की आदत नहीं थी। परीक्षणाधीन व्यक्तियों को तीन तरह के भोजन की हिदायत दी गई थी। पहली श्रेणी में वे लोग थे जिन्हें यह बताया गया कि एक तो वे कुल वसा का इस्तेमाल इतना कम कर दें जिससे 30 प्रतिशत ऊर्जा में कटौती संभव हो सके। इसके साथ वे केवल पॉलीअनसैचुरेटेड फैट्स का ही उपयोग करें। दूसरी श्रेणी में वे लोग थे जिन्हें सप्ताह में कम से कम दो बार 200 से 400 ग्राम तक अधिक वसायुक्त मैकेरल, हेरिंग, किप्पर, पिल्कर्ड, सारडीन, सामन और ट्राऊट जाति की मछलियाँ खाने की सलाह दी गई। तीसरी श्रेणी के परीक्षणार्थियों को ऐसा भोजन लेने की सलाह दी गई जिससे उन्हें आहार में प्रतिदिन कम से कम 18 ग्राम रेशा तो ज़रूर ही मिले। विदित है कि रेशे वाला भोजन (यथा छिलके वाली दालें, फलियाँ और हरी पत्तेदार सब्ज़ियाँ) रक्त में ट्राइग्लीस्राइड्स अर्थात् चर्बी की मात्रा को कम करता है।

अध्ययन पूरा होने के बाद यह पाया गया कि जिन लोगों को रेशे की अधिकता वाला और मिश्रित वसाओं वाला भोजन खाने की सलाह दी गई थी उनमें दो वर्ष के भीतर मृत्यु की दर उस श्रेणी के लोगों से कहीं ज़्यादा थी जिन्हें वसा की प्रचुरता वाली मछलियाँ खाने की सलाह दी गई थी। पहली दो श्रेणियों के मुकाबले में मछली खाने वालों में मृत्युदर 29 प्रतिशत कम आँकी गई। इन लोगों की मृत्यु पुनः दिल का दौरा पड़ने से हुई थी। अतः यह स्पष्ट हो गया कि मछली से उपलब्ध वसा हृदयाघात से रक्षा करती है।

परीक्षणाधीन व्यक्तियों में समय-समय पर रक्तचाप और रक्त कोलेस्टेरॉल के स्तर को माप कर देखा गया था। इन व्यक्तियों के शरीर के भार पर भी निगाह रखी गई और ऐसा प्रयास किया गया जिससे अध्ययन के दौरान इनके शरीर का भार न बढ़े। जिन व्यक्तियों ने मछली का सेवन या मछली के तेल वाले

कैपसूल खाये थे उनमें तो रक्त कोलेस्टेरॉल और ट्राइग्लीसराइड्स का स्तर क्रमशः घटता गया और वांछित स्तर तक घट गया। याद रखने योग्य बात यह है कि अमेरिकी और ब्रिटिश मानक स्तरों के अनुसार रक्त में कोलेस्टेरॉल की मात्रा प्रति डेसीलिटर में 210 मिलीग्राम से ज़्यादा नहीं होनी चाहिये।

वसायुक्त मछली अथवा मछली के तेल का चिकित्सीय उपयोग बड़ी सावधानी से करने की ज़रूरत है। इसका उपयोग हर हालत में अनुभवी चिकित्सक की देखरेख में होना चाहिये। क्योंकि समय-समय पर मरीज़ के रक्त आदि की जाँच करनी पड़ती है, रक्त में कोलेस्टेरॉल के स्तर की जाँच करना बड़ा ही पेचीदा और तिकड़म वाला काम है। यह तो ज़रूर ही ध्यान में रखना चाहिये कि गम्भीर अवस्था में पहुँची हुई बीमारी का इलाज करने के लिये मछली के तेल का उपयोग किसी भी हालत में दवा का विकल्प नहीं हो सकता। ऐसा करने वाले अपनी जान को ही जोखिम में डाल लेंगे। इस प्रकार के अध्ययनों का प्रमुख उद्देश्य यह होता है कि रोगियों के खाने में ऐसा परिवर्तन लायें जिससे एक तो उन्हें दवा की कुछ कम मात्रा लेनी पड़े, दूसरे खाने में किये गये परिवर्तन वांछित चिकित्सीय प्रभाव छोड़ें।

(इस्वा फीचर्स)

□□

नमक और आपका स्वास्थ्य

सीताराम सिंह 'पंकज'

हमारे दैनिक आहार से नमक का चोली-दामन जैसा संबंध है। नमक रहित भोजन फीका और बेस्वाद लगता है। सच पूछिए तो सदियों से नमक हमारे आहार का अभिन्न अंग रहा है। प्राचीन काल में नमक की क़ीमत सोने के बराबर थी। नमक भोजन को स्वाष्टि बनाने के लिए ही नहीं, वरन् विभिन्न खाद्य पदार्थों को सुरक्षित रखने के काम में भी आता है। यही कारण है अचार, निमकी, चिप्स तथा डिब्बा बंद खाद्य सामग्रियों में नमक की प्रचुर मात्रा होती है। भाँति-भाँति के व्यंजन हों, किन्तु उनमें नमक न हो तो सारा मज़ा किरकिरा हो जाता है।

नमक से संबंधित मुहावरे और किंवदंतियों की कमी नहीं है, मसलन, 'जले पर नमक छिड़कना,' 'नमक की सैरियत देना' आदि आदि। हमारे राष्ट्र-पिता **महात्मा गाँधी** ने 1931 में अंग्रेज़ों के खिलाफ़ ऐतिहासिक 'नमक आंदोलन' का श्रीगणेश किया था। कहते हैं मृत सागर (डेड सी) में इतना अधिक नमक है कि कोई जीव उसमें ज़िंदा नहीं रह सकता। वैसे भी समुद्र जल में नमक की प्रचुर मात्रा होती है। समुद्र जल को सुखाकर खाने का नमक तैयार किया जाता है।

आहार में नमक की मात्रा

ज़ाहिर है कि नमक हमारे भोजन का एक अभिन्न अंग है। जिस साधारण लवण का प्रयोग हम अपने दैनिक जीवन में करते हैं, उसे रसायन की भाषा में सोडियम क्लोराइड (**NaCl**) कहते हैं। हमारे आहार में नमक की मात्रा कई बातों पर निर्भर करती है जैसे वातावरण, उष्मा, शारीरिक श्रम इत्यादि। रेगिस्तान के निवासियों तथा अधिक शारीरिक श्रम करने वालों को सामान्य व्यक्तियों की तुलना में अधिक नमक की आवश्यकता होती है। क्योंकि तेज़ धूप या अधिक श्रम से शरीर से ज़्यादा पसीना निकलता है और पसीने से नमक बाहर निकल जाता है, उष्णकटिबन्धीय प्रदेशों के निवासियों के शरीर से पसीने द्वारा नमक निकलता रहता है। अतः उन्हें सामान्य से थोड़ा अधिक नमक चाहिए।

विशेषज्ञों के अनुसार प्रतिदिन 3-4 ग्राम नमक का सेवन हानिकारक नहीं है। वैसे भारत जैसे देश के

अध्यक्ष, जन्तु विज्ञान विभाग, के० एस० आर० कॉलेज, सरायरंजन, समस्तीपुर—848127 (बिहार)

लिए 2 ग्राम नमक ही पर्याप्त है। आधुनिक शोध-कार्यों एवं सर्वेक्षण से यह ज्ञात हुआ है कि आदिम जातियाँ कम से कम नमक का प्रयोग करती हैं। यही कारण है उनमें उच्च रक्तचाप, हृदय रोग, मानसिक तनाव जैसी शिकायतें बहुत कम होती हैं। भारत ही नहीं न्यू गिनी, मलेशिया, युगांडा तथा विश्व के अन्य क्षेत्रों में पायी जाने वाली जनजातियाँ भी नमक का बहुत कम उपयोग करती हैं। इसके कारण वे नमक की अधिकता से होने वाले रोगों के चंगुल में नहीं फँसती।

अधिक नमक : 'साइलेंट किलर'

शहरीकरण और आधुनिक फ़ैशन ने मनुष्य की आहार योजना को भी निश्चित रूप से प्रभावित किया है। विशेषज्ञों का अनुमान है कि पहले की अपेक्षा आजकल लोग ज़्यादा नमक का प्रयोग करने लगे हैं। आधुनिक अनुसंधानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि आवश्यकता से अधिक नमक स्वास्थ्य के लिए बहुत घातक है। सच पूछिए तो ज़रूरत से ज़्यादा नमक 'साइलेंट किलर' की तरह है, जो धीरे-धीरे शरीर को रोगग्रस्त बना देता है। ज़रूरत से ज़्यादा नमक का प्रयोग अनेक स्वास्थ्य समस्याओं को जन्म देता है। इनमें सबसे प्रमुख है उच्च रक्तचाप (हाई ब्लड प्रेशर)। आज उच्च रक्तचाप की समस्या दिन-दिन बढ़ती जा रही है। इसका एक प्रमुख कारण है आवश्यकता से अधिक नमक का सेवन। आधुनिक शोधों से यह जानकारी मिली है कि रक्तचाप और अधिक नमक के प्रयोग में सीधा संबंध है। विशेषज्ञों के अनुसार प्रतिदिन 25 ग्राम या इससे अधिक नमक का प्रयोग करने वाले देर-सबेर उच्च रक्तचाप के मरीज़ बनते ही हैं।

ज़ाहिर है कि उच्च रक्तचाप से अनेक बीमारियों का संबंध है। मसलन दिल का दौरा (हार्ट अटैक), गुर्दे के रोग, अनिद्रा, चर्मरोग, मानसिक विकृतियाँ, अत्यधिक मानसिक तनाव (हाइपर टेंशन) इत्यादि। एक प्रयोग में उच्च रक्तचाप के मरीज़ों को अधिक नमकयुक्त आहार दिया गया। परीक्षण से यह ज्ञात हुआ है कि उनका रक्तचाप बढ़ गया। कम रक्तचाप वाले मरीज़ों को भी अधिक नमकीन भोजन देने से उनका रक्तचाप बढ़ जाता है। अधिक नमक खाना आजकल एक फ़ैशन भी बन गया है। सब्ज़ी-सलाद में अलग से नमक लेकर खाने की नई आदत विकसित हो रही है। सुखी-सम्पन्न व्यक्तियों के घरों में अचार, पापड़, निमकी, चिप्स तथा डिब्बा बंद खाद्य पदार्थों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग होता है। इन खाद्य सामग्रियों में आवश्यकता से अधिक नमक होता है, जो स्वास्थ्य के लिए सदैव हानिकारक है। डिब्बा बंद खाद्य जल्द खराब न हों इसलिए उनमें ज़्यादा नमक डाल दिया जाता है। लेकिन ऐसी वस्तुओं के निर्माता यह नहीं सोचते कि आवश्यकता से अधिक नमक सेहत के लिए कितना घातक है। शरीर की आवश्यकता से अधिक नमक को निकालने के लिए गुर्दे को ज़्यादा श्रम करना पड़ता है और उपापचयी क्रियाओं पर प्रतिकूल असर पड़ता है। अधिक नमक का सेवन 'ब्राइट' रोग भी उत्पन्न करता है।

'अति लवण वर्जयेत'

अधिक नमक का सेवन हर दृष्टि से स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। यह सत्य है कि नमक हमारे आहार के लिए आवश्यक है, किंतु इसकी अधिक मात्रा सदैव घातक होती है। उच्च रक्तचाप या हृदय के रोगियों को चिकित्सक कम से कम नमक के सेवन की सलाह देते हैं। बाज़ारू नमक की जगह सेंधा नमक का प्रयोग स्वास्थ्य के लिए हितकर है। 'अति लवण वर्जयेत' जैसे आदर्श वाक्य को दैनिक जीवन में उतार कर व्यक्ति अनेक घातक रोगों के चंगुल में फँसने से बच सकता है। □□

हिन्दी में विज्ञान के शोध प्रबन्ध

मंजुलिका लक्ष्मी

अक्सर बुद्धजीवियों के मध्य यह वार्तालाप सुनने को मिलता है कि हिन्दी भाषा अभी वैज्ञानिक और तकनीकी विषयों की जटिलताओं और गूढ़ सिद्धान्तों को पूर्णरूपेण व्यक्त करने में सक्षम नहीं हुई है। इस सम्बन्ध में हिन्दी की "नवनिर्मित" शब्दावली से अनभिज्ञता और पाश्चात्य भाषाओं से आये पारिभाषिक शब्दों के अनुवाद या उनके यथावत् ग्रहण पर मतभेद जैसी समस्याओं की चर्चा आम बात है। इस मत के विपरीत इस क्षेत्र में कार्य करने वाले समर्पित लोगों को ज़ोरदार शब्दों में इस आरोप का खंडन करते भी देखा गया है। पूर्ण सत्य तो दोनों ही पक्षों का कथन नहीं है, पर इस क्षेत्र से जुड़ा कोई भी व्यक्ति इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकता कि हिन्दी भाषा ने आज इतने पड़ाव तय कर लिए हैं कि वह विज्ञान और तकनीकी की सूक्ष्मतम जटिलताओं को अपनी वैज्ञानिक शब्दावली की सहायता से पूरी तरह बोधगम्य बना सकती है।

वर्ष 1915 में "विज्ञान परिषद्, प्रयाग" जैसी आज की प्रतिष्ठित और तब की सद्यजात संस्था ने हिन्दी में एक वैज्ञानिक पत्रिका निकालने का बीड़ा उठाया तो वह एक साहसिक और अभूतपूर्व क़दम था। इस साहसिक पहल ने कछुए की चाल चल कर भी हिन्दी भाषा के पक्ष में जो एक वातावरण तैयार किया, आज उसका सुफल मिलता दिखाई दे रहा है।

आज हिन्दी में विज्ञान के शोध स्तरीय साहित्य के प्रकाशन ने गति पकड़ ली है। 'विज्ञान परिषद्' प्रयाग ने ही वर्ष 1958 में **प्रो० जे० बी० एस० हाल्डेन** की प्रेरणा व सुझावों के फलस्वरूप 'विज्ञान-परिषद् अनुसंधान पत्रिका' का प्रकाशन आरम्भ किया। अब तक यह त्रैमासिक शोध पत्रिका अपने जीवन के तीन दशक पूरे कर चुकी है। इस शोध पत्रिका के तात्कालिक कुशल सम्पादन का श्रेय हिन्दी के अनन्य सेवी और प्रसिद्ध वैज्ञानिक **स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती** को है। आज यह शोध पत्रिका डॉ० चंद्रिका प्रसाद के अनुभवी हाथों से सम्पादित हो रही है। इस अवधि में इस शोध पत्रिका ने 'डॉ० रामन', 'पुरातत्व', 'संकुल रसायन' जैसे विषयों पर सराहनीय विशेषांक निकाले हैं।

अप्रैल 1989 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग में 'संकुल रसायन-विभिन्न आयाम' शीर्षक से एक गोष्ठी सम्पादित हुई जिसमें सभी शोध-पत्र हिन्दी में प्रस्तुत किए गये। गोष्ठी की सफलता ने यह मान्यता पुष्ट कर दी कि हिन्दी अत्यन्त सशक्त और ग्राह्य तरीके से शोधस्तरीय सूक्ष्मताओं को संप्रेषित कर सकती है। उक्त गोष्ठी के सभी आलेख 'विज्ञान परिषद् अनुसंधान पत्रिका' में 'संकुल रसायन विभिन्न आयाम' विशेषांक (अप्रैल 1989) में प्रकाशित हुए हैं।

'विज्ञान परिषद् अनुसंधान पत्रिका' के स्तर और सफलता से उत्साह पाकर ग्वालियर से भी हिन्दी में एक शोध पत्रिका का प्रकाशन अनेक वर्षों से सफलतापूर्वक किया जा रहा है। 'रसायन-समीक्षा' नामक राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी से प्रकाशित होने वाली शोध-पत्रिका पिछले 13 वर्षों से रसायन के क्षेत्र में होने वाले अद्यतन शोध-ज्ञान को रसायन वैज्ञानिकों और विद्वानों तक पहुँचा रही है।

'विज्ञान परिषद्, प्रयाग' ने 'ओमिक स्पर्श बनाने की तकनीकें' नाम से राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला, दिल्ली के **विपिन कुमार** तथा **ठाकुर दास राघव** द्वारा संकलित एक शोध संग्रह भी 1978 में प्रकाशित किया है।

भारत सरकार की 'भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्' नामक संस्था 'कृषिचयनिका' नामक शोध-पत्रिका का प्रकाशन कर रही है। इसके अतिरिक्त 'इंस्टीट्यूशन ऑव इंजीनियर्स' नामक विश्वविद्यालय स्तर की संस्था भी 'इंस्टीट्यूशन ऑव इंजीनियर्स

5-ई/4, लिडिल रोड, जार्ज टाउन, इलाहाबाद—211002

(इंडिया)' मुखपत्र का शोध-लेखों का हिन्दी संस्करण नियमित प्रकाशित करती आ रही है। **विश्वम्भर प्रसाद 'गुप्त-बन्धु'** के निर्देशन में प्रकाशित होने वाली इस शोधपत्रिका को चालीस के दशक में शुरू होने के कारण हम इस क्षेत्र का अग्रगामी मान सकते हैं।

इस दिशा में एक और शुभ लक्षण यह दिखाई देने लगा है कि **डी० फिल** जैसी उच्च उपाधि के लिए तैयार किए जाने वाले शोध ग्रन्थ भी हिन्दी में प्रस्तुत किए जाने लगे हैं। इनमें **डॉ० ओ० पी० शर्मा** द्वारा लिखित 'वैज्ञानिक शब्दावली : इतिहास और सिद्धान्त' नामक शोध प्रबन्ध हिन्दी माध्यम से वैज्ञानिक विषय पर प्रस्तुत किया जाने वाला प्रमुख ग्रंथ है।

इस क्षेत्र में **डॉ० वेद प्रताप वैदिक** और **श्री श्याम रुद्र पाठक** द्वारा हिन्दी में शोध प्रबन्ध स्वीकृत कराने की लड़ाइयाँ अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। **श्री श्याम रुद्र पाठक** ने तो हाल के वर्षों में ही 'भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान', दिल्ली में एक क्रान्तिकारी की भाँति हिन्दी की लड़ाई लड़ कर लोगों को इस विषय पर और गंभीरता से सोचने को विवश कर दिया है। कुछ अन्य नाम भी इस दिशा में उल्लेखनीय हैं, जिनमें इलाहाबाद विश्वविद्यालय के रसायन विभाग के **डॉ० राजकुमार बंसल** भी हैं। कार्बनिक रसायन में इनका शोध प्रबन्ध निरीक्षण के लिए हिन्दी के विज्ञान सेवी रसायनज्ञ (स्वर्गीय) **डॉ० फूलदेव सहाय वर्मा** को भेजा गया था।

इधर कुछ और विज्ञान शोध प्रबंधों के हिन्दी में प्रस्तुत किए जाने की सूचनाएँ आ रही हैं। इनमें पाँच शोध प्रबन्ध संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी और बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किए गये हैं। वनस्पति विज्ञान विषयक शोध प्रबन्ध के शोधकर्ता **डॉ० पुरुषोत्तम लाल गुप्त** ने 1968 में 'ओषधीय पौधा भृंगराज (**एक्लिप्टा प्रॉस्ट्रेटा लिन०**) का पारिस्थितिकीय अध्ययन' विषय पर अपनी थीसिस प्रस्तुत की थी। **डॉ० नारायण गोपाल डोंगरे** ने सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यामय से 'वैदिक साहित्य में विज्ञान' विषय पर, (स्व०) **डॉ० लक्ष्मी शंकर शुक्ल** (रासायनिक अभियांत्रिकी, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय) ने 'वसाओं के ग्लिसराइड संरचना का अध्ययन' 1971 में, **डॉ० राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव,** भौतिक विज्ञान विभाग (बी० एच० यू०) ने 1974 में 'सोनघाटी (पश्चिमांचल) का अवसादकीय अध्ययन' (जनपद मिर्जापुर) पर एवं **डॉ० सच्चिदानन्द सिंह**, भौतिकी विभाग (बी० एच० यू०) ने 1989 में 'काशी में गंगा प्रदूषण : अवसादकीय अध्ययन' विषय पर थीसिस प्रस्तुत की थी।

हिन्दी में विज्ञान के स्थापित लेखक **श्री शुकदेव प्रसाद** (इलाहाबाद) ने विज्ञान की हिन्दी पत्रकारिता विषयक अपना शोध ग्रंथ हिन्दी में प्रस्तुत करके सराहनीय कार्य किया है।

श्री मनोज कुमार पटेरिया (नई दिल्ली) रचित 'हिन्दी विज्ञान पत्रकारिता' नामक अनुसंधानपरक संदर्भ ग्रंथ भी सम्प्रति प्रकाशनाधीन है।

पिछले कुछ वर्षों से शोध संस्थानों द्वारा उनकी सामयिक प्रगति रिपोर्टें भी हिन्दी में ही प्रकाशित हो रही हैं।

इस दिशा में प्रगति के लिए उचित होगा कि सरकारी तकनीकी प्रभाग अपने यहाँ से नियमित शोध-पत्रों का प्रकाशन करें। हिन्दी में छपने वाले वर्ष के हर विषय के सर्वोत्तम शोध-पत्र को पुरस्कृत करने की व्यवस्था बने और बिश्व की अन्य भाषाओं की उच्च-स्तरीय शोध सामग्री निरन्तर हिन्दी में अनूदित होकर विद्वानों और शोधकर्ताओं को उपलब्ध होती रहे।

□□

मछलियों में प्रकाश-उत्पादन

बी० एस० रावत

[खुले नील गगन के तले रात में नन्हें-नन्हें उड़ते जलते-बुझते बल्ब जैसे जुगनुओं की ओर आकर्षित हुए बिना भला कौन रह सकता है? अपने बचपन में ऐसे प्रकाश उत्पन्न करते जुगनुओं को हममें से बहुतों ने पकड़ा भी होगा और रूमाल अथवा कपड़े के रूमाल नुमा टुकड़ों में जुगनुओं को कैद करके घंटों आश्चर्य मिश्रित कौतूहल से निहारते भी रहे होंगे। पर हममें से कितनों को यह ज्ञात है कि मछलियों की अनेक प्रकार की प्रजातियों में भी जुगनुओं की ही भाँति प्रकाश-उत्पादन की क्षमता विद्यमान होती है? आपकी जानकारी के लिए प्रस्तुत है युवा विज्ञान लेखक श्री बी० एस० रावत की कलम से एक ताजी खोजपूर्ण रचना। हमारे पाठकों में से किसी को इस विषय की कुछ और नवीन जानकारी हो तो उसे हमें अवश्य लिखें।

—सम्पादक]

यह एक आश्चर्यजनक किन्तु निर्विवाद सत्य है, कि जुगनू की तरह मछलियों में भी प्रकाश-उत्पादन की अद्भुत् क्षमता होती है। खास तौर पर उन मछलियों में जो समुद्र के गहरे पानी में रहती हैं और जहाँ छाया रहता है चारों ओर घुप्प अंधकार।

गहरे पानी में रहने वाली कुछ मछलियों की प्रजातियों में काफ़ी बड़ी-बड़ी आँखें होती हैं। कुछ अन्य प्रजातियों में तो टेलिस्कोपिक आँखें होती हैं, जिनकी सहायता से मछली मन्द प्रकाश में भी भली प्रकार देख सकती है। गहरे पानी में ही पायी जाने वाली कुछ दूसरी प्रजातियों की मछलियों में आँखें या तो बहुत छोटी-छोटी होती हैं या फिर उनका धीरे-धीरे ह्रास हो जाता है।

ऐंगलर मछली (**Angler fish**) गहरे पानी में रहने वाली एक ऐसी ही मछली है, जो न केवल स्वतः प्रकाश उत्पन्न करती है, वरन् स्वतः उत्पादित प्रकाश का भरपूर लाभ भी उठाती है। इस मछली के सिर पर ऊपर की ओर लैंटर्न (लालटेन) सदृश एक सीधी संरचना होती है, जिससे प्रकाश-उत्पन्न होता है। इससे होता यह है कि प्रकाश की तरफ अन्य छोटे-छोटे जलीय जन्तु आकर्षित होते हैं, जिनमें से ऐंगलर मछली अपना मनपसन्द भोजन चुन लेती है।

मछलियों में प्रकाश-उत्पादन का लाभ भोजन को देखने तथा अपनी ओर आकर्षित करने में तो होता ही है, साथ ही साथ इसकी मदद से एक प्रकार की मछलियों की प्रजातियों को दूसरी प्रजातियों से आसानी से अलग करके पहचाना भी जा सकता है। इसके अतिरिक्त मछलियों के लिंग की पहचानने में भी आसानी होती है।

प्रकाश-उत्पादन करने वाली मछलियों का शरीर गहरे पानी की विशेष परिस्थितियों यथा—प्रकाश की अनुपस्थिति, कम ताप तथा अधिक दबाव, स्थिर जल, जलीय पौधों की नितांत अनुपस्थिति, भोजन की कमी तथा नर्म दलदल वाले तल इत्यादि में रहने के लिए सर्वथा उपयुक्त होता है। अत्यधिक दबाव के कारण शरीर चपटा व लम्बा हो जाता है। आँखों में या तो कम प्रकाश में भी देख सकने की क्षमता होती है अथवा आँखें अनुपस्थित होती हैं। कुछ में स्वतः प्रकाश-उत्पादन की विलक्षण क्षमता होती है। इनमें छोटे से छोटे तथा बड़े से बड़े भोजन को निगलने की क्षमता होती है। मुँह का आकार अपेक्षाकृत बड़ा होता है। कीचड़ में धँसने से बचाने के लिए कुछ मछलियों में निचली सतह पर झाड़ी सदृश संरचना पायी जाती है।

मछलियाँ जिस अंग से प्रकाश-उत्पादन करती हैं, उसे "फोटोफोर" कहते हैं। वास्तव में फोटोफोर एक प्रकार की विशेष ग्रंथियाँ होती हैं, जो त्वचा की बाह्य

जन्तु विज्ञान, शोध विभाग, राजकीय डिग्री कॉलेज, ऋषिकेश, देहरादून, उत्तर प्रदेश

पर्त (एपिडर्मिस) से बनती हैं। फोटोफोर की संख्या, संरचना, तथा शरीर पर पाये जाने का क्रम मछलियों की भिन्न-भिन्न प्रजातियों में भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। साधारणतया फोटोफोर मछलियों के सिर पर, शरीर की निचली सतह पर, और किनारों पर पाये जाते हैं।

स्कोपेलस (*Scopelus*) तथा **हैलोसरॉपसिस** (*Halosauropsis*) में फोटोफोर एक या दो कतारों में व्यवस्थित होते हैं, तथा मछली के सिर से लेकर पूँछ तक पाये जाते हैं। कभी-कभी ये फोटोफोर मछली के शरीर में गोलाकार चक्कर में व्यवस्थित होते हैं, जैसे **ओपोस्टोमियास** (*Opostomias*) में। कभी-कभी ये फोटोफोर बड़ा रूप भी धारण कर लेते हैं तथा ऐसी स्थिति में मछली के डॉर्सल फिन (पीठ पर स्थित पंख) की पहली शिरा 'स्पाइन' (Spine) लम्बी उर्ध्वाधर व्यवस्थित होती है, जिस पर ये फोटोफोर एक लैनटर्न की शक्ल बनाता है (ऐंगलर मछली)।

पोरिचथिस (*Porichthyes*), जिसे टोढ़ मछली भी कहते हैं, में फोटोफोर बहुत अधिक संख्या में होते हैं तथा किनारे की ओर (लैट्रल लाइन में) व्यवस्थित रहते हैं।

मछलियों में प्रकाश-उत्पादक अंग दो तरह के पाये जाते हैं। कुछ मछलियों में प्रकाश-उत्पादन की प्रक्रिया में कुछ विशेष जीवाणु (बैक्टिरिया) महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, जबकि कुछेक अन्य में स्वतः ही प्रकाश-उत्पादन होता है।

मालाकोसिफेलस लविस (*Malacocephalus laevis*), **एनोमैलॉप्स** (*Anomalops*), **फोटोब्लीफैरॉन** (*Photoblepharon*), **लियोगनेथस** (*Leiognathus*) इत्यादि बहुत सी मछलियों में जीवाणु ही प्रकाशोत्पादन में सहायक होते हैं। फोटोफोर गड्ढे नुमा आकृति वाले होते हैं, जिनमें जीवाणु होते हैं।

फोटोब्लीफैरॉन (*Photoblepharon*) मछली में दोनों आँखों के नीचे लम्बे-लम्बे तथा बड़े-बड़े फोटोफोर होते हैं। इस मछली की विशेषता यह होती है कि यह अपनी प्रकाश-व्यवस्था को इच्छानुसार जला व बुझा सकने में समर्थ होती है।

फोटोब्लीफैरॉन (*Photoblepharon*) तथा एनोमैलॉप्स (*Anomalops*) में प्रकाश के जलने तथा बुझने का एक कारण यह भी हो सकता है, कि इन मछलियों के फोटोफोर अंग के ऊपर आँखों की पलक जैसा ढक्कन लगा होता है, जो आवश्यकतानुसार फोटोफोर को ढँक लेता है। **एनोमेलाप्स** में एक विशेष प्रकार का काला ऊतक होता है, जिसके सम्पर्क में आने पर प्रकाश निकलना बन्द हो जाता है।

पैचीस्टोमियास माइक्रोडॉन (*Pachystomias microdon*) मछली में फोटोफोर की संरचना कुछ अलग ही होती है। इसमें फोटोफोर कप या प्याले का शक्ल धारण कर लेते हैं। इस प्याले में बहुत सी ग्रंथिनुमा संरचनाएँ तथा काले रंजक या पिगमेंट्स (*Pigments*) होते हैं। इस प्याले की तलहटी में काँटों जैसी सतह होती है, जो प्रकाश को परावर्तित कर देती है। प्याले के मुँह पर लेंस की शक्ल की पारदर्शक माँसपेशियाँ होती हैं, जो उत्पन्न प्रकाश को और बढ़ा देने में सहायक होती हैं।

जीवाणुओं के अतिरिक्त कुछ एंज़ाइम (*Enzymes*) प्रकाश उत्पन्न करने में सहायक होते हैं। **एपोगॉन** (*Apogon*) तथा **पैराप्रियाकैंथस** (*Parapriacanthus*) में दो एंज़ाइम **लूसीफेरिन** (*Luciferin*) और **लूसीफेरेज** (*Luciferase*) पाये जाते हैं। ये दोनों एंज़ाइम जब आपस में मिलते हैं तो प्रकाश उत्पन्न होता है। इस अभिक्रिया में लूसीफेरिन ऑक्सीकृत होकर ऑक्सीलूसीफेरिन (*Oxyluciferin*) बनाता है।

सभी मछलियों द्वारा उत्पन्न प्रकाश का रंग सूर्य के प्रकाश सा नहीं होता, बल्कि थोड़ी विभिन्नता लिए हुए नीला या मिश्रित हरा-नीला होता है।

अधिकांश वैज्ञानिकों का यह मानना है कि प्रकाश उत्पादक अंग मछली की तंत्रिका तंत्र तथा अन्तःस्रावी ग्रंथियों द्वारा नियन्त्रित होते हैं। कुछ मछलियाँ ऐसी भी होती हैं, जो अपने प्रकाश उत्पादक अंगों को टार्च की तरह किसी भी दिशा अथवा दिशा विशेष में घुमा सकती हैं। **फोटोस्टोमियास** (*Photostomias*), **इडियाकेंथस** (*Idiacanthus*), **एनोमैलॉप्स** (*Anomalops*) तथा **फोटोब्लीफैरॉन** (*Photoblepharon*) ऐसी ही मछलियाँ हैं।

उपयोगिता की दृष्टि से मछलियों में प्रकाश का उत्पादन मछलियों के लिए हितकर होता है। इससे मछलियाँ प्रकाश में अपने दुश्मन को तथा अपने शिकार या भोजन को तो देख ही लेती हैं साथ ही साथ अचानक प्रकाश कर दुश्मन को चकाचौंध कर भगाने में भी सफल हो जाती हैं।

यही नहीं, प्रकाश के कारण छोटे-छोटे समुद्री जीव प्रकाश के चारों और मंडराने लगते हैं। ऐसे में मछली बिना परिश्रम के आसानी से भोजन प्राप्त कर सकती है।

पेरिचथिसिस (*Perichthysis*) के विषय में वैज्ञानिकों का मत है, कि दुश्मन की उपस्थिति में यह मछली ख़तरे के संकेत के रूप में रोशनी जलाती है।

प्रकाश उत्पन्न करने वाली मछलियाँ लगभग सारे संसार में पायी जाती हैं। अधिकांश मछलियाँ 500 से 2,500 मीटर तक की गहराई में पायी जाती हैं, जबकि कुछ ऐसी प्रजातियाँ भी होती हैं जो रात्रि के समय पानी की सतह पर तैरने लगती हैं। किन्तु अधिकतर प्रजातियाँ केवल गहरे पानी में ही पायी जाती हैं। (चित्र पृष्ठ 18 पर) □□

पर्यावरण

मौत का धुँआ

प्रेम प्रकाश व्यास

विज्ञान वैसे तो समय-समय पर कई चेतावनियाँ देता रहा है और उसका प्रभाव भी देखा गया है, लेकिन जहाँ तक धूम्रपान का प्रश्न है, लगता है सारी चेतावनियाँ बेअसर रही हैं। सिगरेट के पैकेट पर 'धूम्रपान करना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है' लिखे होने के बावजूद सिगरेट के प्रचलन का बढ़ावा इस बात का सूचक है कि इस पर कोई गौर नहीं किया गया है।

लेकिन इस बात पर शायद ही किसी ने गौर किया हो कि धूम्रपान करने वाले व्यक्ति के पास बैठना भी कुछ कम हानिकारक नहीं है। इसका प्रमुख कारण यह है कि धूम्रपान करने वाला अपने नथुनों से निकले धुएँ से अपने चारों ओर के वातावरण को भी विषाक्त बना देता है, और आसपास बैठे लोग उस धुएँ को निगलने को बाध्य होते हैं। यदि यह कार्य बस, रेल, रेस्त्राँ या बंद कमरे में हो रहा हो तो इसकी विषाक्तता बढ़ जाती है। आज सिगरेट पीने वालों की अपेक्षा न पीने वालों की संख्या अधिक होने पर भी न तो कोई सिगरेट पीने वालों का विरोध करता है न ही उन्हें वहाँ से हटने को बाध्य कर सकता है। कई बार बसों में 'धूम्रपान निषेध' की चेतावनी के नीचे ड्राइबर व कण्डक्टर दोनों को धुएँ के छल्ले बनाते देखा जा सकता है।

1983 में एक अमेरिकन स्त्री ने अदालत में अपने मालिक के विरुद्ध मुकदमा दयार कर दिया कि उसने ऑफिस में धूम्रपानियों के लिए कोई पृथक व्यवस्था नहीं कर रखी है और धूम्रपान न करने वालों को मजबूरन धुआँ निगलना पड़ रहा है। अदालत ने इस स्त्री के पक्ष में फैसला देते हुए मालिक को एक पृथक कक्ष धूम्रपान न करने वालों के लिए बनाने का आदेश दिया। पर्यावरण के क्षेत्र में निश्चय ही यह अनूठा मुकदमा था।

प्रधानाध्यापक, राजकीय माध्यमिक विद्यालय, जसाई, बाड़मेर—344001

एक सिगरेट सामान्यतया 10 से 12 मिनट तक जल सकती है और उसमें से 50 सेकेण्ड तक कोई भी व्यक्ति धुआँ निगलता रहता है। हलांकि नथुनों से वापिस निकाला धुआँ विषाक्त पदार्थों से किसी सीमा तक मुक्त होता है, क्योंकि वे पदार्थ उस व्यक्ति के रक्त में घुल चुके होते हैं। फिर भी उन तत्त्वों का कुछ प्रतिशत उसमें रह जाता है। सिगरेट के धुएँ में पाये जाने वाले पदार्थ हैं बेंजो एल्फा एन्थ्रासीन, बेंजो एल्फा पाइरीन, डाइ बेंजो एल्फा पाइरीन, बेंजो फ्लोरेन्थीन, बेंजो जे, फ्लोरेंथीन आदि। ये सभी पदार्थ कैंसरवर्द्धक हैं और संवेदनाशीलता को बढ़ाने वाले हैं। भले ही सिगरेट पीने वाला एक मिनट में चार सेकेण्ड ही धुआँ निगलता हो, आसपास बैठे लोगों के हिस्से में इसका एक चौथाई भाग तो आता ही है। धूम्रपानी व्यक्तियों से विवाहिता महिलाओं में फैफड़ों के कैंसर की दर गैर धूम्रपानी व्यक्तियों से विवाहिता महिलाओं से 3.4 गुना अधिक पाई गई। जापान की 91000 स्त्रियों पर गिए गए परीक्षण से पता चलता है कि जो दम्पति धूम्रपान करते थे उनमें फेफड़ों का कैंसर उन दम्पतियों से 2.08 गुना अधिक था, जो धूम्रपान नहीं करते थे। किसी एक साथी के भी धूम्रपान करने पर दम्पति में कैंसर का पाया जाना शतप्रतिशत सिद्ध हुआ है। गर्भवती महिलाओं का धूम्रपान करना गर्भस्थ शिशु के लिए हानिकारक है, क्योंकि विषैले पदार्थ रक्त के प्रवाह के साथ, गर्भनाल से होते हुए शिशु तक पहुँच जाते हैं। उत्पन्न शिशु का भार काफी कम और रोग-प्रतिरोधक क्षमता बहुत ही कम पाई गई। निरन्तर धूम्रपान से स्त्रियों में 'रेनोड सिन्ड्रोम' नामक रोग भी उत्पन्न होता पाया गया है। इस रोग में पाँव के पंजे व उँगलियों में जाने वाली रक्त नलिकाएँ सिकुड़ जाती हैं और रक्त प्रवाह रुक जाने से वे टेढ़ी होने लगती हैं।

धूम्रपान का विरोध करने वालों में अमेरिका के पर्यावरण प्रेमी सबसे अधिक जागरुक हैं। 1914 में ही वहाँ धूम्रपान विरोधी विधेयक लाया गया। चौदह राज्यों ने इसे कठोरता से लागू किया। इसके अनुसार सार्वजनिक स्थान, रेस्त्राँ, बस, रेल व अन्य वाहन में यात्रा करते समय धूम्रपान करना दण्डनीय अपराध होगा। कई कार्यालयों को एक पृथक कक्ष धूम्रपान हेतु बनाना पड़ा। 1964 में संयुक्त राज्य सर्जन जनरल द्वारा किए गए शोध कार्यों से सिगरेट द्वारा कैंसर की पुष्टि हुई और अन्य राज्यों ने भी धूम्रपान के सार्वजनिक उपयोग पर प्रतिबन्ध लगाया। 1974 में हुए शोध कार्यों से सिगरेट के धुएँ का पर्यावरण पर प्रभाव स्पष्ट हुआ और गैरधूम्रपानी लोगों को धूम्रपान करने वालों के पास बैठने में संकोच होने लगा। इस समय विश्व में सर्वाधिक कठोर नियम मिनेसोट्टा राज्य के हैं जहाँ किसी भी कार्यालय, खेल-कूद के मैदान या पवेलियन तथा सार्वजनिक स्थल पर धूम्रपान करने पर पाँच अमेरिकी डॉलर (लगभग पचास रुपये) का दण्ड देना पड़ता है। अमेरिकी मेडिकल एशोसिएन तो सिगरेट के विज्ञापनों को भी प्रतिबन्धित करने की सोच रही है। जुलाई 1980 में अमेरिकी सिनेट ने एक "क्लीन इन्डोर एयर एक्ट" पास किया जिसमें किसी भी सभा में, समारोह में अथवा उत्सव में सार्वजनिक रूप से धूम्रपान दण्डनीय अपराध होगा। अमेरिका जैसे सिगरेट उपभोक्ता देश के लिए निश्चय ही यह उपलब्धि कही जाएगी।

लेकिन भारत जैसे विकासशील देशों की स्थिति अच्छी नहीं है। यहाँ पर न तो कोई नियम अथवा संहिता है न ही पर्यावरण के प्रति चेतना। बसों, रेलों व सार्वजनिक स्थानों पर 'धूम्रपान न करें' के साइन-बोर्ड तो मिल जाते हैं, परन्तु धूम्रपान करने वालों को रोकने वाला न तो कोई कानून है न जन चेतना। पर्यावरण के प्रति सचेष्ट व्यक्तियों को सिगरेट के नुकसान व स्वास्थ्य पर पड़ने वाले इसके कुप्रभावों को आधार बना कर सरकार द्वारा एक कोडबिल अथवा कानून बनाने में तो पहल करनी ही चाहिए। ☐☐
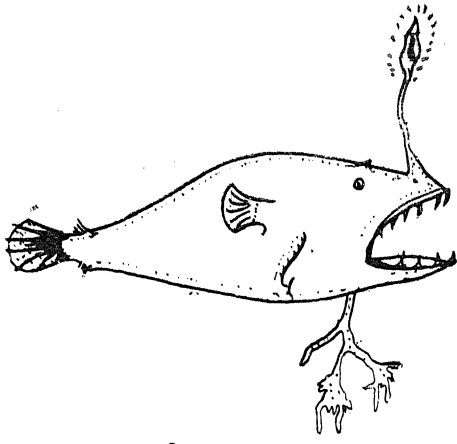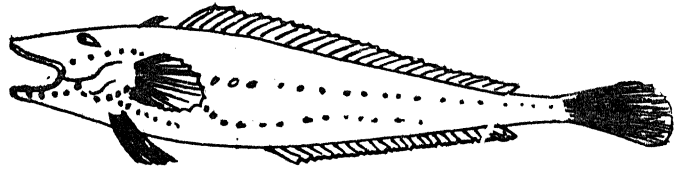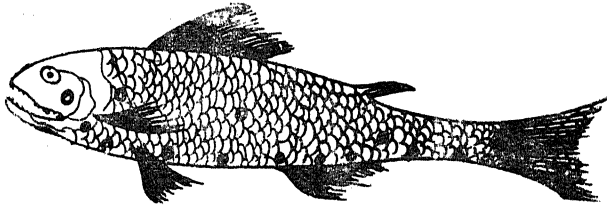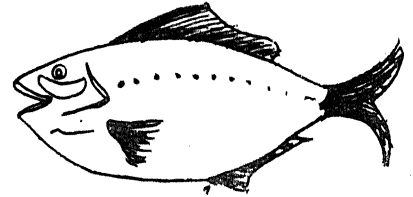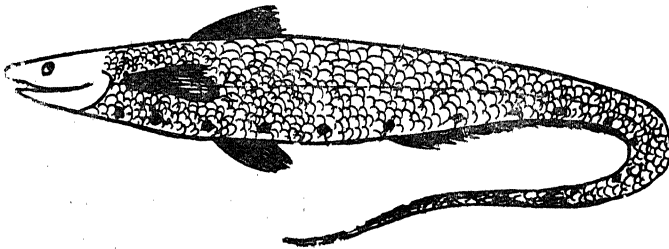
चित्र—1. एंगलर मछली, मुँह के ऊपर 'लैन्टर्न' और नीचे दलदल में सहारे के लिए झाड़ सदृश्य संरचना। चित्र—2. स्क्रोपिलस क्रोकोडिलस के शरीर पर काले बिन्दु के रूप में फोटोफोर। चित्र—3. हेलो-सॉरोपसिस, काले बिन्दु के रूप में फोटोफोर। चित्र—4 पैचिस्टोमिअस माइक्रोडान। चित्र—5. पोरिचथिस। चित्र—6. फोटोब्लिफेरॉन।

महान सोवियत वैज्ञानिक : बोरिस लिचकोव

राघवेन्द्र कृष्ण प्रताप

महान सोवियत वैज्ञानिक **बोरिस लिचकोव** के प्रति टिप्पणी करते हुए एक पत्र में सोवियत जीवविज्ञानी **एन० खोलोद्नी** ने **वर्नाड्स्की** को लिखा था :

"मैं उन्हें अपने विद्यार्थी जीवन से जानता हूँ और मैं उनका एक ऐसे महान् वैज्ञानिक के रूप में आदर करता हूँ जिसमें सामान्यीकरण करने की चमत्कारी प्रतिभा है। .....विज्ञान उनके लिए जीवन का उद्देश्य है। बहुत थोड़े से व्यक्ति ही उनके जैसे हैं और उनको उचित सम्मान दिया ही जाना चाहिये।"

बोरिस लिचकोव का जन्म 18 जुलाई, 1888 को इरकुल्स्क में हुआ था। उनके पिता मूल रूप से खोलमोगोरी के निवासी थे जो आर्चान्जेल्स्क क्षेत्र में है। बोरिस के पिता लियोनिद लिचकोव एक सांख्यकी विशेषज्ञ और अर्थशास्त्री थे और माँ एक स्कूल-शिक्षिका थीं। इस बौद्धिक-समृद्धि के वातावरण ने बोरिस के शैशव और बाल्यावस्था को अत्यन्त प्रभावित किया था।

1891 में लिचकोव-परिवार कीएव आया। यहीं मात्र सोलह वर्ष की आयु में बोरिस ने लोकप्रिय वैज्ञानिक लेख लिखना प्रारम्भ किया। ये लेख भौतिक भूगोल, अर्थशास्त्र, सांख्यकी और प्राकृतिक विज्ञानों की प्रविधि से सम्बन्धित थे।

18 वर्ष की अवस्था में बोरिस ने कीएव विश्वविद्यालय के भौतिकशास्त्र और गणित-संस्थान के प्राकृतिक विज्ञान विभाग में प्रवेश लिया। यहीं महान् भूविज्ञानी **एन० आन्द्रूसोव** के व्याख्यानों से उनमें भू-विज्ञान के प्रति इतनी अधिक रुचि उत्पन्न हुयी कि उन्होंने भूविज्ञान के अध्ययन के प्रति अपने को समर्पित करने का निर्णय ले डाला। आन्द्रूसोव के निर्देशन में बोरिस ने कैस्पियन सागर के पूर्वी तट पर स्थित मैन्जीश्लाक प्रायद्वीप पर जीवाश्मिकी सम्बन्धी अनेक अध्ययन किये। जैसे-जैसे अतीत के अवशेषों का उनका अध्ययन बढ़ता गया वे उनमें और भी डूबते चले गये। उनकी रुचि अमोनाइटों और ट्रिगोनियाओं में, जो प्राचीन चूर्ण प्रावारों के जीवाश्मीकृत अवशेष थे, केन्द्रित सी हो गयी। इस अध्ययन के परिणाम दर्शाते हुए उन्होंने इस क्षेत्र के ट्रिगोनियाओं पर अपना प्रथम स्वतन्त्र शोधपत्र प्रस्तुत किया। इस शोधपत्र की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसमें समस्या को स्तर विज्ञान, जीवाश्मिकी, सामान्य जीवविज्ञान और विकासात्मक सिद्धांत के दृष्टिकोणों से जाँचा-परखा गया था।

बोरिस के उपरोक्त अनुसंधान की अत्यन्त प्रशंसा हुई। सोवियत जीवाश्म-वैज्ञानिकों **बी० सोकोलोव** और **वी० मेनर** ने इस कार्य का निम्नलिखित शब्दों में मूल्यांकन किया :

"ट्रिगोनिया के विस्तार-क्षेत्र का विश्लेषण, उनका नवीन वर्गीकरण और अनुसंधानकर्ता के मौलिक निष्कर्ष इस लेख को शोध-परक लेखों में अनुपमेय बना देते हैं। एक ट्रिगोनिया समूह का नामकरण भी उनके नाम पर किया गया ..।"

1914 में बोरिस लिचकोव ने "प्राकृतिक विज्ञानों की संज्ञानात्मक सीमाएँ" नामक अध्ययन प्रकाशित किया। इसमें प्राकृतिक विज्ञानों और दर्शन के अंतर्गुफन को रेखांकित किया गया था। लिचकोव के अनुसार "प्रत्येक प्राकृतिक विज्ञानी को दर्शन में और प्रत्येक दार्शनिक को प्राकृतिक विज्ञान की सामान्य प्रवृत्तियों और समस्याओं से पूर्णतया परिचित होना चाहिये। यही आदर्श है।"

और बोरिस लिचकोव अपने संपूर्ण-जीवन की अवधि में इस आदर्श से पूर्णतया संलग्न रहे।

प्रवक्ता (शिक्षा), ए० पी० एन० महाविद्यालय, बस्ती-272001, उत्तर प्रदेश

बोरिस के मतानुसार विषय-वस्तु अनश्वर है और तथ्य-वस्तु को संकल्पनाओं द्वारा संपूरित किया जाना अपेक्षित है। वास्तविकता के वैज्ञानिक प्रादर्शों की एक दूसरी विशेषता यह है कि उनमें बिम्बीकरण का अत्यधिक उपयोग होता है। बोरिस लिचकोव के अनुसार "मनुष्य का संपूर्ण चिंतन बिम्बों द्वारा होता है और विज्ञान के लिये तथ्यों और तार्किकी का उतना ही महत्त्व है, जितना कल्पना और बिंबीकरण की प्रक्रिया का।" आज के विज्ञान सम्बन्धी चिंतन में यह विचारधारा अत्यन्त महत्त्पूर्ण है।

1923 में, बोरिस लिचकोव ने "जीवन का उद्भव और विकास" पुस्तक प्रकाशित की। बोरिस ने यह मत व्यक्त किया कि कोई भी जीव (आर्गेनिज्म) एक स्वनियंत्रित और स्वसंपोषित (सेल्फ रेगुलेटरी एण्ड सेल्फ सस्टेनिंग) यन्त्र है जिसका कार्य बाह्य कारकों से अपने को बचाते हुए जो जीवन्त है उसे सुरक्षित रखना है। मृत अथवा अजीवित से जीवन के उद्भव धारणा के सम्बन्ध में लिचकोव का विचार था कि अजीवित से जीव-निर्माण की प्रक्रिया सम्भव होने के लिये कुछ मूलभूत शर्तें पूरी होना आवश्यक है। और, यह पूर्वापेक्षाएँ मणिभों के अस्तित्व में निहित होती हैं।

लिचकोव ने दोनों प्रकार के विकासात्मक अवयवियों—प्रथम प्रकार के जो परिस्थितियों से पूरी तरह समंजीकृत होते हैं जिन्हें विशेषीकृत (स्पेशलाइज्ड) कहा जाता है और दूसरी प्रकार के जो परिस्थितियों से न्यूनतम समंजीकृत अर्थात् प्लास्टिक या बहुप्रकार्यात्मक होते हैं—के बीच सीमा रेखा खींचने का प्रयास किया। पर्यावरण में आधारभूत परिवर्तनों के परिणामस्वरूप पहले प्रकार के अवयवी समाप्त हो जाते हैं जब कि दूसरे प्रकार के अवयवी अधिक जटिल होकर वातावरण के प्रभावों को सहन करने की योग्यता विकसित कर लेते हैं।

1917 के क्रांतिकारी वर्ष में बोरिस लिचकोव ने अपनी परास्नातक परीक्षा उत्तीर्ण की तथा कीएव विश्वविद्यालय में ऐतिहासिक भू-विज्ञान पर एक व्याख्यान-शृंखला प्रस्तुत की। उसी वर्ष उन्हें उक्रेन भू-विज्ञान समिति, जिसके तत्कालीन अध्यक्ष प्रख्यात शैल वैज्ञानिक **वी० लुचित्स्की** थे, की सदस्यता के लिये आमंत्रित किया गया।

1918 में बोरिस लिचकोव को प्रख्यात सोवियत वैज्ञानिक, प्रकृतिवादी और चिंतक **वी० वर्नाड्स्की** से मिलने का अवसर मिला। यह मिलना एक ऐसी मित्रता का प्रारम्भ था, जो चौथाई शताब्दी तक चली।

सोवियत सत्ता की विजय के पश्चात् बोरिस लिचकोव कीएव में ही रहे। अनेक वर्षों तक वे उक्रेन भू-विज्ञान समिति के अध्यक्ष रहे। वे उक्रेन की वैज्ञानिक अकादमी के भी संस्थापक-सदस्य थे। यहीं रहते हुए, उन्होंने उक्रेन के भू-वैज्ञानिक अनुसंधानों के निर्देशन का कार्य किया।

सोवियत विज्ञान पत्रिका 'साइंस यू० एस० एस० आर०' (अंक 2, 1987) में प्रकाशित **आर० बालानबिन** के एक लेख के अनुसार "लिचकोव के वैज्ञानिक विचारों तथा सिद्धान्तकार की प्रतिभा की अभिव्यक्ति उनके उत्तरी गोलार्द्ध के मध्य अक्षांशीय क्षेत्रों के जीवाश्मीय मरुस्थलों सम्बन्धी अध्ययनों में हुयी।"

इस सन्दर्भ में पूर्ववर्ती विचारधारा यह थी कि खुले क्षेत्रों में हिमनदों की समाप्ति से मरुस्थलों का जन्म हुआ। यह सिद्धांत **ए० तुतकोव्स्की** द्वारा प्रस्तुत किया गया था। इस सम्बन्ध में उसका तर्क यह था कि पोलिस्ये क्षेत्र के रेतों के ढूह बिल्कुल उसी प्रकार के हैं जैसे कराकुम और कीजीत्कुम मरुस्थलों के रेतों के ढूह।

अपनी यात्राओं के पश्चात् लिचकोव ने हिमनदों की यह संकल्पना स्वीकार नहीं की। उनका मत था कि आज जहाँ मरुस्थल हैं वहाँ कभी जल-क्षेत्र रहे होंगे।

"सीढ़ीनुमा आकार की रेतीली संरचनाएँ हिमनदों के किनारे पानी के प्रवाह को व्यक्त करती हैं न कि किसी मरुस्थल की उपस्थिति।"

लिचकोव ने अपना ध्यान नदियों के जल-प्रवाह की ओर केंद्रित किया जो धरती की तलीय संरचना को परिवर्तित करने का प्रभावशाली कारक है और उसे समतल करते हुए रेतीले किनारे उत्पन्न कर देता है। तलीय आकृति की संपूर्ण नति विशाल हिमनदों के दाब के प्रभाव में भू-पटल के कंपन का परिणाम होती है और जब यह दाब समाप्त हो जाता है तो स्थायी रूप प्राप्त कर लेती है।

लिचकोव ने द्नीपर और प्रिप्यात नदियों के अपेक्षाकृत भोथरे उभारों की व्याख्या करने का प्रयास किया जो आज भी स्वीकृत व्याख्या है। उन्होंने सीढ़ीनुमा पंक्तियों का जो अंकन किया वह भूमध्यसागरीय सीढ़ीनुमा आकारों (टेरेसेज) के समतुल्य हैं। पृथ्वी के इतिहास में अंतिम क्वार्तरने हिमनदीकरण के क्षेत्रों में विभिन्न नदी-प्रणालियों के द्वारा निर्मित इन सीढ़ीनुमा संरचनाओं को स्तरविन्यासिक सन्दर्भ बिंदुओं के रूप में उपयोग करना अपेक्षाकृत सरल होता है क्योंकि वहाँ उपस्थित हिमनदीय अवसादों (ग्लेशियल सेडिमेंट्स) से भूतलीय घटनाओं का समय-निर्धारण किया जा सकता है।

विशाल हिमनदों के अभ्याघात से भौमिक-स्थिति में महान् परिवर्तन होते थे जिनसे हिमनदीय उभार, वहित स्तर निर्माण एवं विशिष्ट निक्षेप निर्मित हो जाते थे। पुरातन स्तरों की प्राप्ति नवीन स्तरों के साथ संभव हो जाती थी। नदी-तलों की नति भी परिवर्तित हो जाती थी। इनके आपसी सम्बन्धों के आधार पर इन भूतलीय घटनाओं और परिवर्तनों का क्रम-निर्धारण संभव हो सकता है।

1915 में विज्ञान अकादमी के अंतर्गत रूस के प्राकृतिक उत्पादक बलों के अध्ययन के लिये एक आयोग (कमीशन फॉर स्टडीज़ ऑव नेचुरल प्रोडक्टिव फोर्सेज ऑव रशा) का गठन किया गया और **वर्नाड्स्की** के आमंत्रण पर लिचकोव को 1927 में उसका वैज्ञानिक सचिव नियुक्त किया गया। 1930 में यह समिति एक परिषद् के रूप में पुनर्गठित की गयी। इस आयोग की स्थापना कुर्स्क चुंबकीय असंगति कोला, प्रायद्वीप एवं करबोगाज गोल के खनिज-भंडारों की जाँच और उराल, मध्य एशिया तथा काकेशस के क्षेत्रों के व्यापक अध्ययन के उद्देश्य से की गयी थी। सोवियत सत्ता के प्रारम्भिक वर्षों में आयोग ने अनेक ऐसे वैज्ञानिक संस्थानों की स्थापना की जिन्होंने परवर्ती काल में सोवियत विज्ञान को उन्नत करने में महत्वपूर्ण भूमिका ग्रहण की।

लिचकोव ने इस आयोग की अपनी कार्यावधि में प्रशासनिक व्यस्तताओं के बावजूद अनेक अध्ययन-अभियानों का आयोजन करते हुए देश के सुदूर भागों की यात्राएँ कीं, लेनिनग्राद विश्वविद्यालय में भू-विज्ञान और भू-आकृतिविज्ञान पर नियमित व्याख्यान दिये तथा प्रति वर्ष लगभग दस शोध-पत्रों का प्रकाशन किया। भू-विवर्तिनिकी (जियो-टेक्टोनिक्स) में उनकी रुचि भी अनवरत बनी रही। उस समय नदी तल (खिर-बेस) के ऊपर और नीचे के जलीय क्षेत्रों के द्रवगतिक (हाइड्रोडायनमिक) लक्षणों की व्याख्या के लिये ऊर्ध्वाधर भूमि जल क्षेत्रीयता (वर्टिकल ग्राउन्ड-वाटर जोनैलिटी) का उपयोग किया जाता था। लिचकोव ने भू-जल वितरण सिद्धान्त को भू-आकृति-विज्ञान, भौतिक भूगोल और गतिज-भू-विज्ञान के आँकड़ों और अवधारणाओं से समृद्ध किया क्योंकि वह पृथ्वी की सम्पूर्ण जल-प्रणाली को एक एकीकृत पूर्णता स्वीकार करते थे। पृथ्वी के जल भण्डारों के सम्बन्ध में उन्होंने एक नवीन विचारधारा को जन्म दिया।

आज भी वातावरण में उपस्थित जल का अध्ययन मौसम-विज्ञान का, पृथ्वी तलीय जल का अध्ययन समुद्रविज्ञान का और अन्तर्भूजल का अध्ययन जल-भू-विज्ञान का अलग-अलग विषय-क्षेत्र है। परन्तु वर्नाड्स्की ने पृथ्वी के समस्त जल को एक प्रणाली के रूप में देखा और लिचकोव ने भौगोलिक और भू-वैज्ञानिक आँकड़ों द्वारा उनके इस सिद्धान्त को समर्थन दिया।

वास्तविकता यह है कि वर्नाड्स्की और लिचकोव दोनों ही पृथ्वी पर जीवन के आधारभूत नियमों की खोज कर रहे थे। वर्नाड्स्की ने जीव-मण्डल (बायो-

स्फीयर) के सम्बन्ध में अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया था जो प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहा था। इसी काल में लिचकोव ने 'महाद्वीपीय-गति और अतीत की जलवायु' विषयक अपनी पुस्तक प्रकाशित की और विश्व की इस दिशा की विचार-धारा को प्रभावित किया।

महाद्वीपों की क्षैतिज गतिशीलता की व्याख्या लिचकोव ने पृथ्वी के अक्षीय घूर्णन और सूर्य के चतुर्दिक परिभ्रमण में होने वाली अनियमितताओं के कारण गुरुत्वाकर्षण बल में होने वाले परिवर्तनों के आधार पर किया। उनके मतानुसार महाद्वीप के अपेक्षाकृत हल्के भूतलीय अंश अत्यन्त भारी दाब और उच्च ताप की अवस्था में अपेक्षाकृत सघन निम्नतलों, जो उच्च-श्यानता के द्रव की भाँति व्यवहार करते हैं, में तैरते हैं। लिचकोव की इस विवर्तनिक अवधारणा का विस्तार करके जर्मन भू-भौतिक विज्ञानी **ए० वेगेनर** ने ऊर्ध्व भूतलगतियों (वर्टिकल क्रस्टल मोशन्स), भू-अभिनति प्रक्रियाओं (जियोसिन्क्लीनल प्रासेसेज) और भूतल पर कार्यरत भू-वैज्ञानिक बलों की व्याख्या करने का प्रयास किया।

लिचकोव विशिष्ट मौसम सम्बन्धी, भू-आकृतिक और जैव-भौगोलिक प्रभावों की व्याख्या भूतल (क्रस्ट) की क्षैतिज और ऊर्ध्व गतियों के आधार पर करना चाहते थे, परन्तु अपनी संकल्पना में वह वर्नाड्स्की के प्रत्ययात्मक मानक स्तर पर नहीं पहुँच सके। **बाल्दविन** का विचार है कि ऐसा होना इसलिये सम्भव नहीं हुआ क्योंकि वह सम्पूर्ण भूतलीय और ब्रह्माण्डीय बलों को समावेशित करने वाली अत्यन्त जटिल प्राकृतिक प्रक्रियाओं की व्याख्या करना चाहते थे और इसके लिये पर्याप्त सैद्धांतिक आधार उपलब्ध नहीं थे। उन्होंने
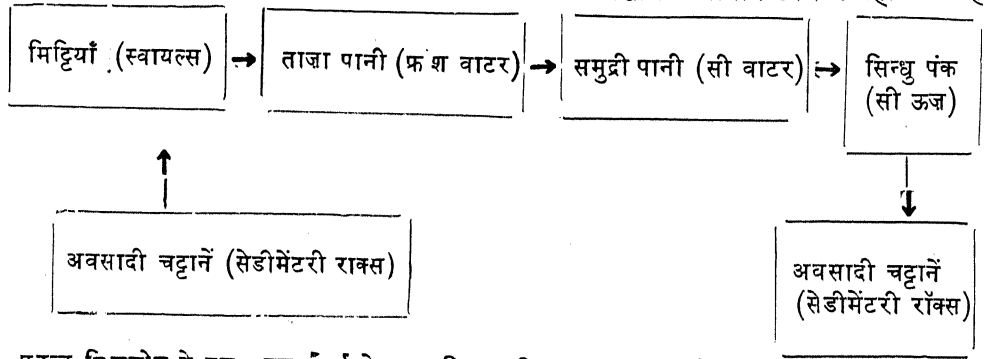
परन्तु लिचकोव ने एल० एस० बर्ग के साथ निम्न परिकल्पना प्रस्तुत की—
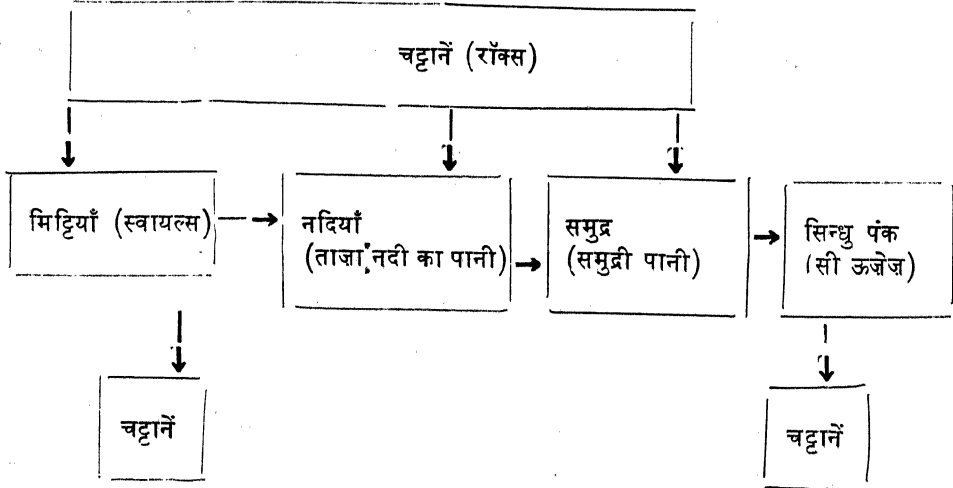
जिन वैज्ञानिक नियमों और संकल्पनाओं का सहारा लिया उनमें से अधिकांश की पुष्टि नहीं की गयी थी।

वर्नाड्स्की लिचकोव के सिद्धान्तों को कितना महत्व देते थे इसका उदाहरण लेनिनग्राद के भू-वैज्ञानिक संस्थान के **आन्द्रेई विताल्येविच लापो** ने अपनी पुस्तक 'ट्रेसेज़ ऑव बायगान बायोस्फियर्स' (मीर पब्लिशर्स, मास्को) में दिया है। वर्नाड्स्की ने अवसादी चट्टानों की निर्माण प्रक्रिया निम्न प्रकार से प्रस्तावित की थी, जो जल के भीतर ही घटती थी।

अर्थात् अवसादी चट्टानों का निर्माण महाद्वीपीय तलों पर भी हो सकता है। वर्नाड्स्की ने न केवल इस विचार को स्वीकार कर लिया वरन् इसे अपनी पुस्तक 'जीवमण्डल और इसके चतुर्दिक वातावरण की रासायनिक संरचना' में इस पर विचार भी किया।

परन्तु वैज्ञानिक चिंतन में विरोधी दृष्टिकोण अमान्य नहीं होते —जब तक कि कोई विचारधारा पूरी तरह गलत न सिद्ध कर दी गयी है। ऐसा वर्नाड्स्की और लिचकोव के सम्बन्ध में भी सच है।

लिचकोव की मान्यता थी कि भूगर्भ में तेल का निर्माण नदियों की घाटियों और डेल्टा-प्रदेशों में हुआ। वर्नाड्स्की ने इस पर असहमति प्रकट की जिस पर लिचकोव ने उत्तर दिया, "मैं नहीं समझता कि आप सही हैं। मेरी अवधारणा सामान्यीकरण की उन श्रृंखलाओं की एक कड़ी है जिन्हें मैंने पिछले वर्षों में प्रस्तुत किया है।"

इसी प्रकार लिचकोव मानते थे कि पहाड़ों का निर्माण नदियों द्वारा किया गया है जबकि वर्नाड्स्की नदियों को अवसादन का कारण स्वीकार नहीं करते थे। परन्तु वर्नाड्स्की ने उनकी आलोचना जिस रूप में की थी वह वैज्ञानिक नम्रता का एक उदाहरण हो सकता है। वर्नाड्स्की ने लिखा था—

"तुम्हें यह याद रखना चाहिये कि अत्यधिक संभावना इस बात की है कि तुम्हारी धारणाएँ सत्य हों और मेरी त्रुटिपूर्ण। मैंने तो इस अपरिचित क्षेत्र में अचानक प्रवेश किया है। सामान्यीकरण की दृष्टि से तुम्हारी स्थिति अधिक सुदृढ़ है।"

वर्नाड्स्की के लिचकोव के प्रति स्नेह का एक उदाहरण वह समीक्षा है जो उन्होंने लिचकोव के शोध पत्रों का डॉक्टरेट के लिये आकलन किये जाने पर लिखी थी।

"सोवियत भूविज्ञान के अत्यंत अधिकारी विद्वान् अकादमीशियन **एन० आन्द्रसोव** के शिष्य लिचकोव नई पीढ़ी और बिश्व-प्रसिद्धिप्राप्त भू-वैज्ञानिकों में प्रथम पंक्ति में हैं। मेरा विश्वास है कि उनके नवीन विचार मेरे अध्यापक **वी० ढोकुचाएव** के द्वारा निर्मित विचार-पथ को और आगे ले जाएँगे।"

1950 में लिचकोव ने नक्षत्रीय भूविज्ञान और खगोलीय भूविज्ञान के नवीन क्षेत्रों में कार्य करना प्रारम्भ किया। इन विषयों में भू-भौतिकी, भू-रसायन, खगोलविज्ञान, भूगोल और ऐतिहासिक भूविज्ञान की आधारभूत समस्याओं पर समग्र दृष्टि से दृष्टिपात करने का प्रयत्न किया गया। इस सम्बन्ध में लिचकोव ने अनेक शोधपत्रों के अतिरिक्त 'द अर्थ्स नैचुरल वाटर्स एण्ड द लिथोस्फीयर' (1960) और 'फंडामेंटल्स ऑफ द अर्थ्स रीसेंट हिस्ट्री' (1965) प्रकाशित की।

पहली कृति में अपेक्षाकृत अधिक स्थलों पर गहरी अंतर्दृष्टि के दर्शन होते हैं। उदाहरण के लिये—

"भूवैज्ञानिकों के बहुसंख्यक वर्ग की धारणा के विरोध में हमारी धारणा है कि पहाड़ों का निर्माण पृथ्वी के घूमने के कारण ही हुआ है। पर्वत-श्रेणियों का निर्माण पृथ्वी के दीर्घवृत्तज (इलिप्सायड) के केन्द्रापसारी (सेंट्रीफ्यूगल) बलों द्वारा हुआ है और यही उनकी ज्यामितीय रचना की व्याख्या करता है। पर्वत-निर्माण की प्रक्रिया उस बड़ी प्रक्रिया का अंश है जिसमें पृथ्वी की घूर्णन गति के परिवर्तन से पृथ्वी की आकृति में परिवर्तन होता है। पृथ्वी का गुरुत्वीय भार इसके आपसी द्रव्याकर्षण से कहीं अधिक है.........अर्थात् गुरुत्वीय-नियम की समझ पृथ्वी पर जीवन की समझ के लिये आवश्यक है।"

अपने जीवन के सांध्यकाल तक बोरिस लिचकोव ने वैज्ञानिक जीवन दृष्टि के प्रति आस्था और गहरी संलग्नता प्रदर्शित की। बहुसंख्यक वैज्ञानिक समुदाय के विरोध के बावजूद वे निर्भीकतापूर्वक अपनी मान्यताओं और सिद्धान्तों को अभिव्यक्ति देते रहे। ☐☐

हर घर में मटियाले चूल्हे

राजीव गुप्ता

जिंदगी भर चूल्हा फूंकते हुए कलेजे को छलनी कर लेने वाली करोड़ों भारतीय गृहणियों के लिए आशा का संदेशा लेकर आये हैं सुधरे चूल्हे। लेकिन अभी हमारे वैज्ञानिकों को इनमें काफी सुधार करने होंगे, खासतौर से स्थानीय जरूरतों और उपलब्ध सामग्री के संदर्भ में। यों पिछले तीन साल में गैर-परम्परागत ऊर्जा विभाग ने पूरे देश में 45 लाख के करीब सुधरे चूल्हे लगवा दिए हैं और कई गाँव धुआँरहित कर दिए हैं।

—संपादक

वातावरण के शहरी प्रदूषण से तो सभी वाकिफ़ हैं, परन्तु ग्रामीण घरेलू प्रदूषण को देश के पर्यावरण की सूची में अत्यन्त निचला दर्जा प्राप्त है। गुजरात राज्य में अहमदाबाद के आणंद ज़िले के 36 घरों के चौके के चूल्हे का अध्ययन करने से पता चला है कि रसोई बनाने वाली औसत गृहणी के फेफड़ों में 7000 माइक्रोग्राम प्रति घन मीटर (टी० एस० पी०) या हवा में तैरने वाले प्रदूषककण विद्यमान हैं जो कि 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' द्वारा निर्धारित, 150 माइक्रोग्राम प्रति घन मीटर से अधिक नहीं होना चाहिए। ठीक इसी प्रकार गुजरात की ग्रामीण स्त्रियाँ औसतन 3,850 नानोग्राम प्रति घन मीटर "बी० ए० पी०" नामक प्रदूषक धुएँ द्वारा ग्रहण करती हैं। दूसरे शब्दों से, गुजरात की आम ग्रामीण महिला चौके के धुएँ से लगभग 20 पैकेट सिगरेट के बराबर 'बी० ए० पी०" ग्रहण करती हैं—चूँकि एक सिगरेट में 20 नानोग्राम बी० ए० पी० पाया जाता है।

बी० ए० पी० जैसे कैंसरजन्य पदार्थ के अलावा लकड़ी के धुएँ में अनेक प्राणघातक तत्व रहते हैं, जिनमें कार्बन मोनोआक्साइड व फार्मल्डीहाइड मुख्य प्रदूषकों की श्रेणी में आते हैं।

कार्बन मोनोऑक्साइड शरीर के भीतर प्रवेश कर खून में ऑक्सीजन का संचार करने वाले तत्व, हीमोग्लोबीन, से मिलकर एक ऐसा स्थायी मिश्रण बनाता है कि ऑक्सीजन का संचार कम हो जाता है व रक्त के लाल कणों की कमी से **एनीमिया या रक्ताल्पता** की बीमारी हो जाती है। अनुमान है कि हमारे देश में कम उम्र की लड़कियों में 40 से 60 प्रतिशत, वयस्क महिलाओं में 25 से 30 प्रतिशत और 24 सप्ताह से अधिक के गर्भवाली 50 प्रतिशत स्त्रियाँ रक्ताल्पता की शिकार हैं। इसका दुष्प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर भी पड़ता है—जो ऑक्सीजन के अभाव में जन्मते ही मृत्यु का वरण करता है।

धुएँ में दूसरा ख़तरनाक प्रदूषक "फार्मल्डीहाइड" है, जिसके कारण आँख, नाक और गला जलने लगते हैं। फेफड़े की नसों पर भी इसका बुरा असर पड़ता है तथा चर्मरोगों को भी यह उभारता है। धुएँ में काम करने वाली औरतों पर इसका प्रभाव ठीक वैसा ही पड़ता है जैसा धूम्रपान करने वालों के स्वास्थ्य पर। दिल्ली के अस्पतालों में किये गये परीक्षण द्वारा धुएँदार चूल्हे प्रयोग करने वाली महिलाओं के फेफड़ों में **ब्रोंकाइटिस** रोग पाया गया जोकि अक्सर बीड़ी/सिगरेट पीने वालों को होता है। इस रोग में फेफड़ों में अत्यधिक हवा भर जाती है और वे बुरी तरह फूल जाते हैं यानी कि हमारी ग्रामीण महिलाएँ बिना ही कोई कश खींचे चौके के धुएँ से धूम्रपान का शिकार हो चली हैं।

रसोई बनाते समय धुँआ कम हो इसके लिए समुचित ईंधन, निर्धूम चूल्हा तथा हवादार चौके का इंतजाम आवश्यक है।

जहाँ तक ईंधन का सवाल है, लकड़ी के कोयले से लेकर गोबर-गैस तक के उपाय प्रकाश में आये हैं। परन्तु इनमें से कोई भी लकड़ी का विकल्प नहीं बन पाया है। जरूरत ऐसे ईंधन की है जो न्यूनतम धुँआ दें। बबूल, धामड़ा व कैथा की लकड़ी में धुँआ काफ़ी कम होता है, जबकि नीम बहुत धुँआ छोड़ता है।

द्वारा श्री हरीश अग्रवाल, डी 40, गुलमुहर पार्क, नई दिल्ली—49

अतः कम धुँआ देने वाले वृक्षों को सामूहिक वानिकी कार्यक्रम के जरिए भारी मात्रा में लगाना चाहिए।

दूसरा विकल्प है—निर्धूम अथवा धुँआ रहित चूल्हा। निर्धूम चूल्हे का अभियान आज से करीब 50 साल पहले आरम्भ हो चुका था, परन्तु आज तक हमारे ग्रामीण अंचल में बिना धुएँ वाला चूल्हा घर नहीं कर पाया है। ज्यादातर चूल्हे 40वें दशक में हैदराबाद इंजीनियरिंग रिसर्च लेबोरेटरी के बने "हर्ल" चूल्हे पर पर आधारित हैं। इसके पश्चात् पचासवें दशक में राजू चूल्हा व भगन चूल्हा प्रकाश में आए और देखा-देखी ढेर सारे चूल्हे निर्धूम-चूल्हों की इस कतार में आ खड़े हुए। विडंबना यह हुई कि धुँआ तो ग्रामीण गृहणी के गले के नीचे उतर गया मगर निर्धूम चूल्हा नहीं उतर सका। क्योंकि सही तकनीक, उचित प्रशिक्षण व सार-संभाल के अभाव में यह सुधारा चूल्हा ग्रामीण महिलाएँ नहीं अपना पायीं।

जब तक गाँव की स्त्रियाँ ऐसे चूल्हे खुद नहीं बना पातीं, जिनमें ईंधन कम लगे, आँच ज्यादा मिले और धुएँ का उचित निष्कासन हो, तब तक वे चूल्हे गृहणियाँ नहीं स्वीकारेंगीं। यदि चौके में कार्य करने वाली महिला अपना चूल्हा आप मरम्मत नहीं कर सकती तो ऐसा चूल्हा ज्यादा दिन नहीं टिकने वाला। सुधरे निर्धूम चूल्हे को भी सुचारु रूप से चलाने के लिए गृहणी के मन में यह भाव जागना जरूरी है कि चूल्हा उसका अपना है, सरकार का नहीं।

चौके के धुएँ से निपटने का तीसरा कारगर उपाय है—हवादार चौका। कबूतर के दड़बों के सरीखे दमघोंटू चौकों में भोजन पकाने के बजाय महिलाओं को खुले आँगन, दालान या चौबारे में रसोईं बनानी चाहिए। पक्के घरों की अपेक्षा कच्चे घरों में धुँआ बाहर निकलने के कई रास्ते हैं। परन्तु सुरक्षा की दृष्टि से बने पक्के घरों में इस समस्या का उचित समाधान नहीं हो पाता है। चोर-उचक्कों से बचने के लिए लोग बन्द घर और छोटे-छोटे रोशनदान बनाते हैं, जिससे धुँआ घर के भीतर ही घुट कर रह जाता है।

अन्त में यदि हमारी ग्रामीण औरतों को जानलेवा धुएँ के चंगुल से बचाना है तो कम धुँआ देने वाली लकड़ी के पेड़ लगाए जाएँ, घरों को और हवादार बनाया जाए तथा ऐसे सुधरे चूल्हों को ग्रामीण भारत में फैलाया जाय जो लोक स्वीकृति की कसौटी पर पूर्णरूपेण खरे उतरें। □□

(इस्वा फीचर्स)

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय विज्ञान लेख प्रतियोगिता 1990

व्हिटेकर पुरस्कार

सर्वश्रेष्ठ लेख को 500 रु० का पुरस्कार

शर्तें

(1) लेख विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।
(2) केवल प्रकाशित लेखों पर ही विचार किया जायेगा।
(3) लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है।
(4) प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।
(5) इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख जनवरी 1990 से दिसम्बर 1990 माह के बीच प्रकाशित हो।
(6) लेखक को साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख मौलिक है।
(7) विज्ञान परिषद् के सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।

लेख निम्न पते पर भेजें—

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

संपादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

विज्ञान को ज़मीन से कब जोड़ा जाएगा ?

सुन्दरलाल बहुगुणा

भारतीय विज्ञान कांग्रेस के 77वें अधिवेशन में **प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रताप सिंह** का उद्घाटन भाषण, जो उन्होंने परम्परा से हटकर लिखित के बजाय जबानी दिया, एक ऐतिहासिक उद्बोधन माना जाएगा। उन्होंने जो कुछ कहा है, उससे अल्पदृष्टि वाले राजनेता की यथास्थिति को कायम रखने के बजाय एक नीतिमान दृष्टा के विचारों की ध्वनि सुनाई देती है। उन्होंने विज्ञान के मानवीय पहलू के साथ ऊर्जा के प्रदूषणरहित वैकल्पिक स्रोतों और विकेन्द्रित उत्पादन की तकनीकों को विकसित करने की अपील की है।

मानव जाति के भविष्य की चिंता करने वाले मनीषी, राजनेताओं को कभी नहीं समझ सकते हैं। नहीं तो **आइन्स्टाइन** को अपने अंतिम दिनों यह पछतावा न होता कि अणुशक्ति का आविष्कार कर उसने भारी भूल की थी और **बर्ट्रेण्ड रसेल** को अपने देश के अणु आयुध बनाने वाले कारखाने के द्वार पर इस विनाशकारी प्रवृत्ति को रोकने के लिए धरना देकर जेल की हवा न खानी पड़ती। भोगवादी सभ्यता के केन्द्र पश्चिमी जगत् में आज भी ऐसे मानवतावादी वैज्ञानिक मौजूद हैं, पर राजनेताओं की उपेक्षा और दूरदृष्टि के अभाव में उनकी आवाज़ दबी हुई है।

वर्ष 1987 के लिए वैकल्पिक 'नोबेल पुरस्कार' प्राप्त करने वाले दो वैज्ञानिकों, नार्वे के शांति पर शोध करने वाले **जॉन गालतुग** और जर्मनी के अणु आयुधों का शांति के लिए प्रयोग और विकल्पों पर शोध करने वाले **हँस पीटर डर** से जब मैंने मानव अस्तित्व और विज्ञान को लेकर एक जन आंदोलन छेड़ने की चर्चा की तो उन्होंने व्यथित हृदय से कहा, "यहाँ पर उसके लिए अनुकूल पृष्ठभूमि नहीं है।" मैं बहुत देर तक इस सोच में डूब गया कि क्या भारत, जिसमें वेदांत का विचार विकसित हुआ है और जिसने वनस्पति में प्राण के वैज्ञानिक सत्य के शोधकर्ता **जगदीश चन्द्र बसु** को जन्म दिया है, वेदांत और विज्ञान का समन्वय कर, मानवता की, जीवन की जय का मंत्र नहीं दे सकता है ? जब तक भारत पश्चिम की अंधी नकल करता रहेगा और अपनी संस्कृति के जीवन मूल्यों की उपेक्षा करता रहेगा, यह असम्भव है, लेकिन यदि भारत अपने को पहचान कर प्रकृति का विज्ञान और तकनीकी की मदद से सुसंस्कार कर प्राणीमात्र के लिए सुख-शांति और संतोष की प्राप्ति का रास्ता ढूँढ़ निकालेगा, तो यही सारे विश्व के लिए विकृति से संस्कृति की ओर बढ़ने की नई राह होगी।

बावजूद इसके कि पिछले चालीस वर्षों में भारतीय संस्कृति के मूल्यों के साथ अपने को जोड़ने वाले वैज्ञानिकों के बजाय, धरती और संसाधनों का मानव की भोगलिप्सा के लिए शोषण की तकनीकी विकसित करने वालों का ही बोलबाला रहा है, उन्हें ही राज्य का आश्रय, प्रोत्साहन और मान्यता मिलती रही है। इस देश में ऐसे विज्ञान मनीषी मौजूद हैं जो मानवतावादी विज्ञान की साधना में लगे रहे, वे राजधानियों, महानगरों, अखबारों की सुर्खियों और दूरदर्शन के पर्दों में नहीं, पीड़ित और दुखितों के बीच में अपनी प्रयोगशाला बनाकर काम करते रहे।

मुझे आठ वर्ष पूर्व मद्रास नगर के बाहर एक गाँव में एक ऐसी विभूति के दर्शन हुए, वे भौतिक विज्ञान के जाने-माने विद्वान थे। प्रचलित शोषणकारी व्यवस्था को आगे बढ़ाने के लिए युवकों को तैयार करने वाले एक तकनीकी संस्थान की प्रोफेसरी छोड़कर वे इस गाँव में गाँधी की जैसी झोपड़ी में बैठ गए थे। उन्होंने कम लागत वाला गोबर गैस संयंत्र बनाया था। लेकिन

चिपको सूचना केन्द्र, नवजीवन आश्रम, पोस्ट सिल्यारा, टिहरी गढ़वाल–249155 (उत्तर प्रदेश)

उसे प्रचारित कर लोकप्रिय बनाने के लिए सरकारी मान्यता नहीं मिली थी, क्योंकि इसमें बड़े उद्योगों से निर्मित सामान की खपत कम थी। वे दूसरा प्रयोग गोबर से काई बनाने का कर रहे थे, जिससे गरीब, जिनके लिए अब दाल खरीदना असम्भव हो गया था, सस्ते में प्रोटीन प्राप्त कर सकें। वे थे **प्रो० शेषाद्रि**। उन्होंने दूरी के बजाय काल को प्रधानता देकर पश्चिम के वैज्ञानिक चिंतन को चुनौती देते हुए एक शोधपत्र लिखा था। मैंने यह शोधपत्र तत्कालीन राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री तक भी पहुँचाया था। सम्भवतः यह कहीं रद्दी की टोकरी में पड़ गया हो। सौभाग्य से शेषाद्रि के सम्पर्क में आए कई युवा वैज्ञानिक भारत के गरीबों के लिए उपयुक्त तकनीकी की खोज में लगे हैं। उनका एक समूह देशभक्त लोक विज्ञान और तकनीकी (पैट्रियाटिक साइंस और टेक्नोलॉजी) के नाम से मद्रास में सक्रिय है। पिछले वर्ष उन्होंने खेती में रासायनिक कीटनाशकों के बजाय जैविक कीटनाशकों पर एक संगोष्ठी का आयोजन भी किया था।

सरकारी प्रतिष्ठानों में भी ऐसे वैज्ञानिकों की कमी नहीं है, लेकिन उनका शोधकार्य निहित स्वार्थों की धनलिप्सा की प्रवृत्ति के रास्ते में आड़े आता था, इसलिए उसे दबाया जाता रहा है। धान की हज़ारों देशी क़िस्मों को सुरक्षित रखने वाले कृषि वैज्ञानिक **डॉ रिछारिया** के उत्पीड़न की कहानी जग-जाहिर है। रसायनिक खादों और पानी की राक्षसी माँग वाले बहुप्रचारित संकर बीजों के बाज़ार के लिए उनके शोध कार्य ने ख़तरा पैदा कर दिया था, जो इस देश की अर्थ-व्यवस्था और संस्कृति का मूल आधार है। मानवतावादी विज्ञान और तकनीकी की चिंता को सर्वोच्च प्राथमिकता होनी चाहिए। खेती के साथ मिट्टी की गुणवत्ता और जल की आवश्यकता भी जुड़ी हुई है। बढ़ती हुई आबादी और प्रति व्यक्ति घटती हुई कृषि भूमि, पानी की उपलब्धि, ग़लत कृषि पद्धतियों के कारण रेगिस्तान के फैलाव, लवणीकरण और दलदलीपन की चुनौतियों ने अब खाद्य की पूर्ति के लिए 'वृक्ष खेती' को अनिवार्य कर दिया है। अब तक खाद्य, बीज, काष्ठफल, तैलीय बीज, शहद और पौष्टिक मौसमी फलों की खेती के बारे में कोई शोध नहीं हुआ है। वृक्ष खेती केवल वायु प्रदूषण के महादैत्य से ही मुक्ति नहीं दिलाएगी, बल्कि भूमिगत जल के स्तर को ऊँचा उठाने, जल के शुद्धिकरण, सतही जल के प्रवाह का नियमन करने और प्रदूषण को रोकने में सहायक होगी। खाना पकाने के लिए जलाऊ लकड़ी व ऊर्जा में बचत करेगी।

रुड़की स्थित 'केन्द्रीय भवन अनुसंधान संस्थान' ने गरीबों के लिए सस्ते और टिकाऊ मकान बनाने तथा ताप बिजलीघरों से निकलने वाली राख से ईंट बनाने की तकनीकी विकसित की है। मिट्टी के पलस्तर के साथ तारकोल का उपयोग करके उसे सीमेंट जैसा टिकाऊ बनाया जा सकता है, लेकिन उसके लिए सर्वसाधारण को तारकोल उपलब्ध नहीं हो सकता। यह सड़क बनाने वाले सरकारी निर्माण विभाग का एकाधिकार है। दूसरे यह तकनीक लोकप्रिय हो जाए तो धूल-धुँआ, भूक्षरण व वन-विनाश के द्वारा प्रदूषण फैलाकर नफा कमाने वाले सीमेंट के कारख़ानों का क्या होगा? यही समस्या राख से ईंट बनाने के साथ जुड़ी हुई है। मिट्टी से ईंट बनाने का धंधा बहुत ही लाभप्रद है और यह राजनैतिक अनुग्रह के सहारे चलता है। ताप बिजलीघरों की राख को ठिकाने लगाने के लिए दूर ले जाना पड़ता है, उस पर जो खर्चा लगता है यदि उसे ईंट बनाने के लिए सहायता के तौर पर दिया जाए तो ये ईंटें सस्ती पड़ेंगी।

पिछले चालीस वर्षों में गाँधी को विज्ञान और तकनीकी का विरोधी और तरक्की का दुश्मन साबित कर उनके विचारों को दफ़नाने का भरपूर प्रयास हुआ है। लेकिन गाँधी की मानवतावादी विज्ञान और तकनीकी पर अटूट श्रद्धा थी। इसीलिए उन्होंने इनके विकास के लिए 'अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ' की स्थापना की और अर्थशास्त्री **कुमारप्पा** के मार्गदर्शन में वहाँ पर चूल्हे से लेकर चक्की-चाक और चरखे में सुधार के प्रयोग होते रहे। यद्यपि यह सच है, तकनीकी विकास के सभी क्षेत्रों को यह छोटा-सा केन्द्र,

जो आज भी टिमटिमाते हुए दीप की तरह प्रकाश दे रहा है, स्पर्श नहीं कर सकता था। पर यह एक बुनियादी काम था। यह संतोष का विषय है कि कुमारप्पा के शिल्प तकनीकी विशेषज्ञ 'गाँधी ग्राम विश्वविद्यालय' के पूर्व उपकुलपति **श्री देवेन्द्र कुमार गुप्ता** के मार्गदर्शन में यह केन्द्र आज भी कार्यरत है और वे बायोगैस, भवन-निर्माण और अन्य सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रशिक्षण व शोध-कार्य कर रहे हैं। हमारे देश में आज़ादी के बाद यूरोप की बराबरी करने की होड़ में उच्च तकनीकी के विकास पर जितना धन व बुद्धि लगी है, यदि उसका दसवाँ हिस्सा भी लोकोपयोगी और जनाभिमुख विज्ञान और तकनीकी पर लगता, तो निश्चित रूप से आम लोगों की भोजन, वस्त्र और आवास की ही नहीं प्राणवायु और स्वच्छ जल की बुनियादी आवश्यकताएँ बहुत हद तक पूरी हो जातीं।

विज्ञान का मानवतावादी स्वरूप तब तक प्रकट नहीं हो सकता जब तक हमारे समाज का कोई स्पष्ट दर्शक नहीं है। यदि हम प्राणीमात्र को सुख-शांति और संतोष प्रदान करने के लक्ष्य की ओर बढ़ना चाहते हैं, जिसका सपना ढाई हज़ार वर्ष पहले **बुद्ध** ने देखा था और जिसे **शूमाखेर** जैसे आधुनिक चिंतकों ने आज के लिए भी उपयुक्त माना है, तो हमें अपनी सभी गतिविधियों – आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और तकनीकी—को उसकी प्राप्ति का साधन बनाना होगा। यह महाप्रश्न विश्वनाथ प्रताप सिंह और उनके जैसा सोचने वाले विश्व के नीतिमान द्रष्टाओं के सामने खड़ा होगा। □□

(**'नव भारत टाइम्स'** 14 मार्च 1990 से साभार)

भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र एकदिवसीय वैज्ञानिक संगोष्ठी

लेसर का विकास एवं उपयोग

डॉ० विजय मनचंदा

26 मार्च, 1990 को हिन्दी जगत् के इतिहास में एक अद्भुत् अध्याय जुड़ा है। हिन्दी विज्ञान परिषद्, भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र, बम्बई द्वारा एकदिवसीय वैज्ञानिक संगोष्ठी 'लेसर का विकास एवं उपयोग' का आयोजन किया गया। गोष्ठी सेण्ट्रल कॉम्पलेक्स सभागृह में सम्पन्न हुई।

लेसर आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में इस शताब्दी की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण खोज है। अन्तर्राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं में हुए अनुसंधान कार्य द्वारा लेसर के ऐसे उपयोग प्रकाश में आए हैं जिनकी कुछ दशक पूर्व तक कल्पना करना भी असम्भव था। हमारे देश के वैज्ञानिक भी इस क्षेत्र के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। हिंदी विज्ञान साहित्य परिषद्, भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र के तत्वावधान में आयोजित इस संगोष्ठी का मुख्य उद्देश्य सक्रिय वैज्ञानिकों को राष्ट्र-भाषा हिंदी में विचार-विमर्श के लिए एक मंच प्रदान करना है। इसके फलस्वरूप देश के जनमानस को निकट भविष्य में उसके जीवन में आनेवाले क्रांतिकारी परिवर्तनों की आहट सुनाई देगी।

संगोष्ठी का उद्घाटन **डॉ० आर० चिदम्बरम,** निदेशक भौतिकी वर्ग बी० ए० आर० सी० तथा अध्यक्ष, हिंदी विज्ञान साहित्य परिषद् ने किया। उन्होंने अपने भाषण में इस प्रकार की संगोष्ठियों के महत्व तथा लेसर के चमत्कारिक उपयोगों पर प्रकाश डाला। **डॉ० यू० के० चटर्जी,** अध्यक्ष, लेसर प्रभाग भा० प० अ० केंद्र ने लेसर के विकास की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की।

"लेसर का विकास एवं उपयोग" सम्बन्धी विषयों

वैज्ञानिक अधिकारी, रेडियो रासायनिक प्रभाग, भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र, बम्बई–400085

पर भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र, बम्बई, इंडियन इन्सटीट्यूट ऑव टेक्नोलॉजी, बम्बई, तथा प्रगत-प्रौद्योगिकी केंद्र, इंदौर में अनुसंधान कार्य में संलग्न 10 लब्धप्रतिष्ठित वैज्ञानिकों ने अपने विचार प्रकट किए। लेसर के रूप में मानव ने एक अद्भुत प्रकाश स्रोत को प्राप्त किया है, जो अपनी स्थिर एकवर्णता तथा प्रकाशीय तीव्रता के कारण विश्व भर के वैज्ञानिकों को पिछले तीन दशकों से अपनी ओर आकर्षित किए हुए है। परिणामस्वरूप विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों (चिकित्सा, रसायन, भौतिकी, जीव, अंतरिक्ष, नाभिकीय) तथा कई औद्योगिकी क्षेत्रों में लेसर के विस्तृत एवं व्यापक उपयोग मानव समाज के समक्ष उपस्थित हुए हैं।

अत्यन्त सूक्ष्म और केंद्रित होने के कारण लेसर द्वारा किए जाने वाले आपरेशन लगभग रक्तविहीन होते हैं। लेसर किरण पुंज आवश्यकतानुसार शरीर के किसी भी भाग को सूक्ष्मतापूर्वक काटता है तथा इससे समीपस्थ कोशिकाएँ अप्रभावित रहती हैं। परिणामस्वरूप संक्रमण का भय भी नहीं रहता। इसके द्वारा एक सेकेण्ड के हज़ारवें हिस्से में सबसे कठोर पदार्थ हीरे में छेद किया जा सकता है। 5 मिलीमीटर मोटी स्टील की चादर को उतनी ही आसानी से काटा जा सकता है, जैसे कि केक को साधारण छुरी से। एक लेसर किरण पुंज में इतनी सामर्थ्य होती है कि वह कई करोड़ टेलीफोन संदेश या लगभग 1 लाख दूरदर्शन कार्यक्रम एक साथ ले जा सकती है।

लेसर किरण पुंज के एक दिशक गुणधर्म का उपयोग राडार द्वारा शत्रु के उपग्रहों व प्रक्षेपास्त्रों को नष्ट करने में भी किया जा सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका का बहुचर्चित "स्टार वार्स' कार्यक्रम लेसर के इस उपयोग पर आधारित है। नाभिकीय संलयन तथा उच्च ताप प्लाज़्मा के निर्माण द्वारा उच्च शक्ति लेसरों ने ऊर्जा के क्षेत्र में भी एक नये विश्वास का जागरण किया है। एक पदार्थ के आइसोटोप्स को अलग करने तथा एक परमाणु के संसूचन की क्षमता भी लेसर किरण पुंज में है। चूँकि सभी क्रियाएँ बिना किसी संसर्ग के होती हैं इसलिए किसी प्रकार के संदूषण का भय नहीं रहता।

इस गोष्ठी में लगभग 200 वैज्ञानिकों ने भाग लिया। संयोजक के रूप में **डॉ० एस० ए० अहमद, डॉ० एच० सी० पंत**, तथा आयोजन समिति के अन्य सदस्यों ने परिषद् उपाध्यक्ष **डॉ० डी० डी० सूद** के नेतृत्व में कार्यक्रम को सफल बनाने में सराहनीय कार्य किया। □□

परिषद् का पृष्ठ

विज्ञान परिषद् में स्थापना दिवस समारोह

पिछले माह 10 मार्च को परिषद् के स्थापना दिवस के अवसर पर 'विज्ञान और समाज' विषय पर एक संगोष्ठी की गई। इस संगोष्ठी की अध्यक्षता परिषद् के उपसभापति एवं इलाहाबाद विश्वविद्यालय के रसायन विभाग के अवकाशप्राप्त अध्यक्ष **प्रो० रामदास तिवारी** ने की। इस गोष्ठी में मुख्य वक्ता **स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती** थे। इनके अतिरिक्त **प्रो० शिवगोपाल मिश्र**, **डॉ० सुप्रभात मुकर्जी**, **डॉ० ज्वलंत कुमार** शास्त्री (सुल्तानपुर), **डॉ० राम सुरंजन धर दुबे**, **श्री बीरेन्द्र नारायण सिं**ह (मेरठ), **श्री द्वारिका प्रसाद शुक्ल** (वाराणसी) ने भी अपने विचार व्यक्त किए। इनके अतिरिक्त **प्रो० हनुमान प्रसाद तिवारी**, **डॉ० मुरारी मोहन वर्मा**, **डॉ० अशोक कुमार गुप्ता**, **श्री विनय कुमार दुबे** ('द टाइम्स ऑव इण्डिया' पत्र से संबद्ध) आदि ने भी भाग लिया। संचालन **प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव** और धन्यवाद ज्ञापन **प्रो० हनुमान प्रसाद तिवारी** ने किया।

विषय प्रवर्त्तन करते हुए **प्रो० मिश्र** ने विज्ञान परिषद् के विगत 75 वर्षों के कार्य का लेखा-जोखा संक्षेप में प्रस्तुत किया और परिषद् के नेतृत्व का भार तरुण हाथों में जाये, इस बात पर विशेष बल दिया।

डॉ० मुकर्जी—हम बच्चों को विज्ञान पढ़ाते हैं इसका यह मतलब नहीं कि वे सभी आगे चलकर वैज्ञानिक ही बनेंगे, वरन् इसलिए कि उनमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण पनपे। किसी भी कार्य के सम्पादन में वे वैज्ञानिक प्रक्रिया अपनायें। विज्ञान परिषद् की भूमिका यही है। परिषद् पिछले 76 वर्षों से अपनी भूमिका बखूबी निभाती आयी है, पर अभी भी बहुत कुछ करना शेष है।

ज्वलंत जी—मैं जिस क्षेत्र का व्यक्ति हूँ वह 'वेद' और संस्कृत का क्षेत्र है, पर विज्ञान मुझसे अपरिचित नहीं है। पिछले 100 वर्षों में विज्ञान ने तेज़ी से समाज को प्रभावित किया है। पिछले एक दशक में तो विज्ञान बड़ी तेज़ी से बढ़ा है। विज्ञान ने हमारे चिंतन-मनन को प्रभावित किया है। किन्तु जितनी तेज़ी से हमारा जीवन-स्तर ऊँचा उठा है उतनी तेज़ी से अवैज्ञानिक मान्यताओं को ध्वस्त नहीं कर पाया है। आज भी हम पाखण्डों से घिरे हैं। अभी भी लोग मिथकों को सच मान रहे हैं। विज्ञान पढ़ाने वाले अध्यापक भी ऐसी मान्यताओं में विश्वास रखते हैं कि अमुक दिन अमुक दिशा में नहीं जाना चाहिए। आज टेलीविज़न दृश्य-श्रव्य विज्ञान का चमत्कार है पर पत्र-पत्रिकाओं में राशिफल धड़ल्ले से छपता है। श्री सुधाकर द्विवेदी ज्योतिषी थे पर उनकी पुत्री विवाह के समय ही विधवा हो गई। भारत गाँवों का देश है। गाँवों में आज भी पाखण्ड व्याप्त है। मृत्यु को वहाँ आज भी लोग कहते हैं 'व्यक्ति को डाइन खा गई'। अच्छा होगा यदि विज्ञान हमें एक समग्र दृष्टि दे सके।

डॉ० दुबे—जब हम विज्ञान की बात करते हैं तो हम पिछले 400 वर्षों से पश्चिम से आयातित विज्ञान को ही विज्ञान मानते हैं। विज्ञान की भौतिक उपलब्धियाँ विज्ञान की 'ऑफ शूट' हैं। वस्तुतः विज्ञान मनुष्य के जीवन का अंग है। प्रारम्भ से ही आदमी विज्ञान से जुड़ा रहा है। बच्चा भी यदि माँ के निकट है तो उसे धीरे से और दूर है तो ज़ोर पुकारता है, बिना ध्वनि-विज्ञान के ज्ञान के। वैज्ञानिक वह नहीं है जो प्रयोगशाला में कार्य करता है। वैज्ञानिक वह है जिसमें वैज्ञानिक चेतना हो। विज्ञान और समाज एक दूसरे पर आधारित हैं। समाज सदा से विज्ञान से प्रभावित होता रहा है। समाज मानव की बौद्धिक क्षमता का प्रतीक है। कभी चाँद को देखकर हमने कहानियाँ गढ़ी थीं, पर आज मानव चंद्रमा को पदाक्रांत कर चुका है। जब तक हम कौतूहल के साथ जीवित हैं, विज्ञान आगे बढ़ता रहेगा और साथ ही समाज भी।

श्री शुक्ल—विज्ञान सोचने और परखने की विचारधारा है और समाज लोगों का संगठित रूप। दोनों ही सुनियोजित, व्यवस्थित रूप हैं। समाज विज्ञान का जनक है। कई बार कुतूहलवश और कई बार उपयोग-दुरुपयोगवश समाज विज्ञान के स्वरूप को बदलता रहता है। पुराने ग्रीक समाज में यह 'दर्शन' के नाम से जाना जाता था। बाद में 'नैचुरल साइन्स' को इससे अलग कर दिया गया। उच्चस्तरीय 'इंट्यूशन' विज्ञान की सीमा के बाहर है। चेतना के कुछ ऐसे आयाम हैं, जहाँ विज्ञान पहुँच ही नहीं सकता। 'इलेक्ट्रॉन' देखा नहीं, पर मानता हूँ। विज्ञान कुतूहल और जिज्ञासा से उपजता है।

स्वामीजी—बोलना बहुत चाहता हूँ, पर सब नहीं बोलूँगा। यहाँ एकत्र होने के लिए बधाई। यह परिषद् की नवीन गतिविधि है। पहले हम स्थापना दिवस नहीं मनाते थे। अच्छा हो यदि इस समय हम अपने कार्यों का सिंहावलोकन करें।

पहले का विज्ञान डिडक्टिव लॉजिक से पैदा हुआ पर आज का विज्ञान इस लॉजिक से पैदा नहीं हुआ है। पहले लोग मानते थे कि पत्थर धरती पर इसलिए गिरता है क्योंकि धरती का बेटा है। ज्वाला ऊपर की ओर जाती है क्योंकि सूरज की बेटी है। अण्डा पहले या मुर्गी जैसे विषयों पर पहले विवाद अधिक होते थे।

पहले 'कम्पास' लेकर नहीं चलते थे। कम्पास एक विधा है। पर विज्ञान बिना टेक्नोलॉजी के अपूर्ण है। टेक्नोलॉजी का मतलब है विज्ञान का फल घर-

घर में पहुँच जाये। विज्ञान परिषद् की स्थापना इसी उद्देश्य को लेकर हुई थी।

पहले गणित भी 'श्लोकों' में लिखा मिलता था। आज गणित की, विज्ञान की अनेक भाषायें हैं। विज्ञान ने कई नई भाषायें दीं यथा समीकरण भाषा। लॉ ऑव कंज़रवेशन ऑव मॉस एण्ड एनर्जी, फिर संयुक्तीकरण हुआ। आइंस्टाइन स्टैटिस्टिक्स, बोस-आइंसटाइन स्टैटिस्टिक्स, फर्मी-डिरैक स्टैटिस्टिक्स। आधुनिक विज्ञान नई भाषा, नये समीकरणों के कारण आया। इतिहास के प्रति आस्था दूसरी बात है पर आज माना वही जाता है जो सिद्ध हो जाये। पहले शब्द की बड़ी मान्यता थी। किसी बड़े व्यक्ति ने कहा है सो मानो। पर आज 'डाटा' इकट्ठा करते हैं, फिर कुछ परिणाम निकलते हैं। अब 'मेंटल बिहैवियर', 'ग्रुप बिहैवियर' की बातें करते हैं। आज का विज्ञान, आज का समाज ऐसी मान्यताओं पर चल रहा है।

पहले 'सैटेलाइट' को 'मेंटल एक्सरसाइज' (दिमाग़ी कसरत) मानते थे, पर आज सैटेलाइट हमारे लिए कितना उपयोगी है, यह स्वयं सिद्ध है।

'इकलिप्स' (ग्रहण) देखने लोग विदेशों से आते हैं पर हम घर में छुपकर बैठे रहते हैं। बाहर नहीं निकलते। यह बात दूसरी है कि 'इकलिप्स' में मुर्गी का अण्डा किस प्रकार प्रभावित होता है, इस पर शोध करते हैं।

अब इस युग में यदि एकता होगी तो विज्ञान के कारण। अब हिन्दू गणित, अरब गणित, चीन की केमिस्ट्री न होकर एक गणित, एक रसायन होगा। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई भले ही एक न हों पर विज्ञान एक होगा जो सभी समाजों के लिए लाभदायक होगा।

—प्रस्तुति : प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

विज्ञान वक्तव्य

प्रियपाठकगण !

परीक्षाओं के इस मौसम में अक्सर नकल करते हुए परीक्षार्थियों के पकड़े जाने की खबरें आप पढ़ते होंगे, पर यह प्रवृत्ति अगर उन वैज्ञानिकों को भी जकड़ ले जिन पर भविष्य के प्रवाह को गति और दिशा देने का दायित्व है, तो निश्चय ही यह स्थिति क्षोभजनक और चिंतनीय है। हाल में ही 'सोसाइटी फॉर साइंटिफ़िक वैल्यूज़' एक ऐसी ही घटना को सामने लाई है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के गणित विभाग के **डॉ० एस० एन० सिंह** और उनके सहयोगियों पर यह आरोप है कि उनके द्वारा अपने नाम से प्रकाशित कराये गये कई शोधपत्र कनाडा के एक वैज्ञानिक द्वारा एक दशक पूर्व प्रकाशित किए गये शोधपत्रों की शब्दशः नकल हैं।

अभी पिछले ही वर्ष विदेशी वैज्ञानिकों ने चण्डीगढ़ विश्वविद्यालय के एक भूगर्भशास्त्री पर नकली हिमालयी जीवाश्म प्रस्तुत करने का आरोप लगाया था। भारतीय विश्वविद्यालय, कोयंबटूर के एक प्राणिवैज्ञानिक ने तो इंग्लैंड के समुद्र तट से ही पकड़े गये एक साधारण केकड़े को दुर्लभ हिमालयी क्षेत्र का केकड़ा बताकर वाहवाही लूटनी चाही।

विंडसन विश्वविद्यालय, ओंटारियो (कनाडा) के गणितज्ञ **डॉ० आर० एम० बैरन** और **डॉ० ओ० पी० चाडना** ने अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के नकल करने वाले वैज्ञानिकों के इस दल द्वारा प्रकाशित 40% कार्य उपर्युक्त दोनों वैज्ञानिकों के कार्यों की प्रतिलिपि मात्र है।

वैज्ञानिकों द्वारा इस प्रकार के अशोभनीय कार्यों से विदेशों में भारतीय विज्ञान और वैज्ञानिकों की प्रतिष्ठा धूमिल हो रही है।

'सोसाइटी फॉर साइंटिफिक वैल्यूज़' प्रख्यात भारतीय वैज्ञानिकों द्वारा गठित एक स्वतंत्र परिषद् है, जो वैज्ञानिक क्षेत्र में मूल्यों की गिरावट से लड़ने को सन्नद्ध है। परिषद् के अध्यक्ष और भारतीय चिकित्सकीय अनुसंधान परिषद्' के डाइरेक्टर जनरल **डॉ० ए० एस० पेन्टल** ने कहा है कि इस प्रकार की निम्नस्तरीय गतिविधियों में संलग्न सभी वैज्ञानिकों को केन्द्रीय शासकीय सेवा के तहत लागू होने वाले सेवा नियमों के अनुसार ही दंडित किया जाएगा।

'सोसाइटी फॉर साइंटिफिक वैल्यूज़' और डॉ० पेन्टल को बहुत-बहुत बधाई।

आपका

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

उत्तर प्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है, यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिये। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

विज्ञान

हमारी धरती—हमारा स्वास्थ्य
भू-मण्डलीय सोचो—स्थानीय करो

परिषद् की मुख पत्रिका
मई 1990
2 रुपया 50 पैसे
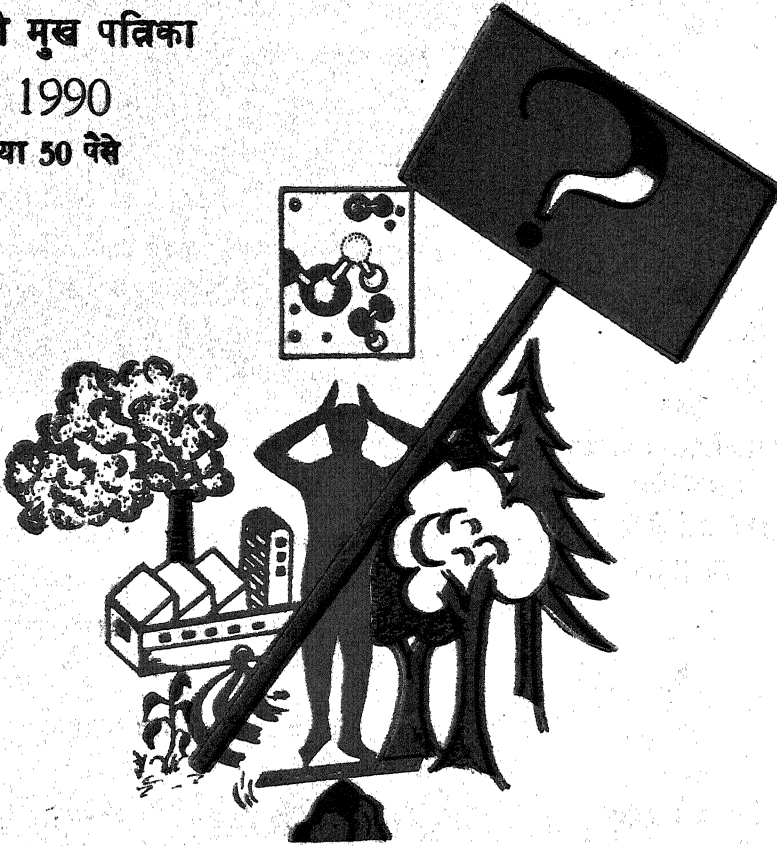
विज्ञान परिषद्, प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 1913; 'विज्ञान' का प्रकाशन अप्रैल 1915
मई 1990; वर्ष 76, अंक 2

मूल्य
आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत; 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु०
वार्षिक : 25 रु०
एक प्रति : 2 रु० 50 पैसे

प्रकाशक
डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी
प्रधान मंत्री
विज्ञान परिषद्, प्रयाग

●

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

●

मुद्रक
श्री सरयू प्रसाद पाण्डेय
नागरी प्रेस
186 अलोपी बाग
इलाहाबाद

●

सम्पर्क
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002

विज्ञान विस्तार

मस्कुलर डिस्ट्रॉफी : वर्तमान चित्र

राजेश कुमार
मदन मोहन बजाज

[7 अप्रैल को प्रतिवर्ष 'विश्व स्वास्थ्य दिवस' पूरे विश्व में मनाया जाता है। इस वर्ष 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' ने विषय चुना 'स्वास्थ्य एवं पर्यावरण'। इसके तहत नारा (स्लोगन) दिया 'अवर प्लैनेट-अवर हेल्थ : थिंक ग्लोबली-ऐक्ट लोकली' अर्थात् हमारी धरती, हमारा स्वास्थ्य : भूमण्डलीय सोचो, स्थानीय करो। इस अवसर पर प्रस्तुत है 'मस्कुलर डिस्ट्रॉफी' नामक बच्चों के रोग पर एक शोधपरक लेख।—संपादक]

मस्कुलर डिस्ट्रॉफी एक ऐसा भयंकर असाध्य रोग है जिसमें चार वर्ष की आयु तक सामान्य लगने वाला बच्चा पेशियों में कमज़ोरी आने से 20 वर्ष की आयु तक मृत्यु का ग्रास बन जाता है। सम्बन्धी एवं माता-पिता के लिये ही नहीं अपितु चिकित्सकों के लिये भी यह रोग एक सिरदर्द बना हुआ है। भारत में लगभग एक लाख बच्चे इस रोग से पीड़ित हैं और इस रोग की असहनीय व्यथा, पीड़ा एवं दुख को भोगते हुये जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे हैं।

मस्कुलर डिस्ट्रॉफी एक रोग है अथवा कई रोगों का समूह, यह कहना कठिन है। परन्तु एक ऐसे रोग के रूप में इसे पहचाना जाता है जिसमें रोगी स्वयं अपनी पहचान खो देता है। दैनिक क्रियाकलापों के लिये भी सम्बन्धियों पर आश्रित हो जाता है। माता-पिता एवं सम्बन्धी इस रोग से पूर्णतः अपरिचित होने के कारण चिकित्सक के पास लेकर जाते हैं परन्तु चिकित्सक ही नहीं वैज्ञानिक भी इस जटिल समस्या का हल ढूँढ़ने में असमर्थ रहे हैं अतः रोग की पूर्ण जानकारी के अभाव में रोगी शीघ्र ही अकाल मृत्यु का ग्रास बन जाता है। परिवार एवं समाज का ऐसे रोगियों के प्रति क्या दायित्व हो, यह बताने से पूर्व इस रोग के बारे पूर्ण जानकारी होना आवश्यक है।

रोगी बच्चों में इसके लक्षण चार वर्ष के उपरान्त ही दिखाई देने लगते हैं। माता-पिता इसे सामान्य कमज़ोरी समझते हैं परन्तु जब बच्चा स्वयं चलने में भी कठिनाई अनुभव करता है तो माता-पिता चिकित्सक के पास पहुँचते हैं। ऐसी स्थिति में चिकित्सक भी कुछ नहीं कर सकता क्योंकि रोग बढ़ चुका होता है तथा पेशियों की अत्यधिक सिकुड़न को पुनः पूर्व अवस्था में लाना संभव नहीं होता। ऐसी स्थिति में माता-पिता बच्चे को स्वयमेव अपनी आँखों के सामने ही मौत के मुँह की ओर प्रतिदिन अग्रसर होता हुआ देखते हैं और कुछ भी कर पाने में असमर्थ होते हैं।

इस बीमारी में सामान्यतः पुरुष रोगी ही देखने में आते हैं। ड्यूशन मस्कुलर डिस्ट्रॉफी बच्चों का ऐसा रोग है जिसके बारे में सर्वप्रथम **ड्यूशन** नामक वैज्ञानिक ने सन् 1861 में अपनी पुस्तक में उल्लेख किया था। ड्यूशन ने ही सर्वप्रथम विद्युत् का चिकित्सा में उपयोग किया था। सन् 1868 में उसने ऐसे तेरह रोगियों का अध्ययन करके इसके विषय में कई महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ दीं। यद्यपि ड्यूशन से दस वर्ष पूर्व सन् 1852 में **पेरीयान** नामक वैज्ञानिक ने भी चार ऐसे ही रोगियों से सम्बन्धित जानकारी दी थी परन्तु ड्यूशन ने ही इस पर पूर्णरूपेण प्रकाश डाला और इसे बच्चों की गंभीर बीमारी बताते हुये इसके कारणों की भी विवेचना की अतः इस रोग को ड्यूशन के नाम पर 'ड्यूशन मस्कुलर डिस्ट्रॉफी' कहा जाता है।

आयुर्भौतिक शोधशाला, भौतिकी एवं खगोल भौतिकी प्रयोगशाला, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली—110007

यह एक आनुवंशिक रोग है। यद्यपि यह बीमारी पुरुषों को ही लपेट में लेती है, परन्तु असामान्य जीन माता के द्वारा ही रोगी बच्चे के शरीर में प्रवेश करता है। अतः माता इस स्थिति में वाहक का कार्य करती है। एक ड्यूशन मस्कुलर डिस्ट्रॉफी के रोगी की बहन के वाहक होने की सम्भावना 50% आँकी गई है। इस प्रकार यह रोग एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में जाता रहता है तथा म्यूटेशन (उत्परिवर्तन) के समय जीन के असामान्य होने के कारण होता है। इस बीमारी के जीन एक्स गुणसूत्र में ही स्थिति होते हैं। पुरुष में तथा महिला में 22 जोड़े गुणसूत्र एक जैसे ही होते हैं, परन्तु 23वें जोड़े में पुरुष में एक्स तथा वाई (**XY**) गुणसूत्र (क्रोमोसोम) होते हैं, जबकि महिलाओं में दोनों ही एक्स होते हैं। अमेरिका तथा यूरोप में इस विषय पर भारत की तुलना में बहुत अधिक शोध कार्य हो रहा है। अमेरिका के एक वैज्ञानिक **प्रोफेसर कुंकल** ने इस असामान्य जीन का पता लगा लेने का दावा किया है। ड्यूशन मस्कुलर डिस्ट्रॉफी के जीन की लम्बाई कम से कम 18 हज़ार किलो बेस है तथा इसमें बेस-पेयर का क्रम अभी नहीं जाना जा सका है। उनके अनुसार यह एक अप्रभावी जीन है। वैज्ञानिकों ने शोध द्वारा पता लगाया है कि रोगी व्यक्ति के जीन के कुछ हिस्से किसी दूसरे गुणसूत्र से जुड़ जाते हैं, जिससे व्यक्ति मस्कुलर डिस्ट्रॉफी का रोगी बन जाता है। इसी का मॉडल बनाने में कनाडा के वैज्ञानिक **आर्थर एम० बर्गहैस** सफल रहे हैं, जिससे आगामी शोध-कार्य में बहुत मदद मिलेगी। अब शीघ्र ही हमें ऐसी तकनीक मिल जायेगी जिससे हम गर्भस्थ शिशु के रोगी होने की संभावनाओं पर भी टिप्पणी कर पाने में सक्षम होंगे तथा गर्भपात द्वारा अथवा अन्य प्रकार से इस प्रकार के रोगी के जन्म लेने को रोका जा सकेगा।

लंदन के एक वैज्ञानिक **जेक्सन एवं उनके साथियों** के अनुसार इस रोग में विटामिन ई की भारी कमी हो जाती है। उन्होंने विभिन्न जानवरों (चूहों आदि) पर प्रयोग द्वारा इसे सिद्ध भी किया है। अमेरिका के ही वैज्ञानिक **बोनिला और उनके साथियों** ने 'डिस्ट्रॉफिन' नामक तत्व प्राप्त करने में सफलता पाई है, जिसे उन्होंने ड्यूशन मस्कुलर डिस्ट्रॉफी के जीन से प्राप्त किया है। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि यह प्रोटीन तत्व (डिस्ट्रॉफिन) ड्यूशन मस्कुलर डिस्ट्रॉफी में अत्यधिक कम होता है और अन्ततः गायब हो जाता है, जिससे पेशियों में इस प्रोटीन की कमी विभिन्न असमानताओं को जन्म देती है। अन्य देशों के वैज्ञानिकों ने भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचने का दावा किया है (**सुगीता एवं साथी**, 1988, **प्रोसीडिंग जापान एकेडेमी** 64, 37-39) तथा **जुबर्जका गार्न एवं साथी (नेचर)**। **बर्टोलिनी एवं उ के साथियों** के अनुसार ड्यूशन मस्कुलर डिस्ट्रॉफी के रोगियों की पेशियों में कैल्शियम की मात्रा 50% बढ़ जाती है जबकि मैगनीशियम की मात्रा 44% कम हो जाती है।

हमने विभिन्न रोगियों से चर्चा की और उनमें व्यापक समानताओं को देखा। ड्यूशन मस्कुलर डिस्ट्रॉफी से पीड़ित रोगी ज़मीन पर बैठकर अपने-आप उठ नहीं सकता। उसे सीढ़ियाँ चढ़ने में बहुत परेशानी होती है। अत्यधिक कठिनाई से घुटने पर हाथ रख-रख कर एक-एक सीढ़ी चढ़ पाता है। स्वभाव में चिड़चिड़ापन आ जाता है। खाने-पीने में रुचि नहीं रहती तथा भूख कम लगती है। सामान्यतः ऐसे रोगी दूध पसन्द नहीं करते। फल आदि में तुलनात्मक दृष्टि से अधिक रुचि लेते हैं। शौच का समय अनियमित रहता है तथा अक्सर कब्ज़ की शिकायत रहती है। अक्सर ज्वर रहने लगता है तथा ज्वर के समय कमज़ोरी आने से चिड़चिड़ापन और अधिक बढ़ जाता है। पढ़ाई में अधिक रुचि नहीं रहती जबकि टेलीविज़न, रेडियो आदि के कार्यक्रमों में विशेष रुचि रहती है। सामान्य ज्ञान की विभिन्न बातों में अपेक्षाकृत अधिक रुचि लेते हैं। ऐसे रोगियों का मानसिक स्तर सामान्य बच्चों से कम नहीं होता है। ये रोगी कभी-कभी खड़े-खड़े स्वयमेव गिर जाते हैं। हड्डियाँ बहुत कमज़ोर होती हैं तथा हल्की सी चोट पर ही टूटने की आशंका रहती है। हर समय इनका मुँह स्वयमेव खुला रहता

है। जीभ बढ़ जाती है। 7 से 13 वर्ष की आयु में रोगी चलना बंद कर देता है। पेशियों में सिकुड़न के कारण धीरे-धीरे सभी अंग मुड़ने लगते हैं। शरीर एक ओर झुक जाता है। काफ (Calf) पेशियों में दर्द की शिकायत रहती है और ये फूल जाती हैं। **वाल्टन एवं गार्डनर** (974) के अनुसार 100,000 पुरुषों में से 13 से 33 पुरुष ड्यूशन मस्कुलर डिस्ट्रॉफी (डी० एम० डी०) के रोगी होते हैं। जबकि **बेकमन** के अनुसार प्रति 1700 पुरुषों में एक पुरुष डी० एम० डी० से पीड़ित होता है। सही अनुपात का पता चलना बहुत कठिन है क्योंकि ऐसे रोगी चिकित्सालय में अधिक समय नहीं रहते एवं शीघ्र ही इन्हें वापिस भेज दिया जाता है। कुछ चिकित्सालयों में तो चिकित्सक रोग का निदान होते ही अथवा रोग का नाम सुनते ही अपनी असमर्थता व्यक्त कर देते हैं, जिससे रोगियों की संख्या का सही आकलन नहीं हो पा रहा है। **हाल्डन** ने इस रोग की म्यूटेशन गति ज्ञात की है, जो कि अत्यधिक उच्च है। हाल्डन फार्मूले से **स्टीफन एवं टेलर** ने इसका आकलन 95 प्रति लाख जीन प्रति जेनेरेशन (पीढ़ी) परिकलित किया है तथा **स्टीवेन्सन** ने 65 और **वाल्टन** ने 43 प्रति दस लाख परिकलित किया है। मानवीय रोगों में यह सर्वाधिक म्यूटेशन गति है। एक बार चलना बंद कर देने के पश्चात् रोगी का शरीर अधिक गति से मुड़ने लगता है और पैरों में अधिक शिथिलता आ जाती है अतः यथासम्भव पेशियों से काम करते रहने का प्रयास करना चाहिये। अधिकतर रोगी 20 वर्ष से पूर्व ही मृत्यु का ग्रास बन जाते हैं तथा मृत्यु सामान्यतः श्वसन तंत्र के असामान्य होने के कारण होती है। पेशियों की कमज़ोरी से ही श्वसन तंत्र असामान्य होता है। मस्कुलर डिस्ट्रॉफी का पता लगाने के लिये मुख्यतः तीन विधियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं। सी० पी० के०, ई० एम० जी०, तथा मस्कुलर बायोप्सी। इन तीनों परीक्षणों से आजकल मस्कुलर डिस्ट्रॉफी ज्ञात की जाती है। ई० एम० जी० में असामान्य क्रम सभी प्रकार की मस्कुलर डिस्ट्रॉफी में पाया जाता है अतः असामान्य ई० एम० जी० क्रम से ड्यूशन मस्कुलर डिस्ट्रॉफी का पता नहीं चलता। मस्कुलर बायोप्सी में फाइबर (Fibre) का आकार बदल जाता है। इन तीनों निरीक्षणों में प्राप्त निष्कर्ष के आधार पर मस्कुलर डिस्ट्रॉफी को निम्न प्रकार से विभाजित किया गया है।

1. ड्यूशन मस्कुलर डिस्ट्रॉफी,
2. बेकर मस्कुलर डिस्ट्रॉफी,
3. लिंब गिरडल मस्कुलर डिस्ट्रॉफी,
4. सक्रेपुलो ह्यूमेरल मस्कुलर डिस्ट्रॉफी,
5. फेसियो सक्रेपुलो ह्यूमेरल मस्कुलर डिस्ट्रॉफी,
6. मायोटोनिक डिस्ट्रॉफी, और
7. ऑकुलर मस्कुलर डिस्ट्रॉफी

इन सभी प्रकार की मस्कुलर डिस्ट्रॉफी में सर्वाधिक भयानक रोग ड्यूशन मस्कुलर डिस्ट्रॉफी है, जिसमें स्वयं अपने पैरों एवं हाथों से कार्य करने में समर्थ मनुष्य पहले ह्वील चेयर (पहिया गाड़ी) का सहारा लेता है और बिस्तर पर पड़ा रहता है, पर ह्वील चेयर भी उसे सहारा नहीं दे पाती। रोगी को देख कर बिल्कुल पता नहीं लगता कि वह कुछ वर्षों का मेहमान है।

दिल्ली निवासी **इन्द्रजीत सिंह गुजराल की** पत्नी के भाई की मृत्यु भी इसी रोग से हुई थी और अब उनके दो बच्चे इसी रोग की चपेट में हैं तथा **चन्द्रपाल सिंह** के दो बेटों की मृत्यु इसी रोग से हो चुकी है और तीसरा भी व्हील चेयर पर बैठा हुआ मौत का इन्तज़ार कर रहा है। सोहन गंज (दिल्ली) निवासी **मनोज गुप्ता** की माता अथवा पिता दोनों के परिवारों में किसी को किसी पीढ़ी में भी पहले यह रोग नहीं था ,जबकि पहली बार उनका बेटा इस रोग का शिकार बना है। अशोक विहार (दिल्ली) के **दीपक वर्मा** को भी इसी रोग ने पकड़ रखा है और उसके बड़े भाई की मृत्यु भी इसी रोग के कारण हो गई थी। 14 वर्षीय **दीपक** नामक एक अन्य रोगी की मृत्यु के उपरान्त उसके पिता **गुरुचरण सिंह** एवं माता **सावित्री** ने मस्कुलर डिस्ट्रॉफी से ग्रसित बच्चों को इस रोग से लड़ने हेतु आजीवन प्रोत्साहन एवं सहयोग देने

का निश्चय किया है। इस रोग से पीड़ित बच्चों को एक सामान्य वातावरण की आवश्यकता होती है, जहाँ वे भी अन्य बच्चों के समान शिक्षा, मनोरंजन, ज्ञान-सामग्री आदि का उपभोग कर सकें। ऐसे रोगियों को शारीरिक अंगों को गतिशील बनाये रखने हेतु कुछ व्यायाम करने आवश्यक होते हैं। विदेशों में केयर सेंटर बने हैं जहाँ पर ऐसे रोगियों की शिक्षा, मनोरंजन, ज्ञान-विज्ञान एवं व्यायाम क्रियाओं हेतु सामग्री उपलब्ध कराई जाती है। ऐसी स्थितियों में रोगी के जीवन काल को निश्चित रूप से बढ़ाया जा सकता है। यद्यपि इस रोग का पूर्णरूपेण निदान तो अभी तक सम्भव नहीं है, परन्तु सामान्य शारीरिक क्रियायें एवं विशेष व्यायाम द्वारा इस रोग के संक्रमण से अधिकाधिक समय तक बचा जा सकता है। दिल्ली के सोहन गंज निवासी **मनोज गुप्ता** ने अपने हाथों की गतिशीलता बनाये रखने के लिए उनसे कार्य करना जारी रखा। उसने कागज़ों के अजीबोगरीब अद्‌भुत् सुन्दर-सुन्दर डिज़ाइन (चित्र-4) बनाये हैं, जिन्हें देखकर कोई भी बनाने वाले की स्थिति को देखकर चकित हुये बिना नहीं रह सकता। इसके साथ-साथ वह हाथ से लिखने का कार्य करता रहा, जिससे यद्यपि उसका पूर्ण शरीर रोग की चपेट में आ चुका परन्तु उसके हाथ आज भी डिज़ाइन बनाते हैं (चत्र-4)। इसी प्रकार से तुर्कमान गेट (दिल्ली) के **मुहम्मद हनीफ** ने अपने हाथों से कार्य करना जारी रखा तथा वह प्रतिदिन कैरम आदि खेलता रहा, जिससे उसके हाथों में शक्ति बनी रही। अपने सम्पूर्ण शरीर का भार वह हाथ पर रख कर बैठता था, जिससे उसके हाथों में आज भी शेष अंगों की तुलना में अधिक क्रियाशीलता है (चित्र-3)। अतः ऐसे रोगियों को अधिकाधिक शारीरिक क्रियायें करते रहने के लिये प्रेरित करना चाहिये अन्यथा पेशियों की सिकुड़न से हड्डियाँ मुड़ने व असामान्य होने लगती हैं। मालिश द्वारा भी शरीर को तथा पेशियों को आवश्यक पोषक तत्वों की प्राप्ति हो जाती है। पेशियों को यथासम्भव गर्म रखने का प्रयास करना चाहिये। इन्फ्रारेड या डायाथर्मी भी सहायक सिद्ध हो सकती है। ग्लायसिन देने से भी इस संक्रमण को रोकने में कुछ हद तक सफलता मिली है, परन्तु इसका उपचार नहीं हो सका। विटामिन-ई की गोलियाँ देने से भी उपचार तो नहीं हुआ परन्तु संक्रमण पर अवश्यमेव प्रभाव देखा गया है। सर्दी से ऐसे रोगी को यथासंभव बचाना चाहिये तथा ज्वर नहीं होने देना चाहिये। ज्वर, खाँसी तथा जुकाम की स्थिति को गंभीरता से लेना चाहिये तथा इन रोगों के उपचार हेतु तुरन्त चिकित्सक से सम्पर्क स्थापित करना चाहिये। बलगम से ही रोगी की मृत्यु भी हो सकती है अतः इसके बनते ही चिकित्सक से उपचार करवाना चाहिये। ऐसे रोगी की मनोदशा विचित्र हो जाती है अतः उसे खाली कदापि न बैठने दें। शिक्षा का प्रबन्ध करें, जिससे बुद्धि सकारात्मक बनी रहे। रोगी को किसी ऐसे व्यवसाय की ओर भी प्रोत्साहित करें जिससे उसके हाथ कार्यरत रहें। इस प्रकार जहाँ शरीर में क्रियाशीलता बनी रहेगी वहीं दृष्टिकोण भी नकारात्मक नहीं होगा। उसे इस बात का लगातार अहसास दिलायें कि समाज में उसकी बहुत आवश्यकता है तथा वह भी समाज का एक अंग है। डी० एम० डी० का इलाज भविष्य में जीन के निदान से सम्भव हो सकता है। इस रोग से प्रभावित बच्चों में डिस्ट्रॉफिन नामक प्रोटीन की कमी पाई गई है। डिस्ट्रॉफिन की कमी से मांसपेशियों में कमज़ोरी आ जाती है। ऐसे बच्चे प्रायः हृदय गति के अवरुद्ध हो जाने से अथवा फेफड़ों के रोग से मरते हैं। इसलिये अस्थिपंजर से जुड़ी मांसपेशियों में यदि डिस्ट्रॉफिन पहुँचा देना सम्भव हो भी तो भी उससे कोई विशेष लाभ नहीं होगा। एक अन्य समस्या यह भी है कि जीन, जो डिस्ट्रॉफिन को कोड करता है, वह रिट्रोवायरसों में प्रविष्ट कराने के उद्देश्य से काफी बड़ा है। यह जीन उन सभी जीनों से बड़ा है जिन्हें वैज्ञानिक सेलों (कोशिकाओं) में प्रविष्ट कराते हैं। "नेचर" (वोल्यूम 343, पृष्ठ 190) में प्रकाशित ऑक्सफोर्ड के एक वैज्ञानिक की रिपोर्ट से एक नई आशा बँधी है। इस रिपोर्ट के अनुसार किसी प्रकार की जीन चिकित्सा सम्भव हो सकेगी। अनुपस्थित जीन का महज़ एक अंश पुर्नस्था-

पित करने से इस रोग के लक्षणों की क्रूरता एवं भंयकरता काफी हद तक कम हो जायेगी।

चित्र 1—ड्यूशन मस्कुलर डिस्ट्रॉफी रोग से ग्रसित एक रोगी (मनोज गुप्ता) चार वर्ष की आयु में पूर्ण स्वस्थ मुद्रा में खड़े हुये।

ऑक्सफोर्ड की आणविक चिकित्सा संस्था की **सुश्री के० डेवीज** ने कहा है कि वह और उसके साथी इस प्रश्न का उत्तर देना चाहते हैं कि वह कौन सी चीज़ है जो कोमल मस्कुलर डिस्ट्रॉफी के लिये उत्तर-दायी है। उन्होंने एक ऐसा व्यक्ति खोजा है, जिसमें कोमल मस्कुलर डिस्ट्रॉफी के लक्षण हैं और जिसमें डिस्ट्रॉफिन से सम्बद्ध जीन कोडिंग का एक बहुत बड़ा भाग गायब है। इससे स्पष्ट है कि यदि हम आधा जीन भी बदल दें तो उससे रोग के निदान में बहुत सहायता मिल सकती है। आज वैज्ञानिकों को यह तो मालूम है कि उन्हें किस भाग को बदलना है, परन्तु वास्तविक समस्या उसके पहुँचाने के तरीके की है। हमें जीन को ऐसे बाँधना होगा कि मांसपेशियों के सेल उन्हें पकड़ लें और उन्हीं में जीन अपना स्थान बना ले।

चित्र 2—रोगी मनोज गुप्ता 10 वर्ष के उपरान्त बिस्तर पर तकिये के सहारे बैठे हुये।

डॉक्टर एवं वैज्ञानिक बिना सुविधाओं के कुछ नहीं कर सकते। इस रोग की ओर न तो सरकार ही पूर्ण ध्यान दे रही है और न ही स्वैच्छिक संस्थाओं ने इसका बीड़ा उठाने का प्रयास किया है। अभी तक कोई वैज्ञानिक अनुसंधान केन्द्र इस कठिन कार्य को हाथ में नहीं ले रहा है। एक स्वैच्छिक संस्था के अन्तर्गत "मस्कुलर डिस्ट्रॉफी रिसर्च एंड वेल्फेयर सेंटर" की स्थापना इसी उद्देश्य से की गई है। दिल्ली विश्व-विद्यालय के प्रांगण में अनेक सुविधाओं के अभाव में भी हम लोग इस जानलेवा बीमारी पर विजय पाने का प्रयास कर रहे हैं। अकेले न्यूयार्क में ऐसे 10 संस्थान हैं, जिन्हें वहाँ की सरकार से पूर्ण सहयोग मिलता है।

मानवीय अनुभूतियों तथा जीवन के उच्च मूल्यों की परीक्षा शायद ऐसी ही परिस्थितियों में होती है। हमारे समाज के प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि ऐसे असहाय बच्चों की भरपूर सहायता एवं सेवा करे। हमारे पवित्र ग्रंथों ने भी "वसुधैव कुटुम्बकम्" (अर्थात् 'यह विश्व एक परिवार की भाँति है') का शंखनाद किया है अत: ऐसे रोगियों को अपना सम्बन्धी जानकर उनकी पीड़ा को हरने का तथा नियमित रूप से मानसिक एवं शारीरिक प्रोत्साहन देने का प्रयास करना चाहिये। दरिद्र बच्चों के लिये पौष्टिक आहार तथा उचित व्हील चेयर का प्रबन्ध करना हमारा ही कर्तव्य है। समय-समय पर इन परिवारों में जायें तथा कुछ क्षण बिताकर उनके दर्द को कम करने का प्रयास करें। ऐसे बच्चों की समाज में अलग से प्रतियोगितायें करवायें तथा जीवन की धारा से उन्हें अलग न होने दें।

चित्र 3—एक अन्य बीस वर्षीय रोगी मुहम्मद हनीफ शरीर का पूर्ण भार बायें हाथ पर रख कर दीवार के सहारे बैठे हुए। हाथों में आज भी शेष शरीर की तुलना में अधिक शक्ति है।
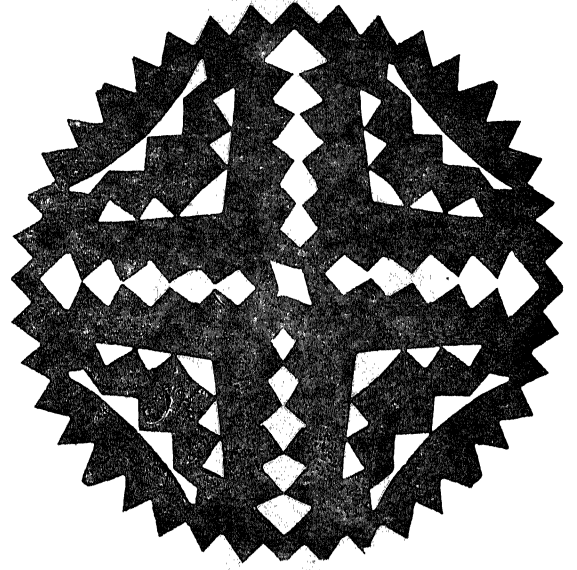
चित्र 4—मनोज गुप्ता द्वारा बनाया गया पेपर डिज़ाइन जिससे उनके हाथों की कार्यक्षमता में वृद्धि हुई।

केन्द्रीय आर्य युवक परिषद्, आर्य समाज, फ्रेन्डस ऑव हैन्डीकैप्ड, मदर टेरेसा के मिशन तथा अन्य संस्थाओं को इस क्षेत्र में आगे आना होगा। शोध-कार्य हेतु सुविधायें प्रदान करने का कार्य ऐसी संस्थायें कर सकती हैं। सरकार को भी इस ओर विशेष ध्यान देना होगा। हम लोग आयुर्वेद, होम्योपैथी, ऐलोपैथी शल्य-चिकित्सा सम्पोषण विज्ञान, फिज़ियोथेरेपी तथा अन्य सभी विधियों से रोग का निदान ज्ञात करने में लगे हैं। इसमें समाज का सहयोग आपेक्षित है। इस विशद कार्य में भारत के एक मात्र शोध केन्द्र "मस्कुलर डिस्ट्रॉफी शोध एवं कल्याण केन्द्र" को सहयोग देकर आप इस महायज्ञ में अपनी आहुति डाल सकते हैं। इसमें सभी का सहयोग अपेक्षित है।

अधिक जानकारी के लिए निम्नलिखित पते पर सम्पर्क करें—

मस्कुलर डिस्ट्रॉफी शोध एवं कल्याण केन्द्र
आयुर्भौतिकी शोधशाला
भौतिकी एवं खगोल भौतिकी प्रयोगशाला
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली—110 007 □□

मोटापे से छुटकारा

डॉ० अनुराग श्रीवास्तव

मोटापा शरीर की वह अवस्था है, जब व्यक्ति अतिरिक्त वसा या चर्बी एकत्रित हो जाने से स्थूल व सामान्य से अधिक भार वाले शरीर का स्वामी बन जाता है। आवश्यकता से अधिक भोजन मोटापे का सर्वप्रमुख एवं सामान्य कारण है। आवश्यकता से अधिक लिया गया भोजन वसा में परिवर्तित होकर शरीर के एडिपोज ऊतकों में एकत्र हो जाता है। पश्चिमी देशों तथा भारत एवं अन्य विकासशील देशों के 'उच्च आय वर्ग' के व्यक्तियों में मोटापा सामान्य रूप से पाया जाता है।

कॉर्नेल विश्वविद्यालय के **मैक ले** ने एक रोचक प्रयोग किया। उन्होंने चूहों को दो समूहों में विभक्त कर एक समूह को इच्छानुसार अधिकाधिक भोजन खाने दिया, किन्तु दूसरे समूह को नियंत्रित मात्रा में ही भोजन प्रदान किया। उन्होंने पाया कि नियंत्रित मात्रा में भोजन पाने वाले समूह के चूहे अत्यधिक सक्रिय पाये गये तथा उनका जीवनकाल अत्यधिक भोजन करने वाले समूह के चूहों से लगभग दुगुना हो गया। चूहों के ऊपर किया गया यह प्रयोग मानव के लिए एक शिक्षाप्रद उदाहरण है।

मोटापे के विभिन्न कारण

1. **आयु तथा लिंग** : मोटापा किसी भी वय के पुरुष अथवा महिला को अपना शिकार बना सकता है।
2. **आर्थिक स्थिति** : मोटापा 'निम्न आय वर्ग' की अपेक्षा 'उच्च आय वर्ग' के व्यक्तियों में अधिक पाया जाता है, क्योंकि ये व्यक्ति सामान्यतया अधिक आहार तो लेते हैं, किन्तु शारीरिक श्रम कम करते हैं।
3. **शारीरिक श्रम का अभाव** : मोटापा कम शारीरिक श्रम करने वाले व्यक्तियों को विपरीत रूप से प्रभावित करता है। आधुनिक वाहन सुविधा, औद्योगीकरण एवं स्वचालित तकनीक व्यक्तियों के जीवन में श्रम का अभाव पैदा कर रही है, जो मोटापे का कारण बनती है। 'निम्न आय वर्ग' के शारीरिक श्रम करने वाले व्यक्ति मोटापे से प्रभावित होने से बचे रहते हैं।
4. **खान-पान अथवा आहार सम्बन्धी आदतें** : अत्यधिक खाने की आदत और परिणामस्वरूप उत्पन्न मोटापा बाल्यकाल से प्रारम्भ होकर जीवन-पर्यन्त चलते हैं। सामान्य तौर पर मोटे बच्चे को माता-पिता अत्यधिक स्नेहवश आवश्यकता से अधिक आहार देना प्रारम्भ कर देते हैं। परिणामस्वरूप हृदय-रोगों एवं मोटापे का ख़तरा बाल्यकाल से ही प्रारम्भ हो जाता है। वही स्वास्थ्य जिस पर माता-पिता शुरू में तो गर्व महसूस करते हैं, आगे चलकर मोटापे से ग्रस्त बनाकर व्यक्ति को हृदय-रोगी बना सकता है।

कभी-कभी यह भी देखने में आता है कि कुछ लोग अत्यधिक खाने-पीने के बाद भी दुबले-पतले बने रहते हैं, जबकि कुछ दूसरे लोग भरपेट आहार लेते ही मोटापे से ग्रस्त हो जाते हैं।

भूख का लगना एवं आहार नियंत्रण

केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र हमें 'भूख लगने' व 'पेट भरने' की जानकारी कराता है। इसी के अनुसार हम भोजन लेना प्रारम्भ व समाप्त करते हैं। जानवरों पर किये गये प्रयोगों से पता चलता है कि मस्तिष्क में भूख से सम्बन्धित 'लालसा केन्द्र' को नष्ट कर देने पर जानवर की भूख समाप्त हो जाती है और भोजन के अभाव में अन्ततः वह मर जाता है, जबकि 'तृप्ति केन्द्र' को नष्ट करने पर जानवर अत्यधिक खाता चला जाता है और शीघ्र ही मोटापे का शिकार बनता है।

सारणी क्रमांक 1 : ऊँचाई एवं अनुपातिक वज़न सारणी (सारणी पृष्ठ 8 पर)

1 डी/स्ट्रीट 4 ए, सेक्टर 9, भिलाई–490006 (मध्य प्रदेश)

ऊँचाई (सेमी०)	वज़न (किग्रा०) शारीरिक आकार		
	छोटा	मध्यम	बड़ा
		पुरुष	
154	50.5-54	53-58	56.5-63
156	51.5-55	54-59.5	58-64.5
158	52.5-56	55-60.5	59-66
160	53.5-57.5	56-61.5	60-67
162	54.5-58.5	57.5-63	61-68.5
164	55.5-59.5	58.5-64	62-70
166	57-61	59.5-65.5	63-71.5
168	58.5-62.5	61-67	64.5-73
170	59.5-64	62.5-68.5	66.5-75
172	61-65.5	64-70.5	68-76.5
174	62.5-67	65.5-72	69.5-78.5
176	64-68.5	67-73.5	71-80
178	65.5-70	68-75.5	72.5-81.5
180	67-71.5	69.5-77	74-83.5
182	68.5-73	71-78.5	76-85
184	69.5-74.5	72.5-80	77.5-87
186	71-76	74-82	79-88.5
188	72.5-77.5	76-83.5	80.5-90
190	74-79	77.5-85.5	82-92
		महिला	
142	41.5-44.5	43.5-48.5	47-54
144	42.5-45.5	44-49.5	48-55
146	43-46.5	45-50.5	48.5-56
148	44-47.5	46-51.5	50-57
150	45-38.5	47-52.5	51-58
152	46-49.5	48.5-54	52-59
154	47-51	49.5-55	53-60
156	48-52	50.5-56	54-61.5
158	49.5-53	51.5-57.5	55.5-63
160	50.5-54	52.5-59	56.5-64.5
162	51.5-55.5	54-60.5	58-66
164	52.3-57	55.5-62	59.5-67
166	54-58.5	57-63.5	61-68.5
168	55.5-60	58.3-65	62.3-70
170	57-61.5	59.5-66.5	64-71.5
172	58.5-63	61-68	65.5-73.5
174	60-64.5	62.5-69.5	66.5-75
176	61.5-66	63-71	68-77
178	63-67	65.5-72.5	69.5-78.5

मोटापे का आकलन

मोटापे का आकलन सामान्यतः 'ऊँचाई एवं आनुपातिक वज़न सारणी' द्वारा किया जाता है। इस सारणी द्वारा कोई भी व्यक्ति यह पता लगा सकता है कि वह कहीं मोटापे का शिकार तो नहीं है और यदि है, तो, स्थिति की गम्भीरता कितनी हो चुकी है। इन सारणियों का प्रयोग करते समय अपनी कद काठी का स्मरण रखना चाहिये। शरीर का आकार (बनावट) छोटा, मध्यम या फिर बड़ा होने से वांछित वज़न सीमा में परिवर्तन हो जाता है।

प्रस्तुत 'ऊँचाई एवं आनुपातिक वज़न सारणी' में दर्शाए आँकड़े सांख्यिकी बुलेटिन, मेट्रोपोलिटन जीवन बीमा निगम (1959) द्वारा प्रस्तावित हैं एवं सामान्य जीवनकाल के व्यक्तियों पर लागू होते हैं। वज़न सामान्य वस्त्रों सहित बिना जूते-चप्पल पहने लिया जाना चाहिए एवं वस्त्रों के लिए पुरुषों को 3 6 किग्रा. तथा स्त्रियों को 1.8 किग्रा कम कर लेना चाहिये। दर्शाये गए वज़न 25 वर्ष एवं इससे अधिक उम्र वाले व्यक्तियों के लिए प्रस्तावित हैं। 18 से 25 वर्ष के बीच की महिलाओं को, 25 वर्ष से कम होने पर, 0.45 किग्रा. प्रति वर्ष के हिसाब से कम कर अपनी सामान्य वज़न सीमा ज्ञात कर लेनी चाहिये।

ऊँचाई एवं आनुपातिक वज़न सारणी क्रमांक—1

सामान्य वज़न से 20 प्रतिशत या अधिक होने पर व्यक्ति मोटापे से ग्रस्त माना जाता है। स्थिति की गंभीरता ज्ञात करने हेतु कृपया नीचे दर्शाई गई सारणी देखें—

शरीर के भार की अधिकता का प्रतिशत	मोटापे की श्रेणी
20	निम्न श्रेणी
40	मध्यम श्रेणी
80	उच्च श्रेणी
100	अत्यधिक गंभीर श्रेणी

मोटापे की जटिलताएँ : दुष्परिणाम

मोटापे को यदि वक्त रहते नियंत्रित न किया जाये तो विभिन्न जटिलताएँ उत्पन्न हो सकती हैं, यथा—

1—शारीरिक अक्षमता

2—आंतरिक शारीरिक क्रियाओं में व्यवधान एवं दोष

3—विभिन्न हृदय रोग

4—दुर्घटनाओं की सम्भावना, एवं

5—अल्प जीवनकाल

स्थूल शरीर वाले व्यक्तियों की मधुमेह, एथरोस्क्लीरॉसिस (रक्त नलिनाओं में चर्बी का जमना) एवं अन्य हृदय रोगों से पीड़ित होने की सम्भावना बढ़ जाती है। उनके रक्त में ग्लूकोज, कोलेस्ट्रॉल व ट्राईग्लिसरॉइड्स का स्तर भी सामान्य से अधिक हो सकता है। ऐसी स्थिति में वे आसानी से दुर्घटना का शिकार बन सकते हैं। उनमें उच्च रक्तचाप की सम्भावना भी अधिक पाई जाती है, जो हृदय पर अतिरिक्त भार डालती है। अत्यधिक वज़न ढोने के कारण घुटनों में गठिया होने की सम्भावना भी बलवती हो जाती है। मोटे व्यक्तियों में 'हर्निया' की शिकायत भी सामान्य व्यक्तियों से अधिक पाई जाती है। उपरोक्त जटिलताएँ स्थूल व्यक्ति के जीवनकाल में कमी लाने का कारण बनती हैं।

मोटापा और रोगजनित मृत्यु की सम्भावना

ऐसा कहा जाता है कि 10 प्रतिशत अतिरिक्त भार जीवनकाल को 13 प्रतिशत कम कर देता है। मोटापे के कारण सामान्य व्यक्तियों की तुलना में रोगजनित मृत्यु की सम्भावना निम्न अनुपात में बढ़ जाती है—

मृत्यु का कारण	सामान्य वज़न की तुलना में मोटे व्यक्तियों में प्रतिशत सम्भावना वृद्धि
1. हृदय रोग	42
2. स्ट्रोक	59
3. वृक्क रोग	90
4. पित्ताशय की पथरी	106
5. मधुमेह	283

अपना वज़न कम कैसे करें ?

चूँकि अधिक आहार एवं कम शारीरिक श्रम

मोटापे का कारण है, अतः मोटापे से छुटकारा पाने हेतु जिन सिद्धांतों की आवश्यकता है, वे हैं—

(i) आहार-कैलोरी नियंत्रण

(ii) शारीरिक गतिविधियों/श्रम में वृद्धि

क. वज़न को कम करने वाला आहार

आहार द्वारा ली जाने वाली कैलोरी नियंत्रण द्वारा शरीर में कैलोरी की कमी उत्पन्न होती है एवं ऊर्जा की व्ययपूर्ति हेतु शरीर में एकत्रित वसा का उपयोग होने लगता है। इस विधि द्वारा मोटापे को धीरे-धीरे ही कम किया जाना चाहिये। इस प्रकार के आहार द्वारा दैनिक आवश्यकता की आधी मात्रा में ही कैलोरी ली जानी चाहिये। विभिन्न कीमतों पर वयस्कों हेतु वज़न कम करने वाले 1100 व 1300 कैलोरी मूल्य के आहार की विस्तृत जानकारी नीचे दर्शाई सारणियों (2,3,4) में दी गई है—

सारणी क्रमश: 2 : उच्च आय वर्ग के वयस्कों के लिए वज़न को कम करने एवं वज़न को नियत बनाए रखने हेतु प्रस्तावित आहार योजना

(ग्राम/प्रतिदिन/वयस्क)

पदार्थ	वज़न कम करने वाला आहार				वज़न नियत रखने वाला आहार			
	कैलोरी मूल्य 1100		कैलोरी मूल्य 1300		कैलोरी मूल्य 1500		कैलोरी मूल्य 1800	
	शाकाहारी	मांसाहारी	शाकाहारी	मांसाहारी	शाकाहारी	मांसाहारी	शाकाहारी	मांसाहारी
अनाज	80	80	100	100	100	100	150	150
दालें	100	100	100	100	100	100	100	100
दूध (स्किम्ड)	1000	500	1000	500	1000	500	1000	500
पनीर	50	—	50	—	70	—	80	—
अंडा	—	1	—	1	—	1	—	1
मांस/मछली	—	100	—	100	—	150	—	200
हरी पत्तेदार सब्जियाँ	200	200	200	200	200	200	200	200
अन्य सब्जियाँ	200	200	200	200	200	200	200	200
कंद–मूली, गाजर, शकरकंद	50	50	50	50	50	50	50	50
फल	50	50	50	50	50	50	50	50
वसा/तेल	15	15	20	20	30	30	30	30
शक्कर/चीनी	15	15	20	20	30	30	30	30
मल्टी विटामिन खनिज गोली	एक	एक	एक	एक	एक	एक	एक	एक

सारणी क्रमांक 3 : मध्यम आय वर्ग के वयस्कों के लिए वज़न को कम करने एवं वज़न को नियत बनाये रखने हेतु प्रस्तावित आहार योजना

(ग्राम/प्रतिदिन/वयस्क)

खाद्य पदार्थ	वज़न कम करने वाला आहार				वज़न नियत रखने वाला आहार			
	कैलोरी मूल्य 1100		कैलोरी मूल्य 1300		कैलोरी मूल्य 1500		कैलोरी मूल्य 1800	
	शाकाहारी	मांसाहारी	शाकाहारी	मांसाहारी	शाकाहारी	मांसाहारी	शाकाहारी	मांसाहारी
अनाज	100	100	150	150	150	150	220	220
दालें	100	100	100	100	100	100	100	100
दूध (स्किम्ड)	500	300	500	300	500	300	500	300
नट्स (काजू, नारियल/मूंगफली)	30	—	30	—	60	30	60	30
अंडा/मांस/मछली	—	50	—	50	—	50	—	50
हरी पत्तेदार सब्ज़ियाँ	200	200	200	200	200	200	200	200
अन्य सब्ज़ियाँ	200	200	200	200	200	200	200	200
कंद मूली/गाजर	50	50	50	50	50	50	50	50
फल	50	50	50	50	50	50	50	50
वसा/तिल	15	15	15	15	15	15	15	15
शक्कर/चीनी/गुड़	15	15	15	15	15	15	15	15
विटामिन/खनिज गोली	एक	एक	एक	एक	एक	एक	एक	एक

सारणी क्रमांक 4 : निम्न आय वर्ग के वयस्कों के लिए वज़न को कम करने एवं वज़न को नियत बनाए रखने हेतु प्रस्तावित आहार योजना

(ग्राम/प्रतिदिन/वयस्क)

खाद्य पदार्थ	वज़न कम करने वाला आहार				वज़न नियत रखने वाला आहार			
	कैलोरी मूल्य 1100		कैलोरी मूल्य 1300		कैलोरी मूल्य 1500		कैलोरी मूल्य 1800	
	शाकाहारी	मांसाहारी	शाकाहारी	मांसाहारी	शाकाहारी	मांसाहारी	शाकाहारी	मांसाहारी
अनाज	80	80	120	120	170	170	240	240
दालें	150	150	150	150	150	150	150	150
दूध (स्किम्ड)	300	200	300	200	300	200	300	200
काजू/नारियल/मूंगफली	60	30	60	30	60	30	60	30
मांस/मछली/अंडा	—	30	—	50	—	30	—	30
हरी पत्तेदार सब्ज़ियाँ	200	200	200	200	200	200	200	200

अन्य सब्ज़ियाँ	200	200	200	200	200	200	200	200
कंद (मूली/ गाज़र)	50	50	50	50	50	50	50	50
फल	50	50	50	50	50	50	50	50
वसा/तेल	10	10	10	10	15	15	15	15
मल्टीविटामिन/ खनिज गोली	एक	एक	एक	एक	एक	एक	एक	एक

ख. वांछित वज़न को नियमित बनाए रखने वाला आहार

वयस्कों के लिए अपना कम किया हुआ वज़न नियत सीमा में बनाये रखने हेतु 1500 व 1800 कैलोरी मूल्य वाले विभिन्न कीमतों में उपलब्ध आहार की विस्तृत जानकारी सारणी 2,3 एवं 4 में दी गई है।

मोटापे से बचाव

मोटापे को हटाने का सर्वप्रमुख कारगर उपाय है—आहार नियंत्रण। बार-बार एवं अत्यधिक आहार लेने से बचना चाहिये। अत्यधिक कैलोरी युक्त खाद्य पदार्थों, जैसे—तली वस्तुएँ (पूड़ी, पराठे, पकौड़ियाँ व कचौरियाँ), मिठाइयाँ, चाकलेट इत्यादि के सेवन से बचना चाहिये। अपने जीवन में शारीरिक श्रम व व्यायाम को यथोचित स्थान देना चाहिये। सारणी में दर्शाए गए सामान्य वज़न के अनुरूप ही अपने वज़न को कैलोरी नियंत्रण द्वारा निश्चित सीमा में बनाए रखना चाहिये। छोटे बच्चों व उनकी माताओं को पोषण व स्वास्थ्य शिक्षा द्वारा मोटापे के विस्तार को सीमित कर इसके ख़तरों को टाला जा सकता है।

रेशा-युक्त खाद्य पदार्थ लाभकारी

मोटापे को कम करने हेतु रेशेदार पदार्थों (हरे साग, सब्ज़ी, भिण्डी, गुआर, लोबिया, मूली, गाजर, ककड़ी, खीरा, दालें इत्यादि) का जितना अधिक प्रयोग किया जाए, उतना लाभप्रद है। ऐसे पदार्थों के उपयोग से बिना अतिरिक्त कैलोरी के पेट भरने का संतोष तो मिलता ही है, साथ ही साथ, रेशा रक्त में ग्लूकोज की (कोलेस्ट्रॉल व ट्राइग्लिरॉइड्स) की मात्रा को भी कम करता है। डायबिटीज (मधुमेह) व हृदय रोगों में रेशा अत्यंत लाभकारी है। पानी पाकर फूलने की अपनी विशेषता के कारण रेशा कब्ज़, पाइल्स व आँत के कैंसर जैसी भयंकर स्थितियों से छुटकारा दिलाता है। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि एक चाकलेट बार व तीन बड़े सेव कैलोरी की दृष्टि से बराबर हैं, जबकि तीन सेब खाने से आपको तृप्ति, कैलोरी के साथ वांछित रेशा भी प्राप्त होता है, जो स्वास्थ्यकर है।

कल की प्रतीक्षा क्यों ? आज से ही अपनी दैनिक कैलोरी आवश्यकता ज्ञात कर अपने आहार को तदनुरूप नियंत्रित कीजिए। आहार नियंत्रण व शारीरिक श्रम या व्यायाम बढ़ाकर अपने शरीर के अतिरिक्त अवांछनीय भार को हटा फेंकिए। प्रारम्भ में मुश्किल सामने आती है, किंतु जैसे ही आपका वज़न कम होना शुरू होगा, आप अपने को पहले से कहीं बेहतर पाएँगे और आप की अपने वज़न को और कम नियत सीमा में लाने की चाह बलवती होती जाएगी। फिर अपने वज़न को सामान्य सीमा में बनाए रखना आपके लिए मुश्किल न रह जाएगा और आप पा जाएँगे अनचाहे मोटापे से मुक्ति। □□

मृदा एवं जल प्रदूषण समस्यायें एवं समाधान

डॉ० शिवगोपाल मिश्र एवं दिनेश मणि

हमारे चारों ओर का वातावरण एवं परिवेश 'पर्यावरण' कहलाता है। इसके अन्तर्गत जल, थल एवं वायुमण्डल सभी शामिल हैं। सभी प्रकार के जीवों तथा वनस्पतियों के बढ़ने, पनपने एवं समुचित विकास के लिये पर्यावरण में सन्तुलन की आवश्यकता रहती है। सीधे शब्दों में यदि पर्यावरण है तो हम हैं। इसके बिना किसी भी जीव या वनस्पति का कोई अस्तित्व नहीं है। वर्तमान युग में जनसंख्या की वृद्धि, औद्योगिकीकरण, शहरीकरण मनुष्य का भौतिकवादी दृष्टिकोण तथा विज्ञान और तकनीकी की निरन्तर प्रगति के फलस्वरूप हमारा पर्यावरण अनेक प्रकार के प्रदूषण से प्रभावित हो रहा है जिसका सीधा असर वनस्पतियों, जीव-जन्तुओं, यहाँ तक कि स्वयं मनुष्य पर पड़ रहा है।

इस समय भारत की कुल जनसंख्या 81 करोड़ पहुँच चुकी है। जनसंख्या की अधिकता के कारण घरेलू अपशिष्ट पदार्थ की मात्रा में भी वृद्धि हुई है जो कि मृदा और जल प्रदूषण के लिये उत्तरदायी है। अपने देश में कूड़ा-करकट उत्पादन की दर प्रति व्यक्ति प्रतिदिन 5.0 किलोग्राम है। भारत के चार बड़े नगरों के कूड़ा करकट की उत्पादन की दर इस प्रकार है—

कलकत्ता—4000 टन प्रतिदिन

बम्बई—3500 टन प्रतिदिन

दिल्ली—3000 टन प्रतिदिन

मद्रास—2200 टन प्रतिदिन

आजकल शहरों का कूड़ा-करकट (घरेलू तथा औद्योगिक), मल-मूत्र आदि सब मिट्टी में ही डाला जा रहा है। इसके अतिरिक्त सघन कृषि के लिये प्रयुक्त रासायनिक उर्वरक, कीटनाशी, शाकनाशी आदि रासायनिक पदार्थ भी मिट्टी को प्रदूषित करते हैं। प्रदूषित जल—यथा वाहित मल-जल या लवणीय पानी से लगातार सिंचाई करते रहने से भी मृदा प्रदूषण की सम्भावना बढ़ती है। औद्योगिक कूड़े-कचरे, वाहित मल-जल एवं अवपंक (सीवेज-स्लज) में पाये जाने वाले क्रोमियम, निकिल, कैडमियम लेड, ज़िंक, मरकरी आदि भारी तत्त्व मृदा को प्रदूषित करने में प्रमुख भूमिका निभाते हैं।

कुछ औद्योगिक स्रोतों के विशिष्ट प्रदूषक (जो धुआँ, सल्फर डाइ ऑक्साइड, नाइट्रोजन के ऑक्साइड के अलावा पाये जाते हैं) इस प्रकार हैं—

उर्वरक—उर्वरक धूल, अमोनिया, सल्फ्यूरिक अम्ल मिस्ट, फ्लोराइड

सीमेण्ट—सीमेण्ट, चूने के कण

कृत्रिम धागे—अम्लीय धुआँ

कागज—हाईड्रोजन सल्फाइड, मरकेप्टन

ताप बिजलीघर—राख (फ्लाइऐश)

तेल शोधक कारखाने—हाइड्रोजन सल्फाइड, हाइड्रोकार्बन, मरकेप्टन

धातुकी—धातु का धुआँ

कास्टिक सोडा—क्लोरीन, हाइड्रोक्लोरिक अम्ल, पारा

कल कारखानों की चिमनियों एवं मोटर वाहनों से निकलने वाले धुयें और अन्य गैसों में सीसा (लेड) की प्रचुर मात्रा होती है, जो कि मृदा-कणों द्वारा अवशोषित कर लिया जाता है और यह मृदा में विषाक्तता उत्पन्न करता है। इससे पौधों की वृद्धि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त सल्फर डाइ ऑक्साइड से मिट्टियों का पी० एच० मान घट सकता है, जिससे मिट्टी के अम्लीय हो जाने की

शीलाधर मृदा विज्ञान अनुसंधान संस्थान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

आशंका रहती है। परमाणु विद्युत् केन्द्रों, परमाणु अनुसंधान केन्द्रों, युद्ध उद्योगों से उत्पन्न रेडियोसक्रिय अपशिष्ट पदार्थ मिट्टी के अवयवों के साथ क्रिया करके उसी में अन्तर्विष्ट हो जाते हैं।

विभिन्न औद्योगिक कारखानों से निकलने वाले अपशिष्ट पदार्थों से मिट्टी के अतिरिक्त जल-स्रोत भी प्रदूषित हो रहे हैं। भारत में रासायनिक खाद के 67 बड़े कारखाने हैं. जिनसे अनेक तरह के विषैले पदार्थ निकलते हैं। ये पदार्थ अन्ततः मृदा और जल-स्रोत को ही प्रदूषित करते हैं। मृदा एवं जल-स्रोतों के प्रदूषण का मुख्य साधन नगरों से वाहित मल-जल है। सीवेज में भारी तत्त्वों—कैडमियम, लेड, निकिल, मरकरी, क्रोमियम, ज़िंक आदि के अतिरिक्त डिटर्जेन्ट, बोरेट, फॉस्फेट तथा अन्य लवणों की भारी मात्रा घुली रहती है जो पौधों की वृद्धि के लिये हानिकारक होती है। साथ ही ये मिट्टी की भौतिक दशा को भी बिगाड़ते हैं। वाहित मल-जल में घरेलू अपशिष्टों के अतिरिक्त कल-कारखानों का व्यर्थ पदार्थ (ठोस एवं द्रव) भी मिला रहता है। ऐसे जल का उपयोग शहरों के आस-पास की भूमि पर की जाने वाली सब्ज़ियों की खेती में सिंचाई हेतु किया जाता है। ऐसे जल से लगातार सिंचाई करने से मिट्टी 'बीमार' पड़ सकती है।

मिट्टी प्रदूषण के अतिरिक्त जल प्रदूषण भी एक गम्भीर समस्या है। एक अनुमान के अनुसार विश्व में लगभग 30,000 व्यक्ति प्रतिदिन प्रदूषित पानी के कारण मरते हैं। भारत की लगभग 70% ग्रामीण जनता प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से पीने के साफ़ पानी की सुविधा के अभाव में ही काल कवलित होती है। प्रदूषित जल में अनेक प्रकार के रोगकारक जीवाणु होते हैं जो तरह-तरह की बीमारियाँ यथा हैजा, पेचिश, पीलिया, टायफाइड, डायरिया आदि उत्पन्न करते हैं। कई शहरों में तो यह मात्रा प्रति व्यक्ति 60 लीटर प्रतिदिन हो गई है।

जल-स्रोतों के प्रदूषण के मुख्य कारण हैं—घरों की गन्दगी तथा मल-मूत्र वाहित नाले और कारखानों से निकले विभिन्न हानिकारक रससायनयुक्त अपशिष्ट। जनसंख्या में वृद्धि के साथ-साथ घरेलू व्यर्थ पदार्थों और वाहित मल की मात्रा भी बढ़ रही है।

भारत में लगभग एक लाख टन कीटनाशी प्रतिवर्ष इस्तेमाल किये जाते हैं। ये सभी कीटनाशी अन्ततः जल को ही प्रदूषित करते हैं। इसमें से 70% मात्रा ऐसे कीटनाशियों की है, जिनके उपयोग पर पश्चिमी देशों में प्रतिबन्ध है। इन कीटनाशियों में विषैले भारी तत्वों की अधिक मात्रा होती है, जो जल को प्रदूषित कर उसे पीने के अयोग्य बना देते हैं। पीने योग्य-पानी में भारी तत्वों की इष्टतम सीमा इस प्रकार है—

भारी तत्व	**इष्टतम सीमा मि० ग्रा० प्रति लीटर**
कैडमियम	0.01
कॉपर (ताँबा)	0.04
ज़िंक (जस्ता)	5.0
क्रोमियम	0.05
लेड (सीसा)	0.01

शहरों की गन्दगी, चर्म उद्योग, सूती वस्त्र उद्योग, कागज़ उद्योग, चीनी एवं एल्कोहॉल के कारखाने, उर्वरक एवं रसायन उद्योगों के अतिरिक्त अस्पतालों आदि की गन्दगी भी जल के अतिरिक्त परमाणु अस्त्रों के परीक्षण से रेडियोधर्मिता पानी में फैलती है। इस रेडियोएक्टिव व धात्विक पदार्थों के अतिरिक्त पेट्रोलियम आदि से भी जल प्रदूषण होता है।

प्रदूषण द्वारा जल में उपलब्ध अवयव और उनका स्वास्थ्य पर प्रभाव (सारणी)

अवयव	प्रमुख स्रोत व कारण	इष्टतम सीमा मि० ग्रा०/लीटर	सार्थकता व शरीर पर प्रभाव
1. आर्सेनिक	औद्योगिक प्रदूषण	0.05	कैंसर का कारण
2. बेरियम	कार्बोनेट के रूप में लवणीय जल में	1.0	हृदय, रूधिर वाहिका और नाड़ियों के लिये घातक
3. कैडमियम	विद्युत्-लेपन उद्योगों के विसर्जन से	0.01	वृक्क की धमनियों के लिये घातक
4. सायनाइड	विद्युत्-लेपन अपशिष्ट	0.01	जैवक्रियाओं पर प्रभाव 50-60 मि० ग्रा०/लीटर मात्रा घातक
5. क्रोमियम	औद्योगिक अपशिष्ट	0.05	कैंसर का कारण
6. सीसा	औद्योगिक अपशिष्ट व मृदुजल की सीसों के पाइपों पर क्रिया से	0.05	ऊतकों में संग्रहीत होकर सीसा विषाक्तता
7. सेलीनियम	औद्योगिक प्रदूषण	0.01	दन्तक्षय और कैंसर कारक
8. चाँदी	औद्योगिक प्रदूषण	0.05	'आर्जिया' रोग जिसमें आँखों और त्वचा का रंग नीला और स्लेटी हो जाता है।

मृदा एवं जल प्रदूषण रोकने के उपाय

मृदा प्रदूषण को रोकने के लिये निम्नखिलित प्रयास सार्थक सिद्ध हो सकते हैं—

1. कल-कारखानों से प्राप्त सीवेज-स्लज को भूमि पर पहुँचने से पूर्व इन्हें उपचारित किया जाना चाहिये। सीवेज-स्लज का तनूकरण भी अनिवार्य है। सीवेज की 1:1000 तक की तनुता मिट्टी तथा पौधों के लिये सुरक्षित रहती है। सीवेज-स्लज जितनी अधिक दूरी से आता है उसमें पाये जाने वाले प्रदूषकों की मात्रा उतनी ही कम होती जाती है। अतः सीवेज स्लज का उपयोग दूरस्थ ग्रामीण इलाकों में किया जा सकता है।
2. अन्य औद्योगिक अपशिष्ट पदार्थों के मानीटरिंग की व्यवस्था की जानी चाहिये। इसके विषाक्तता सीमा पहुँचते ही आवश्यक सावधानी बरती जा सकती है।
3. सघन कृषि के लिये रसायनिक उर्वरकों का उचित प्रयोग किया जाय। साथ ही फ़सल सुरक्षा के लिये कीटनाशियों, कवकनाशियों एवं शाकनाशियों का कम से कम उपयोग किया जाय।
4. कृषि अपशिष्ट, शहरी कूड़े-कचरे से जैव प्रौद्योगिकी, ताप अपघटन, किण्डवीकरण आदि विधियों एवं सूक्ष्मजीवों की सहायता से अवाय-वीय चय-अपचय द्वारा गैस और खाद प्राप्त की जा सकती है, जिससे प्रदूषण की समस्या भी स्वतः कम हो जाती है।
5. शहरी कचरे में कृषि वानिकी अपशिष्टों, मनुष्य एवं पशुओं के मल विष्ठा के अतिरिक्त 40-50% सेलुलोज होता है। इस कूड़े-कचरे में काँच, अनेक लवण, धातुयें, राख, कंकड-पत्थर और प्लास्टिक आदि के टुकड़े होते हैं, जिन्हें साफ़ करके सेलुलोज

का अंश और और अधिक हो जाता है। वायु की अनुपस्थिति में जैविक विधि से कचरे से गैस तैयार की जा सकती है। बायो-गैस संयन्त्र पर्यावरणीय समस्याओं को दूर करने में काफ़ी उपयोगी सिद्ध हुये हैं। इससे न केवल ईंधन मिलता है बल्कि मल विष्ठा के निपटान से मक्खी-मच्छर तथा रोगाणु नहीं पनप पाते और आस-पास का वातावरण स्वच्छ रहता है। इसके अलावा गैस के साथ उपचारित अवमल को सुखाकर खाद के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है। इस खाद में भारी मात्रा में नाइट्रोजन, फॉस्फोरस और पोटाश होता है।

6. प्रदूषित मिट्टी में जैव पदार्थ के प्रयोग से विषैले तत्वों का प्रभाव कम किया जा सकता है। जल प्रदूषण को रोकने के लिये निम्नलिखित उपाय अपनाये जाने चाहिये—

1. नदियों, तालाबों आदि जल-स्रोतों में कूड़ा-करकट, मल-मूत्र, व्यर्थ पदार्थ, औद्योगिक अपशिष्ट पदार्थ आदि न डाले जायें। घाटों में अधजले शवों को बहाने पर रोक लगायी जाये।
2. नदियों में गिराये जाने वाले अपशिष्ट का उपचार किया जाये। प्रत्येक कारखाने पर औद्योगिक अपशिष्ट के उपचार के लिये उपचार संयन्त्र लगाने की पाबन्दी होनी चाहिये।
3. जल संयन्त्रों में पानी का शुद्धीकरण किया जाये। इसके लिये ब्लीचिंग पाउडर तथा पोटेशियम परमैंगनेट का प्रयोग किया जा सकता है।
4. व्यर्थ दूषित पदार्थों (ठोस एवं जल) को प्राकृतिक जल-स्रोतों में गिराने से पूर्व कृत्रिम जलाशयों में रोककर उसमें शैवाल की कुछ जातियों एवं जलकुम्भी को उगाकर दूषित जल का शुद्धीकरण किया जा सकता है। साथ ही इन पौधों को एकत्रित कर खाद के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है। एक अनुमान के अनुसार एक हेक्टेयर क्षेत्रफल में उगाई गयी जलकुम्भी की फ़सल 240,000 लीटर दूषित जल से 24 घण्टे में लगभग 300 ग्राम निकिल तथा कैडमियम अवशोषित करने की क्षमता रखती है।
5. बूचड़खाने से निकलने वाले व्यर्थ जल (जिसमें रक्त, मज्जा, अंतड़ियाँ आदि होते हैं) को अवायवीय सम्पर्क छन्ने द्वारा छानकर ठोस अपशिष्ट को गैस हेतु तथा जल को सिंचाई एवं मछली पालन हेतु प्रयोग में लाया जा सकता है। 'नीरी' में इस तरह के प्रयोग किये जा रहे हैं।
6. घरेलू तथा औद्योगिक व्यर्थ जल के उपचार के लिये स्थायीकरण, ऑक्सीकरण ताल, हवादार लैगून जैसी विधियों को प्रयोग में लाया जा सकता है। इसके लिये किसी विशेष उपकरण या रसायन की आवश्यकता नहीं पड़ती। 'नीरी' और इन्जीनियरिंग कॉलेज (मद्रास) में ऑक्सीकरण ताल में सूर्य के प्रकाश और सूक्ष्मजीवों की सहायता से वाहित मल-जल के उपचार के संबंध में किये गये परीक्षणों से उत्साहवर्द्धक परिणाम प्राप्त हुये हैं। इस विधि से उपचार पर बहुत कम लागत आती है। उपचारित तरल भाग सिंचाई, मछली पालन तथा कवक आदि उगाने के लिये इस्तेमाल किया जा सकता है और ठोस अवमल को सुखाकर खाद बनायी जा सकती है।
7. शैल रसायनिकी उद्योगों से उत्सर्जित तरल वहिःस्राव में मुख्यरूप से हाइड्रोकार्बन और उनसे बने अन्य कार्बनिक पदार्थ तथा कुछ मात्रा में अम्ल, क्षार एवं प्रक्रम रसायन होते हैं। ये रसायन मुख्यतः कार्बनिक यौगिक होते हैं अतः जीवाणुओं द्वारा इनका विघटन सम्भव है तथा बहिःस्राव उपचार तंत्र का सावधानीपूर्वक चयन करके इनका उपचार किया जा सकता है और इस प्रकार संग्राही तालों में जलीय जीवन के संरक्षण हेतु प्राधिकारियों एवं निर्धारित एवं मान्य सीमाओं के अन्दर इनकी मात्रा को मर्यादित रखा जा सकता है। इस प्रकार उपचारित बहिःस्रावी द्रव को प्रक्रम संयन्त्रों में तथा बागवानी और वनरोपण में पुनः इस्तेमाल किया जा सकता

है। केन्द्रीय प्रदूषण नियन्त्रण मण्डल ने शैल रासायनिकी उद्योगों के लिये निम्नतम राष्ट्रीय मानकों की सिफारिश की है—

पैरामीटर	सान्द्रण की ऊपरी सीमा मि० ग्रा०/ली० (के अतिरिक्त)
पी० एच०	6.5 से 8.5
बी० ओ० डी० 520° से० ग्रे०	50
सी० ओ० डी०	250
फिनॉल	5
सी० एन० के रूप में सायनाइड	0.2
एस० के रूप में सल्फाइड	2
एफ० के रूप में फ्लोराइड	15
सी आर के रूप में हैक्साक्रेट क्रोमियम	0.1
सी आर के रूप में कुल क्रोमियम	2
कुल निलंबित ठोस	100

8. मिट्टी एवं जल से अम्लता दूर करने में चूने का प्रयोग अत्यंत लाभकारी सिद्ध हुआ है। इस दिशा में ब्रिटेन और स्वीडेन के वैज्ञानिक ज़ोर-शोर से अनुसंधान कर रहे हैं। विश्व में सबसे ज़्यादा चूने के पहाड़ स्वीडेन में हैं। स्वीडेन की 85,000 झीलों में 17,000 अम्लीय जल की अधिकता से ग्रसित हैं। इसमें से 3000 को पहले से ही चूनायुक्त किया जा चुका है। यहाँ के पर्यावरण अनुसंधान संस्थान के निदेशक **डॉ० हांस हाटबर्ग** के अनुसार इन झीलों में मुख्यतः चूने के टुकड़े डाल दिये जाते हैं जो धीरे-धीरे घुलकर अपना प्रभाव छोड़ते रहते हैं। बढ़ते हुये जल प्रदूषण के कारण स्वीडेन की अधिकांश नदियों में मछलियों की संख्या कम होने लगी थी, लेकिन अब जिन नदियों व झीलों में चूने का इस्तेमाल किया जा चुका है उनमें मछलियों तथा अन्य जलचर प्राणियों की संख्या में काफ़ी तेज़ी से बढ़ोत्तरी हुई है। □□

7 अप्रैल विश्व स्वास्थ्य दिवस के अवसर पर

बन्द रक्त-वाहिकाओं को खोलने की नई तकनीक विकसित

डॉ० एन० भटनागर

अमेरिकी चिकित्सकों के एक दल ने अल्ट्रासाउण्ड यानि पराध्वनि का उपयोग करके बन्द रक्त-वाहिकाओं को खोलने का एक नया तरीका ढूंढ़ निकाला है जो ऐसे हृदय रोगियों के लिए उपयोगी होगा जिन्हें बाइ-पास सर्जरी की आवश्यकता है।

इस तरीके में एक तार के सहारे अत्यन्त उच्च आवृत्ति की पराध्वनिक तरंगे बन्द रक्त-वाहिका में इस प्रकार प्रवाहित की जाती हैं कि वह खुल जाती है। तरंगों के प्रवाह के लिए प्रयुक्त उपकरण इस काम के लिए अभी तक उपयोग किये जाने वाले लेसर से कहीं सस्ता है। विशेषज्ञों का विचार है कि लेसर तकनीक की ही तरह नई तकनीक कोरोनरी बाइ-पास सर्जरी के बजाए उपयोग में लाई जा सकेगी।

वास्तव में बन्द हृदय रक्त-वाहिकाओं को खोलने के लिए लेसर का उपयोग पहले-पहल एक अंग्रेज़ शल्य-चिकित्सक ने 1986 में किया था। इसमें बन्द वाहिका में पहले एक सुनम्य नलिका प्रवेश कराई जाती है। यह सही-सही बन्द स्थान तक पहुँच रही है या नहीं इसका अंदाज़ एक्स किरण बिंबयोजना से लगाया जाता है। फिर नलिका में से एक प्रकाशिक तंतु अंदर डाला जाता है और लेसर स्पंदों का उपयोग करके धमनी में रुकावट करने वाले धक्के को भेदा जाता है। इसके

डी—720, सरस्वती विहार, दिल्ली—110034

बाद प्रकाशिक तंतु को निकाल कर एक और नलिका को, जिसके अंतिम सिरे पर एक छोटा गुब्बारा लगा होता है, अन्दर प्रवेश कराया जाता है। अब इस गुब्बारे को फुलाकर लेसर द्वारा भेद कर खोले गए धमनी मार्ग को और चौड़ा किया जाता है जिससे रुकावट पूरी तरह दूर हो जाए।

कोरोनरी बाइ-पास सर्जरी की तुलना में लेसर तकनीक कहीं उपयोगी है। सर्जरी में बन्द धमनी का कार्य करने के लिए एक रक्त-वाहिका का टुकड़ा आरोपित किया जाता है। लेसर तकनीक में सामान्य संज्ञाहारी (बेहोश करने की औषधि) का इस्तेमाल भी जरूरी नहीं है और अस्पताल में भी बहुत थोड़े ही समय के लिए रहना पड़ता है। इसमें केवल यही दोष है कि यह महँगी है और यदि लेसर स्पंद ग़लत दिशा में प्रवाहित हो जाएँ तो धमनी में छेद कर सकते हैं जो हृदय-वाहिकाओं के मामलों में मारक सिद्ध हो सकते हैं। आँकड़ों के अनुसार लगभग 1000 मामलों में एक ऐसी घटना हो ही जाती है। इसी से अधिकतर चिकित्सक अभी भी इसे पूरी तरह सुरक्षित नहीं मानते और लेसर चिकित्सा की सलाह केवल तभी देते हैं जब अन्य कोई उपाय शेष न रह जाए।

दूसरी ओर पराध्वनिक तरंगों से इलाज अपेक्षाकृत सस्ता होगा और इसमें धमनी में छिद्र होने पर भी कोई ख़तरा नहीं है। अमेरिकी चिकित्सक इस तकनीक को और सुधारने में लगे हैं। वे महीन टाइटेनियम तारों की सहायता से, जिन्हे वे लेसर तकनीक में प्रयुक्त सुनम्य नलिका में से शरीर में प्रवेश कराते हैं, पराध्वनिक स्पंद भेजते हैं। अभी तक इस तकनीक का उपयोग केवल टाँगों की बंद धमनियों में पुनः रक्त-संचार करने के ही लिए किया गया है। हृदय की धमनियों को खोलने के लिए इसका उपयोग करने से पूर्व चिकित्सक इसे और परिष्कृत करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

इसका एक और लाभ यह दिखाई दे रहा है कि यह बन्द धमनियों को खोलने के साथ-साथ उन्हें सुनम्य भी बनाती है। आशा की जा रही है कि इससे भविष्य में उनके दुबारा बन्द होने का ख़तरा कम हो जाएगा।

(सम्प्रेषण) □□

7 अप्रैल विश्व स्वास्थ्य दिवस के अवसर पर

आपका रुधिर

अजय कुमार चतुर्वेदी

[शिराओं और धमनियों के माध्यम से रक्त हमारे शरीर में प्रतिपल दौड़ता रहता है। रुधिर-संचार है तो दिल की धड़कन है और दिल की धड़कन है तो आदमी जिन्दा है। धड़कन बंद तो 'इहलीला' समाप्त।

रक्त की महत्ता जानते-समझते हुए भी हममें से बहुतों को अपने रक्त-वर्ग का पता भी नहीं रहता। हमें अपने साथ रहने वाली किसी डायरी में अथवा कार्ड में अपना रुधिर-वर्ग अवश्य लिखकर रखना चाहिए ताकि दुर्घटना के समय रुधिर-वर्ग की जाँच के लिए अनावश्यक समय न बर्बाद हो।

इस आलेख में प्रस्तुत है प्रो० अजय कुमार चतुर्वेदी की क़लम से रुधिर के विषय में आम जानकारी।

—सम्पादक]

रुधिर हल्के या गहरे लाल रंग का अपारदर्शी, गाढ़ा, क्षारीय तथा स्वाद में नमकीन होता है। रुधिर की उत्पत्ति मीसोडर्म कोशिकाओं में होती है। यह घनत्व में शरीर का 1/13वाँ भाग घेरे रहता है।

रुधिर हमारे जीवन के लिए बहुत ही आवश्यक है। इसकी कमी से हम बीमार हो जाते हैं। रुधिर शरीर के विभिन्न भागों को पोषक तत्व ऑक्सीजन, हार्मोन व अन्य आवश्यक पदार्थों को पहुँचाता है तथा उपापचय के फलस्वरूप उत्पन्न हानिकारक पदार्थों को शरीर के बाहर निकालने में सहायता करता है। यह शरीर के ताप को नियंत्रित रखता है। शरीर के विभिन्न भागों में विभिन्न तत्वों, आयनों और जल का

रसायन विभाग, धर्म समाज महाविद्यालय, अलीगढ़, उत्तर प्रदेश

सन्तुलन बनाये रखता है। इस प्रकार शारीरिक क्रियाओं के संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसीलिए यह हमारे लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है। यदि यह कहें कि इसके बिना जीवन सम्भव नहीं है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

रुधिर के दो भाग होते हैं—(1) तरल पदार्थ, जो प्लाज़्मा कहलाता है तथा (2) रुधिर कणिकायें। आयतन के आधार पर प्लाज़्मा 55% तथा रुधिर कणिकायें 45% होती हैं।

प्लाज़्मा—यह हल्का पीला, चिपचिपा, पारदर्शी तरल पदार्थ होता है। यह माध्यम का कार्य करता है। इसमें रुधिर कणिकाएँ घूमती रहती हैं। इसमें 90% जल तथा 10% अकार्बनिक व कार्बनिक पदार्थ पाये जाते हैं।

अकार्बनिक पदार्थ मुख्य रूप से सोडियम के क्लोराइड एवं बाइकार्बोनेट होते हैं। सूक्ष्म मात्रा में कैल्सियम, मैग्नीशियम, पोटैशियम के फॉस्फेट, बाइ-कार्बोनेट पाये जाते हैं। इसी कारण रुधिर क्षारीय होता है।

कार्बनिक पदार्थ—घुलित अवस्था में एल्ब्यूमिन, ग्लोबूलिन, फाइब्रिनोजन, प्रोथ्राम्बिन प्रोटीन, ग्लिसरॉल, वसा अम्ल, एमीनो अम्ल, विटामिन, ग्लूकोज, एमोनिया, यूरिया, यूरिक अम्ल, हार्मोन्स, एन्टीजेन्स, एन्टीबॉडी पाये जाते हैं—

रुधिर कणिकाएँ

रुधिर कणिकाएँ मुख्यतया दो प्रकार की होती हैं।

(1) **लाल रुधिर कणिकाएं** (R.B.C.)—ये गोल उभयावतल तथा अनाभिकीय होती हैं। इनका जीवन काल 50 से 120 दिन होता है। ये पुरुष में आम तौर से प्रति घन मि० मी० 5,‘0,00,000 तथा महिला में 4,50,00,000 होती हैं। लाल रुधिर-कणिका में हीमोग्लोबिन होता है। हीमोग्लोबिन में 95% रंगहीन घुलनशील प्रोटीन होती है, जिसे ग्लोबिन कहते हैं तथा 5% हीमेटिन (लोहे का यौगिक) होता है। हीमेटिन लोहा तथा पोरफाइरिन नामक रंग के कण से मिलकर बनता है। लाल रुधिर कण का निर्माण अस्थियों की लाल मज्जा में होता है तथा भ्रूण में यकृत तथा स्प्लीन में बनता है।

श्वेत रुधिर कणिकाएँ (W.B.C.)—ये अस्थायी आकार की केन्द्रमय रंगहीन कणिकाएँ होती हैं। इनका आकार लाल रुधिर कणिका से बड़ा तथा ये संख्या में कम होती हैं। इनकी संख्या 6000-10,000 प्रति घन मि० मी० होती है। जीवद्रव्य तथा केन्द्रक के आधार पर श्वेत रुधिर कणिका दो प्रकार की होती हैं—

कणिकामय (ग्रेन्यूलोसाइट)—इनमें जीवद्रव्य दानेदार तथा नाभिक खण्डित होता है। ये तीन प्रकार की होती हैं। (i) **इसनोफिल**—इनका जीवद्रव्य दानेदार तथा केन्द्रक दो पिन्डों में होता है। ये पिन्ड सूक्ष्म धागे से जुड़े रहते हैं। यह कुल श्वेत रुधिर कणिकाओं की संख्या का 2-4% भाग होता है। (ii) **बेसोफिल**—जीव द्रव्य के दाने संख्या में कम तथा कण बड़े होते हैं। केन्द्रक बड़ा और अनियमित रूप में बहुरूपी होता है। ये श्वेत रुधिर कणिकाओं की कुल संख्या की 5% होती हैं। (iii) **न्यूट्रोफिल**—जीव द्रव्य के कण बहुत छोटे तथा संख्या में अधिक होते हैं। केन्द्रक घोड़े की नाल की तरह होता है। इनकी संख्या श्वेत रुधिर कणिकाओं की कुल संख्या का 60-70% होती है। ये जीवाणु तथा बाहरी पदार्थों को नष्ट करने का कार्य करती हैं।

कणिका रहित (**एग्रेन्यूलोसाइट**)—इनका जीवद्रव्य दानेदार नहीं होता है। ये तीन प्रकार के होते हैं—

(i) **लिम्फोसाइट**—यह आकार में छोटा है। कोशिका द्रव्य की मात्रा कम एवं केन्द्रक गोल, बड़ा होता है। यह श्वेत रुधिर कणिकाओं की मूल संख्या का 20-28% भाग है।

(ii) **मोनोसाइट**—यह आकार में बड़ा होता है। इनका केन्द्रक छोटा तथा एक ओर कटा हुआ होता है। ये जीवाणुओं का भक्षण करती हैं। ये श्वेत रुधिर कणिकाओं का 3-10% भाग होती हैं।

(iii) **थ्राम्बोसाइट**—यह मध्य में मोटी तथा सिरों पर नुकीली तथा चपटी होती है। इनका केन्द्रक गोल होता है। ये रुधिर के जमने में सहायता करती हैं।

कार्ललैण्ड स्टीनर ने बताया है कि लाल रुधिर कणिका के ऊपर एक विशेष प्रकार की प्रोटीन होती है। इसे एन्टीजेन कहते हैं। एन्टीजेन्स विभिन्न प्रकार की होती है। इसी कारण सभी मनुष्यों का रुधिर भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। एन्टीजेन के साथ एन्टीबॉडीज़ भी होती है। एन्टीजेन के आधार पर मनुष्य का रुधिर चार वर्गों में बाँटा गया है, जो निम्नवत् हैं—

वर्ग	एन्टीजेन्स	एन्टीबॉडी
ए	ए	बी
बी	बी	ए
ए बी	ए बी	कोई नहीं
ओ	ओ	ए बी

जब एक का रुधिर दूसरे को दिया जाता है तब इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि दाता और प्राप्तकर्ता के रुधिर में एन्टीबॉडी एक ही हो। अतः रुधिर का आदान-प्रदान समान रुधिर वर्ग में ही सम्भव है। लेकिन आवश्यकता पड़ने पर अन्तरवर्गीय रुधिर भी लिया जा सकता है। ए वर्ग का रुधिर ए और ओ वर्ग के रुधिर में मिलाया जा सकता है। इसी प्रकार बी वर्ग का बी और ओ में, ए बी वर्ग सभी को दिया जा सकता है। ओ वर्ग केवल ओ का रुधिर ले सकता है। इस आधार पर ए बी वर्ग को सर्व प्राप्तकर्ता एवं ओ वर्ग को सर्वदाता कहते हैं।

रुधिर को 40° फारेनहाइट पर सुरक्षित रखा जाता है। रुधिर में थोड़ा सा सोडियम साइट्रेट मिलाकर 30 दिन तक रखा जा सकता है। जिस कक्ष में रुधिर रखा जाता है उसे 'रुधिर बैंक' कहते हैं।

रुधिर जितने झटके के साथ हृदय से धमनियों में प्रवाहित होता है, उसे 'रक्त चाप' कहते हैं। यह दाब इतना होता है कि हृदय से रुधिर को धमनियों द्वारा शरीर के विभिन्न अंगों तक ले जाता है तथा अंगों से शिराओं के द्वारा हृदय तक वापस लाता है। धमनी में यह दाब अधिक होता है तथा शिराओं में कम दाब होता है।

रुधिर चाप दो प्रकार का होता है। यह हृदय के संकुचन और फैलने के कारण होता है। संकुचन के समय के रुधिर दाब को सिसटोलिक रुधिर दाब व फैलने के समय के रुधिर दाब को डाइस्टोलिक रुधिर दाब कहते हैं। सामान्यतया सिसटोलिक रुधिर दाब 100-140 मि० मी० तथा डाइस्टोलिक रुधिर दाब 55-80 मि० मी० पारे के दाब के बराबर होता है।

सामान्य रुधिर दाब विशेष परिस्थितियों में ज्यादा या कम हो जाता है, तब मनुष्य सामान्य नहीं रह पाता। दाब बढ़ने पर उसे उच्च रुधिर दाब हो जाता है। यह असन्तुलित भोजन, अधिक कार्य, चिन्ता या आवेश, घबराहट, धूम्रपान से हो जाता है। दाब कम होने पर निम्न रुधिर दाब हो जाता है। यह थकान रुधिर की कमी के कारण होता है। इन रोगों से दूर रहने के लिए उनके कारणों से दूर रहना ही हितकर है।

जब हृदय के विलय में संकुचन होता है तो रुधिर रुक-रुक कर झटके के साथ बहता है। इसे हृदय स्पंदन तथा लहर को नाड़ी कहते हैं। एक मिनट में हृदय और धमनी में समान स्पंदन होता है। इसे नाड़ी-दर कहते हैं। नवजात शिशु में 130-140, बालक में 120, वयस्क में 70-80 तथा वृद्ध में 60 नाड़ी दर होती है।

व्यायाम, डर, क्रोध, मानसिक चिन्ताओं से नाड़ी दर बढ़ जाती है।

स्वस्थ रहने के लिए हमारे लिए यह आवश्यक है कि नाड़ी दर, रुधिर दाब सामान्य रहे। यह तब ही सम्भव है जब हम खुश व सामान्य रहें तथा पौष्टिक व सन्तुलित आहार लेते रहें, जिससे रुधिर शुद्ध व उचित मात्रा में बनने लगे।

रुधिर का जमना

शरीर में कहीं भी चोट लगने पर रुधिर वाहिनी फट जाती है और रुधिर निकलने लगता है, किन्तु

थोड़े समय बाद रुधिर का बहना बन्द हो जाता है। ऐसा रुधिर का थक्का बनने के कारण होता है। रुधिर का थक्का बनने को ही रुधिर का जमना कहते हैं। रुधिर के जमने के बाद एक प्रकार का हल्का पीले रंग का द्रव निकलता है, जिसे सीरम कहते हैं।

रुधिर का जमना एक रासायनिक क्रिया है। यह कई चरणों में पूर्ण होती है।

प्रथम चरण—घायल भागों के क्षतिग्रस्त ऊतकों से **थाम्बोप्लास्टिन** नामक पदार्थ निकलता है। इसी प्रकार रुधिर कोशिकाओं से निकले रुधिर में रुधिर प्लेटलेट्स का विघटन होता है और यह प्लेटलेट्स, प्लेटलेट तत्व में परिवर्तित हो जाती है। दोनों तत्व प्लाज़्मा में उपस्थित कैल्सियम तथा प्लाज़्मा प्रोटीन से मिलकर नया पदार्थ **प्रोथ्राम्बिनेज** एन्ज़ाइम बनाते हैं।

द्वितीय चरण—प्रोथ्राम्बिनेज की उपस्थिति में हिपेटिन एवं एन्टीप्रोथ्राम्बिन को निष्क्रिय करता है और फिर प्रोथ्राम्बिन को थ्राम्बिन में बदल देता है।

तृतीय चरण—थ्राम्बिन प्लाज़्मा में उपस्थित घुलनशील फाइब्रिनोजन प्रोटीन को सक्रिय फाइब्रिन के अणुओं में तोड़ देता है। ये अणु पतला सूत्र बना देते हैं। ये सूत्र घने जाल के रूप में चोट पर जम जाते हैं, जिससे रुधिर कण बाहर नहीं निकल पाते। इस प्रकार चोट लगने पर जाल थक्का बन जाता है। थोड़े समय बाद हल्का पीला सा तरल पदार्थ बहता है। यह सीरम है, जो फाइब्रिन से छनकर बाहर आता है।

रुधिर श्वसन की क्रिया को पूर्ण करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। रुधिर का हीमोग्लोबिन ऑक्सीजन के साथ मिलकर ऑक्सी-हीमोग्लोबिन बनाता है। यह शरीर के विभिन्न भागों में जाकर ऑक्सीजन वही मोग्लोबिन में टूट जाता है। ऑक्सीजन ऑक्सीकृत कर ऊर्जा देती है।

इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि रुधिर की एक बूँद हमारे लिए कितनी उपयोगी है। इसे नष्ट न होने देना चाहिए।

आजकल महानगरों में नशीली दवाओं का प्रयोग काफी ज़ोरों पर है। इन दवाओं के प्रभाव से रुधिर का सामान्य स्तर कम हो जाता है। रुधिर की मात्रा भी कम हो जाती है और मृत्यु हो जाती है। इस कारण इन दवाओं का प्रयोग नहीं करना चाहिए। रुधिर को हमेशा शुद्ध ही रखना चाहिए। यह एक अनमोल पदार्थ है। इसके सही रहने पर हम जीवन का आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। अतः रुधिर हमारे लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है।

रुधिर की कमी होने पर शरीर पीला पड़ जाता है। कमज़ोरी, थकान हो जाती है। किसी कार्य को करने का मन नहीं करता। शरीर कमज़ोर होने पर बीमारियाँ भी हो जाती है। गर्भवती महिलाओं में रुधिर की कमी हो जाती है, क्योंकि उन्हें रक्त की अधिक आवश्यकता होती है, अतः रुधिर उनके जीवन के लिए बहुत ही मूल्यवान है। इसकी कमी को दूर करने के लिए विटामिन बी कॉम्प्लेक्स, व लौह तत्व के लिए हरी पत्ते वाली सब्ज़ियाँ, दूध आदि का प्रयोग अवश्य करना चाहिए। इन पौष्टिक पदार्थों के अभाव में गर्भवती महिलाओं को आमतौर से 'रक्ताल्पता' (अनीमिया) नामक रोग हो जाता है।

शल्य-क्रिया में रुधिर की आवश्यकता पड़ती है। रुधिर के वर्ग के अनुसार 'ब्लड बैंक' से प्राप्त कर प्रयोग में लाते हैं। ऐसे समय रुधिर की कमी के कारण मृत्यु भी हो जाती है। इस प्रकार खून जीवन के लिए बहुत आवश्यक है।

बीमार होने पर रुधिर की रचना में परिवर्तन हो जाता है। इस परिवर्तन से तात्पर्य यह है कि विभिन्न कणिकाओं की संख्या बढ़ जाती है। इसका पता करने से बीमारी का पता लग जाता है। मधुमेह होंने पर इसनोफिल की संख्या बढ़ जाती है—आदि। इस प्रकॉर रुधिर टेस्ट विभिन्न बीमारियों को पहचानने में सहायक है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि रुधिर हमारे लिए जीवन दायक, जीवन रक्षक है। रुधिर के अभाव में जीवन सम्भव ही नहीं है। यह एक अनमोल वस्तु है। हमें समझना चाहिए कि यह कितना महत्वपूर्ण है। इसकी एक-एक बूंद की रक्षा करनी चाहिए, जिससे अपने और अन्य के काम आ सके। रक्त शरीर में नवजीन का संचार करता है। □□

अतिसार की रोकथाम के प्रारम्भिक उपाय

डॉ० विजय कुमार श्रीवास्तव

[अतिसार की तुरंत रोकथाम में ज़रा सी भी देरी रोगी के लिए मृत्यु का कारण बन सकती है। इसकी रोकथाम के प्रारम्भिक उपायों की जानकारी सभी के लिए ज़रूरी है।

सम्पादक]

हमारे देश में पाँच वर्ष की आयु तक के बच्चों की मृत्युदर काफ़ी अधिक है। इनमें आधे से अधिक अपना दूसरा जन्मदिन मनाने से पूर्व ही इस दुनिया से कूच कर जाते हैं। वैसे तो इन शिशुओं की मृत्यु के अनेक कारण हैं, लेकिन इन सबमें सम्भवतः सबसे बड़ा हत्यारा है अतिसार (डायरिया) जिसे आम बोल-चाल में दस्त लगना कहा जाता है। एक अनुमान के अनुसार हमारे देश में प्रति वर्ष 6 महीने से लेकर 5 वर्ष की आयु के 5 से 10 लाख शिशु इसके शिकार हो जाते हैं।

इस रोग के प्रसार का सबसे बड़ा कारण है दूषित जल। इसीलिए गरीब तबके के, तंग बस्तियों तथा झुग्गी झोपड़ियों में रहने वाले शिशु, इसका शिकार अधिक होते हैं। बरसात और बाढ़ जैसी परिस्थितियों में जब साफ़ और दूषित पानी का सहज ही संगम हो जाता है तो इसकी तांडव लीला अखबारों और पत्र-पत्रिकाओं की सुर्खी बन जाती है।

विडम्बना तो यह है कि अतिसार से होने वाली अधिकांश मौतों को आसानी से रोका जा सकता है। बस आवश्यकता होती है रोग को पहचानने की और प्रारम्भिक अवस्था में ही उस पर काबू पाने के प्रयास की अधिकांश स्थितियों में इसके लिए शिशु को किसी विशेषज्ञ चिकित्सक के पास अथवा अस्पताल ले जाने की भी ज़रूरत नहीं होती। लेकिन अतिसर पर काबू पाने के प्रयास किए जाने से पहले यह जानना बहुत ज़रूरी है कि इससे शिशु की मृत्यु क्यों होती है।

अतिसर में दिन भर तीन या उससे अधिक बार पानी जैसे पतले दस्त होते हैं। माँ का दूध पीने वाले बच्चों का मल वैसे ही थोड़ा पतला होता है। यह अतिसार के कारण नही होता। अतिसार में मल अधिक दुर्गन्ध वाला होता है। साथ ही मल होते समय आवाज़ हो सकती है।

अतिसार से मृत्यु शरीर से अधिक मात्रा में पानी तथा लवण निकल जाने के कारण होती है, साथ ही रोगी के शरीर में पोषक तत्वों की कमी हो जाती है। यदि बच्चा पहले से ही कुपोषण का शिकार है तो उसकी मृत्यु की सम्भावनाएँ और भी बढ़ जाती हैं।

सामान्य अवस्था में शरीर को पानी और लवण खाद्य एवं पेय पदार्थों से प्राप्त होते हैं। आँतों से ये पदार्थ रक्त में पहुँचते हैं। थोड़ी-थोड़ी मात्रा में पानी और लवण मल-मूत्र और पसीने के साथ-साथ निकलते भी रहते हैं। लेकिन अतिसार में आँतों की व्यवस्था बिगड़ जाती है और आँतों से पानी और लवण रक्त में जाने के बजाय रक्त आँतों में आने लगता है और आँतों से मल के साथ शरीर के बाहर निकल जाता है। सामन्य से अधिक मात्रा में पानी शरीर से बाहर निकल जाने पर शरीर निर्जलन का शिकार हो जाता है। प्रत्येक दस्त के साथ निर्जलन बढ़ता जाता है। शिशुओं में गर्म जलवायु में तथा बुखार की स्थिति में निर्जलन अधिक होता है।

अतिसार में मृत्यु का कारण निर्जलन है यह जान लेने के बाद अतिसार में मृत्यु को रोकने के लिए तीन उपाय किए जा सकते हैं। ये उपाय हैं निर्जलन होने न देना और यदि हो ही गया हो तो उसे दूर करना, साथ ही बच्चे को पर्याप्त आहार भी देते रहना ताकि शरीर स्वस्थ रह सके।

अधिकतर मामलों में बच्चे के शरीर में पानी की कमी न होने देने से ही अतिसार काबू में आ जाता है क्योंकि अधिकांश बच्चों में अतिसार अधिक उग्र नहीं होता और उनके शरीर में पानी की कमी नहीं होती। पानी की कमी न होने पाए इसके लिए घर में ही बच्चों को पर्याप्त मात्रा में पेय पदार्थ दिए जाने चाहिए। इन पेय पदार्थों में शरबत, लस्सी, दाल का पानी, हरे नारियल का पानी, चावल का पानी, पानी मिला दूध, कम पत्ती वाली चाय और माँ का दूध प्रमुख हैं।

लेकिन यदि दस्तों की संख्या अधिक हो तथा वे अधिक पतले हों तो उनसे होने वाली पानी और सवण की हानि को केवल इन पेय पदार्थों से नहीं रोका जा सकता। इस अवस्था में एक विशेष पेय पदार्थ देना होता है जिसे मुखीय पुनर्जलन घोल अथवा "ओरल रिहाइड्रेशन सोल्यूशन" संक्षेप में "ओ० आर० एस०" कहते हैं।

इस घोल के बने बनाये पैकेट प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों और स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं के पास उपलब्ध होते हैं। लेकिन आवश्यक्ता पड़ने पर इन्हें घर में भी तैयार किया जा सकता है। एक लिटर घोल बनाने के लिए 3.5 ग्राम सोडियम क्लोराइड अथवा साधारण नमक, 20 ग्राम ग्लूकोज़ (ग्लूकोज़ न होने पर 40 ग्राम साधारण चीनी), 2.9 ग्राम ट्राइसोडियम साइट्रेट डाइहाइड्रेट अथवा 2.5 ग्राम सोडियम बाइकार्बोनेट (खाने वाला सोडा) और 15 ग्राम पोटैशियम क्लोराइड की आवश्यकता पड़ती है। वैसे आपात स्थिति में सोडियम बाइकार्बोनेट और पोटैशियम क्लोराइड न भी हों तो भी कोई विशेष नुकसान नहीं है परन्तु यदि ये पदार्थ भी मिल सकें तो अच्छा होगा।

इन सारे पदार्थों को एक लिटर ताज़े उबालकर ठण्डा किए पानी में घोलकर ताज़ा घोल बना लेना चाहिए। इस घोल को छान कर हर दस्त के बाद बच्चे को पिलाना चाहिए।

ध्यान रहे घोल बनाने के लिए पानी न तो एक लिटर से अधिक हो और न कम। कम पानी में बना घोल बच्चे के लिए हानिकारक होगा और अधिक पानी में बना घोल पर्याप्त लाभ नहीं पहुँचा पाएगा। घोल को बनाते तथा बच्चे को उसे देते समय स्वच्छता बहुत ही आवश्यक है वर्ना इसके लाभ धरे रह जाएँगे।

घोल देते रहने के साथ-साथ बच्चे को शीघ्र पचने वाला पौष्टिक आहार भी देते रहना न भूलें। ग्लूकोज़ का घोल बच्चे को न पिलाएँ क्योंकि इससे केवल पानी और शर्करा की ही आवश्यकता पूरी हो पाती है। इससे शरीर के लिए आवश्यक लवण और खनिज नहीं मिल पाते हैं।

इन सबके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि बच्चे पर दस्त तुरन्त रोक देने वाली कोई भी ओषधि न आज़माएँ अन्यथा अतिसार को जन्म देने वाले जीवाणु शरीर में ही रह जाएगें और दवा का असर समाप्त होते ही वह फिर प्रभावी हो जाएँगे।

एक और बात का ध्याय रखना भी आवश्यक है। यदि घर में ओ० आर० एस० के उपयोग से 12-18 घण्टे के भीतर बच्चे की हालत में सुधार न हो तो बिना और देरी किए उसे तुरन्त चिकित्सक के पास अथवा प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र या अस्पताल ले जाएँ। □□

(सम्प्रेषण)

पादप रोगों के जनक : माइकोप्लाज़्मा

रवि कृष्ण गुप्ता

अक्सर यह देखा गया है कि पौधों की पत्तियाँ अपने साधारण आकार से काफी छोटी रह जाती हैं। तने में अनेक शाखायें-प्रशाखायें उत्पन्न हो जाती हैं और ब्रश जैसी हो जाती हैं। फूलों के विभिन्न अंग पत्ती-नुमा हो जाते हैं। साथ ही ऐसे पौधों में फल नहीं लगते। इसी प्रकार गन्ने के पौधों में अंकुर न फूट कर उनमें सीधे पत्तियाँ निकलने लगती हैं या नींबू पकने पर भी हरे रह जाते हैं या आलू में काले धब्बे पड़ जाते हैं।

इन रोगों का पता लगाने के लिए जापान के पादप रोग विज्ञानी **दाई** और उनके सहयोगियों को गहन अध्ययन के परिणामस्वरूप यह पता लगा कि रोगग्रस्त पौधों में **प्लूरोनिमोनिया** सदृश्य अत्यन्त सूक्ष्मजीव विद्यमान होते हैं। ये सूक्ष्मजीव ही इन रोगों के कारण हैं। इन सूक्ष्मजीवों का आकार आमतौर पर 80-800 मिलीमाइक्रॉन ($m\mu$) होता है। पर इनमें कोशा भित्ति नहीं होती। ये निश्चित रूप फंजाई (कवक), वाइरस (विषाणु), बैक्टीरिया (जीवाणु) आदि से भिन्न हैं। सूक्ष्मजीवों के इस समूह का नाम **माइकोप्लाज़्मा** रखा गया। अध्ययन करने के बाद यह पता लगा कि **माइकोप्लाज़्मा** पौधों में 80 से अधिक विभिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं।

माइकोप्लाज़्मा की खोज 1898 में दो फ्रांसीसी वैज्ञानिकों-**ई० आई० ई० नेकार्ड** और **पी० पी० रॉक्स** ने की थी। ये वैज्ञानिक **प्लूयुरोनिमोनिया** से पीड़ित पशु के पार्श्व तरलों का अध्ययन कर रहे थे। आज
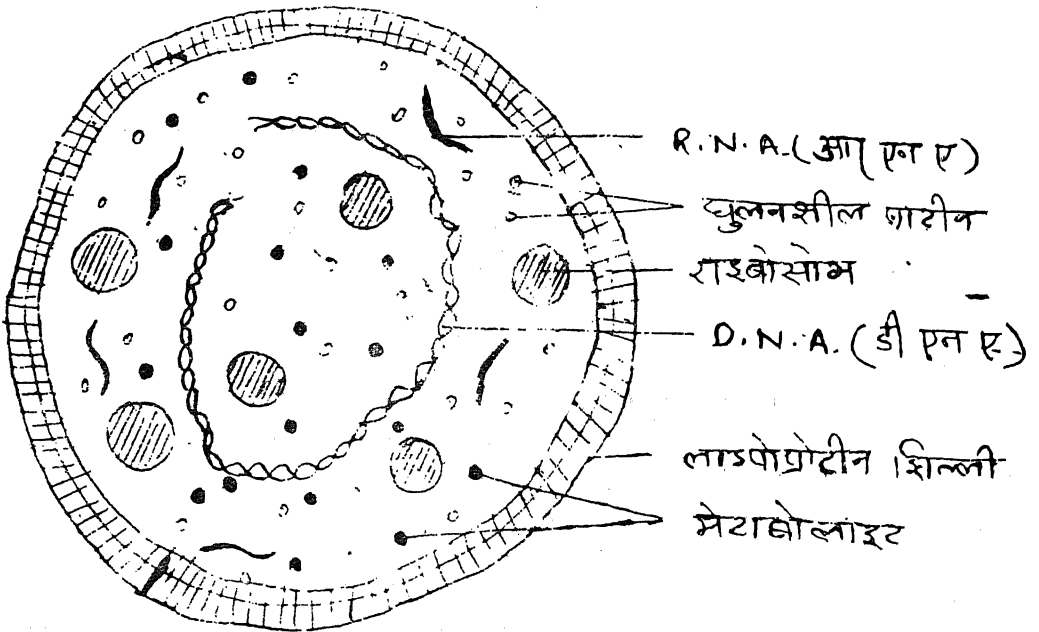
चित्र—माइकोप्लाज़्मा कोशिका

62 चक, इलाहाबाद—211003 (उत्तर प्रदेश)

यह मालूम किया जा चुका है कि **माइकोप्लाज्मा** पौधों में ही नहीं वरन् पशुओं और मनुष्यों में भी आमवात (गठिया) जैसे रोग उत्पन्न करते हैं।

माइकोप्लाज़्मा की रचना

माइकोप्लज़्मा में कोशाभित्ति का तो अभाव होता है, परन्तु कोशिका का आकार बनाये रखने के लिए एक त्रिस्तरीय झिल्ली होती है। यह झिल्ली लाइपो-प्रोटीन की बनी होती है और इसे 'इकाई कला' कहते हैं। यह झिल्ली अत्यधिक पतली और लचीली होती है, जिससे **माइकोप्लाज्मा** का रूप बदलता रहता है।

रासायनिक विश्लेषण एवं अन्य परीक्षणों द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि **माइकोप्लाज़्मा** में **डी० एन० ए०** एवं **आर० एन० ए०** दोनों ही मौजूद होते हैं। इसमें डी० एन० ए० वस्तुतः वृहत कोशिकाओं के गुणसूत्रों में उपस्थित द्विवलयक कुण्डली सदृश्य होता है। इनके अतिरिक्त **माइकोप्लाज़्मा** में राइबोसोम, घुलनशील प्रोटीन तथा मेटाबोलाइट भी पाये जाते हैं।

लक्षण

माइकोप्लाज़्मा का विस्तृत अध्ययन करने पर 1971 में **डेविस और ह्वाइट** को निम्नलिखित विशिष्ट लक्षण मिले—

(1) **माइकोप्लाज्मा** का संवर्धन कोशिका-मुक्त माध्यम में भी हो सकता है। इनका रूप बदलता रहता है और साधारणतया इनकी वृद्धि के लिए स्टेरॉल ज़रूरी होते हैं।

(2) इन पर प्रतिजैविक (एण्टीबायोटिक) पेनिसिलीन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु ये टेट्रासाइक्लीन एण्टीबायोटिक से प्रभावित हो जाते हैं।

वर्गीकरण

माइकोप्लाज़्मा और **बैक्टीरिया** (जीवाणु) की रचना और लक्षणों में काफी समानता होती है जैसे कठोर कोशाभित्ति का प्रभाव। परन्तु **माइकोप्लाज़्मा** और **बैक्टीरिया** के अनेक लक्षणों में बहुत अन्तर भी पाया जाता है। इसलिए इन्हें जीवाणु के अन्तर्गत वर्गीकृत नहीं किया जा सकता। 1966 में 'इण्टर-नेशनल कमेटी ऑन नामेनक्लेचर ऑव बैक्टीरिया' ने **माइकोप्लाज़्मा** को मॉलिक्यूटस वर्ग में रखा है।

माइकोप्लाज़्मा-जन्य रोगों का फैलना

जब कोई स्वस्थ्य पौधा **माइकोप्लाज़्मा** से ग्रसित पौधे के सम्पर्क में आता है तो उसके भी रोग से ग्रसित होने की आशंका हो जाती है। वैसे कीड़े और अन्य जीव भी इन रोगों को एक पौधे से दूसरे पौधे में फैला देते हैं। कुछ दशाओं में कलम बाँधने से भी ये रोग फैला सकते हैं।

सावधानियाँ एवं उपचार

यदि फ़सल बोने के लिए स्वस्थ्य बीजों का उपयोग किया जाता है तो **माइकोप्लाज़्माजन्य** रोग के फैलने की आशंका बहुत कम हो जाती है। इसी प्रकार एक पौधे की कलम दूसरे पौधे पर लगाने से पहले यह जाँच कर लेना भी उपयोगी होता है कि कलम **माइकोप्लाज़्मा** से ग्रस्त तो नहीं है। यदि उनमें **माइकोप्लाज़्मा** मौजूद है तो उसे इस्तेमाल नहीं करना चाहिए।

कीटनाशकों के प्रयोग से **माइकोप्लाज़्मा** नष्ट हो जाते हैं। टेट्रासाइसीन व लेडरमायसीन जैसे प्रतिजैविकों (एण्टीबायोटिकों) के प्रयोग से इस रोग का समुचित उपचार किया जा सकता है। □□

7 अप्रैल विश्व स्वास्थ्य दिवस के अवसर पर

पर्यावरण खराब तो सेहत खराब

प्रदीप कुमार

इस साल 7 अप्रैल को दुनिया भर में मनाये जा रहे 'विश्व स्वास्थ्य दिवस' का मुख्य विषय है— "हमारी धारती—हमारा स्वास्थ्य।" इस अवसर पर 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' ने एक नारा भी दिया है,

सम्पर्क सूत्र: डी-720, सरस्वती विहार, दिल्ली-110034

जिसका मतलब है अपने देश में कुछ करने से पहले दुनिया भर की सोचो। यह विषय और नारा इस बात का बोध कराते हैं कि हमारे स्वास्थ्य और धरती के पर्यावरण के बीच ग़हरा रिश्ता है। अगर हमारा पर्यावरण खराब है तो अच्छी सेहत की कल्पना नहीं की जा सकती। पर्यावरण का भौगोलिक सीमाओं से कोई लेना-देना नहीं है। इसलिए सारी दुनिया को एक होकर पर्यावरण का मोर्चा सँभालना होगा।

इस अवसर पर 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' ने एक दस्तावेज़ जारी किया है, जिसमें पर्यावरण और स्वास्थ्य से जुड़ी अनेक समस्याएँ उठायी गई हैं। तेज़ी से बढ़ती आबादी को मानव जाति की सबसे गम्भीर समस्या माना गया है। इक्कीसवीं सदी में हमारी आबादी छह अरब हो जाएगी। विश्व बैंक के अनुसार दुनिया के 80 करोड़ लोग घनघोर गरीबी में ज़िंदगी गुज़ार रहे हैं। ग़रीबी के कारण उनकी मूलभूत आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं हो रही हैं। इन्हें मजबूरी में गंदा पानी पीना पड़ता है जो अनेक रोगों को जन्म देता है। झुग्गी झोपड़ियों में बसने वालों को कई मानसिक रोग भी घेर लेते हैं। यहाँ आत्महत्या की समस्या आम है।

कुपोषण भी ग़रीबी से जुड़ी समस्या है। विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा जारी दस्तावेज़ के अनुसार दुनिया के लगभग साढ़े चौदह करोड़ बच्चों (पाँच साल से कम आयु के) को पर्याप्त ऊर्जा और प्रोटीन नहीं मिल रही है। ऐसे में वे शारीरिक और मानसिक दोनों ही रूपों में कमज़ोर पड़ जाते हैं। सफ़ाई की व्यवस्था ठीक न होने के कारण बच्चों को बार-बार संक्रामक रोग भी घेर लेते हैं। गंदे पानी के कारण तीसरी दुनिया के पचास लाख बच्चे दस्त (डायरिया) के कारण दम तोड़ देते हैं, जबकि इसका आसान इलाज भी मौजूद है। यहाँ बात उठती है अज्ञानता की। इसलिए लोगों को स्वास्थ्य सम्बन्धी जानकारी देना भी बेहद ज़रूरी है।

पानी की तरह हवा का हाल भी खराब है। बड़े-बड़े उद्योगों के अलावा शहरों में दौड़ती मोटरकारें भी वायु प्रदूषण का प्रमुख स्रोत हैं। इन मोटरकारों से निकलने वाला काला धूँआ सड़कों के किनारे बने भवनों को काला कर देता है। ऐसे में हमारे फेफड़ों का क्या हाल होता होगा, आसानी से सोचा जा सकता है। इस धुँऐं में सीसे, कार्बनमोनोऑक्साइड और नाइट्रोजन के ऑक्साइड जैसे ज़हरीले रसायन मौजूद होते हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने सलाह दी है कि हमें निजी मोटरकारों की जगह परिवहन के जनसाधनों का इस्तेमाल करना चाहिए। उससे वायु-प्रदूषण को कम करने में काफी मदद मिलेगी।

इसके अलावा दस्तावेज़ में और भी कई समस्याएँ उठाई गई हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने घरों में, शहरों में, काम-काज की जगहों में और गाँवों में प्रदूषण को कम करने के लिए अनेक उपयोगी सुझाव दिये हैं। इन्हें अमल में लाकर मानव जाति के स्वास्थ्य की रक्षा की जा सकती है। □□

(सम्प्रेषण)

जीन सरवे स्टास

डॉ० किरण बनर्जी

रसायनशास्त्र को सुदृढ़ वैज्ञानिक नींव पर स्थापित करने का श्रेय कई महापुरुषों को प्राप्त है। इन महापुरुषों में **स्टास** का भी नाम है। यद्यपि **लावाशिये** ने स्टास से बहुत पहले परिमाणात्मक कार्य का प्रारम्भ रसायन के क्षेत्र में कर दिया था, पर इस कार्य की नींव दृढ़ करने में स्टास ने वर्षों तक जिस लगन और तपस्या से कार्य किया वह रसायन विज्ञान के इतिहास में सदा चिरस्मरणीय रहेगा।

स्टास का जन्म बेलज़ियम के लोवें (Louvain) नामक स्थान में 21 अगस्त सन् 1813 ईसवी में हुआ

द्वारा डॉ० संत प्रसाद टंडन, 15 बैंक रोड, इलाहाबाद—211002

था। बाल्यकाल का विद्याध्ययन समाप्त करने के बाद स्टास ने चिकित्साशास्त्र का अध्ययन किया और डॉक्टर की उपाधि प्राप्त की। किन्तु उनकी रुचि तो रसायनशास्त्र में थी। उनका मन चिकित्सावृत्ति में कैसे लगता। कुछ दिनों की प्रेक्टिस के बाद ही उन्होंने इस व्यवसाय को छोड़ दिया।

सन् 1835 में अपने एक मित्र **कोनिक** के साथ उन्होंने अपने घर के एक छोटे कमरे में 'फ्लोरिडज़िन' नामक पदार्थ की परीक्षा व उसका विश्लेषण प्रारम्भ किया। यहीं से स्टास का रसायन के क्षेत्र में पदार्पण होता है। फ्लोरिडज़िन सेब की जड़ की छाल से प्राप्त हुआ प्राकृतिक रासायनिक पदार्थ था। इस प्रारम्भिक कार्य से स्टास की रुचि रसायन की ओर अधिक बढ़ी और उन्होंने भविष्य में इसी कार्य को अपनाने का निश्चय कर लिया। इसके कुछ ही दिनों बाद स्टास ने प्रसिद्ध फ्रांसीसी रसायनज्ञ **ड्यूमा** की पेरिस की प्रयोगशाला में प्रवेश प्राप्त करने का प्रयत्न किया। उन दिनों यूरोप में ड्यूमा की प्रयोगशाला की बड़ी प्रसिद्धि थी और वह कुछ उन थोड़ी इनी गिनी प्रयोगशालाओं में मानी जाती थी जहाँ रसायनशास्त्र सम्बन्धी खोज करने के सभी वैज्ञानिक साधन विद्यमान थे। ड्यूमा की प्रयोगशाला में प्रवेश प्राप्त करने की स्टास की उत्सुकता निम्न छोटी सी बात से भली भाँति ज्ञात हो जाती है। वे जब ड्यूमा से मिलने उनके घर गये तो ड्यूमा की नौकरानी ने उन्हें बतलाया कि ड्यूमा घर पर नहीं थे। इसके बाद वे इतनी बार ड्यूमा के मिलने के प्रयत्न में उनके घर का चक्कर लगाते रहे कि नौकरानी भी उन्हें 'नहीं' का उत्तर देते-देते ऊब सी गई थी। अंत में जब एक दिन वे पुनः ड्यूमा के घर पहुँच और ड्यूमा घर पर थे तो नौकरानी के मुंह से प्रथम उत्तर उसकी आदतवश 'नहीं' निकला। किन्तु साथ ही हाथ के संकेत से उसने बतलाया कि ड्यूमा किस कमरे में बैठे थे।

ड्यूमा ने इन्हें अपनी प्रयोगशाला में एक शिष्य के रूप में भर्ती कर लिया। स्टास अपने साथ फ्लोरिडज़िन ले गये थे और ड्यूमा की प्रयोगशाला में सब से पहले उन्होंने इसी पर फिर से कार्य किया और इसके अनेक गुणों को खोज निकाला। उन्होंने सिद्ध किया कि हल्के अम्ल में उबालने से फ्लोरिडज़िन विघटित होकर फ्लोरेटिन और ग्लूकोज़ उत्पन्न करता है। इस प्रकार के जो पदार्थ विघटित होकर ग्लूकोज़ उत्पन्न करते हैं उन्हें ग्लूकोसाइड नाम दिया जाता है। स्वीडेन के रसायनज्ञ **बरजीलियस** का नाम उन दिनों सारे यूरोप में विख्यात था और वे बहुत ऊँचे वैज्ञानिक माने जाते थे। उन्होंने स्टास के इस कार्य की प्रशंसा की और साथ ही यह भविष्यवाणी की कि भविष्य में स्टास एक ऊँचे रसायनज्ञ होंगे। बरजीलियस जैसे दिग्गज वैज्ञानिक के मुंह के प्रशंसा प्राप्त कर कौन अपने को धन्य और गर्वित अनुभव न करेगा। फलतः स्टास द्विगुणित उत्साह से अपनी आगे की खोज में जुट गये और बरजीलियस की भविष्यवाणी को सत्य सिद्ध कर दिया।

फ्लोरिडज़िन का कार्य समाप्त करने के बाद ड्यूमा और स्टास ने मिलकर पोटाश और चूने के मिश्रण का रासायनिक प्रभाव का विभिन्न एल्कोहॉल, तथा वसा अम्लों के एस्टरों पर अध्ययन किया और कई कार्बन अम्लों के लवण प्राप्त किये। इन दोनों ने एमाइल एल्कोहॉल के रासायसिक रूप का निरूपण भी किया और यह भी सिद्ध किया कि एसीटोन एल्कोहॉल के ग्रुप का पदार्थ नहीं है।

इसी वर्ष ड्यूमा और स्टास ने कार्बन का परमाणु भार मालूम करने का महत्वपूर्ण कार्य प्रारम्भ किया। यहीं से स्टास के उस महत्वपूर्ण कार्य का प्रारम्भ होता है, जिसमें उन्होंने अपना सारा जीवन लगा दिया और जिसके कारण उनका नाम आज रसायन के इतिहास में अमर हो गया है। तत्वों के परमाणु भार मालूम करने का कार्य बरजीलियस ने बड़े परिश्रम से किया था। बरजीलियस का कार्य अपनी पूर्णता व शुद्धता के लिए सर्वमान्य था। किन्तु कभी-कभी बरजीलियस द्वारा निश्चिय किये हुये तत्वों के परमाणु भार के आधार पर अन्य रासायनिक प्रयोगों के फल त्रुटिपूर्ण प्राप्त होते थे। अतः यह सन्देह होने लगता था कि

बरजीलियस के परमाणु भार की संख्या में कुछ अशुद्धि है। तत्वों के परमाणु भारों का पुनः प्रयोगों द्वारा निश्चित करने का कार्य स्टास ने किया और सदा के लिए इस कार्य को पूर्ण कर दिया।

उन दिनों के बड़े रसायनज्ञों में, जिनमें **लीबिग** और ड्यूमा भी थे, यह प्रायः देखा था कि अधिक अणुभार वाले हाइड्रोकार्बन पदार्थों के विश्लेषण से प्राप्त हुये कार्बन और हाइड्रोजन का योग, प्रयोग के प्रारम्भ में लिये गये पदार्थ की मात्रा से कुछ अधिक होता था। कार्बन और हाइड्रोजन का योग प्रयोग में उत्पन्न हुई कार्बन डाइ-ऑक्साइड और पानी की मात्राओं से गणना कर मालूम किया जाता था। ड्यूमा की यह निशचित धारणा थी कि कार्बन डाइ-ऑक्साइड और पानी के रासायनिक संगठन की संख्यायें, जो उन दिनों मान्य थीं, अवश्य त्रुटिपूर्ण थीं। इन पदार्थों में परमाणुओं के भारों का अनुपात बरजीलियस द्वारा निम्न बतलाया गया था—

कार्बन डाइऑक्साइड···कार्बनः ऑक्सीजन

=12 246 : 32 042

जल ···हाइड्रोजनः ऑक्सीजन

=2 : 16.021

ड्यूमा और स्टास ने ऊपर के अनुपातों की सत्यता निर्धारित करने के लिए कार्बन डाइऑक्साइड और जल के परमाणु भारों को होशियारीपूर्वक प्रयोगों द्वारा पुनः मालूम किया। उदाहरणार्थ–कार्बन डाइऑक्साइड का रासायनिक संगठन निश्चित करने के लिए कई प्रकार के शुद्ध कार्बन-ग्रैफाइट, हीरा आदि –द्वारा अलग-अलग प्रयोग किये। प्रयोग की विधि यह थी—कार्बन की एक निश्चित मात्रा को एक पोरसिलेन की नली में शुष्क ऑक्सीजन के वायुमण्डल में जलाया गया। कार्बन के जलने पर जो कार्बन डाइऑक्साइड बनी उसे कास्टिक पोटाश के घोल में, जिसकी तौल पहले मालूम कर ली गई थी, शोषण किया गया और फिर इस कास्टिक पोटाश को तौल कर कार्बन डाइ-ऑक्साइड की तौल मालूम कर ली गई। कार्बन के जल चुकने के बाद पोरसिलेन की नली में जो राख शेष बची उसका भी ध्यान रखकर कुल गणना की गई। कई बार के प्रयोगों के फलस्वरूप निम्न औसत परिणाम कार्बन डाइऑक्साइड के संगठन का प्राप्त हुआ :

कार्बन : ऑक्सीजन = 74.956 : 100

हीरे के कार्बन से निम्न फल प्राप्त हुआ :

कार्बन : ऑक्सीजन = 75.005 : 100

चूँकि हीरा परम शुद्ध कार्बन का रूप है, इस कारण पिछले फल को इन वैज्ञानिकों ने अधिक विश्वसनीय माना।

इन खोजों को समाप्त करने के बाद सन् 1840 ई० में स्टास पेरिस से अपने देश वापस आ गये और ब्रूसेल्स की एक शिक्षा संस्था में आचार्य का पद ग्रहण कर लिया। इस पद पर उसने 25 वर्षों से भी अधिक समय तक केवल नाममात्र के वेतन पर कार्य किया। इस पद पर 30 वर्ष पूरा करने पर वह पेन्शन का अधिकारी हो जाता, किन्तु इसके पूर्व ही उसके कंठ में सूजन का रोग हो गया जिससे उसे व्याख्यान के कार्य में कष्ट होने लगा। अतः उसने पेन्शन की अवधि पूरी करने की परवाह न कर इस पद से त्यागपत्र दे दिया। तब उसे बेलजियम की सरकार ने सरकारी कोष-विभाग में कमिश्नर का पद दिया किन्तु इस पद से भी उसे कुछ ही समय बाद त्याग-पत्र देना पड़ा। चाँदी सस्ती होने के कारण बेलजियम की सरकार ने सोने के स्थान में इसी के सिक्के बड़ी मात्रा में ढलवाने का निश्चय किया। स्टास ने जनता के हित के विचार से सरकार की इस योजना का विरोध किया, किन्तु उसके विरोध का कोई परिणाम न होने से उसने सन् 1872 में कोष-विभाग के कमिश्नर पद से त्याग-पत्र दे दिया। इसके बाद उसने वैतनिक रीति से कोई कार्य नहीं किया और अपना शेष जीवन भी ब्रूसेल्स में ही रहकर जनता व देश की सेवा में बिताया। स्टास जीवनपर्यन्त अविवाहित रहा। उसके जीवन मे केवल एक ही लगन, एक ही अभिलाषा थी, और वह थी विज्ञान की उन्नति करना। विज्ञान की सेवा को ही उसने अपना सारा जीवन अर्पित कर दिया।

वैतनिक जीवन के अतिरिक्त उसे अनेक सार्वजनिक पदों पर अवैतनिक रूप से भी कार्य करना पड़ा। अपने देश की ओर से उसे विभिन्न रूपों में मान व प्रतिष्ठा भी प्राप्त हुई। बेलजियम की सरकार ने उसे लीपोल्ड ऑर्डर के बड़े अफसर की पदवी देकर उसका सम्मान किया था। उन दिनों यह पदवी बेलजियम में सबसे अधिक मान की समझी जाती थी।

वैज्ञानिक संसार में भी स्टास ने कम प्रतिष्ठा नहीं पाई। यरोप की कोई भी प्रयोगशाला व शिक्षा संस्था ऐसी नहीं थी जो उसे अपनी डिग्री या सदस्यता प्रदान करने की इच्छुक न रही हो। बेलजियम की विज्ञान की एकेडेमी का वह सभापति रहा, लंदन की रॉयल सोसायटी ने उसे अपना फेलो बनाया तथा जर्मनी व अन्य देशों की एकेडेमियों ने उसे अपना सदस्य बनाकर उसे मान दिया। अनेक विश्वविद्यालयों ने उसे अपनी डिग्रियाँ प्रदान कर सम्मानित किया। कितनी ही वैज्ञानिक संस्थाओं ने उसे उसके कार्य के उपलक्ष्य में पदक प्रदान किये। इन पदकों में रॉयल सोसायटी, लंदन द्वारा सन् 1885 में दिया गया 'डेवी पदक' तथा ब्रूसेल्स की एकेडेमी द्वारा सन् 1891 में इस एकेडेमी में उसकी सदस्यता के 50 वर्ष पूरा होने के उपलक्ष्य में दिया गया पदक विशेष उल्लेखनीय हैं। रॉयल सोसायटी का 'डेवी पदक' विज्ञान में बहुत ऊँचा मौलिक कार्य करने पर दिया जाता है। इन पदकों से स्टास के रसायन के क्षेत्र में किये गये कार्यों के महत्व का कुछ अनुमान किया जा सकता है। ब्रूसेल्स की एकेडेमी ने सन् 1891 में उसकी 'स्वर्ण जयन्ती' मनाने के लिए जो उत्सव आयोजित किया था, उसमें विभिन्न देशों से बड़े-बड़े वैज्ञानिक सम्मिलित हुये थे और अनगिनत संस्थाओं व व्यक्तियों ने बधाई के पत्र भेजे थे। 'स्वर्ण जयन्ती' के उपलक्ष्य में प्रोफेसर **डब्ल्यू स्प्रिंग** ने स्टास के समस्त वैज्ञानिक कार्यों को पुस्तकाकार प्रकाशित करने का आयोजन किया था।

विचारों की स्वतन्त्रता तथा उसे व्यक्त करने की निडरता ने उसे बेलजियम के पादरियों का शत्रु बना दिया था। उसने खोज तथा अध्यापन के कार्य को गिर्जे के अधिकार क्षेत्र से स्वतन्त्र रखने के लिए जो विचार व्यक्त किये उसके कारण पादरियों ने उसे अपने पत्रों में बुरी तरह गालियाँ सुनाई। उसके विचार स्वातन्त्र्य के कारण बेलजियम की सरकार भी उससे नाराज़ रही। इस नाराज़गी की कुछ झलक बेलजियम के मंत्रियों की चैम्बर में दी गई वक्ताओं से प्रकट होती है। सरकार तथा गिर्जे का अप्रिय होने पर भी वह जनता का अन्त तक प्रिय बना रहा और जनता से उसे जो प्रेम और प्रतिष्ठा प्राप्त हुई वह उसको सुख व सन्तोष देने के लिए पर्याप्त थी।

स्टास का धर्म में कोई विश्वास नहीं था। वह जीवित रहते इसके बन्धन से अलग रहा और मरते समय भी यह इच्छा प्रकट कर गया कि उसकी समाधि गिर्जे के अधिकार क्षेत्र से बाहर बनाई जाय। धार्मिक विरोध होने पर भी चर्च के बहुत से सज्जन उसके व्यक्तित्व की प्रशंसा करते थे और कुछ तो उससे हार्दिक प्रेम व मित्रभाव रखते थे। स्टास एकदम स्वतन्त्र प्रकृति का व्यक्ति था। ऐसा स्वभाव होने पर भी उसके व्यक्तितत्व में इतना आकर्षण था कि लोग स्वयं उसके पास मित्रता का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए खिंच आते थे। उसकी गहरी मित्रता कुछ ऐसे लोगों से भी हो गई थी जिनका राजनीतिक व सामाजिक क्षेत्र में ऊँचा स्थान था। इन मित्रों में ब्रेज़िल के **सम्राट डोम पेड्रो** और **प्रिंस जेरोम बोनापार्ट** के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

अपने नवयुक शिष्यों से उसका व्यवहार सदा मित्रवत रहता था। उनको वैज्ञानिक कार्य करने में वह अपनी पूर्ण सहायता व उत्साह प्रदान करता था। जो उसके प्रिय शिष्य होते थे उनकी सहायता वह विशेष रूप से करता था, किन्तु इसके साथ ही जिनसे वह घृणा करने लगता था उनके प्रति वह कठोर भी कम नहीं था। रसायन के नवीन सिद्धान्तों को उसने शीघ्र स्वीकार नहीं किया और अपनी मृत्यु के कुछ पहले तक उसे इन सिद्धान्तों की खिल्ली उड़ाने में कोई संकोच नहीं होता था। प्रसिद्ध रसायनज्ञ केकूले के नवीन सिद्धान्तों की स्टास ने यद्यपि बहुत समय तक कड़ी आलोचना की किन्तु यह भी सच है कि केकूले को उसके प्रारम्भिक जीवन में सहायता देकर अपरोक्ष रूप से नीवन रसायन की उन्नति में भी वह सहायक रहा।

स्टास का देहावसान 13 दिसम्बर सन् 1891 में हुआ। इस तपस्वी वैज्ञानिक को अन्तिम श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए उसके मृत शरीर के पास अनेक बड़े-बड़े धसी, मानी व विद्धान व्यक्ति एकत्रित हुये थे। इस प्रकार जीवन भर सत्य की उपासना व उसकी खोज करते-करते स्टास चिरशान्ति प्राप्त करने अनन्त की गोद में पहुँच गया।

ब्रूसेल्स के अपने 50 वर्षों के वैज्ञानिक जीवन में अपने मुख्य कार्य परणाणु भार निश्चित करने के अतिरिक्त अन्य कई दिशाओं में भी उसने महत्वपूर्ण खोज के कार्य किये। अपनी खोज के कार्य में जीवन भर वह बड़ी शान्तिपूर्वक संलग्न रहा। कभी किसी सांसारिक चिंताओं से वह उत्तेजित नहीं होता था। सन् 1842 में उसने 'वायुमण्डल की हवा के विश्लेषण के परिणाम' फ्रान्स की एकेडेमी को सूचित किये। सन् 1843 में उसने 'रॉयल सोसायटी' के पास एक खोज सम्बन्धी लेख भेजा जिसमें उसने सलफ्यूरिक एसिड और एसीटिक एसिड की पारस्परिक रासायनिक क्रियाओं पर विवेचना की थी।

व्यावहारिक रसायन के क्षेत्र में भी उसने कई महत्त्वपूर्ण कार्य किये। सन् 1846 में उसने आलू में होने वाले रोग के सम्बन्ध में एक लेख पेरिस की वैज्ञानिक एकेडेमी के पास भेजा। इस लेख में उसने रोगी आलू की रासायनिक दशा की तुलना स्वस्थ आलू से की और बतलाया कि रोग क्यों और कैसे होता है। इसी बीच एक दु:खद हत्याकाण्ड हो गया। इस हत्याकाण्ड के अवसर पर भी स्टास की वैज्ञानिक सूझ-बूझ ने ही हत्यारे को न्यायालय के सामने हत्यारा सिद्ध करने में मदद दी। नवम्बर सन् 1850 में एक काउण्ट ने उसके बहनोई को जलप्रयोग द्वारा निकोटीन खिलाकर उसकी हत्या की। काउण्ट ने कहीं से निकोटीन का बनाना सीखा था और उसके बहनोई की हत्या के लिए स्वयं ही निकोटीन बनाया था। उन दिनों इस विषय का ज्ञान अन्य लोगों को नहीं था। काउण्ट और हत्या में सहायता करने के कारण उसकी पत्नी पर अगले साल जो मुकदमा चला उसकी जनता में बड़ी चर्चा और चहल पहल रही, क्योंकि यह हत्या एक नई विशेष रीति से की गई थी। स्टास ने अपनी प्रयोगशाला में निकोटीन को बनाने तथा उसे पहचानने के सम्बन्ध में परिश्रमपूर्वक प्रयोग किये और सफलता प्राप्त की। उसकी इसी सफलता के आधार पर काउण्ट का अपराध सिद्ध किया जा सका। अपने साक्ष्य में उसने निश्चित रूप से निकोटीन को पहचानने व परीक्षण करने की विधि बतलाई जिसने काउण्ट का अपराध सरलता से सिद्ध हो गया और न्यायालय ने उसे उचित दंड दिया। निकोटीन पर कार्य करने के फलस्वरूप उसने समस्त अलकोलायड (पौधों से प्राप्त विष) को पहचानने के लिए एक नई विधि मालूम की। इस विधि में बाद में **ओटो** ने कुछ संशोधन किया और यही विधि आज भी विष पहचानने के लिए प्रयुक्त होती है।

सन् 1862 में जब लंदन में विश्व प्रदर्शनी हुई तो स्टास से तेल व चर्बियों को विश्लेषित करने की अच्छी विधि पूछी गई। उसने प्रयोगों द्वारा विभिन्न विधियों के गुण दोष मालूम किथे और बतलाया कि मोमबत्तियों के लिए स्टियरिक एसिड प्राप्त करने के लिए तेल व चर्बियों को सल्फ्यूरिक एसिड द्वारा विश्लेषित करने की विधि अधिक अच्छी है। अस्त्र-शस्त्र बनाने के उपयुक्त अच्छी धातु संकर तैयार करने के सम्बन्ध में भी उसने अपनी सकरकार के कहने पर कार्य किया और परिणाम सरकार के पास भेज दिया। ये परिणाम गोपनीय रक्खे गये।

जैसा कि पहले ही बतलाया जा चुका है, स्टास के जीवन का सब से बड़ा कार्य जिस पर उसने अपने जीवन का अधिक समय और अपनी सारी विचार शक्ति लगा दी, तत्त्वों के परमाणुभारों का पुन: निश्चित करना था। ब्रूसेल्स में पहुँचने के तुरन्त ही बाद उसने इस कार्य का प्रारम्भ कर दिया था। अपने गुरू ड्यूमा द्वारा उत्साहित किये जाने के कारण ही उसने इस कार्य को अपनाया था। बरजीलियस का इस दिशा में किया हुआ कार्य उन दिनों सर्वमान्य था। बरजीलियस के कार्य को पुन: अन्य रीति से करने में स्टास का ध्येय यह था कि सदा के लिए इस कार्य की सत्यता सिद्ध हो जाय।

सन् 1803 में **डॉल्टन** ने यह कल्पना की कि प्रत्येक शुद्ध तत्त्व बहुत छोटे-छोटे कणों के सम्मिलन से बना हुआ है। एक ही तत्त्व के सारे कण समान भौतिक व रसायनिक गुण के होते हैं। इन कणों को उसने परमाणु नाम दिया और इसी कल्पना के आधार पर 'परमाणु सिद्धान्त' की स्थापना की। रसायन तथा भौतिक विज्ञान की वर्तमान उन्नति का अधिक श्रेय इसी 'परमाणु सिद्धान्त' को है। यदि परमाणुओं की कल्पना वैज्ञानिकों ने न की होती तो विज्ञान की इतनी उन्नति सम्भव न हो पाती। इस दृष्टि से स्टास के परमाणुओं के भार निश्चित करने के कार्य की महत्ता भलीभाँति विदित हो जाती है। इस कार्य में स्टास ने जितने धैर्य और परिश्रम से कार्य किया वह बहुत थोड़े लोग कर सकते हैं। स्टास आज भी अपने उच्चस्तरीय शोधों के रूप में जीवित हैं। □□

विज्ञान वक्तव्य

प्रिय पाठकगण !

यह विचित्र संयोग है कि माह **अप्रैल** (जूलियन कैलेण्डर) का पहला दिन अब सारे संसार में 'फूल्स डे' (बेवकूफ़ दिवस) के नाम से विख्यात है। इस दिन लोग एक दूसरे को बेवकूफ़ बनाने की युक्ति सोचते हैं। किन्तु आज से 76 वर्ष पूर्व 'विज्ञान परिषद्, प्रयाग' ने 1915 के अप्रैल माह में 'विज्ञान' नामक मासिक पत्रिका निकालकर अज्ञान के अंधकार को दूर करने के लिए एक नन्हा दीप जलाया था। वह दीप आज भी प्रज्वलित है।

अब तो अप्रैल महीने का महत्व बहुत बढ़ गया है। 7 अप्रैल को 'विश्व स्वास्थ्य-दिवस' और 22 अप्रैल को 'विश्व पृथ्वी-दिवस' मनाया जाता है। इस वर्ष अप्रैल महीने में सारे संसार में उपरोक्त दोनों ही दिवस बड़े धूम-धाम से मनाये गये हैं। भारत में भी 'विश्व पृथ्वी-दिवस' बड़े उत्साह से मनाया गया है। यह निश्चिय ही अपनी धरती की सुरक्षा के प्रति जनमानस की चेतना का प्रतीक है। इस वर्ष अपने देश में पृथ्वी को लेकर जो चिंता व्यक्त की गई है, पत्र-पत्रिकाओं, व्याख्यानों-गोष्ठियों के माध्यम से जनजागरण जो ऐसा कार्य हुआ है उसकी प्रशंसा सारे विश्व में हुई है। यह निश्चय ही शुभ लक्षण है।

आप सबको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि 'विज्ञान परिषद् प्रयाग' द्वारा 'विश्व स्वास्थ्य-दिवस' और 'विश्व पृथ्वी-दिवस' के अवसर पर स्थानीय स्तर पर विचार गोष्ठियाँ आयोजित की गई थीं। इन विचार गोष्ठियों की संक्षिप्त रिपोर्ट आपको जून अंक में पढ़ने को मिलेगी। 5 जून को 'विश्व पर्यावरण दिवस' है। 5 जून को भी विज्ञान परिषद् में हम 'विश्व पर्यावरण दिवस' के अवसर पर एकत्र होंगे। मैं 'विज्ञान' के माध्यम से आप सबसे विनम्र निवेदन करता हूँ कि 5 जून को जब आप परिषद् में एकत्र हों तो ज्वलंत पर्यावरणीय समस्याओं पर अपने विचार व्यक्त करने के लिए तैयार होकर आयें। अच्छा होगा यदि 5 मिनट बोलने के लिए एक आलेख तैयार कर लें। इसके दो लाभ हैं। एक तो आप को क्या कहना है, यह पहले से आपको ज्ञात है और लिखा होने से कम समय में आप अधिक बात कह सकते हैं, और दूसरी बात यह कि हमें आपके विचार टेप करने में सुविधा होगी और साथ-ही-साथ हम 'विज्ञान' के आगामी अंक में आपके विचार प्रकाशित भी कर सकेंगे।

हम आर्थिक अभाव के कारण 'विज्ञान' में रंग-बिरंगे चित्र तो नहीं दिखा सकते पर चिंतन-मनन की सामग्री देते रहेंगे।

आशा है, सानन्द हैं।

आपका

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

हिन्दी की त्रैमासिक विज्ञान पत्रिका "वैज्ञानिक" के शुल्क में वृद्धि

छपाई में हुई तीव्र वृद्धि के कारण दिनांक 1.4.1990 से वैज्ञानिक की एक प्रति का मूल्य 5.00 रु० होगा। पत्रिका के नियमित ग्राहकों के लिए शुल्क दरें इस प्रकार हैं :

व्यक्तिगत : 15 रू० (एक वर्ष), 40 रू० (तीन वर्ष)
संस्थागत : 25 रू० (एक वर्ष), 70 रू० (तीन वर्ष)

हिंदी विज्ञान साहित्य परिषद् का सदस्यता शुल्क 1.4.1990 से निम्नलिखित होगा।

व्यक्तिगत : 15 रू० (एक वर्ष), 100 रू० (आजीवन) प्रवेश शुल्क रू० 1.00 अलग
संस्थागत : 25 रू० (एक वर्ष), 250 रू० (आजीवन)

हिंदी विज्ञान साहित्य परिषद् के सदस्यों को वर्तमान नियमों के अनुसार 'वैज्ञानिक' निःशुल्क भेजी जाती है।

हिन्दी विज्ञान साहित्य परिषद्, सूचना प्रभाग, सेन्ट्रल काम्पलेक्स, भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र, बम्बई—400085.

समय के साथ बढ़िए **'आविष्कार'** पढ़िए

नेशनल रिसर्च डिवेलपमेंट कारपोरेशन द्वारा प्रकाशित विज्ञान और प्रोद्योगिकी की लोकप्रिय मासिकी जो सिर्फ 3 रुपए में आप तक लाती है—

0 वैज्ञानिक अनुसंधानों 0 प्रौद्योगिक विकासों 0 नए आविष्कारों 0 नई स्वदेशी प्रौद्योगिक विधियों 0 नए विचारों 0 नए उत्पादों 0 नई तकनीकों तथा विज्ञान के अनेक पहलुओं पर

रोचक जानकारी—ढेर सारी।

हर माह विशेष आकर्षण : हम सुझाएँ आप बनाएँ

विज्ञान में रुचि रखने वाले सभी जागरूक पाठकों, विद्यार्थियों, अध्यापकों, आविष्कारकों, वैज्ञानिकों, इंजीनियरों और निजी उद्योग लगाने वालों के लिए समान रूप से उपयोगी

वार्षिक मूल्य 30 रुपए, सदस्यता शुल्क मनीआर्डर/पो० आर्डर/बैंक ड्राफ्ट से भेजें।

प्रबन्ध निदेशक
नेशनल रिसर्च डिवेलपमेंट कारपोरेशन (भारत सरकार का उपकम)
'अनुसंधान विकास' 20-22 जमरूदपुर सामुदायिक केन्द्र
कैलाश कालोनी एक्सटेंशन, नई दिल्ली—110048

उत्तर प्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के
शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है, यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिये। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं:

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०; आधा पृष्ठ 100.00 रु०; चौथाई पृष्ठ 50.00 रु०; आवरण द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ 500·00 रु०।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत; 500 रु० संस्थागत
वार्षिक : 25 रु०
त्रिवार्षिक : 60 रु०
प्रति अंक : 2 रु० 50 पैसे

प्रेषक : विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

विज्ञान

पर्यावरण पर विशेष सामग्री

परिषद् की मुख पत्रिका

जून-जुलाई 1990

5 रुपये
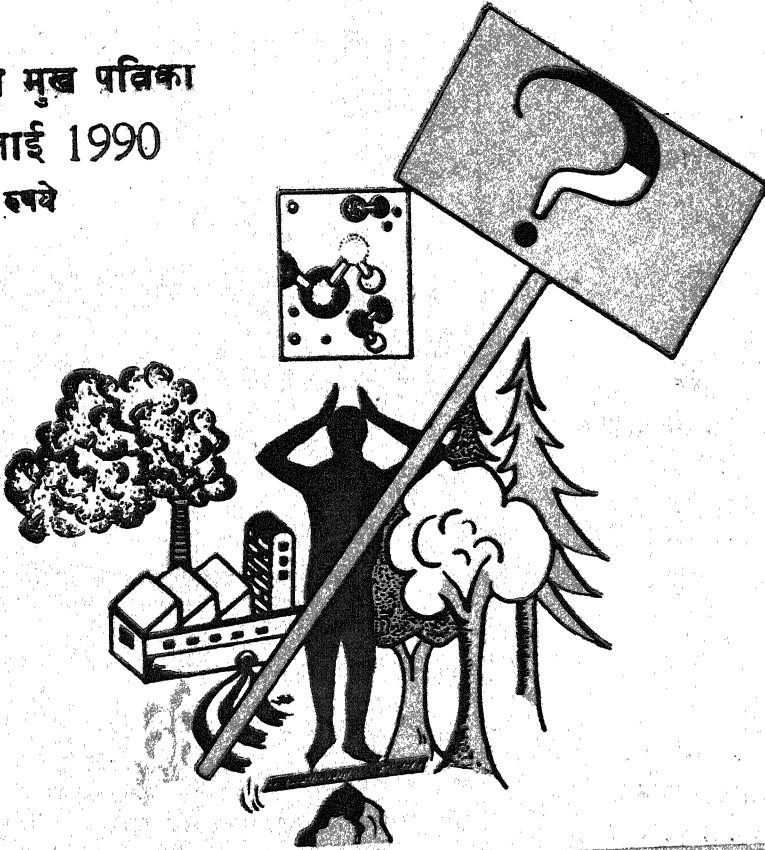
विज्ञान परिषद्, प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 1913; 'विज्ञान' का प्रकाशन अप्रैल 1915
जून-जुलाई 1990; वर्ष 76, अंक 3-4

मूल्य
आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत; 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु०
वार्षिक : 25 रु०
एक प्रति : 2 रु० 50 पैसे
इस अंक का मूल्य : 5 रु०

प्रकाशक
डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी
प्रधान मंत्री
विज्ञान परिषद्, प्रयाग

●

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

●

मुद्रक
श्री सरयू प्रसाद पाण्डेय
नागरी प्रेस
186 अलोपी बाग
इलाहाबाद

●

सम्पर्क
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002

विज्ञान विस्तार

[शेष पृष्ठ 60 पर जारी]

एक शाम पृथ्वी के नाम

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

आदरणीय सभाध्यक्ष जी, परिषद् के प्रधानमन्त्री प्रो० हनुमान प्रसाद तिवारी जी, शीलाधर मृदा अनुसंधान संस्थान से पधारे वैज्ञानिक और उपस्थित विद्वज्जन !

मैं आज परिषद् के इस पुस्तकालय कक्ष में आप सभी का हृदय से स्वागत करता हूँ। आज रविवार के दिन धूप और गर्मी की परवाह न करते हुए आप सब का यहाँ आना परिषद् और पृथ्वी के हित चिन्तन का परिचायक है। इससे यह सुस्पष्ट है कि आप पर्यावरणीय समस्याओं को लेकर कितने जागरूक, कितने चिन्तित और कितने प्रतिबद्ध हैं।

विचार-गोष्ठी के शुभारंभ के पूर्व मैं अपनी बात बच्चों और बड़ों द्वारा समान रूप से पढ़े जाने वाले कॉमिक्स से करता हूँ।

विज्ञान गल्पों से जुड़े पात्रों—फ्लैश गॉर्डेन और प्रो० ज़ारकोव के कारनामों से आप भली भाँति परिचित हैं। कथाओं में ये पात्र वर्तमान समय के अतिरिक्त 10-5 हज़ार वर्ष पूर्व अथवा भविष्य के काल में प्रवेश कर जाते हैं, जहाँ इनका साक्षात्कार तत्कालीन सभ्यताओं से होता है। अपनी बुद्धि चातुर्य के बल पर कठिन से कठिन परिस्थितियों पर विजय पाकर ये पुनः धरती के अपने वर्तमान समय में वापस लौट आते हैं।

मैं 10-5 हजार वर्ष तो नहीं, किन्तु 20 वर्ष पूर्व के अमेरिका के न्यूयार्क शहर की मुख्य सड़कों में से एक **पाँचवें ऐवेन्यू** पर आप सभी को लिए चलता हूँ। हाँ तो देखिए आपके दायें-बायें गगनचुम्बी इमारतें ही इमारतें हैं, किन्तु न तो वाहनों की चिल्ल-पों है और न ही धुँआ-धक्कड़। है न अजीब बात ! पर आदमियों का तो जैसे सैलाब ही उमड़ आया है। लोग किस तरह खुशी से उछल-कूद और नाच-गा रहे हैं। सभी के चेहरों पर आप प्रसन्नता की झलक साफ़ देख रहे हैं। पास मुस्कुराते बच्चे से पूछते हैं तो कहता है, "अरे ! आपको नहीं मालूम ? आज न्यूयार्क शहर के मेयर ने पाँचवें ऐवेन्यू पर मोटर वाहनों को ले जाने से मना कर दिया है। लोग वर्षों बाद प्रदूषणमुक्त हवा में साँस ले रहे हैं। पहली बार लोगों को यह एहसास हुआ है कि एक ऐसा भी वाहन है जो प्रदूषणमुक्त है, और वह है आदमी के अपने पाँव। जानते नहीं, आज 22 अप्रैल 1970 है और इस दिन को हम 'पृथ्वी-दिवस' के रूप में मना रहे हैं।"

22 अप्रैल 1990 को आज इस दिवस की प्रासंगिकता और भी बढ़ गई है, क्योंकि आज ओज़ोन की झीनी होती जा रही पर्त, कार्बनडाइऑक्साइड की बढ़ती मात्रा, जंगलों का कटना, रेगिस्तानों का बढ़ते जाना, सूखा और बाढ़, मिट्टी की ऊपरी पोषक पर्त का नष्ट होते जाना, अनेक जीव-जन्तुओं और पेड़-पौधों की जातियों का लुप्त होते जाना आदि ऐसी समस्यायें हैं, जिनकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते।

स्मरण रहे यह धरती केवल मनुष्य के लिए नहीं है। हम इस धरती के जन्मदाता नहीं हैं। धरती हमारे लिए नहीं, हम धरती के लिए हैं। जब हम नहीं थे तो भी यह धरती थी और हमारे बाद भी रहेगी। पशु-पक्षियों, कीड़े-मकोड़ों, पेड़-पौधों की उम्र से यदि आदमी की तुलना करें तो पता चलता है कि इनका जन्म इस धरती पर मनुष्य से लाखों वर्ष पूर्व हुआ था। एक गणना के अनुसार यदि इस धरती की उम्र एक वर्ष की हो तो आदमी वर्ष के अन्तिम दिन 31 दिसम्बर की रात 7.30 बजे पैदा हुआ।

धरती पर नया होने के कारण आदमी धरती के महत्व को अभी भी ठीक से नहीं समझ सका है और संभवतः इसी कारण सबसे लालची, महत्वाकांक्षी और अशान्त है। **डॉ० जेकिल** और **मि० हाइड** के रूप में अच्छे और बुरे काम करता है। पर आदमी मूल रूप

से भला है। मुझे मनुष्य के विवेक पर, बुद्धि पर विश्वास है। यदि मनुष्य ने समस्याएँ पैदा की हैं तो समाधान की क्षमता भी मनुष्य रखता है और इसी आशय से इस विचार-गोष्ठी के लिए हम एकत्र भी हुए हैं।

मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि यहाँ एकत्र विद्वज्जन समस्याओं को रेखांकित करते हुए समाधान भी सुझायेंगे। अब केवल बोलने नहीं, कुछ करके दिखाने का समय है। अतएव अब अधिक समय न लेकर मैं सभाध्यक्ष जी से निवेदन करूँगा कि कृपापूर्वक औपचारिक रूप से इस विचार-गोष्ठी के शुभारंभ की अनुमति प्रदान करें और मुझे आदेश दें कि मैं पहले वक्ता को अपने विचार प्रस्तुत करने के लिए आमंत्रित करूँ। □□

पृथ्वी दिवस के अवसर पर विचार-गोष्ठी

भूमि दिवस : हमारी चिन्ता का प्रतीक

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

अजीब चिन्ता व्यक्त की जा रही है, अजीब बेचैनी छाई है और अजीब विवाद छिड़ा है विश्व भर में पृथ्वी की सुरक्षा को लेकर। इससे भी पूर्व एक बार 20 वर्ष पहले ऐसी ही चिन्ता व्यक्त हो चुकी है, किन्तु वह स्मृति के गर्त में खो चुकी है। भावों का यह आन्दोलन शायद जागरूकता उत्पन्न करने के लिए है।

पृथ्वी के विषय में ऐसी चिन्ता अनादि काल से होती चली आ रही है। वैदिक काल के ऋषि-मुनि बड़े ममतावान थे। उन्होंने पृथ्वी को माता और अपने आप को पुत्र कहकर उसको स्वर्ग से भी गरीयसी बतलाया था। पौराणिक काल में पृथ्वी स्वयं अपनी रक्षा के लिए गो रूप धारण करके वैकुंठ लोक पहुँचती है और वर पाकर लौटती है।

शायद वैसा ही परिवेश आज भी है। धरती को क्षमा कहा गया है। वह कितनी सहिष्णु है—भार बढ़ाते जाइये चूँ तक नहीं करती। यह भार चाहे जनसंख्या का हो या प्रदूषण का। धरती के अनेक नाम लिये गये हैं किन्तु "कूड़े की टोकरी" पर्यावरणविदों द्वारा प्रदत्त नया नाम है। शायद हमारी चिन्ता का प्रतीक भी।

जितनी गतिविधियाँ सम्प्रति पृथ्वी पर हो रही हैं, उतनी पहले कभी नहीं थीं। पृथ्वी का दोहन भीतर से और बाहर से हो रहा है। भीतर से खनिज/रत्न निकाले जा रहे हैं और सतह पर खेती की जा रही है। खेती भी क्या? अजीब भूख समाई है कृषि वैज्ञानिकों में। कृषि को वे प्रौद्योगिकी का रूप दे चुके हैं। सारे विकासशील राष्ट्र सोने के अंडे के लिए मुर्गी का पेट चीर डालना चाहते हैं। परिणाम चाहे जो भी हो।

कुछ परम्परावादी सिरफिरे अपने को प्रकृतिवादी तो नहीं कहते, वे अपने को पारिस्थितिकीविद् जरूर कहते हैं। उन्होंने अजीब-अजीब नारे निकाल रखे हैं—अम्ल वर्षा, ओज़ोन संस्तर, पौधघर प्रभाव और न जाने क्या-क्या।

हमारी अरण्य सभ्यता हमें भाई नहीं। ऋषि-मुनि जंगलों में रहते, कन्द मूल-फलखाते और हरि का गुण गाते थे। वे धरती को जोतने की बात नहीं करते थे। नैमिषारण्य में बड़ी-बड़ी गोष्ठियाँ हुई हैं। उस वैदिक दर्शन में आज के लिए राहत छिपी है—शून्य जुताई, आर्गेनिक फार्मिंग, बायोमास-सभी उसमें है।

अच्छा हो एक बार हम फिर से प्राचीन संस्कृति का अवलोकन, अध्ययन एवं मनन करें।

आज का दिन पृथ्वी को नमन करने का है। हमारे ऋषि-मुनि तो नित्य ही उठते समय पृथ्वी को प्रणाम करते थे। मैं भी उसे आज प्रणाम करता हूँ। □□

निदेशक, शीलाधर मृदाविज्ञान शोध संस्थान, इलाहाबाद—211002

पृथ्वी दिवस के अवसर पर विचार-गोष्ठी

धरती तुझे प्रणाम

राजेश कुमार केसरी

आज 'पृथ्वी-दिवस' के अवसर पर मैं 'अथर्व वेद', जिसका रचनाकाल आज से लगभग 1000 ई० पूर्व समझा जाता है, की सूक्ति से करना चाहता हूँ। आज से हज़ारों साल पहले हमारे पुरखे पृथ्वी की पूजा करते थे। इसी पुराने विचार को आत्मसात करते हुए हमें इस धरती की रक्षा करनी होगी।

हे पृथ्वी, तुम्हारे पर्वत, तुम्हारे हिमाच्छादित पर्वत शिखर,
तुम्हारे वन, हम पर दयालु हों।
भूरी, काली लाल, नाना रंगों वाली
इस ठोस एवं विस्तृत पृथ्वी की रक्षा इन्द्र करते हैं।
अपराजेय, अविजित तथा अक्षत इस पृथ्वी पर मेरा निवास है।
जैसे घोड़ा धूल उड़ाता है, उसी भाँति
पृथ्वी ने जब रूप धारण किया तो मनुष्यों
की बौछार की।
जो पेड़ों और पौधों को मजबूती से धारण
किये हुए है·······।

ऐसी पृथ्वी को मैं नमस्कार करता हूँ।

यहाँ मैं 'पर्यावरण दशक' की कुछ विशेष बातों की चर्चा कर रहा हूँ—

1. तुरन्त अधिक से अधिक क्षेत्रों में ऐसी ऊर्जा का उपयोग करना शुरू हो जो प्राकृतिक रूप से सर्वत्र उपलब्ध हो या जिसे पुनरुज्जीवित किया जा सके। जैसे पेट्रोल या कोयले के स्थान पर सूर्य ऊर्जा का अधिकाधिक उपयोग।
2. वातावरण में कार्बन डाइऑक्साइड कम करने के सभी प्रभावशाली उपाय करना, जिससे वायुमण्डल की बढ़ती हुई गर्मी में कमी आये।
3. वायुमण्डल में ओज़ोन परत का विनाश कर रहे रसायनों पर पाँच साल की अवधि में विश्वव्यापी प्रतिबन्ध लगाना, जो धरती का तापमान बढ़ा रहे हैं।
4. पुराने प्राकृतिक जंगलों की सुरक्षा और नये वनों का लगना।
5. स्थाई संतुलित विश्व जनसंख्या।
6. नष्ट होती जा रही वनस्पतियों और जीव-जन्तुओं की प्रजातियों के संरक्षण के उपाय करना।
7. एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का गठन, जो वायु-मण्डल, समुद्र आदि जैसे प्राकृतिक धरोहरों को ख़तरों से बचाने के लिए अधिकृत हो।

□□

बी० एस-सी० तृतीय वर्ष, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद—211002

पृथ्वी दिवस के अवसर पर विचार-गोष्ठी

भूमि संरक्षण

डॉ० मुरारी मोहन वर्मा

पृथ्वी की ऊपरी सतह वह समतल भूमि है, जिसे मनुष्य अपने जीवन-यापन के लिए अनेक रूपों में आवश्यकतानुसार आदि काल से प्रयोग में लाता रहा है। वनों के लिए, खेती के लिए, उद्यानों के लिए, चारागाहों के लिए, मवेशी-पालन, कुक्कट-पालन आदि कार्यों के लिए भूमि की आवश्यकता होती है। भवन-निर्माण, सड़क, रेलवे, पार्क, खेल के मैदान, औद्योगिक संस्थान, स्कूल, आदि के अस्तित्व भूमि के बिना सम्भव ही नहीं है। सारांश में कहा जाय कि मनुष्य जीवन का सारा आधार ही भूमि है, तो ग़लत नहीं होगा।

शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान, इलाहाबाद–211002

विज्ञान के विकास के साथ-साथ मनुष्य भूमि को पहले से बेहतर समझने में सक्षम हुआ है। मनुष्य ने अपने उपयोग के लिए भूमि का मनमाने ढँग से प्रयोग किया है, विशेष रूप से खेती के लिये। भूमि की उर्वराशक्ति धीरे-धीरे क्षीण होने लगी। विश्व की बढ़ती जनसंख्या के पोषण का भार भी तो भूमि को बर्दाश्त करना है। अतः वैज्ञानिकों ने भूमि के संरक्षण की बात सोची। भूमि संरक्षण योजना के अन्तर्गत भूमि के नष्ट होने से सुरक्षित रखने की व्यवस्था तथा भूमि का समुचित उपयोग करने के लिए कार्यक्रम बनाये गये। भारत सरकार के कृषि मंत्रालय ने भूमि संरक्षण विभाग का गठन किया। भूमि संरक्षण के कार्यों में आंशिक सफलता ही मिल पा रही है, क्योंकि अभी भी किसानों एवं नागरिकों का पूर्ण सहयोग नहीं मिल पा रहा है। अतः इस महत्वपूर्ण कार्यक्रम में सभी वर्गों का मिला-जुला प्रयास होना चाहिए, जिससे भूमि का संरक्षण समुचित ढँग से हो सके।

भूमि-संरक्षण का प्रथम प्रयास अपरदन के द्वारा नष्ट हो रही भूमि की रोकथाम करना है। हमारे देश में भूमि का कटाव अथवा अपरदन एक गंभीर समस्या है। मृदा-कणों का ह्रास और स्थानान्तरण प्रायः तेज़ हवाओं और भारी वर्षा के फलस्वरूप धीरे-धीरे होता रहता है, जिसे हम अपरदन कहते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में अपरदन का खास प्रभाव भूमि पर दिखाई नहीं पड़ता, परन्तु कुछ वर्षों में स्थिति भयावह हो जाती है। प्राप्त आँकड़ों के आधार पर लगभग 60 हज़ार लाख टन मिट्टी का अपरदन प्रत्येक वर्ष भारत में होता है। इस प्रकार नष्ट हुई मिट्टी लगभग 25 लाख टन नाइट्रोजन, 33 लाख टन फॉस्फेट और 25 लाख टन पोटाश उर्वरक तत्वों के समकक्ष आँकी गई है।

भूमि-निर्माण पर्यावरण के प्रभावों द्वारा खनिज एवं कार्बनिक पदार्थों के दीर्घकालीन पारस्परिक क्रियाओं के फलस्वरूप प्रकृति में होता रहता है। कुछ लोगों का यह तर्क हो सकता है कि जब प्रकृति द्वारा भूमि-निर्माण की प्रक्रिया स्वतः हो ही रही है तो अपरदन से क्या फर्क पड़ता है? जी नहीं, फर्क पड़ता है। अभी हाल ही में अमेरिका के **स्मिथ** और **स्टैली** नामक प्रसिद्ध मृदा-वैज्ञानिकों ने ज्ञात किया है कि सामान्य अवस्था में भूमि का निर्माण प्रति वर्ष लगभग 0.2 टन प्रति हेक्टेयर के बराबर होता है, जबकि अपरदन द्वारा 2 से 10 टन के बीच भूमि की हानि होती है। अतः भूमि और उसकी उर्वराशक्ति दोनों के नष्ट होने का तात्पर्य होता है—पृथ्वी की हरीतिमा का नाश। हरीतिमा का पर्यावरण से सीधा सम्बन्ध है। पर्यावरण स्वच्छ रहे यह मनुष्य का दायित्व बनता है और इसके लिए वनस्पतियों और हरीतिमा का महत्वपूर्ण योगदान है।

भूसि-संरक्षण के लिए मुख्य प्रयास भूमि को समतल करना है, जिससे पानी के बहाव में कमी के कारण मृदा-कणों का स्थानान्तरण रुक सके। पानी के बहाव की गति भूमि ढलान की श्रेणी पर निर्भर करती है। पहाड़ियों पर टेरेसिंग की विधि से पानी के बहाव की गति पर नियन्त्रण किया जाता है। वर्षा की तीव्रता और बूँदों के आकार भूमि पर आघात पहुँचाते हैं, जिसके फलस्वरूप मुक्त-कणों की पकड़ ढीली पड़ने लगती है और पानी के बहाव के साथ वे बहते चले जाते हैं। फसल अथवा वृक्षों की उपस्थिति में वर्षा की बूँदों का प्रत्यक्ष आघात नहीं पड़ता और जड़ों द्वारा भी मृदा कणों की पकड़ रहती है, जिससे वे शीघ्रता से पानी के आघात से विचलित नहीं होते।

वृक्षारोपण, जलाशय के निर्माण-कार्य भी भूमि संरक्षण के मुख्य कार्यक्रम के अन्तर्गत आते हैं। सिंचित जल के कुप्रभाव से फसलों को बचाने के लिए जल-निकास की समुचित व्यवस्था की जाती है। फसल-चक्र का प्रयोग ठीक प्रकार से करना चाहिए, ताकि अपरदन रुक सके और भूमि की रक्षा हो सके। लवणीय मृदाओं के सुधार हेतु भी समुचित व्यवस्था की जाती है।

उपर्युक्त उपायों से निश्चित रूप से भूमि-संरक्षण की दिशा में सफलता मिल सकती है। □□

मिट्टी बचाओ

दिनेश मणि

आज हम मिट्टी को जिस रूप में देख रहे हैं, वह अनगिनत वर्षों के तमाम भौतिक, रासायनिक तथा जैविक प्रभावों का प्रतिफल है। मिट्टी की ऊपरी शून्य से छः इंच की परत पर ही हम सब निर्भर हैं। इसके अतिरिक्त यह 'रत्नगर्भा' अपने अन्दर तमाम बहुमूल्य चीज़ों को समेटे हुये है। मिट्टी कृषि का आधार तो है ही, साथ ही यह हमारी सभ्यता का भी प्रतिबिम्ब है। प्रत्येक जीवधारी का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध मिट्टी से है। अतः मिट्टी के प्रबन्ध के विषय में गम्भीरता से सोचने की जरूरत है।

आज हम "पर्यावरणीय प्रदूषण" के अन्तर्गत जल प्रदूषण, वायु प्रदूषण, ध्वनि प्रदूषण आदि को तो विशेष महत्त्व देते हैं, किन्तु मिट्टी-प्रदूषण को भूले हुये है, जबकि वास्तविकता यह है कि प्रायः सभी प्रकार के प्रदूषणों को आश्रय देने वाली यही मिट्टी है। अपशिष्टों को अपने अन्दर छिपा लेने वाली रत्नप्रसविनी इस मिट्टी पर आज क्या बीत रही है, आइये इस पर दृष्टि पात करें—

तमाम तरह के व्यर्थ पदार्थ मिट्टी में मिलकर उसकी उत्पादकता पर विपरीत प्रभाव डाल रहे हैं। ये व्यर्थ पदार्थ प्रायः "मृदा-प्रदूषक" के रूप में जाने जाते हैं। इन व्यर्थ पदार्थों के दो प्रमुख स्रोत हैं—

(क) कृषीय स्रोत

(ख) अकृषीय स्रोत

कृषीय स्रोत

(1) यद्यपि कृषि का आधार मिट्टी ही है फिर भी कृषि से बचे हुये अंश (कृषीय अपशिष्ट) मिट्टी के प्रदूषण के कारण हो सकते हैं। ये कृषीय स्रोत कई प्रकार के हैं यथा भूमि में डाले जाने वाले कीटनाशी, शाकनाशी, कवकनाशी आदि की अधिक मात्रा जो अप्रयुक्त पड़ी रहती है।

(2) कृषि से सम्बन्धित कुछ अनुचित क्रियायें एवं कृषि से सम्बन्धित कुछ व्यर्थ पदार्थ। कृषि से सम्बन्धित अनुचित क्रियाओं में खेत की अत्यधिक जुताई करना है, जिससे भूमि कटाव की सम्भावना बढ़ जाती है।

(3) रासायनिक उर्वरकों का अधिक मात्रा में तथा लगातार प्रयोग करते रहना।

(4) प्रदूषित जल यथा वाहित मल-जल या लवणीय जल द्वारा निरन्तर सिंचाई करना।

अकृषीय स्रोत

शहरीकरण, औद्योगिकीकरण, व्यर्थ पदार्थ का उत्पादन, आधुनिकीकरण, रहन-सहन के तरीके में बदलाव आदि मिट्टी-प्रदूषण के अकृषीय स्रोत हैं।

इसके अतिरिक्त नाभिकीय अस्त्रों की निरन्तर वृद्धि के कारण विस्फोटों की संख्या भी बढ़ी है। इनसे जो रेडियोसक्रिय पदार्थ निकलते हैं वे मिट्टी के अवयवों के साथ क्रिया करके उसी में मिल जाते हैं। ऐसे साक्ष्य प्राप्त हैं जिनमें धूल कणों के रूप में स्ट्रान्शियम (Sr 90) मिट्टी की सतह पर संचित होता है। रेडियोसक्रिय अपशिष्टों को ग्रहण करके मिट्टियाँ लम्बे समय के लिये घातक बन सकती हैं।

हम अक्सर यह भूल जाते हैं कि अपशिष्टों को विनष्ट करने की मिट्टी की अपनी एक सीमा है। मिट्टी यह कार्य सूक्ष्मजीवों की सहायता से करती है। और इन सूक्ष्मजीवों की उचित क्रियाशीलता के लिये उचित पी० एच० मान व गैसों के उचित सान्द्रण की आवश्यकता होती है। वायुमण्डल में हो रहे वायु प्रदूषण के कारण मिट्टी के वायुमण्डल का संघटन बदल रहा है फलस्वरूप मिट्टी में होने वाली अनेक जैव-रासायनिक क्रियायें प्रभावित हो रही हैं, जिससे मिट्टी की अन्न-उत्पादन क्षमता पर विपरीत असर पड़ रहा है।

शोध छात्र, शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद—2

मिट्टी प्रदूषण के अतिरिक्त उपजाऊ मिट्टी का नर्मदा घाटी जैसी बड़ी-बड़ी परियोजनाओं, औद्योगिक नगर बसाने, परमाणु ताप बिजली घर स्थापित करने, ईंटों के भट्ठे आदि में बहुत दुरुपयोग होता है। हर तरह से मिट्टी ही प्रभावित होती है। अतः मृदा-वैज्ञानिकों के साथ-साथ सामान्य जनों का भी यह कर्तव्य बनता है कि वे मिट्टी को प्रदूषित किये बिना सुनियोजित ढँग से उपयोग में लाकर पर्यावरणीय सन्तुलन को बनाये रखें। मिट्टी को केवल मिट्टी ही न समझें बल्कि मिट्टी और अपने बीच एक भावनात्मक सम्बन्ध बनाये रखें तभी हम सबका कल्याण सम्भव है। □□

पृथ्वी दिवस के अवसर पर विचार-गोष्ठी

हम पृथ्वी दिवस पर संकल्प लें

प्रमोद कुमार शुक्ल

22 अप्रैल 1970 को न्यूयार्क शहर में पहली बार 'पृथ्वी दिवस' मनाया गया। 'भू-माता दिवस' 1970 में तो अमेरिका तक ही सीमित रहा, लेकिन धीरे-धीरे विश्व के सभी निर्धन एवं धनी देशों ने इस ओर ध्यान दिया। क्योंकि यदि हमारी पृथ्वी प्रदूषित है, तो पृथ्वी पर रहने वाले सभी प्राणियों पर प्रभाव समान रूप से पड़ेगा। दिन-प्रतिदिन पृथ्वी मानव एवं अन्य प्राणियों के रहने के लिए अनपयुक्त होती जा रही है। इसलिए हमें इसको जीवन-दायिनी बनाये रखने के लिए उन सभी विरोधी शक्तियों से इसकी रक्षा करनी है, जो इसे जीवनहीन बनाने की कोशिशें कर रही हैं।

एक सराहनीय आधार मिल जाने के बाद अब 'भू-दिवस' कार्यक्रम की योजनाएँ बन रही हैं। समाज के सभी वर्गों–वैज्ञानिकों, समाजसेवियों, अर्थशास्त्रियों, राजनीतिज्ञों आदि ने भू-माता के प्रति यह चिन्ता करनी शुरू कर दी है, कि कैसे इसे शुद्ध जल, स्वच्छ वायु एवं मृदा सहित सुरक्षित बनाये रखा जाये। संयुक्त राष्ट्र संघ, राष्ट्र मण्डल, गुटनिरपेक्ष सम्मेलन जैसे अनेक संगठनों ने भी पृथ्वी को प्रदूषण से मुक्त रखने के लिए योजनाएँ बनायी हैं।

आइये, आज 'पर्यावरण दशक' के शुभारम्भ पर हम यह संकल्प करें कि इस 'दशक' में ऐसे मानव-समाज का निर्माण करें, जो इस भू-मण्डल पर निवास करने वाली सभी वनस्पतियों, सभी जीव-जन्तुओं की रक्षा के साथ ही साथ साफ़ पानी, साफ़ हवा, प्रदूषण-मुक्त मिट्टी भी मुहैया कर सके। □□

शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान, इलाहाबाद—211002

5 जून विश्व पर्यावरण दिवस पर

ध्वनि प्रदूषण : कारण, दुष्प्रभाव एवं नियंत्रण

कु० दिव्या कुलश्रेष्ठ

ध्वनि प्रदूषण सामाजिक जीवन की एक महत्वपूर्ण समस्या है। इसका प्रभाव जहरीले रसायन के प्रदूषण से भी अधिक ख़तरनाक है। वर्तमान मशीनी युग से हमें जो उपहारस्वरूप प्रदूषण मिल रहा है, वह अत्यन्त कष्टदायक एवं हानिकारक है। आम तौर से हम हवा, पानी और मृदा प्रदूषण की बात तो करते हैं किन्तु ध्वनि प्रदूषण उपेक्षित रह जाता है। पर वास्तविकता तो यह है कि लगातार तेज होती जिन्दगी की रफ्तार

कला इलेक्ट्रॉनिक्स, 13 लाजपत राय लेन, बहादुरगंज, इलाहाबाद—211003

के कारण शोर प्रदूषण दिनोदिन बढ़ता जा रहा है। दैनिक जीवन में अपरिहार्य साधारण आवाज़ों से अधिक ऊँची आवाज़ें शोर कहलाती हैं। अनावश्यक, असुविधाजनक और निरर्थक आवाज़ ही ध्वनि प्रदूषण है। दूसरी तरह से कहें तो शोर, ध्वनि कम्पन की वह अवस्था है जो सुनने में अप्रिय लगती है। शोर का निर्धारण व्यक्ति विशेष की मानसिक अवस्था का पैमाना होता है। 'डिस्को म्यूज़िक' के शोर में, नाचते हुए व्यक्तियों का मनोरंजन होता है जबकि सामान्य व्यक्ति के लिये यह प्रदूषण का कार्य करता है।

ध्वनि की मात्रा का निधारण डेसिबेल्स में किया जाता है। मनुष्य शून्य डैसिबेल पर भी सुन सकता है। 80 डेसिवेल के ऊपर ध्वनि अप्रिय लगती तथा 130 से 140 पर दुखदायी। किसी भी व्यक्ति के लिये ध्वनि का प्रिय या अप्रिय लगना इस बात पर निर्भर करता है कि उसका स्रोत एवं उसकी तीव्रता कितनी है। 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' द्वारा निर्धारित अप्रिय आवाज़ ही ध्वनि प्रदूषण की श्रेणी में आती है। ध्वनि प्रदूषण की प्रचण्डता नापने वाले यंत्र को 'लार्म बैरोमीटर' कहते हैं।

शोर प्रदूषण के कारक

बढ़ती हुयी जनसंख्या एवं आधुनिकीकरण ध्वनि प्रदूषण के मुख्य कारण हैं। विगत कुछ वर्षों में आवागमन के साधनों, औद्योगिक संस्थानों एवं मनोरंजन के साधनों के अत्यधिक विकास के कारण मनुष्य को लाभ कम एवं हानि अधिक हुई है। इसी कारण इन सुविधाओं को ध्वनि प्रदूषण के स्रोत में भी रखा जा सकता है। ध्वनि के कारक है—

1. पंच प्रेस
2. रसोईघर के बर्तनों का टकराना
3. खराब मशीन
4. व्यस्त कार्यालय
5. न्यूमैटिक हथौड़ा
6. मोटर कार हार्न
7. मोटर साइकिल
8. भारी इंजीनियरिंग
9. बुनाई मिल
10. सेल बेड स्टिंग
11. छोटा पिस्टन वाला विमान
12. टॉपोजेट इंजन
13. प्रॉपेलर विमान
14. जल विमान
15. विस्फोट
16. अंतरिक्षायान
17. श्रव्य दृश्य साधन आदि।

ध्वनि प्रदूषण के दुष्प्रभाव

मानव शरीर पर ध्वनि प्रदूषण से होने वाले कुप्रभाव के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों के अध्ययन अत्यन्त ही रोचक हैं। **डॉ० ब्रिप्रिश** के अनुसार शोर आदमी को असमय ही वृद्ध बना देता है। नाइट क्लबों में जाने वालों युवापीढ़ियों की श्रवण शक्ति क्षीण हो गई और ऐसे क्षेत्रों के विद्यार्थियों में चिड़चिड़ेपन, सिरदर्द, अध्ययन विमुखता एवं स्मृति क्षीणता की शिकायतें मिलीं हैं। ध्वनि प्रदूषण के कारण अध्ययनरत् विद्यार्थियों की एकाग्रता घट जाती है और ग्रहणशीलता भी प्रभावित होती है।

श्रवणविज्ञानी एवं मनोविज्ञानवेत्ता **डॉ० सूर्यकान्त मिश्र** ने औद्योगिक क्षेत्रों, रेलवे कालोनियों एवं शोर-शराबे वाले क्षेत्रों के पाँच से दस आयु समूह के छात्रों का विविध प्रकार से निरीक्षण किया एवं यह निष्कर्ष निकाला कि लाउडस्पीकरों पर रिकॉडिंग के शोर तथा रेलगाड़ी की गड़गड़ाहट के कारण 60 प्रतिशत छात्र अपनी कक्षा में ध्यान केन्द्रित नहीं कर पाते।

विकसित देशों में बधिरता बढ़ने का मुख्य कारण शोर है और इसका प्रभाव निरन्तर बढ़ता जा रहा है। डगलस स्थित 'अमेरिकन मेडिकल एसोसियेशन' की वाक् शाखा के निदेशक **डॉ० ग्लोरिंग** का कथन है, "सम्पूर्ण पृथ्वी शोर से ग्रसित है और इसका प्रभाव बढ़ता ही जा रहा है। हमें किसी न किसी रूप में इस पर नियन्त्रण करना होगा। दूसरी स्थिति यह भी हो सकती है कि शोर में रहकर हम अपनी बधिरता बढ़ाते जायें।"

ब्रिटेन के वैज्ञानिक अपने अध्ययनों से इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि लंदन के हवाई अड्डे के समीप रहने वालों को जेट विमान की आवाज़ के कारण मानसिक क्षति अधिक हुई है। दल के मनश्चिकित्सक **डॉ० आई० एव विकरामा** का कथन है कि इस क्षेत्र के समीप रहने वाले सर्वाधिक प्रभावित 45 वर्ष की आयु समूह से अधिक आयु की महिलायें थीं, जिन्हें 'न्यूरोटिक मेण्टल डिसऑर्डर' की शिकायत थी।

'स्टेनफोर्ड रिसर्च इंस्टीट्यूट' के **डॉ० जिरोम लुकास** ने निद्रा एवं शोर के पारस्परिक सम्बन्धों पर अध्ययन किया है। उनके अनुसार शोर के बीच रहने वाले कार्मचारी प्रातः उठने पर थकान का अनुभव करते हैं। उनके अनुसार इस थकान का मुख्य कारण शोर के बीच सोने का प्रयास करना था।

सवा दो लाख से भी अधिक नवजात शिशुओं पर परीक्षण करने के पश्चात् कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के **डॉ० नोबेल जोन्स** ने यह पाया कि लगातार शोर में जीवन व्यतीत करने वाली महिलाओं के शिशुओं में विकृतियाँ अधिक होती हैं।

शारीरिक विकृतियाँ

मानव मस्तिष्क की 12 तंत्रिकाओं में से एक सुनने की होती है, जो श्रवण-तन्त्रिका कहलाती है। इसके दो भाग होते हैं—(1) कर्णावर्त तंत्रिका एवं (2) प्रमाण तंत्रिका। इनमें कर्णावर्त तंत्रिका ध्वनि को ग्रहण करके प्रमाण तंत्रिका द्वारा मस्तिष्क तक पहुँचाती है। तीव्र ध्वनि का प्रभाव कभी-कभी इतना घातक होता है कि श्रवण सामर्थ्य पूर्णतया समाप्त भी हो सकता है। प्रायः तीव्र ध्वनि के अभ्यस्त हो जाने पर मध्यम ध्वनि को ग्रहण करने की क्षमता भी कम हो जाती है।

न्यूयार्क के माउण्ड सिताई अस्पताल के **डॉ० सेमुअन रोजॅन** के अनुसार "शोर आदमी में मानसिक तनाव उत्पन्न करता है जिसके फलस्वरूप मनुष्य उत्तेजना, उच्च रक्तचाप और हृदयरोग से ग्रसित हो जाता है।" सूडान देश की मवान जाति पर किये गये अध्ययनों से यह तथ्य उजागर हुआ है कि अत्यन्त शान्त वातावरण में जीवन व्यतीत करने के फलस्वरूप उन्हें किसी भी प्रकार का मानसिक तनाव नही महसूस होता और बड़ी आयु के लोग भी साफ़ सुनते हैं। अत्यधिक शोर से उत्पन्न उद्विग्नता से रक्त में **कोलेस्टेरॉल** की मात्रा बढ़ जाती है। स्नायु-तंत्रिका के साथ-साथ शोर हृदय, पाचन तंत्र एवं अन्य तंत्रों को भी प्रभावित करता है। इन तंत्रों की कार्य-प्रणाली में विकृति उत्पन्न होने से रक्त-वाहिनियों के संकुचन पर खराब प्रभाव पड़ता है अतएव हृदय रोग तथा अन्य बीमारियाँ शरीर में डेरा डाल लेती हैं। अधिक शोर के कारण नेत्र गोलकों पर भी तनाव उत्पन्न होता है, जिससे आँखें बारीक़ काम करने पर केन्द्रित नहीं हो पातीं।

शोर का अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों पर प्रभाव पड़ता है। शोर के प्रभाव मनुष्य के रहन-सहन की परिस्थिति एवं मनोवृत्ति पर भी निर्भर होता है इसलिये इसकी सहनशीलता के स्तर के लिये यथासंभव मापदण्ड का निर्धारण नहीं किया जा सकता।

निष्कर्ष रूप में ध्वनि प्रदूषण सिर्फ़ बहरेपन को ही निमंत्रण नहीं देता, बल्कि मानसिक तनाव भी उत्पन्न करता है। इससे **रक्तचाप**, की बीमारी हो सकती है।

नियंत्रण एवं निराकरण

विकासशील देशों में शोर नियंत्रण एक दुरूह कार्य है, क्योंकि औद्योगिक विकास को रोकने का तात्पर्य है देश की आर्थिक हानि। देश के विकास एवं प्रगति को गतिशील बनाये रखने के लिये इनकी आवश्यकता निर्विवाद है इसलिये इस पर नियंत्रण का स्वरूप ऐसा होना चाहिये जो प्रगति में बाधक न हो। शोर नियंत्रण, सुरक्षा कार्य में प्रथम वरीयता युक्त अनिवार्य क़दम है। प्रदूषण की स्थिति को और अधिक न बिगड़ने देने के लिये कुछ बुनियादी क़दम उठाने होंगे। विगत कुछ वर्षों में शोर नियंत्रण के सम्बन्ध में काफी

जानकारी बढ़ी है और मनुष्य जागरूक भी हो गया है। अनेक सामाजिक एवं व्यावसायिक संगठन तथा सरकारें शोर नियंत्रण के लिये कुछ कठोर क़दम उठा भी रही हैं।

न्यूयार्क के शोर प्रदूषण के 'टॉस्क फोर्स' के **श्री नील एच० एण्डरसन** ने विभिन्न प्रदूषित क्षेत्रों के लोगों को किसी लक्ष्य विशेष को समक्ष रखकर एक-जुट होने के लिये प्रेरित किया। श्री एण्डरसन का कहना है कि इस प्रकार से इस समस्या के प्रति कुछ राज्यों में जागरूकता आयी है और न्यूयार्क शहर में इस दिशा में कुछ सामाजिक संस्थायें प्रयासरत भी हैं। फ्रांस सरकार ने अपनी पुलिस को यह अधिकार दे रखा है कि उन मोटर-गाड़ियों पर जुर्माना किया जाये जो शोर प्रतिबन्ध कानून का उल्लंघन करती हैं। ध्वनि प्रदूषण पर नियंत्रण के लिये कई सरकारी कानून बने हैं, पर उनका कड़ाई से पालन नहीं हो पाता है।

मेम्फिस नगर में प्रेस ने इस दिशा में सराहनीय सहयोग दिया है, जिसके फलस्वरूप वहाँ मोटर-वाहनों के हार्न अति व्यस्त क्षेत्रों में बजाने में कमी आयी है और प्रदूषण उत्पन्न करने वाले वाहनों के लिये अन्य मार्ग निर्धारित किये गए हैं।

शहर के कुछ क्षेत्र ऐसे भी होते हैं जहाँ प्रशासन शोर नियंत्रण कानूनों का पालन समुचित ढंग से नहीं कर पाता जैसे रेलवे लाइन व हवाई अड्डा। शोर नियंत्रण के लिये औद्योगिक संस्थानों का सहयोग भी आवश्यक होता है। ऐसी अनेक मशीनें हैं जिनकी मोटरों एवं कम्प्रेसरों पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये। ये मशीनें प्राय: **110** डेसिबेल पर शोर उत्पन्न करती हैं, जिसके फलस्वरूप इनके चालक प्राय: बहरे हो जाते हैं। इस सन्दर्भ में श्री एण्डरसन एवं उनके विभाग के इंजीनियरों ने मशीनों के कलपुर्जों का अध्ययन प्रारम्भ किया और उनके सहयोग से एक ऐसा कम्प्रेसर बनाया जो पहले की अपेक्षा 70% शोर कम करता है। श्री एण्डरसन के अनुसार शहर के व्यस्त क्षेत्रों के शोर के कुछ विशिष्ट बिन्दु हैं—यातायात, उद्योग, गृह निर्माण, वेन्टिलेशन, एअर कंडीशनर एवं हीटिंग। इन सभी क्षेत्रों में शोर नियंत्रण के लिये योजनाबद्ध नीति अपनायी जानी चाहिये।

इस दिशा में ध्वनि प्रदूषण के स्तर का एक मापक निर्धारित किया जाना चाहिये जिससे कि उन नियमों का सुचारु रूप से पालन किया जा सके और ऐसे सचल दस्ते गठित किये जाने चाहिये जो इन नियमों के उल्लंघन करने वालों को समुचित दण्ड दे सकें।

शोर नियंत्रण के कुछ प्रयास हैं, जिनका प्रशासनिक एवं सामान्य सामाजिक स्तर पर पालन किया जा सकता है। ज़ोर से बजने वाले लाउडस्पीकर एवं ग्रामोफोन सेटों पर नियंत्रण होना चाहिये। मोटर हार्नों के तेज़ बजाये जाने पर प्रतिबन्ध होना चाहिये। कारखानों या औद्योगिक संस्थानों में कार्य करने वालों को इयर प्लग, इयर मफ्स, हेलमेट आदि की सुविधायें प्रदान की जानी चाहिये।

शोर नियंत्रण के लिये सड़कों के किनारे वृक्षारोपण किया जाना चाहिये। कुछ वृक्ष ऐसे भी हैं जिनकी उपस्थिति मात्र से 10 से 15 डेसिबेल शोर कम किया जा सकता है। ये पेड़ आम, इमली, नारियल, ताड़, नीम, यूकेलिप्टस आदि के हैं।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि शोर पर नियंत्रण अति आवश्यक है अन्यथा एक गम्भीर संकट उत्पन्न हो जायेगा। कुल मिलाकर यदि दैनिक जीवन में तनिक सा प्रयास व कुछ सावधानियाँ बरती जायें तो 75 डेसिबेल से अधिक तीव्रता की ध्वनि से उत्पन्न होने वाले घातक प्रभाव से बचा जा सकता है। इस दिशा में सभी का सहयोग अपेक्षित है। □□

पौष्टिक आँवला

दर्शनानन्द

आँवला अत्यंत ही पौष्टिक और उपयोगी फल है। इसकी उपयोगिता विशेषकर इसमें उपलब्ध विटामिन-सी की प्रचुर मात्रा के कारण ही है। वैसे तो सबसे ज़्यादा विटामिन-सी बारेबेडाज चेरी के फल में पाया जाता है, परन्तु भारतवर्ष में प्राय: उगने और प्रयोग होने वाले फलों में सबसे ज़्यादा विटामिन-सी आँवले के फल से ही उपलब्ध होता है। प्रति 100 ग्राम आँवले के गूदे में 600 से 700 मिलीग्राम तक विटामिन-सी विद्यमान रहता है।

एक व्यक्ति को एक दिन में 30 से लेकर 75 मिलीग्राम तक विटामिन-सी की आवश्यकता पड़ती है। आँवले के फल का प्रयोग कर के इस आवश्यकता की पूर्ति भली भाँति की जा सकती है। आँवले के फल में अन्य पौष्टिक तत्त्व भी पाए जाते हैं। प्रति 100 ग्राम गूदे में विटामिन-ए 59 अंतर्राष्ट्रीय इकाई, विटामिन बी-1 30 मिलीग्राम, निकोटिनिक एसिड 0.2 मिलीग्राम और लोहा 1.2 मिलीग्राम पाया जाता है।

आँवले का फल खटासयुक्त, कषाय होता है। आँवले के सूखे फल भी समान रूप से उपयोगी होते हैं। कच्चे सुखाए फलों में टैनिक एसिड 36 प्रतिशत होता है जबकि पके फलों को सुखाने पर इसकी मात्रा कम हो जाती है। आँवले का फल हरे रंग का होता है, परन्तु पकने पर इसमें पीलापन आ जाता है।

यद्यपि विटासिन सी आमतौर से ताप से नष्ट हो जाता है, परन्तु आँवले के फल की यह विशेषता है कि फल को उबालने और सुखाने से भी इसका विटामिन-सी नष्ट नहीं होता। आँवले में उपलब्ध अम्ल गुण और कषाय गुण (टैनिन) के ही कारण फल को उबालने और सुखाने के बीच विटामिन-सी व अन्य पोषक तत्त्व भी पूर्ववत् सुरक्षित रहते हैं।

आँवले का मुरब्बा बहुत ही स्वादिष्ट और स्वास्थ्य वर्धक होता है। यह शीतलता भी प्रदान करता है। बनारसी आँवला, चकैया और कृष्णा किस्मों के आँवले मुरब्बा बनाने के लिए ज़्यादा उपयुक्त होते हैं। आँवला केश तेल, च्यवन प्राश और मुरब्बा उद्योग में अधिक उपयोगी होने के कारण इसका महत्त्व और अधिक बढ़ गया है। शर्बत, स्क्वाश, टॉफी और कैण्डी, अचार, चटनी, जेली, जैम, चिप्स और चूर्ण आँवले के अन्य महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी उत्पाद हैं।

नाश्ते पर सुबह रोज़ दूध पीने के बीच दो ताज़े पके आँवले दाँत से काट कर और चबाकर खाते रहने से दूध का स्वाद भी बढ़ जाता है और फायदा भी होता है। भोजन करने के समय भी दो ताज़े आँवले चबा कर खाना उपयोगी होता है। भोजन करने के पाँच मिनट पूर्व आँवला खाने से पेट के पाचक रसों को आँवला उत्तेजित कर के भूख बढ़ाता है। भोजन करने के मध्य या अंत में आँवला खाने से खाया हुआ भोजन पचाने में सहायता मिलती है।

खाँसी ज़ुकाम या अन्य रोगों में भी आँवले के प्रयोग से बड़ी राहत मिलती है। आँवले के ताज़े फल से दाँत मज़बूत होते हैं। इसके अलावा अगर दाँत में कीड़े लगे हों तो कीड़े भी खत्म हो जाते हैं।

विटामिन-सी की आवश्यकता भोजन में अन्य विटामिनों की अपेक्षा सब से ज़्यादा होती है। इसकी कमी से शरीर में जितने भी रोग उत्पन्न होते हैं उनसे बचाव केवल आँवले के प्रयोग से हो सकता है। विटामिन-सी की कमी से एक भयंकर रोग प्रशोताद (स्कर्वी) हो जाता है। इसके प्रकोप से मसूढ़ों में सूजन आ जाती है, मसूढ़ों और नाक से खून बहने लगता है, कमज़ोरी आ जाती है और साँस में दुर्गंध आने लगती

उपनिदेशक उद्यान, इलाहाबाद मण्डल (अवकाशप्राप्त) सी—67, गुरु तेग बहादुर नगर (करेली हाउसिंग स्कीम), इलाहाबाद (उ० प्र०)—211016

है। स्कर्वी रोग में शरीर पर नीले चकत्ते भी पड़ जाते हैं।

विटामिन-सी की कमी से गठिया, शरीर के जोड़ों में दर्द, हाथ-पैर में सूजन तथा हड्डियाँ कमज़ोर होने जैसे रोग हो जाते हैं। इसकी कमी से मनुष्य के शरीर में घाव भरने की गति बहुत धीमी पड़ जाती है। शरीर की त्वचा में खुश्की, बाल टूटने की बीमारी बच्चों की बढ़वार रुक जाना, पित्त के रोग को बल मिलना आदि अन्य रोग भी हैं जो विटामिन-सी की कमी से पैदा होते हैं। इन सभी रोगों और कमियों का सामना आँवले के प्रयोग से किया जा सकता है। आँवला, त्रिफला (आँवला, हर्ड़, बहेड़ा) का एक प्रमुख व महत्त्वपूर्ण घटक भी है।

आँवले का फल अम्लरसयुक्त होते हुए भी पित्त शांत करता है जबकि कच्चा आम, इमली, करौंदा आदि खट्टे फल पित्त को बढ़ाते हैं। कैंथा जैसे अम्लरसयुक्त फल के प्रयोग से कब्ज़ हो जाता है। परन्तु आँवला मल-बंधनाशक होता है और कब्ज़ पास नहीं आने देता।

आँवले के इन्हीं चमत्कारी गुणों के ही कारण इसे 'अमृतफल' कहते हैं, जिसका अर्थ यह है कि यह अमृत के समान है। इन्हीं कारणों से आँवले को 'धात्रीफल' अर्थात् माता की तरह रक्षा करने वाला तथा 'वयस्था' अर्थात् आयु को स्थिर करने वाला भी कहते हैं।

धार्मिक दृष्टिकोण से भी आँवले का बड़ा महत्त्व है। विभिन्न पर्वों पर आँवले के वृक्ष की पूजा की जाती है। आँवले के वृक्ष के नीचे बैठ कर भोजन करना शुभ माना जाता है।

आँवला (**एमब्लिका ऑफिसिनेलिस—*Emblica officinalis***) यूफॉरबिऐसी कुल का पौधा है। अंग्रेज़ी में इसे एमब्लिक, माइरॉबलॉन या गूजबेरी कहते हैं।

जलवायु—आँवला उपोष्ण जलवायु का फल है। फिर भी उष्ण जलवायु में भी यह पूरी सफलता के साथ चलता है। आँवला भारतवर्ष के उष्ण जलवायु वाले वनों तथा पहाड़ी ढालों पर 1200 मीटर की ऊँचाई तक वाले स्थानों पर पैदा होता है। शुष्क वातावरण आँवले की बागबानी के लिए अधिक उपयुक्त होता है। लू और पाले से भी आँवले पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता।

फरवरी के महीने में आँवले की पत्तियाँ और लघु टहनियाँ वृक्ष पर से झड़ने लगती हैं तथा मार्च के अंत तक वृक्ष पत्रहीन हो जाता है। इसी बीच फरवरी के अंत से आँवले के वृक्ष नवीन फुटाव भी लेने लगते हैं।

विस्तार—भारतवर्ष में आँवला उत्तर प्रदेश, कश्मीर, बंगाल, पंजाब व अन्य प्रदेशों में भी पैदा होता है। उत्तर प्रदेश में प्रतापगढ़, वाराणसी, सुल्तानपुर, फैजाबाद, रायबरेली, गोण्डा, बस्ती, आज़मगढ़, जौनपुर, इलाहाबाद, लखनऊ, आगरा, मथुरा, अलीगढ़, सहारनपुर तथा अन्य जनपदों में भी आँवला उगाया जाता है। इस प्रदेश में आँवले के अंतर्गत जो क्षेत्रफल हैं उसमें अधिकांश भाग जनपद प्रतापगढ़ में है, जहाँ लगभग 400 हेक्टेयर भूमि में आँवले की बागवानी की जाती है।

मिट्टी—आँवला कंकरीली, पथरीली, मटियार, दोमट तथा करीब-करीब सभी किस्म की मिट्टी में वन्य रूप में या उद्यान के रूप में चल जाता है। फिर भी कंकरीली और पथरीली मिट्टी में आँवले का बाग लगाना बचाना चाहिए।

कुछ कम उपजाऊ और पर्ती भूमि जिसमें अन्य फल न चल पाते हों, यहाँ तक कि क्षारीय तथा उसरीली और बंजर व बीहड़ भूमि जिसका पी० एच० मान 9.5 तक हो, में भी आँवला अच्छा चल जाता है। परन्तु दोमट या बलुई दोमट मिट्टी, जिसमें जल निकास की पूर्व व्यवस्था हो, आँवला उगाने के लिए ज़्यादा अच्छा होता है।

किस्में—बनारसी, फ्रान्सिस, चकइया, कंचन व कृष्णा आँवले की प्रमुख किस्में हैं।

बनारसी आँवला गुण में सर्वश्रेष्ठ होता है। इसका फल एक छोटे गेंद के बराबर सफेद रंग का चमकदार व अर्धपारदर्शक होता है। यह किस्म बनारस

(वाराणसी) से विकसित हुई। फल में रेशा नहीं होता। एक फल का भार करीब 70 ग्राम होता है जो माप में 4.6 × 4.7 सेमी० होता है। मुरब्बा बनाने की दृष्टि से यह सर्वश्रेष्ठ किस्म है परन्तु फलन कम होता है।

फ्रान्सिस (किला, हाथीझूल या राजबाग) किस्म प्रतापगढ़ नगर में स्थित किले से विकसित हुई। फल बड़ा, गोल, हल्का पीलापन सहित हरे रंग का अर्ध-पारदर्शक होता है। फल पर सफ़ेदी लिए छोटी-छोटी बिन्दियाँ होती हैं। फल छः गहरी व सफेद धारियों द्वारा लम्बाई में विभक्त रहता है। फल का भार 65 ग्राम और माप में 4.44 × 5.11 सेमी० होता है। इसमें रेशा नहीं होता और मुरब्बा बनाने के लिए अच्छी किस्म है।

चकइया किस्म भी प्रतापगढ़ से विकसित हुई। इस किस्म का फल गोल व चपटा तथा अपेक्षाकृत कुछ छोटा, हरियालीयुक्त चिकना चमकदार और अर्ध-पारदर्शक होता है। इसमें रेशा बिल्कुल ही नहीं होता है। फल की धारियाँ खड़ी, सफेद और पतली होती हैं। फल का भार 36.43 ग्राम और माप 4.3 × 4.95 सेमी० होता है। इसमें फलन खूब और गुच्छों में होता है।

कंचन किस्म उत्तर प्रदेश के प्रतापगढ़ जनपद से ही ग्राम पटहुजिया से विकसित हुई। फल कुछ लम्बाईयुक्त, गोलाकार, हरियालीयुक्त कुछ मटमैले रंग का अर्धपारदर्शक होता है। एक फल का भार 20 ग्राम और माप में 3.3 × 3.2 सेमी० होता है। फलन अच्छा होता है।

कृष्णा भी प्रतापगढ़ के ग्राम पटहटिया से ही विकसित हुआ। फल गोलाकार और शिखा ढालूनुमा होती है। शरीर चमकदार अर्धपारदर्शक, हरे रंग का अंश लिए पीलापन सहित सफेद रंग का होता है। पकने पर फल की धारियों के पास सुर्खी आ जाती है। फल का भार 50 ग्राम और माप 4.6 × 4.7 सेमी० होता है।

प्रसारण—आँवले का वानस्पतिक प्रसारण भेंट-कलम और चश्मा बाँध कर किया जाता है। चश्मा बाँधने में शील्ड, आई और पैबन्द (पैच बडिंग) वाली विधियाँ अपनाई जाती हैं। चश्मा बाँधने (बडिंग) के लिए मार्च-अप्रैल, जून और अगस्त-सितम्बर उपयुक्त समय होता है। भेंटकलम जुलाई-अगस्त में बाँधना चाहिए। बड या कली का पैबन्द मूलवृन्त की लकड़ी से 2 सप्ताह में जुड़ जाता है, जिसके बाद सुषुप्तावस्था में पड़ी हुई कलियों (आँखों) में फुटाव होने लगता है।

भेंटकलम की अपेक्षा चश्मा द्वारा पौधे तैयार करना अधिक सरल और कम खर्चीला होता है। मुख्य स्थान पर अर्थात् बाग लगाने के स्थान पर ही उचित दूरी पर आँवले के बीज बोकर या बीजू पौधे लगाकर तैयार किए गए मूलवृन्त में मौके पर ही चश्मा बाँध देने से कलमी पौधे की जड़ें अधिक मजबूत होती हैं और आँवले का बाग जल्दी तैयार भी हो जाता है। इस प्रकार मूलवृन्त के एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रतिरोपण करने का कार्य कम हो जाता है। इस प्रकार पौधे के सूखने की सम्भावना भी नहीं रह जाती। मूलवृन्त के लिए चुने गए पौधे की आयु एक वर्ष की होनी चाहिए।

अफलन की समस्या—आँवले की लघुटहनियों (ब्रान्चलेट्स) में नर और मादा—दोनों प्रकार के फूल लगते हैं। यदि चश्मा बाँधने या भेंटकलम करने के लिए ऐसी लकड़ी (सायन) का चयन किया गया जिसमें कि केवल नर फूल ज़्यादा और मादा फूल कम लगे हों, तो उनसे तैयार किए गए पौधों में अफलन की समस्या उत्पन्न हो जाती है।

आँवले में विशेषकर बनारसी किस्म में अफलन की समस्या एक गम्भीर रूप धारण कर लेती है। यह समस्या नर फूलों वाली टहनी प्रयोग करने से ही उत्पन्न होती है। अतः कलम तैयार करते समय यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि चयन की गई लकड़ी (डण्ठल या सायन) की लघु टहनियों में अधिकांश संख्या मादा फूलों की रही हो। इसके अतिरिक्त इस

बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि लकड़ी या सायन केवल उन्हीं वृक्षों से चयन की जाय, जो लगातार 4-5 वर्ष तक नियमित रूप से अच्छी फसल दे चुके हों ।

अफलन की समस्या परागकण की स्वयं-बंध्यता, फलों के गिराव, परागण के समय दवाओं का छिड़काव, खाद-पानी एवं अन्य कर्षण क्रियाओं तथा जंगली व घटिया किस्मों के कारण भी उत्पन्न होती है ।

बनारसी किस्म के फूलों के परागण में स्वयं बन्ध्यता होती है । इस कारण इसके परागण इसी के मादा फूल के लिए उपयोगी नहीं हो पाते । इस कारण फलन नहीं हो पाता । अतः स्वयंबन्ध्यता किस्म वाले आँवले के बागों में अगर 5 प्रतिशत परागकर्ता किस्म के पौधे लगा दिए जाएँ या स्वयंबन्ध्य किस्म की एक शाखा पर परागकर्ता किस्म का शीर्ष रोपण (टॉप वर्किंग) कर दिया जाय तो वृक्ष में फलन की संभावनाएँ बढ़ जाती हैं । इनके अतिरिक्त केवल परागकर्ता किस्म के बाग लगाने से भी इस समस्या का समाधान हो जाता है । देशी, चकइया, फ्रान्सिस कंचन और कृष्णा-ये सभी आँवला की परागकर्ता किस्में हैं ।

मादा फूलों में गर्भाधान के बाद 4 से $4\frac{1}{2}$ मास तक की अवधि पर ही फलों का विकास होता है । इसके पूर्व ये फल सषुप्तावस्था में ही रहते हैं । इस बीच इनके भीतर वृद्धि निरोधक नियामक उत्पन्न हो जाते हैं । इन्हीं के कारण फलों में गिराव आरम्भ हो जाता है । इससे बचाव के लिए गर्भित फलों पर 100 से 200 पी० पी० एम० जिबरेलिक एसिड का (100 से 200 ग्राम जिबेरेलिक अम्ल एक लिटर पानी में घोल कर) छिड़काव करना चाहिए । परागण के समय किसी दवा का छिड़काव नहीं करना चाहिए ।

नस्ल सुधार—वन्य रूप में या उद्यान में उगते बीजू या घटिया किस्म के वृक्ष से, जो अच्छा फलन न देते हों, वृक्ष की नस्ल सुधार कर अच्छा व सन्तोषजनक फलन लिया जा सकता है । यह नस्ल सुधार उच्च कोटि की परागकर्ता किस्मों का इन वृक्षों पर शीर्ष रोपण कर के किया जा सकता है ।

शीर्ष रोपण करने के लिए आँवले के वृक्ष के मुख्य तने को भूमि से करीब 120 सेमी० की ऊँचाई पर मध्य फरवरी में काट देना चाहिए । फिर वृक्ष के कटे हुए भाग पर कोल्टार लगा देना चाहिए । जब इनमें नए फुटाव आने लगें तो केवल 3-4 टहनियाँ चारों ओर बढ़ने दें । जब ये 3-4 महीने की हो जाएँ तब इनमें चयनित किस्मों का चश्मा (पैंच, आई या शील्ड बडिंग) बाँध दें । इन कलियों के फुटाव आने पर जो वृक्ष तैयार होंगे वे उच्च कोटि का तथा अच्छा फलन देने लगेंगे ।

रोपण खाद—आँवले का बाग लगाने के लिए मई जून में 1 × 1 मीटर की दूरी पर 10 × 10 × 10 सेमी० माप के गड्ढे खोद लेना चहिए । फिर हर गड्ढे को सतह वाली मिट्टी और 40 किग्रा० गोबर सड़ी खाद मिला कर ज़मीन के 15 सेमी० ऊपर तक भर देना चाहिए । भरे हुए गड्ढे में 25 ग्राम फॉस-फोरिक अम्ल और 50 ग्राम एल्ड्रेक्स (दीमक से बचाव के लिये) मिट्टी के ऊपरी भाग में मिला देना चाहिए । इस प्रकार एक हेक्टेयर भूमि में 120 गड्ढे तैयार होते हैं । वर्षा से गड्ढे दब कर भूमि धरातल के बराबर आ जाने पर आँवला के पौधों को इनके बीचो बीच लगा देना चाहिए । रोपण का कार्य शाम को करना ठीक रहता है । रोपाई के बाद अगर बारिश होने की आशा न हो तो इनकी सिंचाई कर देनी चाहिए ।

रोपण के एक वर्ष पर प्रति पौधा गोबर की सड़ी खाद 20 किग्रा० तथा नाइट्रोजन, फॉस्फोरिक अम्ल और पोटाश क्रमशः 30,15 और 30 ग्राम प्रदान करना चाहिए । दस वर्ष की आयु तक गोबर की खाद की मात्रा पूर्ववत् रखनी चाहिए । इसके बाद यह मात्रा 40 किग्रा० कर देनी चाहिए । परन्तु नाइ-ट्रोजन, फॉस्फोरिक अम्ल और पोटाश की ये मात्राएँ हर वर्ष दस वर्ष तक बढ़ाते रहना चाहिए । इस तरह 10 वर्ष की आयु वाले आँवले के एक वृक्ष को गोबर की खाद 10 किग्रा०, नाइट्रोजन 300 ग्राम प्रदान करना चाहिए ।

दस वर्ष से ऊपर तक की आयु वाले वृक्ष के लिए हर साल गोबर की खाद 40 किग्रा०, नाइट्रोजन 700-900 ग्राम, फॉस्फोरिक अम्ल 200 ग्राम और पोटाश 700 ग्राम कर देना चाहिए।

गोबर के खाद की सम्पूर्ण मात्रा तथा शेष खादों की आधी मात्रा सितम्बर-अक्टूबर में प्रदान करना चाहिए। इन खादों की बची हुई आधी मात्रा अप्रैल-मई में प्रदान करना चाहिए। खाद वृक्ष के छाये के बाहरी घेरे के नीचे देना चाहिए, जिससे भोजन प्राप्त करने वाली जड़ें इन्हें ग्रहण कर सकें।

सिंचाई—खाद प्रयोग के बाद पौधों/वृक्षों में तुरन्त पानी चला देना चाहिए। नवीन रोपित उद्यानों में तथा इनके पूर्ण रूप से स्थापित होने के पूर्व तक गर्मी के दिनों में 15-15 दिन पर और सर्दियों में 20-20 दिन पर सिंचाई करनी चाहिए। फलने वाले पुराने उद्यानों में अप्रैल से जून तक 15-15 दिन पर तथा वर्षा ऋतु के बाद समय-समय पर निराई-गुड़ाई भी करते रहना चाहिए।

सधाई व काट-छाँट–पौध रोपण के पश्चात् इसके मुख्य तने को ज़मीन से 70 सेमी० की ऊँचाई पर काट देना चाहिए। शिखा के आस-पास से निकलने वाली चार शाखाएँ इस प्रकार चयन करना चाहिए कि वे अधिक कोण बनाती हुई चारों ओर फैल रही हों। शेष शाखों को निकाल देना चाहिए। इन चार शाखाओं को चयन करने के ही साथ एक अतिरिक्त शाख ऐसी चयन करनी चाहिए जो सीधे ऊपर की ओर बढ़ रही हो। अगले वर्ष इस शाख की शिखा को ज़मीन से 140 सेमी० की ऊँचाई पर काट देना चाहिए। इसकी शिखा के आस-पास से भी पूर्व की भाँति चार शाखें वृद्धि करने देना चाहिए। इस प्रकार वृक्ष पर 70 सेमी० की ऊँचाई पर शाखों का एक छत्र और फिर उसके ऊपर 140 सेमी० की ऊँचाई पर 4 शाखों का दूसरा छत्र बन जाता है। वृक्ष की सधाई की इस प्रणाली को 'सम्परिवर्तित खुला केन्द्र' (मॉडीफाइड ओपेन सेण्टर या मॉडीफाइड सेन्ट्रल लीडर) कहते हैं।

पुष्पण-फलन—आँवले के फूल और फल वृक्ष की लघु टहनियों (ब्रान्चलेट्स) पर स्थित पत्तियों के कक्ष में लगते हैं। आँवले की पत्तियाँ देखने में कम्पाउण्ड मालूम पड़ती हैं और ऐसा लगता है कि इमली की पत्ती की तरह जिन पतली-पतली टहनियों पर पर छोटी-छोटी पत्तियाँ लगती हैं, वह कम्पाण्ड पत्तियों के बीच की नाड़ी (रैकिस) हैं परन्तु वास्तव में यह पतली टहनियाँ रैकिस नहीं होतीं बल्कि लघु-टहनियाँ (ब्रान्चलेट्स) होती हैं। इन लघु टहनियों पर लगी हुई पत्तियाँ सादी पत्तियाँ होती हैं, जिनके ही कक्ष में फूल निकलते हैं और फल लगने पर मालूम पड़ता है कि पत्तियों पर ही फल लगे हैं।

कलमी आँवले के वृक्ष 8-9 वर्ष में फलने लगते हैं। वृक्ष की पिछले वर्ष की पत्तियाँ और लघु टहनियाँ गिरने के बीच ही फरवरी के अन्त से वृक्ष में नए फुटाव आने लगते हैं। फूल मार्च के पहले सप्ताह में लग जाते हैं। इनकी कलियाँ अप्रैल के पहले सप्ताह या कभी-कभी अंतिम मार्च से खिलने लगती हैं। फूलों के खिलने का यह क्रम लगभग तीन सप्ताह तक जारी रहता है।

आँवले का पुष्प एकलिंगी होता है। नर फूल की कलियाँ सभी लघु टहनियों पर झुण्डों में लगती हैं। परन्तु मादा फूलों की कलियाँ कुछ ही लघुटहनियों पर आधार की ओर प्रायः अकेले लगती हैं। नर फूलों की कलियाँ इन्हीं लघुटहनियों की चोटी की की ओर लगती हैं।

फूल खिलने के चार या साढ़े चार मास के बाद लगभग मध्य अगस्त में छोटे-छोटे हरे रंग के दाने (फल) दिखाई देते हैं। धीरे-धीरे ये फल वृद्धि करने लगते हैं, जो जनवरी मास में पक कर तोड़ने लायक हो जाते हैं।

फलों की तुड़ाई, उपज, आय-व्यय—पकने पर आँवले के फल में पीलापन आ जाता है। जनवरी में तथा आवश्यकतानुसार फरवरी तक फलों को अवश्य तोड़ लेना चाहिए। तोड़ने के बीच ध्यान रखना चाहिए कि फलों में घाव न लगने पाएँ तथा सम्भाल कर हाथ से या खोते से तोड़ना चाहिए। इसके लिए

स्टूल-सीढ़ी आदि का प्रयोग करना अच्छा रहता है।

आँवले के 9-10 वर्ष और उससे ऊपर की आयु के फलने वाले एक वृक्ष से लगभग 2 क्विन्टल फल पैदा होता है। इस प्रकार एक हेक्टेयर के बाग में 120 वृक्षों से प्रति वर्ष 240 क्विन्टल आँवले की उपज ली जा सकती है।

प्रति हेक्टेयर आँवला उद्यान रोपण में लगभग रु० 1640 =का आरम्भिक व्यय हो जाता है। रोपण से फलने के बीच के बाग के रिक्त स्थानों में मौसमी साग सब्ज़ी उगा कर आमदनी लेनी चाहिए।

नौ दस साल पर आँवले का वृक्ष जब फल देने लगे तब उस समय से प्रति हेक्टेयर प्रति वर्ष लगभग रु० 6000 =का व्यय कर के रु० 1,20,00/=की आय की जा सकती है। इस प्रकार एक हेक्टेयर आँवले के बाग से हर साल लगभग 1,14,000= का शुद्ध लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

रोग और कीट—आँवले में आंतरिक ऊतक क्षय, फल सड़न और रतुआ रोग के अतिरिक्त गाँठ बनाने वाले कीट, छाल खाने वाली इल्ली, शल्क कीट, पत्ती खाने वाले कीट और माहू का प्रकोप होता है। इनसे समय-समय पर बचाव करते रहना चाहिए।

आँवले के **'आंतरिक ऊतक क्षय'** (इन्टरनल नेक्रोसिस रोग के प्रकोप से फल का गूदा भीतर से काला हो जाता है। बचाव के लिए प्रति वृक्ष 125 ग्राम सुहागा (बोरेक्स) खाद की तरह प्रयोग करना चाहिए। इसके अलावा प्रति लीटर पानी में छः ग्राम सुहागा का घोल बना कर फल लगने पर सितम्बर के आरम्भ में छिड़काव करने से शीघ्र लाभ होता है। इसके बाद दो-दो हफ्ते पर दो छिड़काव और करने चाहिए।

रस्ट या रतुआ रोग के प्रकोप से पत्तियों और फलों पर भूरे रंग के उभरे हुए धब्बे पड़ जाते हैं। यह रोग **रेंवेनेलिया एम्बलिकी** नामक फफूंदी के कारण उत्पन्न होता है। बचाव के लिए 2 ग्राम डाइथेन ज़ेड—78 को एक लीटर पानी में घोल कर इसी दर से 15-15 दिन पर 3-4 छिड़काव अगस्त से सितम्बर तक करना चाहिए।

फल सड़न के प्रकोप से फल पर भूरे रंग के गहरे धब्बे पड़ जाते हैं। धीरे-धीरे फल सड़ने लगते हैं और फिर गिर जाते हैं। यह रोग **पेनिसिलियम आइलेन्डि-कम, पेनिसिलियम ऑक्सैलिकम** तथा **ऐसपर्जिलस नाइगर** नामक फफूंदियों द्वारा फैलता है। सुहागा य' सोडियम क्लोराइड का हल्का घोल छिड़कने और फलों के भण्डारण के बीच सफाई रखने से बचाव रहता है। इसके अलावा एक लीटर पानी में 2 ग्राम फोल्टाक या **केप्टाफाल**' नामक फफूंदी नाशक दवा घोल कर सितम्बर के मध्य से नवम्बर के अंत तक के बीच एक-एक महीने के अंतराल पर तीन बार छिड़काव करना चाहिए।

कीटों में **'गाँठ बनाने वाले कीट'** (**शट गॉल मेकर—बेटूसा स्टाइलोफ्लोरा**) नामक कीट का प्रकोप प्रायः दिखाई देता है। इस कीट की गिडार छोटी व काली होती है जो टहनी की शिखा में छेद कर के घुस कर बैठ जाती है। इसके फलस्वरूप प्रभावित भाग फूल कर गाँठ बन कर मोटा हो जाता है। इससे टहनी की बढ़वार रुक जाती है। प्रभावित टहनी की गाँठ को काट कर नष्ट कर देना चाहिए।

छाल खाने वाली इल्ली (इन्डरबेला टेट्राऑनी) की सूँड़ियां छाल खाती हुई वृक्ष के तने और शाखों में सुरंग बना कर भीतर घुस जाती हैं और गूदा खाने लगती हैं। प्रकोप अधिक होने पर प्रभावित भाग सूखने लगते हैं। बचाव के लिए सूराख में तीली डाल कर कीट को मार डालना चाहिए। फिर जला कर साफ रूई को क्लोरोफॉर्म, पेट्रोल फॉरमैलीन या मिट्टी के तेल में भिगो कर सूराख में ठूँस देना चाहिए। फिर सूराख के ऊपर चिकनी गीली मिट्टी लेप देना चाहिए।

शल्क कीट से बचाव के लिये 0.02 से 0.04 प्रतिशत रोगर—40 या डाइमेक्रान—100 का छिड़काव करना चाहिए। **पत्ती खाने वाले कीट** से बचाव के लिये मिथाइल पैराथियान (मेटासिड) एक मिली लीटर को एक लीटर पानी में मिला कर छिड़-काव करना चाहिए।

माहू नवीन वृद्धियों के रस चूस लेते हैं। बचाव के लिये एक मिली लीटर मॉनोक्रोटोफॉस को एक लीटर पानी में घोल कर 15-15 दिन पर छिड़कना चाहिए। □□

तृतीय विश्व पर कीटनाशकों का हमला

प्रेम प्रकाश व्यास

हरित क्रांति तृतीय विश्व को भूख से मुक्ति दिला पाई या नहीं, यह एक विवाद का विषय हो सकता है, परन्तु इसमें कोई दो राय नहीं कि इसने विकासशील देशों में कीटनाशकों का वैनाशिक प्रवेश अवश्य करा दिया है। कीटनाशकों के निरन्तर दुरुपयोग से जहाँ एक ओर पारिस्थितिकी सम्बन्धी असंतुलन उत्पन्न हुए वहीं महामारी की तरह जनहानि भी हुई है। 'भोपाल गैस दुर्घटना' तो उस विनाशलीला का मात्र एक हिस्सा है जो कीटनाशकों के दुरुपयोग पर प्रश्नचिह्न लगाती है।

'विश्व स्वास्थ्य संगठन' की हाल ही में प्रकाशित रिपोर्ट जहाँ एक ओर एक भीषण आसन्न संकट से साक्षात्कार करवाती है वहीं विकसित देशों की लोलुप व घिनौनी नीतियों का पर्दाफ़ाश करने की हिम्मत भी करती प्रतीत होती है। उस लम्बी सूची में ग्वेटेमाला भी एक है जिसे इस रिपोर्ट में कीटनाशकों से सर्वाधिक प्रभावित देशों का दर्जा दिया गया है। वहाँ पर माताओं के दूध तक में डी० डी० टी० की मात्रा मापी गई है. जो सम्भवतया मानव के शरीर में पाई जाने वाली कीटनाशकों की सर्वाधिक मात्रा है। यह सूचना निरी भ्रामक नहीं है बल्कि विकासशील देशों के लिए एक चेतावनी है कि कीटनाशकों के अंधाधुंध प्रयोग से कीटों के समाप्त होने के साथ-साथ क्या मानव जाति के समाप्त होने का ख़तरा तो उत्पन्न नहीं हो गया है? वैसे भी कीटनाशकों से प्रभावित होने अथवा मरने वालों की सही संख्या किसी भी देश में उपलब्ध नहीं हो पाती हैं क्योंकि अकसर ऐसे मौकों पर केवल सरकारी अस्पतालों में दर्ज मृत व्यक्तियों के आँकड़ों पर ही भरोसा कर लिया जाता है और वे मृतक गिने ही नहीं जा सकते हैं जो सीधे कब्रिस्तान पहुँचा दिए जाते हैं। 'न्यूयार्क टाइम्स' के संवाददाता **एलान राइडिंग** जो 9 नवम्बर 1977 को ग्वेटेमाला में हुई भीषण दुर्घटना के समय उपस्थित थे, मरने वालों व सरकारी आँकड़ों के अन्तर को देख कर अत्यन्त चकित रह गए थे। 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' ने बीस देशों से प्राप्त आँकड़ों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि 1982 में कीटनाशकों से प्रभावित होने वाले ढाई लाख लोग थे और मरने वाले लगभग साढ़े छह हज़ार।

कीटनाशकों का ग़लत तरीके से परिवहन भी मौत का कारण बन सकता है यह तब ही पता चला जब दोहा (कातार) और हफ़ूफ (सं० अरब अमीरात) में 1980 के मार्च माह में पाँच सौ मरीज़ दाखिल किए गए जिन्हें पेट में दर्द, उल्टियाँ व चक्कर आने की शिकायत थी, उनमें से तीस व्यक्ति तो तत्काल ही मर गए। परीक्षणों से पता चला कि उनके शरीर में एक कार्बोक्लोरीन कीटनाशक "एण्ड्रीन" पहुँच गया है जबकि आश्चर्य की बात तो यह थी कि एण्ड्रीन का उपयोग दोनों ही देशों में नहीं होता। खोज-बीन करने पर निष्कर्ष यह निकला कि जिस जहाज़ में आटा लाया जा रहा था, उसी में "एण्ड्रीन" की बोरियाँ रखी थीं और 'एण्ड्रीन' के उन पर गिर जाने से यह दुर्घटना घटी। इसी प्रकार ही पाकिस्तान में 1976 के जुलाई माह में "मेलाथियोन" के छिड़काव करने वाले सभी कर्मचारी इसके शिकार हुए जिनमें से दस तो चल भी बसे। ऐलाथियोजन और पेराथियोजन न केवल कीटनाशक हैं बल्कि रासायनिक युद्ध के भीषण हथियार भी हैं।

वैसे कीटनाशकों से सर्वाधिक प्रभावित देशों में मिस्र का नाम भी लिया जा सकता है जहाँ कपास की

प्रधानाध्यापक, राजकीय माध्यमिक विद्यालय, जसाई, बाड़मेर–344001

अधिकाधिक फ़सल प्राप्त करने की होड़ में लाखों टन कीटनाशकों का उपयोग प्रति वर्ष होता है। इस सूची में सूडान व ब्राज़ील भी हैं। ब्राज़ील को ही लें जहाँ एमेज़न के जंगलों को साफ़ करने के लिए व पत्तियों को गिराने के लिए विशिष्ट रसायन "एजेंट ऑरेन्ज" का उपयोग किया जाता है। इसका छिड़काव करने वाले अधिकांश कर्मचारियों में नज़र कमज़ोर होना, उल्टी होना व पेट सम्बन्धी गड़बड़ियों का होना जैसे लक्षण स्पष्ट दिखाई देने लगे हैं। यह वही कुख्यात रसायन है जिसका उपयोग अमेरिकी सेना ने वियतकांग गुरिल्लाओं के विरुद्ध किया था। दरअसल विकासशील देशों में इन कीटनाशकों से होने वाली मौतों का कारण इनकी बिक्री पर नियन्त्रण का अभाव है। अज्ञानतावश या ग़लत विज्ञापनों से ही सही, पर 1975 में "एल्ड्रीन" के प्रयोग से सौ व्यक्ति मारे गए जो ब्राज़ील की सर्वप्रथम दुर्घटना थी। प्राणघातक कीटनाशकों की खुली बिक्री आसानी से सुलभ होना और उसके गुणों का ज्ञान न होना, वे कारण हैं जो निरपराध व निर्दोष लोगों को काल का ग्रास बनाते हैं। ट्यूनिशिया का उदाहरण लें जो अपने आप में विचित्र है। इस छोटे से मुस्लिम देश में, जहाँ इस्लाम धर्म के अनुसार आत्महत्या पाप माना जाता है, बढ़ती हुई आत्महत्याएँ एक चौकाने वाला चिंतनीय विषय है। परन्तु इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि वहाँ पर "पेराथियोजन" नामक घातक कीटनाशक बैंगनी रंग के पाउडर के रूप में हर दुकान पर खुला बिकता है जिसके किसी भी खाद्य पदार्थ में आसानी से न मिल पाने तथा किसी भी बच्चे तक को न बेचे जाने की भला गारंटी कैसे ली जा सकती है? ट्यूनिशिया के वरिष्ठ चिकित्सा विज्ञानी **डॉ० वाई० मोकरनी** के अनुसार पेराथियोजन से श्वास रुकना, खाँसी और मानसिक गड़बड़ी जैसे लक्षण उत्पन्न होते हैं और अधिक मात्रा में लेने पर मृत्यु। आश्चर्य तो इस बात का है कि इस छोटे से देश में वर्ष 1985 में 140 टन "पेराथियोजन" की खपत हो गई।

ईराक में 1982 में फैली महामारी ने भी हज़ारों की जान ली, जो कीटनाशकों के अन्न में मिल जाने और एक फफूंदनाशकयुक्त मक्का खाने से हुई और जिसका कुप्रभाव वर्षों तक रहा। बगदाद की चिकित्सा अकादमी के **एफ० बाकिर** के अनुसार ये मौतें अधिकतर उन लोगों की हुईं जिन्हें कीटनाशकों से कोई सरोकार नहीं था। कीटनाशकों का स्वयं का प्रभाव तो रहता है ही, इसके लिए उपयोग में आने वाले बर्तनों, डिब्बों, पैकेटों व बोतलों में भी इसका दुष्प्रभाव लम्बे समय तक रहता है। 1985 के मार्च माह में जिम्बाब्वे के एक कैम्प में पचास छात्र भोजन करते ही मर गए क्योंकि उन्होंने ऐसे डिब्बों में खाना डालकर खा लिया था जो कीटनाशकों के थे। कीटनाशकों के खाली डिब्बों को बाज़ार में आसानी से सस्ते में खरीदा जा सकता है। ये ही क्यों न्युगिनी में "ग्रेमेक्सोव" नामक कीटनाशक की खाली बोतलें हर दुकान पर मिल जाती हैं, जिसमें लोग पीने का पानी भरते हैं और उनको उपयोग से पहले अच्छी तरह साफ़ किया ही गया हो इसकी संभावना नहीं के बराबर होती है। तुर्की में फैली "मंकी डिजीज़" भी इसी प्रकार के खाली डिब्बों के प्रयोग से ही उत्पन्न हुई। हुआ यों कि 1955 से 1961 के बीच "हैक्साक्लोरोबेंज़ीन" (एच० सी० बी०) को मकई के बीजों को फफूंदरोधक बनाने के लिए उपयोग में लाया गया। इसमें लाखों टन "एच० सी० बी०" की खपत हुई और उसके खाली डिब्बे पूरे देश में बिके। हालाँकि पाँच-छः सौ लोग मरे भी, परन्तु उसका सीधा सम्बन्ध इस रसायन से जोड़े जाने का विचार उत्पन्न तक न हो पाया। तीस वर्ष बाद ल्योन में आयोजित एक संगोष्ठी में "एच० सी० बी०" के कुप्रभावों पर प्रकाश डाला गया और 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' ने एक सर्वेक्षण भी किया। प्रभावित क्षेत्रों में एक बीमारी "मंकी डिज़ीज़" (जिसमें व्यक्ति का पूरा शरीर लाल हो जाता है और बालों से भर जाता है, बंदर की तरह) का दुष्प्रभाव देखा गया। 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' की रिपोर्ट बताती है कि इस रसायन से त्वचा पर चकत्ते उभरना व धीरे-धीरे लाल पड़ जाना, पेट दर्द, भूख न लगना,

मूत्र आना, और दुर्बलता जैसे लक्षण पाए गए। 'एच० बी० सी०" गर्भस्थ शिशु तक भी पहुँच जाता है और माता के दूध में भी। अंकारा विश्वविद्यालय के चिकित्सा संकाय के **प्रो० एह्यान गोक्मेन** ने पाया कि इस रसायन से रक्त कैंसर, तथा मस्तिष्क की कोशिकाओं का ह्रास प्रारम्भ हो जाता है। दुर्भाग्यपूर्ण सत्य तो यह है कि एच० सी० बी० का उपयोग तुर्की में अभी तक हो रहा है।

विकसित देश पर्यावरण की चिन्ता व कीटनाशकों से होने वाली मानव हत्याओं पर कितने ही घड़ियाली आँसू बहा लें, अभी भी उनकी शोषण करने की नीतियाँ वैसी की वैसी हैं। 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' की रिपोर्ट यह शर्मनाक तथ्य भी उद्घाटित करती है। मिस्र का उदाहरण देकर यदि इसे और स्पष्ट करें तो अमेरिका की पर्यावरण के प्रति झूठे प्रेम की कलई खुल जाती है। मिस्र कपास का प्रमुख उत्पादक है और वहाँ पर कीटनाशकों की खपत तृतीय विश्व के अन्य देशों से कम नहीं। कपास के लिए उपयोगी कीटनाशकों में "फोसवोल" या "लेप्टोफोस" प्रमुख हैं। बे-पोर्ट, टेक्सास (सं० रा० अ०) की फर्म वेल्सीकोल का यह उत्पाद ओर्ग्रेसीफॉस्फेट की श्रेणी में आता है। इसके छिड़काव वाले क्षेत्र में इससे मरने वालों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हुई है। मजे की बात तो यह है कि अमेरिका में "फोसवोल" के लाखों टन के उत्पादन के बावजूद, इसके प्रयोग पर पाबंदी है और इसे तृतीय विश्व में मानव व पर्यावरण हत्या हेतु निर्यात किया जाता हे। प्रति वर्ष 15 लाख टन बिकने वाला "फोसवोल" तृतीय विश्व में सर्वाधिक उपयोग में लिया जाता है। "एनवायरमेंट" पत्रिका में **केविन शिया** लिखते हैं कि मिस्र ने इस दुर्घटना से कोई सबक लिया ही नहीं लगता क्योंकि फोसवोल का आयात वहाँ बढ़ ही रहा है। यही नहीं, ब्रिटिश कोलम्बिया के एक अखबार को तो वेल्सीकोल की ओर से कोर्ट से धमकी भी मिल चुकी है कि वह उसके उत्पादों के बारे में उलूल-जुलूल न छापे। इन सबके रहते इसका प्रयोग नाईजीरिया, एंटीगुआ और इण्डोनेशिया में हो रहा है। और दुर्घटनाएँ भी। हाँ, फिलीपींस व मेक्सिको में इस पर प्रतिबन्ध है और वह इसलिए कि वहाँ पर सर्वाधिक खाद्य पदार्थ अमेरिका को ही भेजे जते हैं।

कॉर्नेल विश्वविद्यालय के **प्रो० डेविड पिमेंटले** ने अधिकांश कीटनाशकों का अध्ययन कर उनके दुष्प्रभावों की एक तालिका प्रस्तुत की है। उनके अनुसार कीटनाशकों का सर्वाधिक प्रभाव स्नायुतन्त्र पर पड़ता है और मस्तिष्क की नियमित क्रियाप्रणाली प्रभावित हो जाती है। कई व्यक्तियों में "पार्किंसन डिजीज़" (मस्तिष्क की पिरामीडीय कोशाओं का ह्रास) रोग भी पाया गया, वहीं कुछ रोगी यकृत की गड़बड़ियों, तनाव व नपुंसकता के शिकार भी पाए गए। मानव पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों और मौतों को तो गंभीरता से ले लिया ही जाना है, परन्तु उससे भी गंभीर मसला है कीटनाशकों के दुरुपयोग से प्रकृति का पर्यावरणीय एवं पारिस्थितिकी असंतुलन का। वैसे भी प्रकृति का नियम है कि जब एक जीव प्रजाति बलपूर्वक हटा ली जाती है अथवा मार दी जाती है तो उस निर्वात को भरने वाली नई प्रजाति उससे अधिक सक्षम और कीटनाशक प्रतिरोधी होगी। नार्वे का एक छोटा सा उदाहरण काफी होगा। नार्वे में 1958 से लगातार चूहों को मारने का अभियान जारी है, लेकिन तीस वर्ष बाद स्थिति यह है कि चूहों की एक प्रजाति **रैटस नार्वेजिकस** या **नार्वेरैट** सभी रसायनों से प्रतिरोधी शक्ति उत्पन्न कर चुकी है और अधिक घातक साबित हो रही है। 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' की रिपोर्ट में ऐसे कीटों के उदाहरण भरे पड़े हैं जो प्रचलित कीटनाशकों के प्रभावों से मुक्त हो रहे हैं।

कीटनाशकों से बचाव का एकमात्र रास्ता, जो अत्यंत कठिन है वह इनके उपयोग पर तत्कालीन प्रतिबन्ध लगाने का है, परन्तु यह रास्ता इतना सीधा हो ऐसा नहीं है, क्योंकि अधिकाधिक फ़सल प्राप्त करने व ज्यादा से ज्यादा लाभ कमाने की मंशा के रहते इसे अपनाया जाएगा इसकी कल्पना नहीं की जा सकती है। लेकिन आशा की किरण न बची हो ऐसा

नहीं है, यह आश्वासन 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' की रिपोर्ट देती है। चीन में प्रयुक्त विधियों की जानकारी इसमें दी गई है जहाँ कीटनाशकों के उपयोग पर लगभग प्रतिबन्ध सा है। वहाँ पर कपास की फ़सल उतरने के बाद इन्हें हाथों से अलग किया जाता है। फली में पाए जाने वाले कीड़ों को कुचलकर मारा जाता है या उन्हें पक्षियों को खाने को डाल देते हैं। बीमार पौधे जला दिए जाते हैं। प्रत्येक वर्ष लाखों श्रमिक इसी काम में जुटे रहते हैं। चीन की तत्कालीन व्यवस्था, सस्ता मानव-श्रम और अन्य कारणों के रहते यह प्रयोग काफ़ी सफ़ल रहा है। इसी प्रकार मिस्र में "फेरामोन" (हार्मोन की तरह के ही जैव-रसायन जो कीटों में पाए जाते हैं) के उपयोग से इस दिशा में नया कदम रखा गया है।

उपरोक्त बातों से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि तृतीय विश्व में कीटनाशकों का उपयोग कितना खर्चीला व जोखिम भरा काम होता जा रहा है और इसके लिए अन्य उपायों को किए जाने की भी आवश्यकता है। इस दिशा में सर्वाधिक नवीनतम उपाय 'संयुक्त राष्ट्र संघ' की संस्था "एफ० ए० ओ०" ने किया है और नवम्बर 1989 में कीटनाशकों के अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिबन्ध हेतु कोड का निर्माण किया है। इसमें कीटनाशकों के प्रयोग पर सावधानी तथा उसके पैकेजिंग व रख-रखाव पर अत्यधिक ध्यान देने की बात की गई है। **आर० वानडेन बॉश्च** अपनी पुस्तक "द पेस्टीसाइड कांस्पिरेसी" में लिखते हैं कि तृतीय विश्व के देश अपने यहाँ बिनबुलाई मौत को आमंत्रण दे रहे हैं, कीटनाशकों के रूप में। उन्होंने कीटनाशकों के ख़तरों को स्थानीय भाषाओं में विज्ञापित करने पर भी ज़ोर दिया। इन्हीं की समसामयिक पुस्तक "पिल्स, पेस्टीसाइड्स एण्ड प्रॉफिट', में **आर० नोरिस** ने आशा व्यक्त की है कि यदि कुछ सुरक्षात्मक उपाय ढूँढ़ लिए जायें व उन पर कड़ाई से अमल किया जाए तो तृतीय विश्व में बढ़ती दुर्घटनाओं पर और पर्यावरण के विषैलेपन पर रोक लग जाएगी, अन्यथा, इसे विकसित देशों का सुनियोजित व सुसंगठित आक्रमण ही कहा जाएगा, तृतीय विश्व के पर्यावरण पर। □□

5 जून विश्व पर्यावरण दिवस पर

मानव जाति की हैवानियत का प्रतीक—डोडो

रवि कृष्ण गुप्ता

मानवीय अतिक्रमण के शिकार होकर संसार से अब तक जो बहुत से पक्षी लुप्त हो चुके हैं, उनमें से डोडो नामक पक्षी सर्वाधिक चर्चित है। मारीशस में 16वीं शताब्दी में कबूतर जाति का यह पक्षी डोडो अत्यधिक संख्या में पाया जाता था। जब मारीशस पर हालैण्डवासियों का आधिपत्य हुआ तो उन्होंने डोडो का शिकार करना प्रारम्भ कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि 17वीं शताब्दी के अन्त तक इस पक्षी का मारीशस से एकदम लोप हो गया। आज डोडो का इस धरती पर कहीं कोई अता-पता नहीं है।

लगभग 1950 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र का यह द्वीप मारीशस लाखों वर्षों तक मनुष्य की छाया तक से कोसों दूर था। चारों ओर घना जंगल था और यहीं डोडो रहता था। इसका शारीरिक विकास भी खूब हुआ था। हंस की तरह दिखने वाले इस पक्षी डोडो का वज़न लगभग 22-23 किलोग्राम तक होता था। इसका सीना फूला हुआ पर पंख नाम मात्र के थे। इसकी पूँछ का भाग नग्न था, परन्तु उसके थोड़ा ऊपर पीठ पर आगे की ओर 8-10 सफ़ेद बड़े-बड़े पंख होते थे। शरीर का शेष भाग सलेटी रंग का था। डोडो

62 चक, इलाहाबाद—211003 (उत्तर प्रदेश)

की चोंच काफी लम्बी थी और इसकी आँखों के पीछे तक खुलती थी। इसकी चोंच का ऊपरी हिस्सा नीचे की ओर मुड़ा होता था जो देखने में ऐसा लगता था मानो अलग से जोड़ दिया गया हो। इस शक्तिशाली चोंच की मदद से डोडो गूदेदार फलों को आसानी से कुतरता था, मछलियाँ पकड़ता था। किन्तु इसके पैर शरीर की तुलना में काफी छोटे होते थे और मुश्किल से ही शरीर का भार सहन कर सकते थे।

1505 ई० में जब पुर्तगालियों ने मारीशस की धरती पर कदम रखा तो इस सरल सीधे पक्षी की ओर उनका ध्यान गया और उन्होंने इसे 'डोडो' नाम दे दिया। पुर्तगाली भाषा में डोडो का अर्थ 'बुद्धू' होता है। वास्तव में भयभीत रहने वाला और शत्रु से अपने बचाव के तरीके से सर्वथा अनभिज्ञ यह पक्षी डोडो बुद्धू तो था ही। इस कारण पुर्तगाली आसानी से एक डंडे मात्र से ही इसका शिकार कर लेते थे। और तो और शिकारी को एक ही पक्षी के शिकार से लगभग 18-20 किलोग्राम स्वादिष्ट मांस आसानी से मिल जाता था। अतः वे डोडो को मार-मार कर खाने लगे।

पुर्तगालियों के बाद इस द्वीप पर आये डच और फ्रांसीसी और अपने साथ लाये कुत्ते, बिल्ली, बन्दर जैसे जानवर और साथ में बंदूकें। इस तरह इन्होंने डोडो पर पूरी तरह से धावा बोल दिया। आदमियों और उनके साथ आये जानवरों ने डोडो के अण्डों को भी खाना शुरू कर दिया। परिणामतः डोडो की संख्या निरन्तर कम होने लगीं, क्योंकि मादा डोडो एक बार में एक ही अण्डा देती थी इसलिए धीरे-धीरे इनकी संख्या इतनी कम होने लगी कि इनके अस्तित्व को ही ख़तरा उत्पन्न हो गया। और देखते-देखते ही डोडो विलुप्त हो गया।

वैज्ञानिकों को डोडो के बारे में अध्ययन करने या उसके बचाव का उपाय करने का अवसर ही नहीं मिला और डोडो विलुप्त हो गया। जानवरों के प्रति मानव के अत्याचार का यह अनूठा उदाहरण है। मात्र 175 वर्षों की अवधि में मानव ने एक प्राणी को अपनी भूख मिटाने के प्रयास में सदा-सर्वदा के लिए धरती से ही मिटा दिया।

अन्तिम जीवित डोडो को पक्षी प्रेमी **बेंजामिन हैरी** ने 1681 में देखा था। डोडो का सर्वप्रथम विवरण एवं चित्र 1601 में **डिबेरी** ने प्रस्तुत किया था। इनके बाद **सेवरी** ने डोडो के कई चित्र बनाए जिनमें से एक आज भी ब्रिटिश म्यूज़ियम में रखा हुआ है।

सोजियर नामक वैज्ञानिक को 1836 में कीचड़ में दबे पड़े डोडो के शरीर को कुछ हिस्से मिले। फिर तो इन हिस्सों की मदद से ही इसका अध्ययन किया गया। इस अध्ययन के निष्कर्षों और सत्रहवीं सदी के चित्रों एवं विवरणों के आधार पर डोडो के चित्र का पुनः निर्माण किया गया। इस प्रकार डोडो को उसका वैज्ञानिक नाम—**रैफस क्यूकूलेटस** मरणोपरान्त मिला।

यहाँ एक बात और ध्यान देने की है और वह यह कि डोडो पक्षी **कालबेरिया** नामक वृक्षों के घने जंगलों में निवास करते थे और उनके बीजों को खाते थे। कालबेरिया के बीजों का बाह्य कवच अत्यधिक कड़ा होता था। इतना कड़ा कि आमतौर से वे अंकुरित नहीं होते थे। किन्तु डोडो के पेट में इन कड़े बीजों का उपचार हो जाता था और छिलका मुलायम हो जाता था। फिर मल के साथ जब ये उपचारित बीज बाहर आते थे उनका अंकुरण आसानी से हो जाता था।

जैसे-जैसे डोडो की संख्या कम होने लगी, **कालबेरिया** के वृक्षों की संख्या भी कम होने लगी, और अन्ततः डोडो के साथ ही **कालबेरिया** के वृक्ष भी समाप्त हो गये। यह बात दूसरी है कि वैज्ञानिकों ने **कालबेरिया** का एक बचा हुआ वृक्ष ढूंढ लिया है, पर यह वृक्ष भी कब तक जीवित रह सकेगा ?

इस प्रकार जंगल और वन्यजीव एक दूसरे पर निर्भर हैं। एक के प्रभावित होने पर दूसरा भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। निर्णय हमें लेना है कि क्या हम अपनी प्रकृति और इसकी संपदा को सुरक्षित रखेंगे या अपनी लोलुप दृष्टि का शिकार हो जाने देंगे? आज यह वास्तविकता पूरी तरह से स्पष्ट हो चुकी है कि प्रकृति के साथ ही मानव का अपना अस्तित्व भी जुड़ा हुआ है। आइए अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए पशु-पक्षियों और वृक्षों-वनस्पतियों की रक्षा करें। □□

गंगा

अनिल श्रीवास्तव

गंगा !
वही भगीरथ वाली
एकदम निर्मल, पूज्य, पवित्र।
निकली थी जो कभी
कठिन तपस्या से,
छोड़ा था जिसे ब्रह्मा ने
अपने कमण्डल से,
और रोककर शंकर ने जटा पर
उतारी थी धरती पर बूंद-बूंद;
भस्म होकर पड़े
भगीरथ के पुरखों को,
तर कर स्वर्ग जाने के लिए।
देखा है तुमने उसे ?
उसी हिमालय की गोद से
आज भी निकलती है भागीरथी
एकदम स्वच्छ, पवित्र और तारने वाली।
चलती है,
हँसती–खिलखिलाती
अपने कल-कल निनाद से,
चतुर्दिक संगीत भरती,
पर चीख़ पड़ती है
मैदानी क्षेत्र में उतरते ही,
जर्जर हो बिखर जाती है
उसकी सम्पूर्ण काया,
बदल कर एक मलिन नाले के रूप में,
नहीं रह जाता उसमें
कीचड़ के अलावा कुछ।
तमाम शहरों के कूड़ा-कचरों से
संकीर्ण हो जाती है उसकी धारा
नही रह जाती बची
उसके अपने अस्तित्व की
एक भी बूंद।
उसका वजूद बाकी रह जाता है सिर्फ़
कागज, चमड़ा, मदिरा मिलों के त्यागे गये
मैलों के रूप में।
इसलिए आज
चिल्ला-चिल्लाकर रो रही है गंगा
और कह रही हैं
आज उसी भगीरथ से
हे भगीरथ !
कभी मैंने तेरे पुरखों को तारा था
आज तू मुझे तार
तपस्या कर पहुँचा दे वापस
इस सड़ियल, नरक भरे धरती के जीवन से
ब्रह्मा के कमण्डल में।

□□

डी-27, सेक्टर-20 नोएडा, गाज़ियाबाद–201301

यूरेनियम का विद्युत्-उत्पादन में योगदान

दिलीप भाटिया

भारत में यूरेनियम के प्रचुर भण्डार हैं। हमारे पास 70,000 टन यूरेनियम उपलब्ध है। इसका सबसे अच्छा, लाभकारी व शांतिमय उपयोग है— विद्युत-उत्पादन। परमाणु बिजलीघरों में यूरेनियम को यूरेनियम डाइऑक्साइड ईंधन रूप में काम में लाकर विद्युत-उत्पादन किया जाता है। यूरेनियम के तीन

अभियंता-एस ई० राजस्थान परमाणु बिजलीघर, अणुशक्ति–323303 (कोटा) राजस्थान

आइसोटोप होते हैं—यूरेनियम-234, यूरेनियम-235 यूरेनियम-238। प्राकृतिक यूरेनियम में 0.7 प्रतिशत यूरेनियम 235 होता है जो नाभिकीय प्रक्रिया में भाग लेकर विखण्डन क्रिया द्वारा उष्मा देता है व विद्युत-उत्पादन में निरन्तर काम में आता है। तारापुर राजस्थान, मद्रास व नरोरा परमाणु बिजलीघरों से 1465 मेगावाट विद्युत उत्पादन हो रहा है। भविष्य में 10,000 मेगावाट का लक्ष्य है, जो इस योगदान को सन् 2000 तक 10 प्रतिशत कर सकेगा। कम ईंधन, अधिक सुरक्षा, संतुलित व दोषहीन पर्यावरण, आत्मनिर्भरता व तकनीकी क्षमता, में कुछ ऐसे गुण हैं जो इस बहुमूल्य नाभिकीय ईंधन को हमारे लिए वरदान सिद्ध करते हैं व नाभिकीय ऊर्जा के महत्व को प्रभावशाली बनाते हैं।

ताप बिजलीघर की अपनी सीमाएँ व समस्याएँ हैं। सीमित भण्डार हैं कोयले के व एक सीमित क्षेत्र में ही स्थित हैं। ईंधन की मात्रा अधिक चाहिए। 3000 मेगावाट बिजली बनाने के लिए प्रतिदिन 20,000 टन कोयला चाहिए। इससे हानिकारक गैसें, प्रतिवर्ष 150,000 टन सल्फर डाइ ऑक्साइड, 75,000 टन नाइट्रोजन डाइऑक्साइड व असीमित मात्रा में कार्बन डाइ ऑक्साइड निकलेगी।

पन-बिजलीघर भी दोषरहित नहीं हैं। इसके लिए ईंधन की आवश्यकता प्रकृति पर निर्भर है। पन-बिजलीघर लगाने के लिए लोगों को विस्थापित करना होता है व पानी एक जगह भरा होने से बाढ़ का खतरा तो है ही मलेरिया व अन्य बीमारियाँ भी फैलती हैं।

बढ़ती हुई बिजली की आवश्यकता पूरी करने के लिए आज सर्वश्रेष्ठ व अत्यधिक सुरक्षित विकल्प यूरेनियम है। यूरेनियम का यह सर्वश्रेष्ठ सदुपयोग है। विकिरण, रेडियोधर्मिता व अन्य पहलुओं का पूरा ध्यान रखा जाता है व किसी भी परिस्थिति को सही करने के लिए आपात्कालीन प्रावधान व योजनाएँ हैं। पर्यावरण प्रयोगशाला व स्वास्थ्य भौतिकी विभाग इस बात का बराबर ध्याय रखता है कि पर्यावरण दूषित न हो व जनता व कर्मचारियों के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल असर न हो। अन्तर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी द्वारा निर्धारित मापदण्डों का पालन किया जाता है।

विद्युत-उत्पादन के बाद अपशिष्ट ईंधन का भी उपयोग होता है। इस अपशिष्ट यूरेनियम से प्लूटोनियम निकालकर कई क्षेत्रों में काम में लिया जाता है। यूरेनियम के साथ प्लूटोनियम मिलाकर बनाया गया मिश्र ईंधन पुनः परमाणु बिजलीघर में काम में लाकर अधिक विद्युत-शक्ति प्राप्त की जा सकती है। फास्ट ब्रीडर रिएक्टर के लिए अनुसंधान व अन्य कार्यक्रमों के लिए भी इस प्लूटोनियम का उपयोग होता है। इस प्रकार यह यूरेनियम विद्युत-उत्पादन के बाद भी कई लाभकारी कार्यों में काम आता है।

यूरेनियम बहुत महत्वपूर्ण पदार्थ है। हमारी योजनाओं के लिए हमारे पास पर्याप्त यूरेनियम उपलब्ध है। मितव्ययिता से इसका उपयोग करके अधिकतम लक्ष्य को प्राप्त करना है व अपशिष्ट यूरेनियम का भी उपयोग करना है। हम आश्वस्त हैं, कि यूरेनियम विद्युत-उत्पादत में अपना योगदान देकर राष्ट्र की प्रगति में, देशवासियों के जीवन स्तर को उन्नत बनाने में **भाभा, नेहरू** के सपनों को साकार करने में समर्थ होगा व इस वैज्ञानिक उपलब्धि द्वारा विश्व में हम एक गौरवशाली कीर्ति स्थापित कर सकने में सफल होंगे।

□□

परिषद् का पृष्ठ

(1) विज्ञान परिषद् में 'विश्व स्वास्थ्य-दिवस' पर विचार-गोष्ठी

7 अप्रैल को विज्ञान परिषद् के व्याख्यान कक्ष में 'विश्व स्वास्थ्य दिवस' के अवसर पर एक विचार संगोष्ठी सम्पन्न हुई। वक्ताओं ने निरन्तर बिगड़ते पर्यावरण, संदूषित जल, विषैली वायु, भोज्य पदार्थों में मिलावट के कारण बढ़ते रोगों और स्वास्थ्य में गिरावट पर गहरी चिंता व्यक्त की।

विषय प्रवर्तन करते हुए 'विज्ञान' पत्रिका के संपादक **प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव** ने बढ़ते रोगों और गिरते स्वास्थ्य की एक झलक प्रस्तुत की और 'विज्ञान' के उन विभिन्न अंकों की चर्चा की जिनके माध्यम से

परिषद् ने समय-समय पर जन मानस में स्वास्थ्य के विषय में आम जानकारी देने का प्रयत्न किया है।

डॉ० सुप्रभात मुकर्जी ने धूम्रपान से होने वाले कैंसर और फेफड़े के रोगों की चर्चा की और इस बात पर बल दिया कि धूम्रपानियों को समझा-बुझा कर इस आदत को छोड़ने को प्रेरित किया जाये। **श्री मोहन पाण्डेय** ने दूध में पानी, काली मिर्च में पपीते के बीज, सरसों के बीजों में भरभंडा के बीज, हल्दी में घोड़े की लीद आदि मिलावटों की चर्चा की और लोगों को इससे सावधान रहने की अपील की।

डॉ० शिवगोपाल मिश्र ने अपने अध्यक्षीय भाषण में खाँसी-बुखार से लेकर कैंसर जैसे जानलेवा रोगों की चर्चा की और इससे बचने के उपाय बताये। श्री मिश्र ने पानी उबाल कर और साफ़ कपड़े से छानकर पीने, सुबह शाम खुली हवा में टहलने, धूम्रपान और मदिरा के सेवन से बचने और साधारण व्यायाम पर ज़ोर दिया। ऐसा करके हम बिना लागत के स्वस्थ रह सकते हैं। आवश्यकता है इस बात को समझने और समझाने की।

इनके अतिरिक्त **डॉ० अशोक कुमार गुप्ता, श्री पुष्पेश कुमार पुजारी, श्री राजेश कुमार केसरी** ने भी अपने विचार व्यक्त किए।

अन्त में प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने उपस्थित सभी श्रोताओं को धन्यवाद दिया और आशा प्रगट की कि इस दिशा में सामूहिक प्रयासों के अतिरिक्त व्यक्तिगत स्तर पर भी हम बहुत कुछ कर सकते हैं।

(2) विज्ञान परिषद् में 'विश्व पृथ्वी दिवस' पर विचार-गोष्ठी

विज्ञान परिषद् में 22 अप्रैल को 'विश्व पृथ्वी-दिवस' के अवसर पर 'पृथ्वी बचाओ' विषय पर एक विचार-गोष्ठी सम्पन्न हुई। लगभग तीन घण्टे तक चलने वाली इस विचार गोष्ठी में इलाहाबाद विश्व-विद्यालय, शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान, शिक्षा विभाग और परिषद् के अन्तरंगियों सहित 25 वैज्ञानिकों ने भाग लिया। इसकी अध्यक्षता **डॉ० चन्द्र विजय चतुर्वेदी**, संचालन **प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव** और धन्य-वाद ज्ञापन परिषद् के प्रधानमंत्री **डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी** ने किया। विचार-गोष्ठी का विषय प्रवेश करते हुए प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने 'पृथ्वी दिवस' का इतिहास बताते यह कहा कि मानव के लिए धरती नहीं वरन् धरती के लिए मानव है। बोलने का काम बहुत हुआ, अब कुछ करके दिखाना चाहिए। समस्यायें जो रेखांकित हो चुकी हैं उनके समाधान स्थानीय स्तर पर मिलजुल कर ढूँढने चाहिए। **प्रो० पूर्णचन्द्र गुप्ता** ने बड़ी शक्तियों की साजिश बताते हुए समस्याओं से बिना भयभीत हुए अपनी ज़रूरतों को सीमित करने पर ज़ोर दिया। **डॉ० शिवगोपाल मिश्र** ने बताया कि रासायनिक उर्वरकों के स्थान पर जैव उर्वरकों को खेतों में डालना चाहिए। **डॉ० मुरारी मोहन वर्मा** ने भूमि के कटाव को रोककर भूमि संरक्षण पर बल दिया। **श्री दिनेशमणि** ने मिट्टी से भावनात्मक रूप से जुड़ने पर जोर दिया। **श्री अनिल कुमार शुक्ल** ने कहा कि छोटे-छोटे समूहों में गाँवों में जाकर कार्यक्रम करना चाहिए। व्यक्तिगत रूप से इस सम्बन्ध में हम जो भी कर सकते हैं उसे अवश्य करना चाहिए। **डॉ० सुप्रभात मुकर्जी** ने एक ऐसे प्रबन्धतन्त्र की आवश्यकता बताई जो भविष्य की विकास की योजनायें पर्यावरण को ध्यान में रखकर बनाये। **डॉ० चन्द्र विजय चतुर्वेदी** ने अपने अध्यक्षीय भाषण में भारत की प्राचीन संस्कृति के पुनर्प्रतिष्ठापन पर बल देते हुए कहा कि अपने यहाँ खाद्यान्नों की पहले लगभग 700 किस्में थीं। अब लगभग 200 ही बची हैं। हमें खाद्यान्नों के बीजों के 'जर्म प्लाज़्म' को संरक्षित करने की आवश्यकता है। हमें लोक संस्कृति को बचाने का भी प्रयास करना होगा। उन्होंने यह भी कहा कि बुद्धिजीवियों को अपने प्रकोष्ठों से बाहर जाकर जनसामान्य से जुड़ना होगा जैसा **राजा जनक** ने हल चलाकर किया था।

इस संगोष्ठी में इन सबके अतिरिक्त **डॉ० आर० एस० डी० दुबे, सर्वश्री रमाशंकर शुक्ल, वीरेन्द्र कुमार सिंह, राजेश कुमार केसरी, अशोक कुमार, प्रमोद कुमार शुक्ल, पुष्पेश कुमार पुजारी, शैलेन्द्र कुमार** आदि ने भी अपने विचार प्रस्तुत किए। □□

—प्रस्तुति : प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

विज्ञान वार्ता | संकलन : डॉ० अरुण आर्य

(1) ट्यूबोपॉनिक्स : एक बहुमंज़िला बग़ीचा

ऊसर कृषि के समान यह कम पानी में उगाया जाने वाला बग़ीचा है। इसमें पौधों को एक नली में उगाया जाता है। नली को मिट्टी से भरा जाता है और किनारों से काट कर छेद बनाये जाते हैं। हर छेद में एक पेड़ लगाया जाता है। इज़रायली कृषि अनुसंधान के वोल्केनिक केन्द्र ने नली को अल्यूमिनियम की नली में बदल कर प्रयोग किये हैं।

1.2 से 2.4 मीटर लम्बी नली को पीट और ज्वालामुखी के लावा से भरा जाता है। जल एवं खाद को ऊपर से धीरे-धीरे गिराया जाता है। इसमें एक सुविधा यह भी है कि जो पानी एवं लवण ऊपर के पौधों को ज़रूरी नहीं होते, नीचे के पौधों को मिलते रहते हैं। वोल्केनिक केन्द्र, इज़रायल में इस विधि से ककड़ियाँ, स्ट्राबेरी, बन्दगोभी आदि को उगाया गया है। टमाटर की उपज तो अत्यधिक संतोषप्रद हुयी है।

(2) ·········और वे घोसला कैसे बनाती हैं ?

कहावत है कि जितनी तरह की चिड़ियाँ उतनी तरह के घोसले। जहाँ कुछ चिड़ियाँ खाली चट्टानों के ऊपर ही अपने अण्डे देती हैं वहीं दूसरी ओर है सफ़ाई के साथ बुना गया बया का घोसला। चिड़ियों पर पुस्तकें लिखने वालों ने हमें बताया है कि चिड़ियों में भी बुनकर, बढ़ई, सिलाई करने वाली, खुदाई करने वाली एवं डाकू चिड़ियाँ होती हैं।

बया हज़ारों घास या पाम (ताड़-खजूर) की पत्ती के टुकड़ों को चोंच और पैर की सहायता से बुनती हैं। टेलर चिड़ियाँ (**ओरथोटोमस सुटोरियस**) चौड़े पत्तों को एक सिरे से दूसरे सिरे तक जोड़ती है। हार्नबिल (**ब्यूसिरोटाइडी**) मादा चिड़िया किसी पेड़ के एक बड़े छेद में घुसती है, अपना घर बनाती है और छेद को बन्द कर लेती है, केवल एक छोटा सा सीधा छेद रहता है जहाँ से नर उसे खाना इत्यादि देता है।

कुछ चिड़ियाँ ऐसी होती हैं जो सदा दूसरों के छोड़े हुये घोसलों को अपना घर बनाती हैं। विभिन्न प्रकार की मैना (स्टूरनाइडी), कठफोड़वा के छोड़े घरों को वे अपना लेती हैं। कोयल (कुकूलाइडी) और कुछ दूसरी परजीवी चिड़ियाँ कभी अपना घर नहीं बनाती हैं, सदा दूसरों के घरों में अपने अण्डे देती हैं।

(3) पत्थर : धूम्रपान रोकने में सहायक

क्या आप धूम्रपान छोड़ने में सहायक पत्थर को प्राप्त करना चाहते हैं ? तो यह हालैण्ड के स्वास्थ्य विभाग द्वारा अनेक होटलों में प्रचलित है और आप इसे मात्र 12 रु० में प्राप्त कर सकते हैं।

स्वास्थ्य विभाग के अनुसार धूम्रपान करने वालों के दो समूह हैं—ओरल टाइप और टेक्टाइल टाइप। पत्थर केवल टेक्टाइल टाइपों के लोगों पर असर करता है। यह जब उनके हाथों में जाता है तो उनकी अंगुलियों को उसमें व्यस्त रखता है और आदमी को सिगरेट हाथ में लेने का समय ही नहीं मिलता। यह विधि सर्वप्रथम एक पुरातत्वशास्त्री ने खोजी, जिसे अपने कार्यस्थल पर एक विशेष आकृति वाला पत्थर मिला। इस पत्थर को वह हर समय अपने साथ रखता था। धीरे-धीरे उसकी सिगरेट पीने की आदत बहुत कम हो गई। देखने वाली बात यह है कि ये पत्थर दूसरे लोगों को कितना आकर्षित कर पाते हैं ?

(4) एफ्लाटॉक्सिन

कवक द्वारा उत्पन्न होने वाले ज़हरीले पदार्थों में आज एफ्लाटॉक्सिन्स का विशेष महत्व है। सर्वप्रथम 1960 में इंग्लैंड में टर्कियों (पक्षी) में एक बीमारी तीव्ररूप से फैली, जिससे लन्दन के 100 मील के घेरे में रहने

प्रवक्ता, वनस्पति विज्ञान विभाग, विज्ञान संकाय, एम० एस० विश्वविद्यालय, बड़ौदा, पिन—390002 (गुजरात)

वाली लगभग एक लाख टन टर्कियाँ मारी गईं। खोज करने पर ज्ञात हुआ कि मूँगफली के दाने, जो कि उन्हें खाने को दिये जाते थे, कुछ कवकों से प्रभावित थे। इसमें से मुख्य था, **एसपरजिलस फ्लेवस** नामक कवक। इसी से इस विषाक्त पदार्थ का नाम पड़ा एफ्लाटॉक्सिन (**एसपरजिलस फ्लेवस टॉक्सिन**)। इस पदार्थ को उत्पन्न करने वाले कवक हैं—**एसपरजिलस फ्लेवस, ए० पैरासिटिकस** और अन्य **एसपरजिलस** जातियाँ तथा अनेक **पेनिसिलियम** एवं **राइज़ोपस** जातियाँ।

अनेक कृषि उत्पाद तथा मूँगफली, बिनौला, मक्का, चावल, गेहूँ, सोयाबीन, नारियल, जौ, जई, ज्वार इत्यादि इस एफ्लाटॉक्सिन से दूषित पाये गये हैं। वस्तुतः विषाक्त पदार्थ उत्पन्न करने वाले कवक **एसपरजिलस फ्लेवस** एवं **ए० पैरासिटिकस**, जब भी परिस्थितियाँ अनुकूल होती हैं, अनेक पदार्थों पर वृद्धि की शक्ति रखते हैं।

(5) वायु-प्रदूषक पौधों को छोटा करते हैं

मनुष्य के समान पौधों पर भी प्रदूषण का विपरीत प्रभाव पड़ता है। यद्यपि कभी-कभी यह प्रभाव बाह्य रूप से दृष्टिगत नहीं होता, लेकिन यह पौधों की वृद्धि एवं चयापचय को प्रभावित करता है।

इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑव साइन्स, बम्बई के **डॉ० चाफेकर** एवं उनके सहयोगियों द्वारा किये गये प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ है कि वायुमण्डल में गन्धक के ऑक्सीकारकों की उपस्थित से पौधों की वृद्धि पर विपरीत प्रभाव पड़ा। उनका आकार छोटा हो गया, पत्तियाँ भी छोटी हो गईं एवं उनका भार भी कम हो गया। □□

5 जून विश्व पर्यावरण दिवस पर

खतरनाक है पान मसाला

रमेश दत्त शर्मा

[वैज्ञानिक परीक्षणों से यह भली-भाँति सिद्ध हो चुका है कि पान मसाला खाने की लत ख़तरनाक है और दिन भर में चार ग्राम से ज्यादा पान मसाला खाने से मुँह और गले का कैंसर हो सकता है। इसीलिए केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री **श्री नीलमणि राउत राय** ने फ़ैसला किया है कि पान मसालों के हर पैकेट पर चेतावनी छापना ज़रूरी होगा। —**संपादक**]

"कल्लू भाई की पसंद, मम्मी डैडी की पसंद, भइया-भाभी की पसंद, बच्चों की पसंद, दादा जी की पसंद, मास्टर जी की पसंद" जैसे विज्ञापन के अलावा अशोक कुमार, शम्मी कपूर और सईद ज़ाफ़री तथा जलाल आगा जैसे कलाकारों के साथ रेडियो, दूरदर्शन और समाचार पत्रों में पान मसालों के विज्ञापनों ने हर घर में मुख-शुद्धि के इस ज़ायक़ेदार तरीके को पहुँचा दिया है। एक मोटे अंदाज़ के मुताबिक पान मसाला करीब दो करोड़ लोगों के मुँह लग चुका है। हर साल करीब 300 करोड़ रुपये का पान मसाला बिक रहा है और खाड़ी के देशों में निर्यात किया जाता है।

पूरे देश में 20 से ज्यादा कंपनियाँ अलग-अलग नामों से पान मसाला बना-बेच रही हैं। इनमें से कुछ किस्म के मसाले मीठे हैं और कुछ सादे। संसद में केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री श्री नीलमणि राउत राय ने जानकारी दी कि पान मसाले के 255 नमूने जगह-जगह से लेकर जाँचे गए तो उनमें से 93 में मिलावट पाई गई। कुछ पान मसालों में मीठापन लाने के लिए सूखे छुहारों का चूरा मिलाया जाता है, जो हानिरहित है। लेकिन कई निर्माता इस मँहगी मिठास की जगह सैकेरिन मिलाकर मीठे पान मसाले बेचते हैं। कुछ पान मसालों में स्वास्थ्य के लिए हानिकारक रंगों की मिलावट पकड़ी गई। चाँदी के वर्क का धोखा देने के लिए अल्युमिनियम की पत्तियाँ मिलाना तो आम

बी-38, कृषि विहार, नई दिल्ली—110048

है। यहाँ तक कि कुछ नमूनों में रंगी हुयी रेत भी पान मसाला कहकर बेची जा रही थी।

यों प्रयोगशाला में किए गए विश्लेषणों से पता चला है कि सादे पान मसालों में 80 प्रतिशत पिसी हुई सुपारी होती है और मीठे में 10 प्रतिशत। मीठे पान मसाले में सूखे छुहारों का चूरा 70 प्रतिशत तक मिलाया जाता है। कत्था दोनों में ही 10-10 प्रतिशत मिलाया जाता है और चूना एक-एक प्रतिशत। इसके अलावा 9 प्रतिशत सामग्री खुशबू और स्वाद के लिए मिलाई जाती है। इसमें दालचीनी, लौंग, इलायची और मेंथोल वगैरह हो सकते हैं।

मेंथोल मिलाते हैं मुँह में ठंडक-सी घोलने के लिए। अनुमान है कि मेंथोल मिलाने और पान मसाले की लत लग जाने में कोई सम्बन्ध हो सकता है। खराब गले को ठीक करने की तमाम गोलियों में और खाँसी के शर्बतों में मेंथोल मिलाया जाता है। पश्चिमी देशों में शरीर के प्रति किलोग्राम वज़न पर 0.02 मिलीग्राम मेंथोल खाद्य-पेय और दवाओं में मिलाने की अनुमति है जो 'अमेरिकी खाद्य विभाग' और 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' दोनों की सिफारिशों के अनुसार तय की गई है।

पान-तम्बाकू से पान मसाले तक कैंसर का जाल

इस तरह पान की पत्ती और तम्बाकू के सिवा पान मसाले में वे सब चीज़ें मिलाई जाती हैं जो पान के बीड़े में होती हैं। सुपारी चबाने और पान-तम्बाकू खाने के स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रभाव को लेकर हमारे देश में बम्बई के **डॉ॰ खनोलकर** के नेतृत्व में सन् 1944 से ही अनुसंधान किए जा रहे हैं। मुख के कैंसर से सुपारी और तम्बाकू का गहरा सम्बन्ध डॉ॰ खनोलकर के अलावा बम्बई की कैंसर अनुसंधानशाला की **डॉ॰ कमल रणदिवे** ने 1976 में और **डॉ॰ भिडे** ने 1979 में भलीभाँति सिद्ध किया। मैनपुरी तम्बाकू और मुख-कैंसर के परस्पर-सम्बन्ध को आगरा में एस॰ एन॰ मेडिकल कॉलेज के **डॉ॰ पी॰ एन॰ वही** और **डॉ॰ उषा लूथरा** ने स्पष्ट किया था। कैंसर अनुसंधान की अन्तर्राष्ट्रीय संस्था—आई॰ ए॰ आर॰ सी॰ ने भी इस बारे में सभी अनुसंधानों की समीक्षा करके वैज्ञानिक निष्कर्ष निकाले हैं। पान-तम्बाकू खाने की आदतों का व्यापक सर्वेक्षण भी किया गया और मुँह और गले के कैंसर से पान-तम्बाकू चबाने की आदत का गहरा सम्बन्ध पाया गया। **डॉ॰ निरि** और उनके सहयोगियों ने सन् 1987 में अपने प्रयोगों के नतीजे "कैंसर लेटर" नामक अनुसंधान पत्रिका में प्रकाशित किए। इनमें सिद्ध किया गया कि कत्था भी कैंसर पैदा करने का ख़तरा लिए हुए है।

आखिरकार ये पता कैसे चलता है कि कोई चीज़ कैंसरजनक होती है? इसके लिए चूहे और हैम्स्टर जैसे प्रयोगशालीय प्राणियों पर प्रयोग किए जाते हैं। कैंसर के रोगी में प्रभावित अंग की कोशिकाएँ बागी होकर बढ़ती चली जाती हैं, उनकी वृद्धि को रोकने वाली **जीन** काम करना बन्द कर देती है। सन् 1989 में "इंडियन जर्नल ऑव मेडिकल रिसर्च" के 90वें खण्ड के 131 वें पन्ने पर **डॉ॰ अध्वार्यु** और सहयोगियों का शोध-पत्र प्रकाशित हुआ है, जिसमें पान मसाले से मादा चीनी हैम्स्टर प्राणी की डिंबाशय-कोशिकाओं में गुणसूत्रों पर विपरीत प्रभाव पड़ने का विवरण है। केवल 1.11 मिलीग्राम पान मसाले ने, 3 घंटे में ही यह "जीनोटॉक्सिक" असर दिखाया। यह असर कत्था और सुपारी के "जीनोटॉक्सिक" प्रभाव से मिलता-जुलता है।

एक और प्रयोग चंडीगढ़ में "पोस्ट ग्रेजुएट इन्स्टीट्यूट ऑव मेडिकल साइंसेज़" के कान, नाक और गला विभाग में किया गया। यहाँ छः महीने तक एक दिन छोड़कर चूहों के मुँह के अन्दर पान मसाले का लेप किया गया। दो महीने बाद 21 चूहों में से तीन के मुँह के अन्दर की झिल्ली में कड़ी असामान्य परत पनप आई। 4 महीने बाद यह स्थिति और भी स्पष्ट हो गई और छः महीने बाद ज़्यादातर चूहों के मुँह के अंदर कैंसर से पहले की अवस्था पैदा हो गई थी।

पिछले कुछ वर्षों में मुँह के अंदर की झिल्ली के नीचे कैंसर पूर्व की परत बन जाने (सब म्यूकोसल फाइब्रोसिस) की घटनाओं में 10 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी

के बाद वैज्ञानिकों के कान खड़े हुए। सन् 1989 में **डॉ० बाली** और उनके सहयोगियों ने पान मसाला खाने वाले व्यक्तियों में सर्वेक्षण किए। उन्होंने उन्हें तीन श्रेणियों में बाँटा। हल्की मात्रा में पान मसाला सेवन करने वाले, मध्यम और बेहद पान मसाला खाने वाले। मध्यम और भारी मात्रा में पान मसाला खाने वालों के मुँह में कैंसरपूर्व की विविध अवस्थाओं के लक्षण स्पष्ट रूप से पाए गए।

"नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑव न्यूट्रीशन", हैदराबाद में **डॉ० कल्पगम** और साथियों ने पान मसाला और सुपारी को अलग-अलग पानी में घोलकर **साल्मोनेला टाइफीमिनियम** नामक जीवाणु की कोशिकाओं पर इनका असर देखा। इससे नतीजा निकाला गया कि पान मसाला और सुपारी दोनों ही जीवाणु-कोशिकाओं में उत्परिवर्तन (म्यूटेशन) पैदा करते हैं। सैकेरिन और कैंसर के परस्पर संबंध का सन्देह पैदा होते ही खाने-पीने की चीज़ों में पश्चिमी देशों में सैकेरिन मिलाने पर पाबंदी लगा दी गई थी। लेकिन हमारे देश में विविध खाद्य और पेय सामग्री में अवैध रूप से सैकेरिन का दुरुपयोग धड़ल्ले से हो रहा है। मीठे पान मसालों में भी कुछ निर्माता सैकेरिन मिला रहे हैं।

हालाँकि अभी अनुसंधान जारी है, लेकिन इतना तो तय है कि पान मसाला ज़्यादा खाने वाले कैंसर के चंगुल में फँस सकते हैं। इसलिए केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री ने तुरन्त कदम उठाकर सही समय पर सही फैसला किया है कि पान मसाले के हर डिब्बे पर ख़तरे की चेतावनी छापी जाय। दूरदर्शन पर पान मसालों के लुभावने विज्ञापनों पर पाबन्दी लगाई जाय। यह बताया जाय कि जो छोड़ न पाएँ वे दिन भर में ज़्यादा से ज़्यादा 4 ग्राम पान मसाला खायें, इससे ज़्यादा नहीं। पान मसाला खाने के बजाय सौंफ या इलायची खाने की आदतें डालें। सुपारी की ऐसी किस्में विकसित करने का भी सुझाव दिया गया है, जिसमें नुकसानदेह यौगिक "अरेकोलिन" की मात्रा कम हो। जब पौध-प्रजनक बिना कैफीन वाली कॉफी विकसित कर सकते हैं तो बिना "अरेकोलिन" वाली सुपारी और बिना निकोटिन वाली तम्बाकू भी निकाल सकते हैं।

क्या पान मसाला पर पूरी पाबंदी लगा दी जाय? यह व्यावहारिक नहीं होगा। बढ़ी कीमतों पर चोरी-छुपे बिकेगा। फिलहाल यही बेहतर होगा कि पान मसाले के ख़तरे लोगों को बताए जायें और समझाये जायें।

अब कोई मित्र या सम्बन्धी पान मसाले का डिब्बा आपकी तरफ बढ़ाकर लखनवी अन्दाज़ में कहे कि "शौक फरमाइए" तो आप मुस्कराकर हाथ जोड़ लीजिए, "माफ कीजिए, मैं पान मसाला नहीं खाता।" जानबूझकर ख़तरा क्यों मोल लिया जाय।

[इस्वा फीचर्स] □□

5 जून विश्व पर्यावरण दिवस पर

मलेरिया : जैव-पर्यावरण पद्धति द्वारा रोक-थाम

डॉ० आर० एन० यादव

मलेरिया संसार के सभी गरम देशों व उनके पास के क्षेत्रों के लिये एक चिंता का विषय बना हुआ है। इसमें सर्दी के साथ बुखार, कमज़ोरी, तिल्ली का बढ़ जाना, सिर दर्द, उल्टी आना इत्यादि लक्षण पाये जाते जाते हैं। मलेरिया इटैलियन भाषा के दो शब्दों से मिलकर बना है। मल+एरिया। इसका अर्थ है गंदी वायु। इस बुखार की प्रायः तीन अवस्थायें होती हैं। (1) सर्दी लगना, (2) तेज़ बुखार और (3) पसीना आना। मलेरिया **प्लैज्मोडियम** नामक परजीवी के मनुष्य के शरीर में प्रवेश के कारण होता है। यह

मलेरिया रिसर्च सेण्टर, शंकरगढ़, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश

परजीवी, फाइलम प्रोटोज़ोआ, क्लास स्पोरोज़ोआ, ऑर्डर कोक्सीडाइडी, फैमिली प्लाज़्मोडिडी, जीनस **प्लैज्मोडियम** का है। इसकी चार प्रजातियाँ **वाइवेक्स, फेल्सीपेरम, मलेरी** व **ओवेल** होती हैं। **वाइवेक्स** से टरसियन, **फेल्सीपेरम** से मैलिगनेन्ट, **मलेरी** से क्वार्सन व **ओवेल** से ओवेल मलेरिया होता है।

यह परजीवी एक मनुष्य से दूसरे में, मच्छर की एक जाति **एनाफिलीज़** के मादा मच्छर द्वारा रक्त चूसते समय जाता है। इसका सम्पूर्ण जीवन-चक्र दो मेज़बानों (होस्टों) पर पूरा होता है, जिनमें से एक मनुष्य और दूसरा मच्छर है। या फिर यों कहिये कि इसका अलैंगिक प्रजनन मनुष्य में और लैंगिक प्रजनन मच्छर में होता है। इस प्रकार लैंगिक और अलैंगिक प्रजनन का पीढ़ी दर पीढ़ी एकान्तरण होता है। इसे पीढ़ियों का एकान्तरण कहते हैं।

मलेरिया का इतिहास सत्तरहवीं सदी से प्रारम्भ होता है, एक यूरोपियन डॉक्टर ने दक्षिण अमेरिका के एक पेड़ की छाल को मलेरिया बुखार के उपचार के लिये प्रयोग किया। सन् 1638 में **काउन्टेस सिनकोना** इसी पेड़ की छाल से ठीक हुयीं और वह इसको अपने देश पेरू में ले गईं। उन्हीं के नाम पर इस पेड़ का नाम **सिनकोना** रखा गया। सन् 1820 में फ्रांस के औषधिविज्ञानियों **प्लेटियर व केवेन्टू** ने सिनकोना की छाल से दो एल्कोलाइड (क्यूनेन व सिनकोनिन) निकाले, जिनका मलेरिया में बहुत महत्व है। सन् 1881 में **लेवरन** ने **प्लैज्मोडियन मलेरी**, 1890 में **ग्रासी व फ्लेटी** ने **प्लैजमोडियम वाइवेक्स,** 1897 में **वेल्व** ने **प्लैज्मोडियम फेल्सीपेरम** व सन् 1922 में **स्टीफेन** ने **प्लैज्मोडियम ओवेल** की खोज की। सन् 1897 में **रोनाल्ड रॉस** ने सिकन्दराबाद में सर्वप्रथम मलेरिया परजीवी को मादा **एनाफिलीज़** के पेट की दीवार पर सिस्ट के रूप में पनपते देखा। सन् 1898 में उन्होंने इसके जीवन-चक्र का अध्ययन किया और परजीवी को स्पोरोज्वाइट के रूप में मच्छर की लार-ग्रन्थि में दिखाया।

पोलमुलर के द्वारा सन् 1939 में डी० डी० टी० (डाइक्लोरो डाइफिनायल ट्राइक्लोरोइथेन) कीट नाशक खोजने के बाद मलेरिया नियन्त्रण का कार्य सुचारु रूप से चलने लगा। इसके काफ़ी अच्छे परिणाम निकले और सन् 1945 में सर्वप्रथम राष्ट्रीय मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम (एन० एम० इ० पी०) वेनेजुयेला में शुरू हुआ। भारत में सन् 1953 में मलेरिया की रोकथाम के लिये एक कार्यक्रम चलाया गया, जिसे 'राष्ट्रीय मलेरिया नियन्त्रण कार्यक्रम' कहा गया। इस कार्यक्रम के अच्छे परिणाम निकले। सन् 1955 में 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' ने इसे पूरे संसार में लागू करने की सलाह पर भारत सरकार ने सन् 1958 में 'राष्ट्रीय मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम' की शुरुआत की। इसमें डी० डी० टी०, बी० एच० सी०, मैलाथियान के छिड़काव द्वारा मलेरिया की रोकथाम की गई। अतः धीरे-धीरे सन् 1965 तक मलेरिया लगभग समाप्त सा हो गया। उस वर्ष पूरे देश में लगभग एक लाख व्यक्ति ही मलेरिया के रोगी थे और एक भी मनुष्य की मृत्यु मलेरिया से नहीं हुयी। उस समय यह सोचा जाने लगा कि अब मलेरिया जन-स्वास्थ्य की चिंताजनक समस्या नहीं है परन्तु बाद में यह रोग फिर से बढ़ना शुरू हुआ और उपरोक्त कार्यक्रम को 'मोडीफाइड प्लान ऑव ऑपरेशन' (एम० पी० ओ०) के रूप में एक अप्रैल सन् 1977 में बदल दिया गया, जिसके तहत आज तक मलेरिया नियन्त्रण सरकार द्वारा कराया जा रहा है। मलेरिया फिर से क्यों बढ़ा इसके मुख्य कारण इस प्रकार हैं—

(1) मच्छरों में कीटनाशक दवाओं के विरुद्ध प्रतिरोधक शक्ति बढ़ती जा रही है और कीटनाशक औषधियाँ मच्छरों को मारने में असफल होती जा रही हैं।

(2) तीन दशकों से चले आ रहे कीटनाशी दवाओं के छिड़काव से लोग तंग आ गये तथा इसके प्रति संदेह व सामाजिक अस्वीकृति बढ़ने लगी।

(3) मलेरिया परजीवी में भी मलेरिया नियन्त्रक दवाओं के विरुद्ध प्रतिरोधक शक्ति बढ़ने लगी है।

(4) मच्छरों की आदतों में बदलाव।

अब मलेरिया नियन्त्रण की समस्या के लिये उपरोक्त कारणों को ध्यान में रखते हुये कुछ नये तरीकों की तलाश की गई है। ऐसे तरीके जिनसे हमारा पर्यावरण भी सुरक्षित रहे, रोकथाम के उपाय सस्ते हों, समाज द्वारा स्वीकार्य हों, सरलता से लागू हो सकें, सब जगह उपयोगी हों, सामाजिक स्थिति से जुड़े हों और उपाय स्थानीय तौर पर उपलब्ध व उपयुक्त हों। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुये मलेरिया अनुसंधान केन्द्र के निदेशक **डॉ० वी० पी० शर्मा** ने एक ऐसी रणनीति तैयार की है, जिसमें उन सभी सम्भव उपायों को एकत्र किया गया है, जो मलेरिया नियंत्रण में सहायक हैं तथा ग्रामीण क्षेत्रों के विकास में भी उपयोगी हैं। यह नई पद्धति जैव-पर्यावरण नियन्त्रण पद्धति कहलाती है। इसमें सुझाये गये उपाय इस प्रकार हैं—

(1) मच्छरों के उत्पत्ति स्रोतों को कम करना—मच्छर की उत्पत्ति पानी में होती है। मच्छर पानी में ही अण्डे देते हैं। अण्डे से लारवा, लारवा से प्यूपा और प्यूपा से मच्छर बनता है। इसकी प्यूपा तक की अवस्थायें पानी में ही होती है। अतः पानी के अनावश्यक संचय को दूर करने से मच्छरों की संख्या में कमी होती है। इसके लिये नियमित रूप से जलपात्रों को खाली करना, रुके हुये पानी की निकासी करना, पानी की टंकियों को ठीक प्रकार से बन्द रखना तथा इसके अलावा पृथ्वी को समतल करना, अनावश्यक पानी को गलियों में बहने से रोकने के लिये सोकपिट (शोषक-गर्त) बनाना, पाइप से पानी रिसने या निकलने से रोकने के लिये उसकी मरम्मत करना इत्यादि इसी के अन्तर्गत आते हैं। उन स्थानों पर जहाँ यह सब सम्भव न हो (प्रयोग न किये जाने वाले कुँओं), वहाँ पर पॉलिस्टाइरिन के दानों का प्रयोग करना चाहिये। इसके प्रयोग से मच्छर पानी के सम्पर्क में नहीं पहुँच पाते हैं, जिसके फलस्वरूप वह अण्डे नहीं दे पाते और लारवा इत्यादि मर जाते हैं।

(2) जैव-नियन्त्रण—इस विधि में मच्छरों को उनके प्राकृतिक शत्रुओं द्वारा नष्ट कराया जाता है। मच्छरों के प्राकृतिक शत्रु तीन प्रकार के होते हैं, जिन्हें पैरासाइट, प्रिडेटर व पैथोजेन कहते हैं। इसमें मछलियाँ, फफूंदी और बग का प्रयोग किया जाता है। कुछ विशेष प्रकार की मछलियाँ जैसे **गप्पी, गम्बूसिया** और **कोलिसा** मच्छरों के लार्वों का बड़ी तीव्रता से भक्षण करती हैं। **बैसिलस स्फेरीकस** और **बैसिलस थूरिंजिसिस** जीवाणु मच्छरों की संख्या में वृद्धि को रोकने में काफ़ी सहायक हैं।

(3) रोगियों का पता लगाकर उनका उपचार-रोग का पता लगाने के लिये खून की जाँच आवश्यक है इसलिये रोगियों का पता लगाकर उनकी रक्त पट्टियाँ बनाकर जाँच करना तथा रोगियों का तत्काल उपचार करना चाहिये। इससे मरीज़ को आराम मिलता है तथा मलेरिया परजीवी का नाश तथा स्रोत समाप्त होता है। मलेरिया उपचार के कई तरीके हैं, जिन्हें प्रिज़म्टिव, रेडीकल, सप्रेसिव, एन्टीरिलैप्स तथा क्लीनीकल (क्युरेटिव) कहते हैं। इसमें क्लोरोक्यून, पेरीमिथामाइन, क्यूनैन, मेपाकाइन, प्राइमाक्यून तथा मेटाकेल्फिन इत्यादि दवाइयों का प्रयोग किया जाता है।

(4) स्वास्थ्य शिक्षा—यह अज्ञान और किसी रोग के प्रति अंधविश्वास को दूर करता है और वैज्ञानिक मनोवृत्ति का विकास करता है। इससे रोग के प्रति उदासीनता दूर होती है। स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता आती है और सामुदायिक सहयोग मिलता है। इसलिये स्वास्थ्य शिक्षा इसका एक प्रमुख अंग है। इससे स्वास्थ्य के साथ-साथ पर्यावरण में भी सुधार आता है। बीमारियाँ कम होती हैं और खुशहाली आती है।

(5) पर्यावरण में सुधार—किसी समुदाय के स्वास्थ्य पर उसके पर्यावरण का बहुत असर पड़ता है। स्वच्छ और प्रदूषण रहित वातावरण स्थाई और सुदीर्घकाल तक लाभ देने वाले निवेश हैं। ग्रामीण जीवन के स्तर में सुधार करने के लिये शोषक गर्त (सोक पिट), धूम रहित चूल्हे, बायोगैस संयन्त्र तथा

सूर्य की ऊष्मा वाले कुकर के प्रयोग को प्रोत्साहन दिया जाता है। गाँव वालों को दलदली या जलयुक्त भूमि में यूकेलिप्टस जैसे पेड़ लगाने के लिये प्रेरित करना चाहिये, जिससे पेड़ों की जड़ें पानी सोख लें। पेड़ों से वातावरण स्वच्छ रहता है और हरियाली छाई रहती है। इसके अतिरिक्त सामुदायिक शौचालय, गन्दे पानी की नालियों द्वारा निकासी करने से पर्यावरण में निश्चित रूप से सुधार होता है।

(6) सामुदायिक सहयोग—स्वास्थ्य कार्यक्रम के संचालन में जनता द्वारा सक्रिय भाग लेना बहुत ज़रूरी है, क्योंकि यह कार्यक्रम जनसमुदाय के लिये होते हैं। जनशक्ति के द्वारा और आर्थिक साधनों का प्रयोग करके मच्छरों की रोकथाम आसानी से की जा सकती है। पर्यावरण में सुधार, मच्छरों के उत्पत्ति स्थानों को कम करना, जैव-नियंत्रण, श्रमदान, सामाजिक वानिकी में श्रमदान जैसे उपाय कार्यक्रम में बहुत कुछ मदद कर सकते हैं। आर्थिक सहायता देकर, रक्त की जाँच कराने में सामने आकर, अपने चारों तरफ सफाई रखकर वातावरण को शुद्ध बना सकते हैं।

(7) अन्तर्विभागीय समन्वय—किसी कार्यक्रम की सफलता का मूल-मंत्र सामूहिक रूप से कार्य करना है। मत्स्य विभाग लार्वाभक्षी मछली का पालन कर, वन विभाग दलदली व जलयुक्त भूमि में पेड़ लगवाकर, गैर परम्परागत ऊर्जा विभाग धूमरहित चूल्हा, सोलर कुकर व बायोगैस संयंत्र लगाकर, सिंचाई विभाग व्यवस्थित नालियाँ बनवाकर अनावश्यक पानी को रोककर, रेडियो और दूर-दर्शन विभाग स्वास्थ्य शिक्षा द्वारा मलेरिया की रोकथाम में काफ़ी मदद कर सकते हैं।

(8) आय बढ़ाने की परियोजनायें—किसी कार्यक्रम को चलाने के लिये धन की आवश्यकता होती है। धन के अभाव में बहुत-सी योजनायें सफल नहीं हो पाती हैं और लोगों में उदासीनता आ जाती है। इस कार्यक्रम में आय उत्पन्न करने वाली परियोजनाओं को भी बढ़ावा दिया गया है, जिससे लोगों में इसके प्रति रुचि बनी रहे साथ ही उन्हें आर्थिक प्रोत्साहन भी मिलता रहे। इसमें मछली उत्पादन, वृक्षारोपण और हथकरघा उद्योग को भी प्रोत्साहन दिया गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त तरीकों के द्वारा मलेरिया की रोकथाम, ग्रामीण विकास, पर्यावरण में सुधार किया जा सकता है। यह विधि बहुत ही सस्ती व सरल, पर्यावरण के प्रदूषण से दूर, स्थाई, ग्रामीण विकास में बढ़ावा देने वाली, रोज़गार के अवसर सुलभ कराने वाली, समाज द्वारा स्वीकार्य, वातावरण को स्वस्थ व रमणीक बनाने वाली है। □□

5 जून विश्व पर्यावरण दिवस पर

भारतीय मुद्राओं में वन्य प्राणी

सतीश कुमार शर्मा

भारत में अनेकानेक वन्य प्राणी सदियों से मुद्रा कमाने के स्रोत के रूप में विख्यात रहे हैं। कस्तूरी, हाथीदाँत, मृगछाला, बाघम्बर, गैंडे के सींग आदि ऐसे उत्पाद हैं जो वन्य प्राणियों से प्राप्त किये जाते रहे हैं तथा बहुत ऊँचे दामों पर बेचे जाते रहे हैं। वन्य प्राणियों का एक रूप 'मुद्रा' उत्पादक रहा है तो दूसरा स्वयं 'मुद्रा' या 'मुद्रा चिह्न' भी रहा है।

भारतीय इतिहास में चमड़े के सिक्कों का ज़िक्र आता है। चमड़ा एक प्राणि-उत्पाद है। लेकिन आश्चर्य-जनक बात तो यह है कि प्राचीन भारत में एक ऐसा भी प्राणी रहा है जो सिक्कों के रूप में प्रचलन में रहा है। यह प्राणी है—कौड़ी, जिसे अंग्रेज़ी भाषा में साय-प्रिया (**Cypraea**) कहा जाता है। यह अपृष्ठवंशी प्राणी मोलास्का (**Mollusca**) समुदाय का है। इस

आर्बोरीकल्चरिस्ट, विश्ववानिकी उद्यान, झालना डूंगरी, जयपुर—302004, राजस्थान

समुदाय के तीन प्राणी—कौड़ी, शंख तथा सीपी का सदियों से धार्मिक, आर्थिक व औषधीय महत्त्व रहा है। सीपियों की कुछ प्रजातियाँ अपने मोती-उत्पादक गुण के कारण तथा शंख एक वाद्य उपकरण की तरह भारतीय मन्दिरों में उपयोग होते रहे हैं। प्राचीन भारत में युद्धों की शुरुआत शंख फूंकने के साथ की जाती थी। 'महाभारत' के धर्म-युद्ध में शंख का उपयोग किसी से छुपा हुआ नहीं है।

कौड़ी मौलस्का समुदाय के गैस्टोपोडा वर्ग का समुद्री वन्य प्राणी है। इस प्राणी की कई प्रजातियाँ वैज्ञानिकों को ज्ञात हो चुकी हैं। ये प्राणी भारतीय तथा पैसिफिक समुद्रों के कोरल रीफ (**Coral reefs**) के बीच पाये जाते हैं। इसका कैल्शियम कार्बोनेट का बना कवच चक्करदार होता है, जिसकी सतह चिकनी तथा चमकीली होती है। कौड़ी का कवच न केवल शृंगार कार्यों में बल्कि प्राचीन काल में भारतवर्ष में मुद्रा के रूप में भी इस्तेमाल किया जाता था। 'प्राणि-मुद्रा' (**Animal Coin**) का यह सुन्दर उदाहरण है।

कालान्तर में कौड़ी का मुद्रा के रूप में व्यापारिक चलन बंद हो गया, लेकिन धार्मिक कार्यों में चलन ज्यों का त्यों बना रहा। हिन्दू परिवारों में विवाह-शादियों व अन्य धार्मिक कार्यों के अवसर पर आज भी कौड़ी का सांस्कारिक लेन-देन (**Ritual payment**) होता है। हालाँकि आज समाज में कौड़ी का व्यापारिक लेन देन बन्द है तथापि 'दो कौड़ी का होना'; 'कौड़ी के मौल', कौड़ी-कौड़ी कर जोड़ना', 'कौड़ी-कौड़ी को तरसना' आदि अनेक मुहावरे समाज तथा साहित्य में सदियों से चले आ रहे हैं जो कौड़ी के मुद्रा रूप को अनायास ही उजागर करते हैं।

आधुनिक युग धातु मुद्रा का युग है। आज भी वन्य-प्राणियों का मुद्रा रूप परिवर्तित रूप में बरकरार है। वर्तमान में वन्य प्राणियों को 'मुद्रा चिह्नों' के रूप में मुद्राओं पर अंकित किया जाता है। उदाहरणस्वरूप कुछ भारतीय दस रूपये के कागज़ी नोटों पर मोर तथा हरिण अंकित किये जाते हैं। ये दोनों ही वन्यप्राणी 'वन्य-जीव अधिनियम 1972' की अनुसूची प्रथम में दर्ज हैं। सरकार द्वारा मोर को हमारा 'राष्ट्रीय पक्षी' भी घोषित किया जा चुका है।

अशोक चिन्ह, जो हमारा राष्ट्रीय चिन्ह भी है, में भारतीय सिंह की त्रिमूर्ति अंकित दृष्टिगोचर होती है। यह चिन्ह सभी भारतीय नोटों तथा सिक्कों पर अंकित किया जाता है। सिंह भी वन्य प्राणियों की प्रथम अनुसूची का जीव है। एक ज़माना था जब इस चिन्ह में अंकित सिंह भारत में दूर-दूर तक घास के मैदानों में निवास करता था। कालान्तर में इस प्राणी को बुरी तरह नष्ट किया गया जिसका नतीजा यह निकला कि यह सिमटता हुआ गुजरात प्रान्त के गिर वनों तक ही सीमित रह गया। आज यह एशिया में एशियाई सिंह का अंतिम निवास शेष रह गया है।

भारतीय रिजर्व बैंक ने अपने 'लोगो' में एक ताड़ के पास खड़े बाघ को चुना है। रिजर्व बैंक के जारी सभी भारतीय कागज़ी नोटों में यह 'लोगो' अंकित किया जाता है। भारतीय रिजर्व बैंक की स्वर्ण जयन्ती (1935-85) के अवसर पर जारी 50 पैसे के सिक्के में भी 'लोगो' को अंकित किया गया है। कुछ भारतीय दो रुपये के कागज़ी नोटों पर भी बाघ को विशेष रूप से चित्रित किया गया है। स्मरण रहे बाघ न केवल हमारा राष्ट्रीय पशु है बल्कि वन्य प्राणी अधिनियम की अनुसूची प्रथम का सदस्य भी है। विलुप्तीकरण के ख़तरे से घिरे इस प्राणी को बचाने के लिये 16 प्रमुख बाघ आवासों में 'बाघ परियोजना' चलाई जा रही है।

हाल ही में 50 पैसे के सिक्के में भारतीय गैंडे (**Rhinoceros unicornis**) को भी प्रदर्शित किया गया है। **काज़ीरंगा** तथा **मानस** अभ्यारण्यों की यह सुन्दर धरोहर भी प्रथम अनुसूची में स्थान पा चुकी है। यह निरीह प्राणी अपनी नाक पर स्थित 'सींग' के कथित महत्त्व के कारण मारा जाता रहा है। एक ज़माना था जब यह प्राणी भारत में दूर-दूर तक पाया जाता था। **शहंशाह बाबर** द्वारा उत्तरी भारत में गैंडे मारने के प्रमाण हैं लेकिन आज यह प्राणी पूर्वी भारत में बहुत छोटे से क्षेत्र में सिमट कर रह गया है।

आज अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इस प्राणी को बचाने की मुहिम छिड़ी हुई है।

सरकार द्वारा अभी तक अनुसूची प्रथम के कुछ ही वन्य प्राणियों को मुद्राओं में चित्रित किया गया है। जनसाधारण को मुद्राओं पर वन्य प्राणियों के चित्रांकन का उद्देश्य समझना चाहिये। वन्य प्राणियों के महत्त्व को समझ कर इनके संरक्षण तथा संवर्धन हेतु सकारात्मक भूमिका निभाते रहें ताकि हमारा प्राकृतिक संतुलन सुदूर भविष्य तक कायम रह सके एवं इस देश की भावी पीढ़ियाँ ही नहीं, सारे संसार में मानव सुखपूर्वक रह सकें। □□

कैंसर और कैंसरकारी पदार्थ

डॉ० राजीव रंजन उपाध्याय

कैंसर अथवा अर्बुद कोई नवीन व्याधि नहीं है। इसका सम्बन्ध मानव के साथ पुराकाल से ही रहा है तथा इस संबंध में प्राचीन मिस्र के सम्राटों और उनके संबंधियों के शवों (ममी) का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि कुछ की मृत्यु "ब्रेन ट्यूमर" के हो जाने के कारण हुयी थी।

कैंसर शब्द ग्रीक भाषा का है और इसका अर्थ केकड़ा होता है। कैंसर के, केकड़े की भाँति धीरे-धीरे शरीर में बढ़ने अथवा गतिमान होने के कारण ही इस व्याधि का नाम कैंसर पड़ा है। यह तथ्य इस बात से और भी स्पष्ट हो जाता है, जब प्राचीन ग्रीक (यूनानी) चिकित्साचार्यों के प्रचलित नुस्खे "इस रोग में केकड़े का सूप प्रभावशाली उपचार है" की चर्चा की ओर ध्यान जाता है इसी भाँति की अवधारणा ईरान में भी प्रचलित थी और यह निश्चित रूप से यूनानियों के संपर्क में, ईरानियों के आने के कारण हुयी होगी। पर इन सभी वर्णनों में कैंसर का कोई वैज्ञानिक वर्णन अथवा विवरण प्राप्त नहीं होता।

भारत की प्राचीन शल्य-चिकित्सा-पद्धति के आचार्य सुश्रुत की संहिता के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कैंसर के वैज्ञानिक अध्ययन का श्रेय महर्षि सुश्रुत को दिया जाना चाहिए। प्रस्तुत हैं उनके कुछ श्लोक—

"गात्र प्रदेशे क्व त्रिदेव दोष:, सम्मूर्च्छिता मांसमभिप्रदूष्य। वृतं स्थिर मन्दरुजं महान्तमनल्प मूलं चिर वृद्ध्य पाकम॥ कुर्वन्त मांसोपचयं तु शोकं, तदर्बुद' शास्त्रविदो वदन्ति। वातेन पित्तेन कफेन चापि, रक्तेन मांसेन च मेदसा च॥

[सु० स० नि० 13, 14]

"शरीर के किसी भी प्रदेश में बढ़े हुये वातादि दोष मांस को दूषित करके गोल, स्थिर, अल्पपीड़ायुक्त, बड़ा गम्भीर धातुओं में फैला हुआ, धीरे-धीरे बनने वाला, कभी न पकने वाला, और मांस के उपचय (वृद्धि) से युक्त ऐसे शोक को पैदा करते हैं। आयुर्वेदशास्त्र के ज्ञाता विद्वान इस रोग को अर्बुद कहते हैं।"

इसी प्रकार उन्होंने रक्तार्बुद (रक्त-कैंसर), अध्य अर्बुद (मेटास्टेसिस), द्विर अर्बुद (मेटास्टेसिस के परिणाम स्वरूप शरीर में उसी प्रकार के ट्यूमर का उत्पन्न होना) तथा नासिका के कैंसर की भी चर्चा की है।

आज यह मान्य तथ्य है कि कैंसर अथवा "नियोप्लाज्मा" शरीर के किसी भाग में उत्पन्न हुये प्रारम्भिक अवस्था के ट्यूमर की अनियंत्रित वृद्धि का परिणाम है। कोशिकायें अपनी वृद्धि का नियंत्रण खो बैठती हैं और इस जैव रसायनिक प्रक्रिया के फलस्वरूप ट्यूमर लगातार बढ़ता जाता है। कैंसर की प्रारम्भिक अवस्था में कोई बाह्य लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होते और न

संपादक, 'इण्डियन जनरल ऑफ कैंसर एण्ड बायलोजिकल रिसर्च", "विज्ञान", परिसर कोठी काके बाबू, देवकाली मार्ग, फैज़ाबाद—224001, उत्तर प्रदेश

कोई पीड़ा ही होती है। इसी कारण प्रारम्भिक अवस्था में इसका परीक्षण कठिन होता है।

कैंसर की वृद्धि हमारी सामाजिक व्यवस्था और पर्यावरण से जुड़ी है। जब खाद्य पदार्थों में परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से अनेक रंग आदि मिलाये जाते हैं तथा कारखानों द्वारा वातावरण को प्रदूषित किया जा रहा है, तब कैंसर ऐसे रोग की वृद्धि का होना सहज है। यदि संक्षेप में, और दूसरे शब्दों में कहा जाये तो कैंसर की वृद्धि आधुनिकता की वृद्धि से संयुक्त है।

कैंसर-वैज्ञानिकों की शब्दावली के अनुसार वे पदार्थ जो स्वतः कैंसर को शरीर में उत्पन्न करने में सक्षम हैं, उन्हें **"स्वतः कैंसरकारी" (सालेटरी कारसिनोजेन)** तथा जो स्वतः इस कार्य को संपादित करने में सक्षम नहीं है पर एक **"स्वतः कैंसरकारी"** रसायन की अति सूक्ष्म मात्रा में उपस्थित होने पर कैंसर उत्पन्न करते हैं, उन्हें **सह-कैंसरकारी (को-कारसिनोजन)** कहा जाता है।

दोनों प्रकार के कैंसरकारी तत्व "मानव निर्मित" और "प्रकृति-निर्मित" हो सकते हैं। पर मानव के शरीर में उत्पन्न होने वाले अन्तःस्रावी हारमोन्स और अन्य रसायन भी कैंसर उत्पन्न करते हैं।

मानव शरीर में कैंसर अधिकांशतः बाह्य "मानव निर्मित" तथा "प्रकृति-निर्मित" कैंसरकारी पदार्थों के प्रभाव से होता है। इस संदर्भ में फेफड़े का कैंसर और "धूम्रपान", चाहे वह सिगरेट, बीड़ी, सिगार, चुरुट या अन्य किसी भाँति से हो, का घनिष्ट संबंध है। यहाँ तक कि सिगरेट आदि पीने वालों के अगल-बगल बैठे लोग भी इसके कुप्रभाव से मुक्त नहीं रह सकते। गर्भिणी मातायें यदि सिगरेट बीड़ी आदि पीती हैं तो इसका दुष्प्रभाव उनके गर्भस्थ शिशुओं पर भी पड़ता है, यह वैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा सिद्ध हो चुका है। आज यह सर्वमान्य तथ्य है कि 80% फेफड़े का कैंसर "धूम्रपान" के दुष्प्रभाव का परिणाम है।

द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान के दो नगरों— हिरोशिमा एवं नागासाकी पर गिराये गये अणुबमों द्वारा उत्पन्न विकिरण (रेडिऐशन) का परिणाम है कि आज भी जापानियों में अन्य प्रकार के कैंसरों की अपेक्षा पेट का कैंसर सर्वाधिक पाया जाता है। इस प्रकार के कैंसर की अधिकता बाह्य पदार्थों (विकिरण) द्वारा शरीर में कैंसर उत्पन्न करने का एक अन्य उदाहरण है।

दक्षिणी एशिया के देश जिनमें, थाईलैण्ड, इन्डोनेशिया और फिलीपीन्स प्रमुख हैं, में मुख्य रूप से चावल मुख्य आहार है। इस चावल में वर्षा काल में एक विशेष प्रकार की फफूँदी, जो **एस्परजिलस** परिवार की है, आक्रमण करती है तथा कैंसरकारी रसायन "ऐफ्लाटाक्सिनों" को उत्पन्न करती है। ये "ऐफ्लाटाक्सिन" अनेक स्वरूपों तथा किसमों की होती हैं और उन देशों के वासियों के यकृत को प्रभावित कर इसी अंग का कैंसर उत्पन्न करती हैं। भारत के मुख्य रूप से चावल का आहार करने वाले क्षेत्र भी इस फफूँदी के प्रभाव से मुक्त नहीं हैं। यह फफूँदी, मात्र चावल ही नहीं वरन्, काजू, मूँगफली तथा बादाम को भी प्रभावित करती है। अनेक देशों में इस फफूँदी के दुष्प्रभावों का (मानव एवं पशुओं पर) विस्तृत अध्ययन हुआ है। कैंसरकारी पदार्थों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी में वे **भौतिक कैंसरकारी तत्व** हैं, जो मानव के अंगों में इस रोग की उत्पत्ति करते हैं। इसी वर्ग में पराकासनी किरणें, एक्सरे तथा अन्य प्रकार के रेडियेशन्स अथवा रेडियोधर्मी तत्व आते हैं। इन तत्वों के कारखानों में कार्यरत मजदूर अधिकांशतः कैंसर के ग्रास होते हैं।

नाक का कैंसर भी व्यवसायजन्य होता है— इसका कारण है बुरादा। इसके नाक में जाकर वहाँ की त्वचा पर उत्पन्न प्रभाव के कारण ही नाक का कैंसर होता है।

इसी प्रकार "मोनाजाइट" सैण्ड तथा "एस्बेसटॉस" के उत्पादन में लगे कार्मिकों को रक्त का कैंसर एवं फेफड़े का कैंसर होने की संभावना अधिक रहती है।

द्वितीय श्रेणी में आने वाले **रासायनिक-कैंसरकारी** पदार्थों की यदि गणना की जाये तो इनकी संख्या

निश्चित रूप से 300 से कहीं अधिक होगी। ये कैंसरकारी पदार्थ कारखानों, प्रयोगशालाओं में तो निर्मित होते ही हैं, प्रकृति में भी इनका निर्माण होता है। सर्वप्रथम यहाँ पर कारखानों, फैक्ट्रियों में निर्मित होने वाले **स्वतः कैंसरकारी पदार्थों** की चर्चा की जायेगी। इस वर्ग में अनेक प्रकार के नाइट्रेट्स, सल्फ़ेट्स सलफर-मस्टर्ड, सलफोनेट्स, अनेक प्रकार की ऐलीफैटिक/एरोमेटिक अमीन्स, एमाइड्स, ऐजो-डाइज, पाली एरोमैटिने हाइड्रो कार्बन्स, नाइट्रो-कम्पाउण्ड्स, हैलोजिनेटेड पदार्थ, यूरिया, थार्योयूरिया, अनेकानेक प्रकार के स्वीटनर्स (सैकरीन), साइक्लामेट्स, पेनिसिलीन, इन्सेक्टीसाइड्स, हर्बीसाइड्स तथा दवायें जैसे क्षय-रोग के उपचार में आने वाली "आइसोनिया जिड" आदि आती हैं।

कारखानों में उत्पन्न होने वाले **सह-कैंसरकारी पदार्थों** में डिटर्जेन्ट्स, ट्वीन-60 एन्थ्रालीन, कुछ विशेष प्रकार की वैक्स तथा फ़ेनॉल और उनके अनेक यौगिक आते हैं। यहीं पर कारबोलिक सोपों के अत्यधिक प्रयोग और इनके कैंसरकारी गुणों का ध्यान जब आता है तो एक प्रश्न सहज ही उठता है कि इस प्रकार के साबुनों को प्रयोग में लाने का क्या औचित्य है? प्रकृति में व्याप्त अनेक वनस्पतियों से स्वतः कैंसरकारी एल्केलायड्स तो प्राप्त हुये ही हैं, यह सूची बिना एफ्लाटाक्सिन्स की चर्चा के अधूरी रहती। इन्हीं एफ्लाटाक्सिन्स के घातक प्रभाव के कारण मुर्गियों में प्रसिद्ध "टर्की डिज़ीज" हुयी थी।

"**सह-कैंसरकारी**" पदार्थों का सर्वप्रथम प्रभाव "क्रोटॉन ऑयल" में पाया गया था। धीरे-धीरे जब यह स्पष्ट हो गया कि क्रोटॉन ऑयल जो कि भारत और अफ्रीका में उत्पन्न होने वाले **क्रोटॉन टिगलियस यूफोरबिया** परिवार में "फोरवोल" नामक डाइटरपीन के अनेक फैटी एसिड डिरेवेटिवों के कारण है, तो **यूफोरबिया** परिवार का विस्तृत अध्ययन आरम्भ हुआ। परिणाम था कि फोरवोल-टेटरा डेकानोइल-एसीटेट, तथा इसके अन्य प्रतिरूप, इनोनॉल, रेजेनीफेरॉल आदि अनेक को-कारसिनोजेन इस समूह के पौधों से रासायनिक एवं जैव-विधि द्वारा प्राप्त किये गये। ये सभी डाइटरपीन्स "**इनीशियेशन-प्रमोशन**" विधि में चूहों की त्वचा पर ट्यूमर उत्पन्न करते हैं।

ईरान में इस लेखक के छात्रों द्वारा यह प्रथम बार दर्शाया गया था कि शहद की मक्खियाँ जब इन **यूफोरबिया** के फूलों का रस शहद बनाने के लिये लेती हैं, तो परागों में उपस्थित सह-कैंसरकारी रसायन इस मधु में परोक्ष में आ जाते हैं। यह शहद तब सामान्य रूप से मीठी नहीं रह जाती वरन् खाने के बाद मुख में जलन पैदा करती है, जो पानी पीने पर बढ़ती जाती है। इस प्रकार इस मधु का अधिक उपयोग करने वाले पहाड़ों पर वास करने वाले ईरानियों में गले के कैंसर की सम्भावना बढ़ जाती है।

भारत में अभी इस दिशा में बहुत कुछ करना बाकी है। अपने देश में **यूफोरबिया** के पौधों का आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति में बहुविधि उपयोग वर्णित है तथा ग्रामीण जन इसके पौधों के सफेद दूध को घाव पर, मछली पकड़ने तथा खून रोकने के लिये प्रयोग करते हैं। इतना ही नहीं, शहरों में इस परिवार के पौधे बागीचों में सजावटी पौधों के रूप में उगाये जाते हैं। कैंसर की बढ़ती समस्या को ध्यान में रखकर इस परिवार के पौधों का किसी भी प्रकार उपयोग उचित नहीं है।

विषाणुओं (वाइरसों) के द्वारा उत्पन्न "वरकिट लिम्फोमा" तथा स्त्री जननांगों में कैंसर उत्पन्न करना कैंसर और वाइरसों के संबंध को दर्शाते हैं। इस प्रकार संक्षेप में बाह्य कैंसरकारी पदार्थ मानवों में विभिन्न प्रकार के कैंसर उत्पन्न करने में सक्षम हैं अतः आवश्यक है कि इन पदार्थों की मात्रा में (वातावरण में) नियंत्रण तथा इन्हें बनाने की इकाइयों पर भी नियंत्रण रखा जाये। अन्यथा यदि ये पदार्थ विकास की गति के साथ वातावरण में बढ़ते गये तो कैंसर की वृद्धि भी उसी अनुपात में होती रहेगी और तब मानव स्वतः "भस्मासुर" की भाँति हो जायेगा।

□□

पर्यावरण की कीमत पर यह कैसा विकास ?

विजय जी

आज़ादी के चार दशक बाद इतना तो स्पष्ट ही हो गया है कि हमने देश के विकास के लिये जो नीति अपनायी उसमें अनेक मूलभूत खामियाँ थीं। इन एकांगी विकास परिणामों से देश में ग़रीबी, भुखमरी, बेरोज़गारी तो बढ़ी ही लेकिन सबसे बड़ा नुकसान पर्यावरण का हुआ है। विशाल पनबिजली योजनाओं, दैत्याकार कारखानों, औद्योगिकीकरण और शहरीकरण ने देश के सम्पूर्ण प्राकृतिक संतुलन को चौपट कर दिया है। जंगल उजड़ गये, हवा साँस लेने लायक नहीं रह गयी, पानी पीने लायक नहीं रह गया, खाद्य पदार्थ ज़हरीले हो गये।

कुछ माह पूर्व प्रसिद्ध चिपको आंदोलन के नेता **सुन्दर लाल बहुगुणा** ने टेहरी बाँध के विरोध में आंदोलन किया था। कुछ समय तक रुके रहने के बाद यद्यपि बाँध का निर्माण पुनः शुरू हो गया लेकिन श्री बहुगुणा के अनशन से देश भर में बड़े बाँधों पर बड़ी सार्थक बहस शुरू हो गयी। बाँधों के दुष्परिणामों के सम्बन्ध में यद्यपि काफी पहले से चेतावनियाँ दी जाती रही हैं, लेकिन जैसे-जैसे बड़े बाँधों की संख्या और आयु बढ़ती जा रही है वैसे-वैसे जनता का विरोधी स्तर और भी तीखा होता जा रहा है।

बड़े बाँधों के निर्माण के पूर्व जनता को बड़े ही लुभावने सपने दिखाये जाते हैं। जनता को बिजली, सिंचाई और उद्योगीकरण का लालच दिया जाता है। लेकिन ज़्यादातर सपने झूठे साबित होते हैं। बड़े बाँधों के निर्माण में राजनेताओं, इंजीनियरों, ठेकेदारों की चाँदी ही चाँदी होती है। ये वर्ग हमेशा ऐसी योजनाओं का स्वागत करते हैं।

बड़ी पनबिजली योजनाओं के निर्माण में बहुत बड़ा क्षेत्र डूब जाता है जिससे वहाँ स्थित हरा-भरा जंगल भी डूब जाता है। जंगल नष्ट होने से वन्य जीव, जड़ी-बूटियाँ और पेड़-पौधे भी नष्ट हो जाते हैं। यही नहीं, क्षेत्र के अनेक गाँव जो अधिकतर आदिवासी ही होते हैं, उजाड़ दिये जाते हैं। कहने को तो वहाँ के निवासियों को अन्यत्र ज़मीन देकर पुनर्वसित किया जाता है लेकिन व्यवहार में सही-सही पुनर्वास कहीं होता नहीं है।

उदाहरणस्वरूप टिहरी बाँध को ही लीजिये, इस बाँध के पूरा होने पर पूरा टिहरी कस्बा तो डूब ही जायेगा साथ-साथ 42 गाँव भी जल-समाधि ले लेंगे। 100 गाँवों को आंशिक नुकसान होगा। इस बाँध के निर्माण से 5200 हे० भूमि, जिसमें 1600 हे० कृष्य-भूमि होगी, भी जलप्लावित हो जायेगी। अन्य निर्माणाधीन बाँधों की स्थिति तो और भी भयावह है। एक अनुमान के अनुसार नर्मदा घाटी परियोजना में एक लाख लोग उजाड़े जायेंगे। देश में 1874 से 1975 के बीच 433 बाँध बनाये गये हैं, जिनमें 40 बड़े बाँध हैं। इन सभी बड़े बाँधों से विस्थापित लोगों की स्थिति का सर्वेक्षण करने पर जो तस्वीर सामने आयी है वह भयावह है।

विशाल बाँधों के निर्माण क्षेत्र से तो विस्थापित आदिवासियों की संख्या ज्ञात भी हो जाती है। लेकिन अनेक अन्य विकास योजनाओं के कारण कितने लोग विस्थापित हो रहे हैं इसका तो कभी लेखा-जोखा ही नहीं रखा जाता। अकेले मिर्ज़ापुर में ही जंगलों और आदिवासियों को उजाड़कर सैकड़ों कारखाने स्थापित किये गये हैं। चुनार सीमेंट फैक्ट्री, चुर्क सीमेंट, डाला सीमेंट, ओबरा थर्मल पावर, हिंडालको, कनौड़िया केमिकल, रेनूसागर थर्मल पावर, अनपरा थर्मल पावर, बीजपुर थर्मल पावर जैसे कारखानों से उजड़ने के

जवाहर कॉलेज, जारी, इलाहाबाद–212106

बाद आदिवासी कहाँ गये इसका कहीं लेखा-जोखा नहीं है। यही नहीं, इन विकास योजनाओं के कारण कभी-कभी ये आदिवासी कई-कई बार उजाड़े जाते हैं। फिर अन्त में शहरों में जाकर झुग्गी डालकर दर-दर भटकने के लिये बाध्य हो जाते हैं।

इन विशाल बाँधों से लागत के अनुसार फ़ायदा होता हो ऐसा भी नहीं है। 1985 तक सिंचाई परि-योजनाओं में सार्वजनिक परिव्यय 20 हज़ार करोड़ तक जा पहुँचा था। ताज़ा जानकारी के अनुसार निज़ाम सागर बाँध आज चावल और गन्ने के खेतों की सिंचाई कर पाने में असमर्थ है, जबकि इसका निर्माण इसी उद्देश्य के लिये किया गया था। तथा बाँध से फ़सलों का उत्पादन बढ़ने के बजाय घट गया है। बड़े बाँध सिंचाई कर पाने में असमर्थ हैं, जबकि इसका निर्माण इसी उद्देश्य के लिये किया गया था। तवा बाँध से फ़सलों का उत्पादन बढ़ने के बजाय घट गया है। बड़े बाँधों से सिंचाई के लिये जो नहरें निकाली जाती हैं उनके दोनों तरफ़ काफ़ी बड़े क्षेत्र में भूगर्भ जल की सतह ऊपर आ जाती है, जिससे ज़मीन दलदल में बदल जाती हैं तथा लवणीकरण की प्रक्रिया तेज़ हो जाती है।

पर्यावरण की कीमत पर विकास की प्रक्रिया अन्य क्षेत्रों में भी बड़ी तेज़ी से चल रही है। पहले तो माना जाता था कि ऐसे स्थान जहाँ न बाँध बनने की सम्भावना है और न नगरीकरण-उद्योगीकरण की, वे सुरक्षित रहेंगे। लेकिन भूगर्भ खनिजों की लालच ने अब ऐसे पहाड़ी क्षेत्रों का विध्वंस शुरू कर दिया है। उत्तराखण्ड में अनेक स्थानों पर चूने की खदानों के लिये हरी-भरी पहाड़ियाँ उजाड़ी गयीं और वहाँ का पर्यावरण चौपट किया गया। उड़ीसा के प्रसिद्ध गंध-मार्दन क्षेत्र पर आज भी बाल्को (भारत एल्यूमिनियम कंपनी) की तलवार लटक रही है। यह बाल्को इसके पूर्व म० प्र० के फुटका और अमरकंटक नामक स्थानों से बाक्साइट का दोहन कर चुकी है। यद्यपि स्थानीय लोगों के विरोध के चलते गंधमार्दन में अभी खुदायी बंद है, लेकिन यदि यहाँ स्थित 90 वर्ग किमी० के क्षेत्र का पर्यावरण पूरी तरह तहस-नहस हो जायेगा तो यहाँ उपस्थित 150 किस्म की जड़ी-बूटियाँ; 2500 किस्म के फूल, 25 नस्लों के जंगली जानवर लुप्त हो जायेंगे। इस समय यहाँ स्थित 22 झरनों द्वारा करीब एक लाख एकड़ ज़मीन की सिंचाई होती है, लेकिन खुदायी के बाद ये सभी झरने सूख जायेंगे तथा इन पर आधारित 50 हज़ार आदिवासी भुखमरी के कगार पर पहुँच जायेंगे।

जल प्रदूषण के क्षेत्र में स्थिति और भी भयावह है। देश की लगभग सम्पूर्ण नदियाँ बुरी तरह प्रदूषित हो चुकी हैं, खासकर उत्तरी भारत की नदियाँ क्योंकि इन नदियों के किनारे ही विकास के अनगिनत स्तम्भ-रूपी कारखाने और शहर विकसित किये गये। ये सभी कारखाने और शहर नदियों का शुद्ध जल तो अपने प्रयोग के लिये लिया करते हैं अपना प्रदूषित जल और कचरा लगातार नदियों डालते जा रहे हैं। गंगा नदी को प्रदूषणमुक्त करने के लिये कुछ वर्ष पूर्व ढाई अरब रुपये की लागत से विशाल 'गंगा विकास प्राधिकरण बनाया गया है। प्राधिकरण द्वारा बहुत सारा काम किय' जा चुका है लेकिन गंगा के पूर्ण प्रदूषणमुक्त होने का कोई संकेत नहीं है, क्योंकि प्रदूषण सम्बन्धी कानूनों का कड़ाई से पालन नहीं किया जा रहा है। शहरों का मल-जल अब भी गंगा में डाला जा रहा है तथा कार-खानों का ज़हरीला पानी भी देर सबेर गंगा में प्रवाहित ही कर दिया जाता है।

यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि वायु प्रदूषण के क्षेत्र में दुनिया की सबसे भयावह दुर्घटना 'भोपाल गैस काण्ड' को अपनी आँखों से देखने के बावजूद हम अपने को संभाल नहीं पाये हैं। 3 दिसम्बर 1984 की रात घटी इस दुर्घटना में तीन हज़ार लोग यूनियन काबाईड कंपनी की ज़हरीली गैस के रिसने के कारण कीड़े-मकोड़ों की तरह तड़प-तड़प कर मर गये थे। उस हत्यारी कंपनी को दंड देने और देश निकाला को कौन कहे, हमारी सरकार आखिर तक कंपनी से दया की भीख माँगती रही और उसी की शर्तों पर समझौता किया।

पर्यावरण के मामले में सबसे सकारात्मक पहलू जनचेतना है। देर से ही सही लेकिन सरकार की इन विकास नीतियों की ख़ामियाँ अब जनता भली भाँति समझने लगी है। इसीलिये इस तरह के हर कदम का अब लगभग हर जगह विरोध होना शुरू हो गया है। जनचेतना जागृत करने में **सुन्दरलाल बहुगुणा**, **चण्डी प्रसाद भट्ट** जैसे पर्यावरणविदों ने समय-समय पर पर्यावरण के लिये आंदोलन किया।

पर्यावरण के लिये चलाये गये आंदोलनों से कई कामयाबियाँ हासिल की जा चुकी हैं। 'चिपको आंदोलन' से उत्तराखण्ड का पेड़ कटान रुका है। 'केरल शास्त्र साहित्य परिषद्' द्वारा 'साइलेंट वैली बचाओ' आंदोलन से वहाँ बन रहे बाँध का निर्माण रुक गया जिससे विश्व प्रसिद्ध 'मूक घाटी' का प्राचीनतम् जंगल बच सका। इसी तरह कर्नाटक में काली नदी पर बन रहा बाँध भी जनांदोलन द्वारा ही रोका गया। कैगार नामक स्थान पर बनने वाले परमाणु संयंत्र से संभावित विभीषिका को ध्यान में रखकर यह आंदोलन चलाया गया।

विशाल बाँधों के बनने या न बनने पर बहस इस समय पूरे देश में हो रही है। इस सम्बन्ध में गत वर्ष 28 सितम्बर को हरसूद (म० प्र०) में एक ऐतिहासिक सम्मेलन हो चुका है। इस सम्मेलन में पहली बार देश भर के पर्यावरणविद्, वैज्ञानिक, आंदोलनकारी और विस्थापितों ने हिस्सा लिया।

विकास के इन प्रतिमानों के विरोध को कभी-कभी बड़े गलत अर्थ में लिया जाता है। खासकर सरकार तो यही प्रचारित करती है कि आन्दोलनकारी विकास के विरोधी हैं। वास्तव में कोई भी जनांदोलन विकास विरोधी तो हो ही नहीं सकता। लोग उसी मुद्दे पर एकत्र होते हैं जो उनकी मूलभूत समस्याओं से जुड़ा हो। किसी स्थान पर बन रहे बाँध से विस्थापित होने वालों से कहा जाता है कि वे राष्ट्रहित के लिये त्याग करें और वहाँ से स्थानान्तरित हो जायें। लेकिन सवाल उठता है कि राष्ट्रहित के लिये बार-बार आदिवासियों से ही त्याग करने के लिये क्यों कहा जाता है? जो लोग हमेशा-हमेशा से सुख-सुविधा का उपयोग करते रहे हैं वे त्याग का रास्ता क्यों नहीं अपनाते?

एक सवाल और उठाया जाता है कि इन विशाल परियोजनाओं का विकल्प क्या है? इसके जवाब के लिये चीन का उदाहरण दिया जा सकता है जहाँ के योजनाकारों ने अपने देश की परिस्थितियों के अनुसार छोटी-छोटी योजनाओं पर अमल करके हमसे भी अधिक विकास कर लिया है। पिछले दिनों **उपप्रधानमंत्री देवीलाल** चीन गये थे। वहाँ वे एक गाँव भी देखने गये। गाँव में 12 हार्सपावर का छोटा ट्रैक्टर देखकर वे रोमांचित हो उठे। क्या ही अच्छा होता जो यह छोटा ट्रैक्टर अपने देश में भी होता जिसे आसानी से छोटा काश्तकार भी खरीद सकता। चीन में 1980 तक 88 हज़ार से अधिक लघु पनबिजलीघर काम कर रहे थे जिनकी कुल क्षमता 6929 मेगावाट थी, जो उस देश की ग्रामीण क्षेत्रों में बिजली खपत की एक तिहाई थी। क्या अपने देश में ऐसे छोटे-छोटे संयंत्र नहीं बनाये जा सकते? अपने ही देश में ग्रामीण विकास के लिये 'जमनालाल बजाज पुरस्कार' पाने वाले **प्रेम भाई** (मिर्ज़ापुर) के स्वैच्छिक प्रयास से क्षेत्र में अब तक लगभग साढ़े सात सौ बंधियाँ बन चुकी हैं। इन छोटे बाँधों से आदिवासी लोगों और किसानों को बड़ा फायदा पहुँचा है। खास बात तो यह कि इन छोटे बाँधों से न तो पर्यावरण को कोई क्षति हुई और न किसी का विस्थापन हुआ। □□

महान सोवियत वैज्ञानिक : व्लादीमीर वेर्नाद्स्की

राघवेन्द्र कृष्ण प्रताप

महान सोवियत वैज्ञानिक अकादमीशियन **व्लादीमीर वेर्नाद्स्की** का जन्म 1863 ई० में सेण्ट पीटर्सबर्ग (पेत्रोग्राद) में हुआ था। उनके पिता इवान वेर्नाद्स्की भी प्रसिद्ध रूसी अर्थशास्त्री थे और मात्र अट्ठाइस वर्ष

प्रवक्ता (शिक्षा), ए० पी० एन० महाविद्यालय, बस्ती वेर्नाद्स्की–272001 (उत्तर प्रदेश)

की आयु में किएव विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हो गये थे। सैंतालिस वर्ष की आयु में हृदय के दौरे के कारण उनकी वाक्शक्ति विकृत हो गयी और उन्हें विश्वविद्यालय छोड़कर खारकोव जाना पड़ा। व्लादीमीर का जन्म इसी अवधि में हुआ था।

व्लादीमीर वेर्नाद्स्की को बाल्यावस्था से ही अध्ययन में रुचि उत्पन्न हो गयी थी। इसका एक मनोरंजक उदाहरण उनकी सत्रहवीं वर्षगाँठ पर अपने पिता से उपहार के रूप में **चार्ल्स डार्विन** की कृतियाँ देने का अनुरोध था। 1881 में उन्होंने सेण्ट पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय के प्राकृतिक विज्ञान विभाग में गणित और भौतिक विषयों में प्रवेश लिया। उनके अध्यापकों में आवर्तसारिणी के निर्माता **मेंदलीव** और प्रसिद्ध भू-वैज्ञानिक **ढोकुचायेव** भी थे। वे **लेनिन** के बड़े भाई **अलेक्सान्द्र उल्यानोव** से भी परिचित थे और **लेव तोलस्ताय** ने भी उन्हें प्रभावित किया था। 1885 में उन्होंने स्नातक उपाधि प्राप्त की।

1887 में अपने लोकतांत्रिक विचारों के कारण उन्हें मास्को जाना पड़ा। वहाँ उन्होंने अध्ययन जारी रखा और मार्च 1906 में वे खनिज-विज्ञान के सह-प्राध्यापक नियुक्त हुए। यह क्रम 1911 तक चला जब शासन द्वारा मास्को विश्वविद्यालय की स्वायत्तता समाप्त किये जाने के विरोध में उन्होंने अपने साथियों **एन० उमोव, डी० पेत्रूशेव्स्की, एन० तिमिर्याज़ेव, पी० लेबेदेव एन० जेलिन्स्की** के साथ त्यागपत्र दे दिया और एकेडेमी ऑव साईंसेज द्वारा ट्रांसकाकेशिया, मध्य एशिया और उराल पर्वतों में रेडियमधर्मी खनिजों के अध्ययन के लिये भेजे गए। 1921 में वेर्नाद्स्की पुनः एकेडेमी ऑव साइंसेज में भूगर्भ विज्ञान और खनिज विज्ञान के संग्रहालय के निदेशक के रूप में मास्को आए और उसके पश्चात् सेण्ट पीटर्सबर्ग में रूस के प्राकृतिक उत्पादक बलों के आयोग-मण्डल के अध्यक्ष के रूप में कार्य करने लगे। 1922 में रेडियम संस्थान की स्थापना के पश्चात् वे इस संस्थान के निदेशक हो गये। यहाँ उन्होंने अयस्कों और खनिजों के प्राकृतिक भंडारों में प्राप्त होने वाले रेडियमधर्मी तत्वों के भू-रसायन संबंधी अनुसंधान का प्रारम्भ किया जिसका उद्देश्य भूतल की रेडियमधर्मिता का एक विश्वमान-चित्र तैयार करना था।

वेर्नाद्स्की के शिष्य **कांस्तैतिन फ्लोरेंस्की** ने अपने अध्यापक की वैज्ञानिक रुचि का विकास निम्न क्रम में प्रदर्शित किया है :

अवधि	अनुसंधान के विषय	क्षेत्र
1890-1908	मणिभ	मणि विज्ञान
	खनिज़	खनिज विज्ञान
1908-1924	भू-पटल	भू-रसायन
1910-1937	ग्रह-पृथ्वी	रेडियम-भू-रसायन
1916-1943	जैवमण्डल	जैविक भू-रसायन
1925, 1938-1945	सौमनस्य-वलय (नू स्फियर)	सौमनस्य-वलय सिद्धान्त

1885 में जब वेर्नाद्स्की ने खनिज-विज्ञान को मुख्य विषय के रूप में लेकर स्नातक उपाधि प्राप्त की तो उनके शोध-प्रबन्ध का विषय था, समाकृतिक मिश्रणों के भौतिक गुण (ऑन द फ़िज़िकल प्रापर्टीज ऑव आइसोमार्फिक मिक्सचर्स)। 1900 में मणिभ-विज्ञान के संबंध में जितनी जानकारी उपलब्ध थी उसे समावेशित करते हुए उन्होंने 'मणि-विज्ञान के आधारभूत सिद्धान्त' पुस्तक की रचना की। वास्तविकता तो यह है कि वेर्नाद्स्की स्वयं इस क्षेत्र में **ये० फ्योदोरोव** और **ए० शेन्फ़ीलस** द्वारा मणिभों की आंतरिक संरचना और स्वरूप संबंधी कार्य से प्रभावित होकर आये थे परन्तु उन्होंने स्वयं मणिभों की भौतिकी और रसायनिकी को अपने अनुसंधान का विषय बनाया। अपने डाक्टोरल शोध-प्रबन्ध 'मणिभ पदार्थों में स्लिप की घटना' (फेनामिना ऑव द स्लिप इन क्रिस्टलाइन सब्सटेंस, 1887) में वेर्नाद्स्की ने मणिभों की संरचनात्मक अनवरतता को विरूपित न करने वाली स्लिप विकृतियों के सम्बन्ध में उपलब्ध प्रायोगिक प्रदत्तों का मूल्यांकन करने का प्रयास किया। 1895 में वेर्नाद्स्की ने भौतिक-मणिभ-विज्ञान के संबंध में एक लेखमाला

प्रस्तुत की जिसमें पहली बार अंतर्परमाण्विक आकर्षण बलों द्वारा उत्पन्न की गयी मणिभ-ऊर्जा की संकल्पना पर विचार किया गया था। उन्होंने मणिभों की आंतरिक और तलीय ऊर्जा में विभेदन करने का प्रयास किया और इसी संकल्पना के आधार पर एक साथ निर्मित हो रहे मणिभीय-पदार्थों और 'यमज-मणिभों' की व्याख्या की।

इसी चिंतन-क्रम में वेर्नाद्स्की ने मणिभों द्वारा उनके भिन्न अक्षों पर प्रदर्शित भिन्न गुणों (एनिसोट्रॉपी) का अध्ययन करते हुए एक विशेष प्रकार की सदिश ऊर्जा (वेक्टोरल एनर्जी) की अवधारणा भी प्रस्तुत की। मणिभ-रसायन के क्षेत्र में वेर्नाद्स्की की एक महत्वपूर्ण देन बहुरूपता (पालीमारफिज्म) के सम्बन्ध में है। एक ही पदार्थ के विभिन्न रूप प्रकृति की सनक या नियमहीनता के फलस्वरूप नहीं निर्मित होते— "वास्तव में कोई विशेष मणिभ-संरचना किसी विशेष तापक्रम और दाब की परिस्थितियों में उत्पन्न होती है और परिस्थितियाँ बदलने पर यह संरचना भी परिवर्तित हो जाती है।"

खनिजों में वेर्नाद्स्की का ध्यान समाकृतित्व (आइसोमारफिज्म) पर केन्द्रित था। विशेष रूप से उन्होने सिलिकेट यौगिकों के विभिन्न प्रकारों का विशद और व्यापक अध्ययन किया। उनका निष्कर्ष था कि समरूपता का गुण तत्वों में नहीं वरन् यौगिकों में प्राप्त होता है और समाकृतिक स्थानापन्नता (आइसोमार्फिक सब्सीट्यूशन), जिसमें स्वीकार किया जाता है कि एक तत्व दूसरे तत्व को स्थानापन्न कर देता है, एक भ्रम है। आज तो समाकृति सिद्धान्त की गणितीय-पुष्टि भी की जा चुकी है और हम जानते हैं कि तामड़ा (गार्नेट) में त्रिसंयोजी लौह द्वारा एल्युमिनियम को स्थानापन्न करना अपेक्षाकृत सरल है क्योंकि वास्तव में ऑक्साइड ही स्थानापन्न होते हैं।

मास्को विश्वविद्यालय के मणिभ-विज्ञान और मणिभ-रसायन विभाग के प्रमुख **वी० उरुसोव** के अनुसार वेर्नाद्स्की का मणिभ-विज्ञान के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण योगदान उनकी 'काओलिन नाभिक' परिकल्पना है। वेर्नाद्स्की ने यह परिकल्पना 1890 के दशक में सिमिमैनाइट-वर्ग के खनिजों का अध्ययन करते हुए प्रस्तुत की थी। उन्होंने अनेक खनिजों के लिये एक ही नाभिकीय संरचना प्रस्तुत की जिनमें एल्युमिनियम और सिलिकॉन की भूमिका समान थी। इस परिकल्पना को एल्युमिनो-सिलिकेटों के एक्स-रे अध्ययनों द्वारा पुष्ट भी किया जा चुका है।

वेर्नाद्स्की की अनुसंधान-रुचि का एक अन्य क्षेत्र दिक' और 'काल' की अवधारणा से सम्बन्धित है। बाइस वर्ष की आयु में ही 11 जनवरी 1885 को वेर्नाद्स्की ने अपनी दैनंदिनी में लिखा था : 'दिक् और काल क्या है? यह प्रश्न युगों से मानव-जाति के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधियों को चुनौती देता रहा है। सम्भवतया हमें कुछ सकारात्मक परिणाम भी मिल गए होते यदि हमने आधुनिक दर्शन में स्वीकृत दिक्-काल की अवधारणा, जो मानवीय अनुभवों, सामान्य ज्ञान और भौतिक अनुभवों के जटिल क्षेत्र में खो गयी है, को त्याग दिया होता और अपनी खोज को अपेक्षाकृत निरपेक्ष क्षेत्र में स्थानापन्न करते। दिक और काल प्रकृति में अलग-अलग नहीं रहते और यह निर्विवाद है कि वे अविभाज्य हैं। हमें कोई ऐसी घटना ज्ञात नहीं है जो दिक और काल के किसी खण्ड में घटित होती हो। यह दोनों अपृथक्करणीय अंश कहाँ सम्बन्धित हैं? निश्चय ही उससे जो वास्तव में अस्तित्व में है— पदार्थ—जिसे हम दिक और काल की चौखट में अवस्थित मानते हैं।"

1522 में वेर्नाद्स्की सारबोन विश्वविद्यालय में आमंत्रित किये गये। उस समय पेरिस के वैज्ञानिक क्षेत्रों में **आइंस्टीन** के 'सापेक्षता सिद्धान्त' पर वाद-विवाद हो रहा था। **बर्गसाँ** का प्रश्न था कि संपूर्ण गति को एक वस्तु के एक बिंदु से दूसरे बिंदु तक जाने की प्रक्रिया मान लेने पर चिंतन-प्रक्रिया को प्रयत्न और संकल्प द्वारा प्रेरित गति स्वीकार करना होगा। उस स्थिति में प्रत्येक मनुष्य के लिये एक आंतरिक समय की अवधारणा अवश्य होगी।

बर्गसाँ के विचारों से न तो लोग सहमत हो सके

और न उन्होंने अपने विचारों की पुष्टि करने का प्रयास ही किया। परन्तु वेर्नाद्स्की ने समय की भिन्नता पर विचार करते हुए यह मत व्यक्त किया कि समय की एक अवधारणा-न्यूटनी या आइंस्टीनी—नहीं हो सकती क्योंकि गति का नूतन जैव-भू-रसायनिक रूप जो जीवित पदार्थ द्वारा आरम्भ किया जाता है, भी उस सम्बन्ध का ऊर्जाशील रूप है जिसे काल कहा जाता है।

यू० मित्रोपोल्स्की और **एम० क्रात्को** के एक लेख के अनुसार 'उन्होंने (वेर्नाद्स्की) स्पष्ट किया कि जिस सीमा तक दिक और काल एक अकेली पूर्णता के भाग हैं, किसी एक के सम्बन्ध में, बिना दूसरे पर विचार किये हुए कोई निष्कर्ष देना त्रुटिपूर्ण होगा। दिक की विषमांगता काल की विषमांगता में प्रतिबिंबित होती है। परन्तु दिक-काल के दिशा-आधारित गुणधर्म (एनिसोट्रॉपी) की समस्या कैसे सुलझाई जाये? वेर्नाद्स्की का उत्तर था—"गणितीय पदों में इसे सममिति (सिमिट्री) की अवधारणा की सहायता से ही प्राप्त किया जा सकता है।"

दिक-काल सम्बन्धी चिंतन के साथ-साथ वेर्नाद्स्की का चिंतन अन्य क्षेत्रों में भी सक्रिय था। 1908 में उनके द्वारा लिखे पत्र से ज्ञात होता है कि वे पृथ्वी पर जीवित पदार्थ की मात्रा और अजीवित पदार्थों से उसके अनुपात के प्रश्न पर विचार करने का प्रयत्न कर रहे थे। इस नवीन ज्ञान-क्षेत्र को उन्होंने जैव-भू-रसायन (बायोजियोकेमेस्ट्री) का नाम दिया। 1916-1920 की अवधि में जब रूस में भयानक गृह युद्ध की स्थिति थी तब उन्होंने जीवित पदार्थ का सिद्धान्त निर्मित किया। जीवित पदार्थ के नियमों का प्रस्तुतीकरण 1922 में हुआ। ये नियम न्यूटनीय गति नियमों के समान ही थे परन्तु उनमें जड़त्व-बलों के स्थान पर जीवित प्राणियों के पुनरुत्पाद बलों का उपयोग किया गया था। वेर्नाद्स्की के अनुसार "यहाँ प्रस्तुत संख्याएँ पीढ़ियों की संख्या, समूह के सदस्यों की संख्या, एक बार के अंडे देने की प्रक्रिया में अंडों और बच्चों की संख्या, उनके आधार पर प्राप्त स्थिरांक जो एक दूसरे से गणितीय रूप में सम्बन्धित होती है—निश्चित संख्याएँ हैं। वैसी ही शुद्ध और अपरिवर्तनीय जैसी पदार्थ के भौतिक गुणों, परमाणुओं या खगोलीय स्थिरांकों से सम्बन्धित संख्याएँ होती हैं......कोई भी गति प्रतिभागी कणों की मात्रा और उनके द्वारा तय की गयी दूरी से ज्ञात की जा सकती है। इसी प्रकार प्राणियों की पुनरुत्पादक गति भी इस पुनरुत्पादन की प्रक्रिया के अनुरूप होती है क्योंकि यह भूतल पर प्राणियों द्वारा जीवित रहने के लिये आवश्यक क्षेत्र का फलन होती है। पुनरुत्पादन की प्रक्रिया प्राणी-समूहों की गति से अधिक शक्तिशाली और व्यवस्थित होती है।"

इसी सम्बन्ध में **बोरिस लिचकोव** को लिखे गये एक पत्र में वेर्नाद्स्की ने लिखा था कि 'जैवमंडल जीवित पदार्थों के दाब की गणना मेरे जीवन का योगदान है। इस स्थिरांक की गणना के पश्चात् मैं बी-स्थिरांक की गणना के कार्य में लगा हुआ हूँ जो पुनरुत्पादन में कार्यरत जीवित पदार्थ के दाब की गणना मात्रा की इकाइयों का अनुमान प्रदान करेगा।"

यह आश्चर्यपूर्ण तथ्य है कि अधुनातन पारिस्थितिक चिंतन के लिये सैद्धांतिक आधार प्रदान करने का कार्य वेर्नाद्स्की के जैवमण्डल के सिद्धांत (थियरी ऑव द बायोस्फीयर) द्वारा सम्भव हो सका है।

अकादमीशियन **अलेकजान्दर यासिन** के अनुसार "वेर्नाद्स्की ने पृथ्वी के पर्यावरण का वर्णन जैवमण्डल के रूप में किया जिसमें जीवन उपस्थित है। उनकी व्याख्या के अनुसार, जैवमण्डल की परिधि में विश्व-महासागरों की सर्वाधिक गहराई, दो से तीन कि०मी० की गहराई तक स्थल मण्डल (लिथोस्फीयर) जहाँ आज भी जीव पाए जा सकते हैं, तथा वायुमण्डल के निचले भाग, कम से कम सम्पूर्ण ट्रोपोस्फीयर जहाँ निचले भाग की तरह पक्षी और कीट-पतंग उड़ते हैं और जहाँ ऊँची परतों में सूक्ष्मजीव पाए जाते हैं, शामिल हैं।" वेर्नाद्स्की ने पृथ्वी पर जीवन के वितरण क्षेत्र को 'जीवित पदार्थ' की संज्ञा दी और गणनाओं के आधार पर इसकी मात्रा $10^{20}-10^{21}$ ग्राम प्राप्त की।

सौर-मंडल के अनेक ग्रहों के ऊर्जा-संतुलन का अध्ययन करके उन्होंने पृथ्वी द्वारा सूर्य से प्राप्त होने वाली ऊष्मा और विद्युत्-चुम्बकीय ऊर्जा का परिमाण 170×10^{12} किलोवाट निर्धारित किया। उनके कुछ जीव-वैज्ञानिक निष्कर्ष और भी महत्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिये जीवन-प्रक्रियाओं में गैसों की भूमिका के अध्ययन के आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष प्राप्त किया कि "जैव मंडल जीवित प्राणियों के अस्तित्व का संघर्ष-स्थल है। न केवल भोजन के लिये वरन् आवश्यक गैसों के लिये भी जो पुनरुत्पादन की दर निर्धारित करती हैं। श्वास-क्रिया प्रति हेक्टेयर भू-भौतिक ऊर्जा की अधिकतम संभावना निश्चित करती है।"

वेर्नाद्स्की की गणनाओं के अनुसार यद्यपि पृथ्वी का तल-क्षेत्र सूर्य के तल-क्षेत्र का .0001 (दस हजारवां) भाग है परन्तु पृथ्वी के रूपांतरण-उपकरण का हरा भाग (पत्तियाँ, घासें, फफूंदी, इत्यादि) मौसम के अनुसार .86 से 4.2 प्रतिशत (सूर्य के तल का) होता है। स्विस वैज्ञानिक **आर्हेनियस** ने महाद्वीपों की हरी वनस्पति के ज्वलनशील यौगिकों से प्राप्त होने वाली ऊर्जा का परिमाण 1.6×10^{17} किलोकैलारी प्राप्त किया था। वेर्नाद्स्की ने संपूर्ण जीव मंडल के लिये यह ऊर्जा-राशि 10^{18}-10^{19} किलो कैलारी प्राप्त की। उन्होंने यह भी ज्ञात किया कि सूर्य द्वारा पृथ्वी को प्रदान की गई ऊर्जा का बीस हजारवें से चालीस हजारवाँ, भाग ही हरित पदार्थों द्वारा प्रयोग में लाया जाता है। 'जीवित-पदार्थ' की ऊर्जा का एक महत्वपूर्ण भाग जैव मंडल में नवीन बडोज खनिज के निर्माण और शेष अंश कार्बनिक पदार्थों के रूप में संरक्षित हो जाता है।

अकादमीशियन **बोरिस लास्कोरिन** के अनुसार "वेर्नाद्स्की पहले व्यक्ति थे जिन्होंने मनुष्य की उपस्थिति के परिणामस्वरूप जैव मंडल की नवीन गुणात्मक स्थिति पर ध्यान दिया।......हमारा जैव मंडल एक फोटो सिंथेटिक कारखाने की तरह है जो गैर-अपशिष्ट प्रविधि के सिद्धांतों पर चल रहा है। भूमंडल की हरियाली बड़ी मात्रा में लवणों, जल और कार्बन डाइऑक्साइड की खपत करती है तथा सौर ऊर्जा की सहायता से इस कच्ची सामग्री को ऑक्सीजन तथा जीव-वैज्ञानिक द्रव्यमान में बदल देती है। इनमें से प्रत्येक की मात्रा करीब 10,000 करोड़ टन प्रतिवर्ष होती है। हमारे भूमंडल पर सभी जीवधारियों के बने रहने का श्रेय इन्हीं उत्पादों को है। इस उत्पादन प्रक्रिया में अपशिष्ट भाग नहीं होता। न ही इसमें ऐसा हो सकता है।"

वेर्नाद्स्की की विचारधारा के अनुसार मनुष्य जैवमंडल को ऐसे क्षेत्र में परिवर्तित कर सकता है जो तर्क, विवेक और मानव-मस्तिष्क द्वारा नियन्त्रित हो। सौमनस्य वलय (नूस्फियर) मूलभूत रूप से जैवमंडल के विकास का ही नया पक्ष है—नयी प्रावस्था है। इसका अर्थ मनुष्य और उसकी पारिस्थितिकी में सुसंगति है, प्रदूषण का अंत है और प्राकृतिक संस्रोतों का इस प्रकार उपयोग है जो प्रकृति के लिये हानिरहित हो तथा पर्यावरणीय प्रणालियों का वैज्ञानिक नियमन है। सौमनस्य वलय के निर्माण की पूर्वापेक्षाएँ निम्न हैं—

1. मनुष्य जाति एक समेकित पूर्णता है। पृथ्वी पर ऐसा कोई खण्ड नहीं जहाँ यदि आवश्यक हो तो मनुष्य जीवित न रह सके।
2. संप्रेषण के साधनों का रूपांतरण और विनिमय
3. नवीन ऊर्जा स्रोतों की खोज
4. कार्यरत मनुष्यों के जीवन-स्तर में सुधार
5. सम्पूर्ण मानवों की समानता
6. मानव-समाज से युद्धों की समाप्ति

अपने अंतिम लेख 'सौमनस्य-वलय के सम्बन्ध में कतिपय टिप्पणियाँ' (1944) में वेर्नाद्स्की की यह उक्ति मानव-जाति के लिये आशावादिता का संदेश मानी जा सकती है।

"आजकल हम जैवमंडल के एक नवीन भू-वैज्ञानिक विकासात्मक परिवर्तन को घटित होता हुआ देख रहे हैं। हम सौमनस्य-वलय में प्रविष्ट हो रहे हैं—एक विध्वंसक विश्व-युद्ध के भयानक समय में हम नवीन स्वतः स्फूर्त भू-वैज्ञानिक प्रक्रिया में प्रवेश कर रहे हैं। परन्तु हमारे लिये यह महत्वपूर्ण है कि हमारे

प्रजातांत्रिक आदर्श स्वतः स्फूर्त भू-वैज्ञानिक प्रक्रिया से तालमेल बनाए रखें।

हम इस प्रकार भविष्य की ओर आत्मविश्वास पूर्ण दृष्टि से देख सकते हैं। यह हमारे हाथों में है।"

चौदह भाषाओं में निष्णात इस वैज्ञानिक की प्रसिद्धि उनके जीवन काल में ही हो गयी थी। मात्र छब्बीस वर्ष की आयु में वे 'ब्रिटिश एसोसियेशन फॉर एडवांसमेंट ऑव साइंस' के सदस्य चुने गये थे। परवर्ती काल में फ्रांस, चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया की राष्ट्रीय विज्ञान परिषदों, फ्रांस और बेल्जियम की भू-वैज्ञानिक परिषदों, भारत की जैव-रासायनिक परिषद् तथा अमेरिका की खनिज विज्ञान परिषद् ने उन्हें सदस्यता प्रदान कर सम्मानित किया।

1943 में सोवियत सरकार ने उन्हें दो लाख रूबल का पुरस्कार प्रदान किया था परन्तु इस राशि का आधा अंश उन्होंने देश के सुरक्षात्मक कार्यों के लिये और शेष अभावग्रस्त व्यक्तियों के लिये समर्पित कर दिया।

भारतीय दर्शन की मुख्य धाराओं, **अरस्तू**, **कन्फ्यूशियस**, **केपलर**, **देकार्ते**, **न्यूटन**, **कोमोनोसोव**, **गेटे** और **कांट** की रचनाओं के अध्येता वेर्नाद्स्की की मृत्यु 1945 में हुयी। उनकी स्मृति में भू-रसायन, जैव भू-रसायन और अंतरिक्ष रसायन के क्षेत्र में विशिष्ट अनुसंधानों के लिये सोवियत सरकार प्रतिवर्ष 'वेर्नाद्स्की पुरस्कार' और 'वेर्नाद्स्की पदक' प्रदान करती है। □□

पारंपरिक भोजन ही मधुमेह को रोक सकता है

रणबीर सिंह

आरोग्यकर आहार अपनाकर मधुमेह से छुटकारा पाने का उपाय असरदार और साधारण तो प्रतीत होता है परन्तु व्यवहार में लाना आसान नहीं है। शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले अध्ययनों की वजह से सारी दुनिया के चिकित्सक अब यह तो जानते हैं कि रेशे से भरपूर फलीदार सब्जियाँ, छिलके समेत साबुत दालें और पारंपरिक भोजन खाने से मधुमेह के रोगियों को काफी आराम पहुँचना संभव है। भारत जापान, आस्ट्रेलिया और मध्यअफ्रीका तथा वेस्ट इंडीज जैसे इलाकों में लोगों की खुराक में आज भी रेशेदार भोजन का बाहुल्य है। इसके विपरीत पश्चिम के देशों में मांस को छोड़कर नियमित मिलने वाले भोजन में रेशा ढूँढ़ने पर भी नहीं मिल पायेगा। कुछ ऐसी बातों पर गौर करना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है जिनकी वजह से लोगों की जीवनशैली बदल जाती है। जीवनशैली में लोगों की खान,पान की आदतें भी शामिल होती हैं। अमेरिका में वे दुकानें बड़ी लोकप्रिय बनती जा रही हैं जहाँ ऐसे फल और सब्जियाँ उपलब्ध कराने का दावा किया जाता है जिनकी पैदावार लेने में रसायनिक खाद और कीटनाशकों का रत्तीभर भी इस्तेमाल न हुआ हो। पश्चिमी देशों के लोग अधिकतर कारखाने में तैयार प्रोसेस्ड फूड का ही इस्तेमाल करने पर मजबूर हैं। भारत और अन्य उष्णकटिबंधीय देशों में स्थिति अभी इतनी खराब नहीं हुई है। भारत की अधिकांश आबादी ग्रामीण जीवन शैली अपनाये हुए है। अभी हमारे अनेक शहरों में घर के बने पारंपरिक भोजन को ही पसन्द किया जाता है। भोजन की किस्म और खाने से पहले वह जिस रूप में उपलब्ध है अर्थात् उसे किस प्रकार प्रोसैस किया गया है उबला हुआ है, ताज़ा है, रेशेदार है और घर का पका हुआ है) काफ़ी महत्त्वपूर्ण है। अमेरिका में तो स्थिति इतनी खराब है कि फल, सब्जियों और अनाज में उपलब्ध प्राकृतिक रेशा जब प्रोसेसिंग के दौरान नष्ट हो जाता है तो उन्हें संश्लेषित किया हुआ खाद्य रेशा (सिंथेटिक

जनसंपर्क अधिकारी, भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद्, अंसारी नगर, नई दिल्ली—110029

फूड फाइबर) खाने में मिलाना पड़ता है। सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, भौगोलिक अवस्थाओं, तकनीकी का स्तर और शहरीकरण की स्थिति में काफ़ी फर्क होने की वजह से ही पश्चिमी सभ्यता और पूर्वी सभ्यता के पालक देश के लोगों में मधुमेह के प्रसार में भी काफी फर्क देखने में मिलता है। पश्चिम के देशों में या पश्चिमी जीवनशैली के हामियों में मधुमेह का प्रसार जनसंख्या में औसतन 10 से 15 प्रतिशत है। जबकि साधारण, पारंपरिक ग्राम्य अथवा आदिवासी खान-पान कायम रखने वाली जनसंख्या में मधुमेह के रोगियों की संख्या 2 से 3 प्रतिशत है।

विश्व के अनेक भौगोलिक हिस्सों में खान-पान संबंधी आदतों और मधुमेह के प्रसार के आपसी संबंध को जानने के पश्चात् जो जानकारी मिली है उसका अब अच्छा इस्तेमाल होने लगा है। प्रोसैस्ड और रेशेविहीन भोजन का रसास्वादन करन वाले पश्चिमी देश जब डॉक्टरी सलाहों को मान कर पारंपरिक भोजन की ओर लौट रहे हैं। इस प्रयास में उन्हें अस्थायी रूप में मानसिक कष्ट तो हो रहा है परन्तु सरल ज़ीवनशैली की ओर लौटने में उन्हें शारीरिक कष्टों से जो मुक्ति मिल रही है उससे प्राप्त होने वाला आनंद आधुनिक भोजन के रस से मिलने वाले आनन्द से कहीं ज़्यादा आँका गया है। यह बिडम्बना है कि अपने देश में हम पश्चिम के **बासी भोजन** अर्थात् **जंक फूड** से लोगों को बचा पाने में असमर्थ हैं। पोषण विज्ञान और पोषणज बीमारियों पर अधुसंधान करने वाले वैज्ञानिकों की हिदायतें आधुनिक सभ्यता के रंग में डूबे हुए लोगों के मन पर से चिकने घड़े की तरह फिसल जाती हैं।

आयुर्वेद के जमाने में और आधुनिक शोध के विकास से पहले यह ज्ञान गाँव-गाँव उपलब्ध था कि मधुमेह से छुटकारा पाने के लिए, कड़वी चीज़ का सेवन अच्छा रहता है। मेथी के बीज, करेला, देशी खीरा, जामुन का फल और गुठली तथा निमोलियों का तेल मधुमेह के रोगियों के लिये विशेष लाभकारी हैं। इनके अलावा किशमिश, फलीदार सब्ज़ियाँ और साबुत दालों को भी मधुमेह के रोगियों के लिये फायदे-मंद बताया गया है। प्राचीनकाल में वर्षों तक सीधे ही मनुष्यों पर परीक्षण करके यह तो मालूम कर लिया गया था कि उपरोक्त सभी खाद्य पदार्थों के सेवन से मधुमेह के रोगी को आराम मिलता है परन्तु आधुनिक शोधतंत्र के विकसित होने के बाद ही यह अच्छी तरह साबित किया जा सका है कि ये खाद्यपदार्थ मनुष्य के शरीर में पहुँचकर किसी प्रकार मधुमेह जैसी चयापचयी बीमारियों की प्रबलता को कम करते हैं। तत्पश्चात् आरोग्यकर आहारों की सूची तैयार करने में वैज्ञानिकों ने तत्परता दिखायी। भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद् ने मधुमेह के लिये आरोग्यकर आहारों के निर्धारण और मनुष्यों पर इनके प्रभाव की जाँच करने के लिये बड़े पैमाने पर काम किया है। इन शोधों का ज़्यादा प्रचार होना चाहिये था ताकि पश्चिमी जीवन-शैली की ओर झुकने वाले व्यक्तियों को यह मालूम रहता कि जिस रास्ते पर वे जा रहे हैं उससे मधुमेह जैसी कई चयापचयी बीमारियों और कैंसर तक के वे शिकार हो सकते हैं।

चंडीगढ़ में पी० जी० आई० में गैस्ट्रोएंटेरोलॉजी विभाग में डॉक्टर **जे० बी० दिलावरी** ने दस साल तक कठोर मेहनत करके यह सिद्ध किया है कि राजमा, चना, दालों के साबुत बीज और फलीदार हरी सब्ज़ियों के सेवन से मधुमेह के रोगियों के शरीर में शर्करा की अधिक मात्रा को कम करके सामान्य स्तर तक लाया जा सकता है। परन्तु अफसोस कि उनकी यह महत्वपूर्ण खोज शोधपत्रिकाओं के अलावा केवल 'द स्टेट्समैन' में बीच के पन्नों में एक कालम में छोटी-सी खबर बन कर रह गई। इसलिये कि उस रोज खबरनवीस को कोई तगड़ी खबर नहीं मिल पायी और खानापूर्ति के लिये डॉक्टर दिलावरी वाली खबर भेज दी गई। खैर, डॉक्टर दिलावरी के शोध से इस बात की पुष्टि हुई है कि आरोग्यकर आहार में 'गैलेक्टो-मेनस' नाम का एक खास रेशा होता है। इस रेशे की मौजूदगी में आँतों में शर्करा अवचूषण (एबजार्प्शन)

काफी धीमा हो जाता है। शर्करा, भोजन में मौजूद कार्बोहाइड्रेटों का विघटन होने से पाचनक्रिया से तैयार होती है। धीमा अवचूषण होने से रक्त में शर्करा की मात्रा सामान्य व सह्यस्तर से कभी ऊपर नहीं जाती है। यह आश्चर्यजनक है कि कुछ लोग इस महत्वपूर्ण और सादा बात को उम्र भर नहीं समझ पाते। वे यह भी नहीं समझते कि इस बात को समझने के लिये वैज्ञानिकों ने जीवन भर का समय और समाज से प्राप्त हुए करोड़ों रुपये लगा दिये हैं।

डॉक्टर दिलावरी के अलावा एक और अध्ययन जयपुर विश्वविद्यालय की प्लांट फिजियोलॉजी और बायोकेमिस्ट्री प्रयोगशाला में डॉक्टर **पुष्पा खन्ना** ने किया है। डॉक्टर पुष्पा ने **करेले** में मौजूद उस सक्रिय यौगिक को पृथक करने में सफलता हासिल की है जिसकी वजह से मधुमेह के रोगियों में रक्तशर्करा का बढ़ा हुआ स्तर सामान्य स्तर तक आ जाता है। यह यौगिक **पॉलीपेप्टाइड-पी** है। यह कई अमीनो अम्लों से मिलकर बना हुआ बड़े आकार का एक प्रोटीन अणु है। करेले के रस के सेवन से या करेले को उबाल कर खाने से मधुमेह के रोगियों को आराम पहुँचता है। टिशू-संवर्द्धन तकनीक से इस प्रोटीन को काफी मात्रा में तैयार किया जा सकता है। इसकी कम खुराक ही काफी असरदार होती है। इस अवस्था में इससे तैयार दवा सस्ती भी होगी। हालाँकि 'नवभारत टाइम्स' में 13 मई 1985 को छपी खबर में पॉलीपेप्टाइड-पी की मधुमेह से पीड़ित जानवरों और मनुष्यों पर सफलतापूर्वक आजमाइश की खबर छपी है परन्तु यह निश्चय नहीं हो पाया कि डॉक्टर खन्ना और उनके सहयोगियों द्वारा किए गये इस लाभकारी अध्ययन की अन्य वैज्ञानिकों ने पुष्टि की या नहीं और उनका यह अध्ययन किसी ख्यातिप्राप्त वैज्ञानिक पत्रिका में छपा या नहीं। इस अध्ययन पर शक की गुंजाइश तो नहीं परन्तु परम्परा के अनुसार 'पीयर रिव्यू' के बाद शोध पत्रिका में छपे अध्ययन को आमतौर पर वैज्ञानिक समुदाय ठीक मान लेता है।

मेथी के बीजों के सेवन से रक्त शर्करा में कमी लाने वाले दावे की सत्यता पर सन्देह की एक भी परत नहीं है। चूँकि यह अध्ययन विख्यात 'राष्ट्रीय पोषण संस्थान' के वैज्ञानिकों द्वारा किया गया है। संस्थान की पत्रिका 'न्यूट्रीशन न्यूज' के मई, 1987 अंक में मेथी के बीजों के सेवन से मधुमेह के उपचार पर विस्तार से चर्चा की गई है। यह कहा गया है कि 25 से 100 मेथी के दानों के सेवन से **इंसूलिन** पर पूरी तरह निर्भर रहने वाले रोगी (इंसुलिन डिपेन्डेंट डायबीटिक) और इंसुलिन न लेने वाले रोगी (नॉन इंसुलिन डिपेन्डेंट डायबीटिक) को काफी फायदा पहुँचता है। मेथी के बीजों क सेवन से रक्त में कोलेस्टेरॉल और शर्करा दोनों की मात्रा में काफी हद तक गिरावट आ जाती है। इंसुलिन का सेवन रक्त में कोलेस्टेरॉल की मात्रा को बढ़ाये रखता है इसलिये मधुमेह के रोगियों में सूक्ष्मरक्तवाहिकाओं के रोग और हृदयवाहिकीय (कार्डियोवास्कुलर) विकारों के रूप में इसका दुष्प्रभाव प्रकट होता है। आमतौर पर होने वाले दुष्प्रभाव हैं आँखों की सूक्ष्मरक्तवाहिकाओं का विकृत होना, एथीरोकाठिन्य और गैन्ग्रीन। लेकिन मेथी के दानों का सेवन करने वाले मधुमेह के रोगियों में काफी समय बाद तक भी किसी दुष्प्रभाव का पता नहीं चला। एथीरोकाठिन्य, रेटीनोपैथी और गैन्ग्रीन होना तो दूर की बात रही। मेथी के बीजों की उचित मात्रा में ली गई खुराक से मधुमेह के रोगियों के मूत्र में आने वाली शर्करा काफी हद तक कम हो जाती है। इसके लिए 25 ग्राम मेथी के दाने 21 दिन लगातार खाने पड़ते हैं। अपने देश में मेथी की कमी नहीं है। आदिकाल से मेथी हमारे भोजन का अंग है। आयुर्वेद विधि से मधुमेह का उपचार करने वाले वैद्य एवं आचार्य मेथी के बीजों का मुक्त रूप से प्रयोग करते हैं। इस विश्वास को स्थापित करने में महान आयुर्वेदाचार्यों **सुश्रुत** और **चरक** के वे हमेशा ऋणी हैं। आधुनिक एलौपैथी चिकित्सक भी मेथी के गुणों की वजह से मधुमेह के मरीजों को इसके नियमित सेवन की सलाह देने लगे हैं। आयुवेद में पश्चिमी वैज्ञानिकों की दिलचस्पी अब इस कदर बढ़ चुकी है वे न केवल

'विश्व स्वास्थ्य संगठन' के जरिये अपितु स्वयं भी सीधे तौर पर भारत में उपलब्ध आयुर्वैदिक ज्ञान ओषधीय पौधों और पारंपरिक, देशी तथा आदिवासियों में प्रचलित चिकित्सा पद्यतियों की खोज के पीछे बावले हैं। इसका प्रमाण है 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' में वर्षों से सक्रिय पारम्पिरिक चिकित्सा प्रभाग और भारत सरकार के स्वास्थ्य मंत्रालय के पास आने वाले अनगिनत विदेशी अनुरोध।

यह ठीक है कि मधुमेह के उपचार में इस्तेमाल होने वाले आरोग्यकर आहार एक प्रकार से औषधीय गुणों की वजह से इस्तेमाल किये जाते हैं और इनका असर उतना नहीं जितना एलौपैथी-पद्धति की रासायनिक ओषधियों में होता है, फिर भी इनकी प्रभावोत्पादकता और दुष्प्रभावों की गैर मौजूदगी इन्हें सुरक्षित करार देती है। इसलिये आरोग्य आहारों के सेवन के लिए रोगी व्यक्ति को किसी अतिरिक्त प्रोत्साहन की आवश्यकता नहीं। न ही इनकी सलाह देने वालों को गलाकाट विज्ञापन प्रचार में अपना सिर खपाने की ज़रूरत महसूस होती है। क्योंकि भारत के घर घर में पारम्परिक रूप से यह ज्ञान मौजूद है। मधुमेह के रोगियों के लिये सुझाये गये आरोग्यकर आहारों की प्रभावोत्पादकता और रोगियों द्वारा इन आहारों के सेवन में नियमितता आदि बरतने सम्बन्धी कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं पर काफी समय से उपयोगी बहस जारी है। इसी बहस से निकले परिणामों का आकलन विख्यात चिकित्सा पत्रिका 'न्यू इंग्लैंड जरनल ऑव मेडिसिन' के 6 नवम्बर 1968 के अंक के एक लेख में विस्तार से किया गया है। इस लेख—**इज डाइट द कॉरनरस्टोन इन मैनेजमेंट ऑव डायोबीटीज**' में यूनीवर्सिटी ऑव वाशिंगटन स्कूल ऑव मेडिसिन के **फ्रांसिस सी वूड जूनियर** और **एडविन एल बियरमैन** ने आरोग्यकर आहारों की सिफारिश करते हुए जिस महत्वपूर्ण बात को दोहराया है वह यही है कि आरोग्यकर आहारों का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इनके इस्तेमाल से गुर्दे, आँख और हृदयवाहिकीय बीमारियों की विकटता से रोगी काफी समय तक बचा रहता है। 'अमेरिकन हार्ट एसोसिएशन', 'अमेरिकन डायबीटिक एसोसिएशन' और 'भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद्' ने मधुमेह से रोगियों के लिए आरोग्यकर आहारों की जो सूची तैयार की है उनका भरपूर उपयोग होना चाहिए। बीयरमैन और वूड ने अपने लेख में आरोग्यकर आहारों की सिफारिश के साथ यह भी कहा है कि अभी मधुमेह और आरोग्यकर आहारों से आपसी सम्बन्ध पर पोषण वैज्ञानिकों द्वारा कुछ और शोध करना ज़रूरी है ताकि यह मालूम हो सके कि क्या केवल निर्धारित आरोग्यकर आहार अपनाने भर से मधुमेह को पनपने से रोकने या मधुमेह से पूरी तरह छुटकारा पाने में सफलता हासिल हो सकती है। आशा है इस दिशा में होने वाला नवीन शोध इन प्रश्नों का कोई तसल्लीवख्श जवाब ढूँढ लेगा।□□

(इस्वा फीचर्स)

भेद खोलते ये दाँत

संगीता भार्गव

कहते हैं कि ज्योतिषी मस्तिष्क की रेखाओं से भूत-भविष्य की कई महत्वपूर्ण घटनाओं का पता लगा लेते हैं। चिकित्सा का क्षेत्र भी कम चमत्कारिक नहीं है। अब तो यह भी संभव हो गया है कि दाँतों की बनावट, उनका आकार और उनके गठन के आधार पर मनुष्यों की आयु और लिंग का निर्धारण किया जा सके। कभी-कभी तो ये दाँत मनुष्य प्रजातियों का भी रहस्य खोल देते हैं। उपर्युक्त लक्षण रोगोपचार करने के लिए तो महत्वपूर्ण हैं ही, अपराधिक मामले सुलझाने में भी वरदान साबित होते हैं।

चिकित्सा विज्ञान में दाँतों के विभिन्न लक्षणों से निम्न कार्यों में सहायता मिल सकती है—1. प्रजनन क्षमता, 2. भ्रूण के विकास और उनके आधार पर लिंग निर्धारण, 3. प्रजाति विशेष का पता लगाकर उस प्रजाति में फैले सामूहिक रोग का निदान।

79 स्टेट बैंक कॉलोनी, जी० टी० रोड, दिल्ली–9

इसी प्रकार न्याय विज्ञान में ये निम्न कार्यों के लिए कारगर हो सकते हैं—1. विवाह की आयु का निर्धारण 2. प्रजाति विशेष का पता लगाकर अपराधियों की खोज, 3. बलात्कार या यौन अपराधों का निबटान।

दाँतों के विकास का एक निश्चित क्रम है। यह विकास क्रम गर्भावस्था से ही प्रारम्भ हो जाता है और लगभग 20 वर्ष की आयु तक चलता रहता है। कभी-कभी यह क्रम तीस वर्ष की आयु तक भी चलता रहता है अपवाद के रूप में यह भी देखा गया है कि किसी व्यक्ति की "अचल दाढ़" चालीस वर्ष की आयु में भी निकलती है। परन्तु हर स्थिति में दाँतों का यह विकास क्रम तीन चरणों में पूरा होता है :—1. एक साथ बहुत से दाँत निकलना, 2. जड़ों तथा ऊपर के भाग पर कैल्शियम जमना यानी कैल्सीकरण, 3. दाँतों का मसूड़ों से बाहर फूटना।

आज से लगभग पचास वर्ष पहले महान दंत चिकित्सा विज्ञानियों **शोवर और मेसलर** ने रेडियोग्राफी विश्लेषण द्वारा दाँतों के विकास का एक चार्ट तैयार किया। यह चार्ट आज भी इतना महत्वपूर्ण है कि आयु निर्धारण के लिए आज भी अपराध विज्ञानी इस चार्ट के आधार पर, दाँतों की संरचना का अध्ययन करते हैं। चार्ट की सहायता से प्रत्येक दाँत के विकास क्रम का अध्ययन किया जाता है और दूध के दाँत टूटने के बाद दंतमूल बनने की प्रक्रिया का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाता है। सूक्ष्म विश्लेषण इसलिए कि कभी-कभी इस विकास-क्रम और प्रक्रिया में अस्थिर प्रवृत्ति भी नज़र आती है। 1957 में प्रसिद्ध दंत-विज्ञानी भूकाला द्वारा तैयार किए गए आँकड़े इस अस्थिर प्रवृत्ति की पुष्टि करते हैं। आँकड़ों से पता चलता है कि अगर इस अस्थिर प्रवृत्ति का गहन निरीक्षण न किया जाए तो आयु निर्धारण में एक माह से लेकर एक वर्ष तक का अंतर आ सकता है।

12 वर्ष से लेकर 20 वर्ष तक की आयु के लोगों में दूसरी दाढ़ का विकास क्रम समान और स्थिर प्रवृत्ति वाला परिलक्षित होती है, अतः इस आयु वर्ग के लोगों की आयु का निर्धारण करने में दूसरी दाढ़ ही उपयोगी आधार प्रदान करती है।

दाँतों के निकलने और उनके विकास-क्रम को आधार मानकर आयु का सही निर्धारण तभी संभव है जबकि दाँतों में खनिजों के आने के लक्षण, शिखरों तथा दंतमूल के उद्भेदन एवं परिपक्वता आदि का निरीक्षण और विश्लेषण भी किया जाए, इन प्रक्रियाओं का निरीक्षण और विश्लेषण रेडियोग्राफी एवं ऊतकीय अध्ययन की सहायता से किया जा सकता है।

लिंग निर्धारण

सर्वविदित है कि परिपक्व दाँतों में लिंग के आधार पर दो प्रकार की संरचनाएँ होती हैं। परिपक्व दाँतों के विकास के सभी चरणों में लड़कियों में लड़कों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट विकास होने की प्रवृत्ति होती है। दाँतों के कैल्सीकरण और उनके निकलने की सभी अवस्थाओं में भी यही प्रवृत्ति रहती है। जबड़े के दाँतों के निकलने में स्त्रियों और पुरुषों में अधिकतम भेद होता है। दाँतों के आकार में भी प्रायः अंतर पाया जाता है।

1962 में अपने अनुसंधान के दौरान दंत विज्ञानी **क्रागमैन** ने पाया कि पुरुषों के दाँत स्त्रियों के दाँत की अपेक्षा अधिक लम्बे होते हैं साथ ही पुरुषों में नीचे की ओर प्रायः पाँच दाढ़ें बाहर की ओर निकली होती हैं जबकि स्त्रियों में प्रायः चार ही दाढ़ें बाहर की ओर निकली होती हैं।

जाति निर्धारण

हालाँकि प्रत्येक जाति में दाँतों में एकरूपता का कोई स्पष्ट आधार तो अब तक निर्धारित नहीं किया जा सका और न ही इन्हें प्रामाणिक मानकर कोई निष्कर्ष ही निकाला जा सकता है, परन्तु फिर भी कुछ स्थान विशेष की प्रजातियों के दाँतों में कुछ समरूप लक्षण पाए जाते हैं।

बेलचानुमा ऊपरी कृंतक दाँत चीनी, जापानी, मंगोल, भारतीय और एस्कीमो का विशेष लक्षण है। इन आबादियों में यह लक्षण यूँ तो अधिकतम देखा जाता है फिर भी यह लक्षण उत्तरी पश्चिमी यूरोपीय

पूर्वजों में ऊपरी जबड़े के मध्य कृंतक दाँतों में प्रायः देखा जाता है। जापानियों, चीनियों और मंगोलों में जहाँ बेलचेनुमा कृंतक दाँत बहुतायत से पाए जाते हैं, वहीं ऊपरी जबड़े के दाँतों में कैराबेली (**Carabelli**) लक्षण तुलनात्मक रूप से अनुपस्थित होते हैं। अमेरिकी भारतीयों में प्रायः निचली दाढ़ों का अग्रसर (**Protostycid**) पाया जाता है और काले लोगों के जबड़े में दो नोक वाले दाढ़ पूर्व पहले दाँत और तीन नोक वाले दाढ़ पूर्व दूसरे दाँत खूब होते हैं।

क्राउस एवं **फर** नामक दो वैज्ञानिकों ने 1965 में पूर्व दंत-संरचना पर किए गए अपने अनुसंधान के आधार पर 16 ऐसे लक्षणों का उल्लेख किया है जो प्रजाति विशेष के लिए पहचान चिह्न के रूप में इस्तेमाल किए जा सकते हैं। दाँत निकलने के समय पर जलवायु का भी असर पड़ता है। उदाहरण के लिए गर्म प्रदेशों को आबादी के बच्चों में ठंडे प्रदेशों की अपेक्षा जल्दी दाँत निकलते हैं। देहाती माँ-बाप के खान-पान का असर भी बच्चों के दाँत निकलने पर पड़ता है। प्रायः देखा गया है कि धनी लोगों में बच्चों के दाँत गरीब लोगों के बच्चों के दाँतों की अपेक्षा जल्दी निकलते हैं। यहाँ तक कि शहरी बच्चों के दाँत भी देहाती बच्चों की अपेक्षा जल्दी उगते पाए गए हैं। कैल्सीकरण की दर भी गर्म प्रदेशों में भिन्न-भिन्न होती है।

इस प्रकार मुँह में बंद ये दाँत भी मनुष्य के बारे में अनेक रहस्य खोलने में सक्षम हैं। □□

5 जून विश्व पर्यावरण दिवस पर

प्रदूषणमुक्त फसल : सुरक्षा का नवीन उत्तम साधन

डॉ० मो० मकसूद खाँ

कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए संसार में सदैव ही प्रयास होते रहे और आधुनिक वैज्ञानिक खेती ने तो देश में हरित क्रान्ति लाकर फ़सल को कई गुना तक बढ़ा दिया है। लेकिन कृषि उत्पादन बढ़ाने के अब तक के सारे प्रयासों में सबसे जटिल समस्या फ़सल सुरक्षा की है। खेतों से लेकर अनाज भण्डारण तक हज़ारों प्रकार के कीटों द्वारा हमारी कुल उपज का लगभग 20% हिस्सा नष्ट कर दिया जाता है। यदि इतनी बड़ी क्षति को बचा लिया जाए तो देश की खाद्य समस्या बहुत कुछ दूर हो सकती है। अब तक इनकी रोकथाम के लिए तरह-तरह के उपयोग किये गये लेकिन सबसे सफल प्रयास कीटनाशक दवाइयों का पाया गया और आज संसार में बड़े पैमाने पर यह दवायें प्रयोग की जाती हैं। इनसे जहाँ एक ओर कीटों पर नियंत्रण होता है वहीं दूसरी ओर आज इनका प्रदूषण इतना अधिक हो गया है कि पूरे मानव जाति के लिये खतरा बढ़ता जा रहा है। यह कीटनाशक रसायन मानव जाति के लिये कितने घातक सिद्ध हो रहे हैं यह समय-समय पर दी गयी वैज्ञानिक रिपोर्टों से सामने आ रहे हैं। 1962 में डी० डी० टी० का प्रयोग पूरे संसार में बड़े पैमाने पर किया गया और इसने चौंका देने वाली सफलता भी प्राप्त की लेकिन धीरे-धीरे कुछ कीट इसको पचाने के आदी (रेजिस्टेन्ट) हो गए और तभी **रैशल कार्सन** नामक एक महिला शोधकर्ता ने यह चेतावनी दी थी कि इस दवा का एक छोटा सा कण भी मानव जिगर को क्षति पहुँचा सकता है। इस दवा में संचयी गुण होने के कारण यह मानव वसा में धीरे-धीरे एकत्र होती रहती है और अधिक मात्रा में एकत्र होने से इसका प्रभाव घातक होने लगता है। दिल्ली में किये गये सर्वेक्षण की एक रिपोर्ट के अनुसार वहाँ के मनुष्यों की वसा में 98 पी० पी० एम० तक डी० डी० टी० पायी गयी जो संसार में सबसे अधिक है। आज पश्चिमी जगत में डी०डी० टी० पूर्ण प्रतिबन्धित है। लेकिन भारत में प्रतिबन्ध होने

कीट विज्ञान विभाग, कुलभास्कर आश्रम डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

के बावजूद आज भी यह दवा प्रयोग हो रही है। इसके अरिक्त बी० एच० सी०, सोडियम सायनाइड एवं डायेलड्रिन ऐसी दवायें अमेरिका में बिल्कुल प्रयोग से बाहर हैं और यूरोप में बहुत ही सीमित तथा सावधानी से प्रयोग हो रही हैं, लेकिन भारत में सामान्य प्रयोग के लिए यह दवावें अभी भी अधिकारिक तौर पर स्वीकृत हैं।

एक रिपोर्ट के अनुसार पंजाब में जून-जुलाई (1986) के महीने में आग्रेनोफॉस्फेट रसायन से 12 मौतें हुईं और यह सभी किसान तथा कृषि मजदूर थे। बी० एच० ए० आई० की रिपोर्ट में कहा गया है कि विकासशील देशों में उन कीटनाशकों के, जिन पर विकसित देशों में पहले ही प्रतिबन्ध लगाया जा चुका है, इस्तेमाल से हर वर्ष विषाक्तता के 35.75 लाख मामले होते हैं जिनमें 10 हजार मामले जानलेवा होते हैं। कुछ समय पूर्व आई० टी० आर० सी० लखनऊ ने वहाँ के मेडिकल कॉलेज के न्यूरोलॉजी विभाग में किये गये एक अध्ययन में पाया कि 20 प्रतिशत कृषि मजदूरो की आँखें कीटनाशक दवाइयों के प्रभाव से क्षतिग्रस्त हो गयी थीं

पिछले तीन दशकों में भारत में कृषि के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रगति हुई साथ ही कीटनाशक दवाइयों की खपत 2300 टन वार्षिक से बढ़कर 66000 टन वार्षिक हो गयी है। लेकिन इनके प्रयोग में अति सावधानी न बरतने से यह मानवजाति के लिये हानिकारक सिद्ध हो रही हैं। भारत में इनके दुष्परिणाम किसानों में साक्षरता की कमी से भी अधिक हो रहे हैं। तीसरी दुनिया में कीटविषों की विषाक्तता के कुल मामलों में से एक तिहाई मामले अकेले भारत में होते हैं और कृषि मजदूर इसके सर्वाधिक शिकार होते हैं।

बचाव का एक नया प्रयास

किसानों में साक्षरता लाकर और कीट विषों का उचित ढँग से प्रयोग और सावधानियों तथा बचाव के सभी नियमों का पूर्ण पालन करने का प्रदूषण को बहुत कुछ कम किया जा सकता है, लेकिन इनका मानवजाति के लिये घातक प्रभाव पूरी तरह समाप्त नहीं किया जा सकता। कीट विष तैयार करने वाली फैक्ट्रियों से लेकर कृषि उपज के उपभोक्ताओं तक यह विष किसी न किसी रूप में हानि अवश्य पहुँचा रहे हैं। इससे पूरी तरह से रोक-थाम के लिये या तो जैविक नियंत्रण (बायोलाजिकल कण्ट्रोल) पूरी तरह से अपनाया जाए जो कि असम्भव है या फिर कोई ऐसा रसायन तैयार किया जाए जिसका घातक प्रभाव केवल कीटवर्ग के लिये ही हो तथा मानब जाति के लिये किसी भी प्रकार से हानिकारक न हो।

इसके लिये कीट वैज्ञानिक लगातार प्रयास में लगे हैं और तरह-तरह के रसायन विकसित कर रहे हैं। इन रसायनों में जिनका कुप्रभाव मानवजाति पर न पड़ कर केवल कीट वर्ग पर ही हो, इसी तरह का एक चमत्कारिक रसायन सामने आया है, जिसे कीट वृद्धि अवरोधक (इनसेक्ट ग्रोथ इनह्रिबिटर) कहते हैं और वैज्ञानिकों का मत है कि भविष्य में इसका प्रयोग कीट विषों के प्रदूषण से बचाव में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

कीट वृद्धि अवरोधक

सन् 1970 के लगभग फिलिप दूफर के वैज्ञानिकों को इस प्रकार के रसायनों का आकस्मिक पता लगा। इसके उपरान्त लगातार शोधकार्य होता रहा। सर्वप्रथम वेन्जोइल फिनाइल यूरिया वर्ग के रसायनों पर कार्य हुआ, उल्लेखनीय सफलता मिली तत्पश्चात् दूसरे ग्रप के रसायन जैसे पालिक्सीन तथा निकोमाइसीन, कैप्टन एवं सल्फेनीसाइड, ट्राईएजीन, फिनाइल कार्बामेंट, कीटाजीन, टूनिकामाइसिन एवं एवरमेक्टीन को भी कीट वृद्धि अवरोधक के रूप में प्रयोग किया गया तथा विभिन्न प्रकार के कीट विष तैयार किये गये जैसे पेन्फ्लूरान, डाइफ्लूबेन्जरान, बीसाजीर, डाई एमीनो फूरिल ट्राइएजीन, काइरोमेजीन तथा एवरमेक्टीन-बी 1 इत्यादि। इन रसायनों की अनेक विशेषताएँ हैं जो आमतौर पर प्रयोग होने वाले रसायनों में नहीं मिलतीं। साधारणतया प्रयोग होने वाले कीटविष प्राय: कीटों को मार तो देते हैं लेकिन बचे हुये कीटों की प्रजनन शक्ति अगले चक्र में बढ़ा भी देते हैं, ऐसा

शोध कार्य में पाया गया है। इस प्रकार अण्डों की संख्या बढ़ जाने से दिन प्रति दिन कीटों की समस्या बढ़ती जाती है। लेकिन कीट वृद्धि अवरोधक के प्रयोग से यह समस्या आसानी से हल हो सकती है। इसके अतिरिक्त इस वर्ग के रसायनों का कीटों पर बहुमुखी प्रभाव होता है। पहले तो इसके घातक प्रभाव से अधिकतर कीट मर जाते हैं और जो कीट बच जाते हैं उनके अन्दर शारीरिक विकार उत्पन्न होने लगता है। कीटों में मोलटिंग के समय रसायनों के प्रभाव से जैविक क्रियायें बिगड़ जाती है, जिनसे कीटों की सुचारू रूप से वृद्धि नहीं हो पाती और कीटों का रूप बदलने लगता है तथा इनके मुखांग भी कमज़ोर हो जाते हैं जिससे यह भोजन नहीं कर पाते तथा सुचारू रूप से जैविक परिवर्तन या क्रियाएँ न होने से कीटों के जीवन की अवधि शिशुओं में कम और प्रौढ़ में अधिक हो जाती है जिससे इनका जीवन-चक्र बिगड़ जाता है तथा इन सब अवस्थाओं को झेल कर जो बचे हुये कीट प्रौढ़ हो जाते हैं उनकी प्रजनन शक्ति कम हो जाती है जिससे अण्डों की संख्या कम हो जाती है तथा अधिकतर अण्डों से बच्चे पैदा नहीं होते। वे नपुंसक (स्टेराइल) हो जाते हैं जिसे कीटों का बन्ध्यकरण कहा जा सकता है। शोधकार्य में यह भी पाया गया कि जिन अण्डों से डिम्ब पैदा हो जाते हैं उनके अन्दर भी रसायनों के प्रभाव से नपुंसकता पैदा हो जाती है तथा अण्डों की संख्या में कमी तथा कुछ अण्डे स्टेराइल हो जाते हैं। इस प्रकार इन रसायनों के बहुमुखी प्रभाव से खेतों में सफल कीट नियंत्रण हो सकता है। अभी इस वर्ग के रसायन शोध के अन्दर ही हैं लेकिन इस ग्रुप का एक रसायन डिमिलिन पिछले कुछ दिनों से खेतों में प्रयोग हो रहा है तथा सफल परिणाम भी मिल रहे हैं।

मानव के लिए सुरक्षित

उदाहरण के लिये तितली वर्ग के तीन कीटों पर पेन्फ्लूरान नामक रसायन के घातक प्रभाव का संक्षिप्त विवरण तालिका—1 में दर्शाया गया है, जिससे पता चलता है कि इस रसायन का 50 प्रतिशत कीटों को मारने के लिये एल० डी० 50 (लीथल डोज 50) घोल 0.000006 से 0.000009 प्रतिशत तथा 0.0001 प्रतिशत तक का ही है। यह मात्रा इतनी कम है कि मनुष्यों पर इसका कोई कुप्रभाव नहीं पड़ता। कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि इस वर्ग के रसायन से मनुष्य सुरक्षित है। इसका घातक प्रभाव केवल कीटों तक ही है, लेकिन कुछ वैज्ञानिकों ने इस वर्ग के रसायनों का मनुष्य पर कुप्रभाव पाया। लेकिन इसकी मात्रा खेतों में प्रयोग होने वाली मात्रा से अधिक है इसलिये इसे मनुष्यों के लिये सुरक्षित कहा जा सकता है। अतः यह कहा जा सकता है कि इस वर्ग के कीटविषों के प्रयोग से फसल सुरक्षा के क्षेत्र में चमत्कारी सफलता के साथ-साथ मानव-जति को होने वाली हानि से भी बचाया जा सकता है। इस प्रकार कीट-रसायनों के प्रदूषण (जो एक गम्भीर समस्या है) से बचने में सफलता पायी जा सकती है।

तालिका—1

तितली वर्ग के विभिन्न कीटों पर पेन्फ्लूरान का उदर विष के रूप में शारीरिक विकार तथा घातक प्रभाव

घोल%	पेरीकेलिया रिसीनी		यूपराक्टिस इसीलिया		अटेवा फैबरीसियेला	
	मृत्यु दर (%)	शारीरिक विकार (%)	मृत्यु दर (%)	शारीरिक विकार (%)	मृत्यु दर (%)	शारीरिक विकार (%)
0.000001	50	4	36	—	40	4
0 00001	64	8	50	8	44	10
0.0001	70	8	70	10	50	6
0.001	80	6	10	8	80	2
0.01	100	—	100	—	100	—

एल० डी० 50 :—पेरकेलिया रिसीनी=0.000006
यूपराक्टिस इसीलिया=0.000009
अटेवा फेबरीसियेला=0.0001

□□

शरीर में ज़्यादा लोहा भी ठीक नहीं

कन्हैयालाल मंगलानी

अमेरिका के ब्रांक्स वेटेरन एडमिनिस्ट्रेशन मेडिकल सेंटर नाम का अस्पताल। इस अस्पताल में ले जाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को "मेटल डिटेक्टर" लगे दरवाज़े से होकर निकलना होता है। यह व्यवस्था एक डॉक्टर पर एक चिड़चिड़े रोगी द्वारा गोली चलाने के बाद प्रारम्भ की गई थी। लेकिन यही "मेटल डिटेक्टर" एक दिन लोगों के कौतूहल का केंद्र बन गया। इस कौतूहल का कारण था 47 वर्ष का एक रोगी।

अच्छी तरह से तलाशी लेने, यहाँ तक कि बेल्ट तक उतार देने, के बाद भी जब रोगी को "मेटल डिटेक्टर" से होकर गुजारा गया तो भी अलार्म बज उठा। सुरक्षाकर्मियों के साथ-साथ सभी लोग परेशान। सबकी परेशानी और जिज्ञासा को शांत किया रोगी के चिकित्सक **डॉ० विक्टर हर्बर्ट** ने। डॉ० हर्बर्ट के अनुसार उस रोगी के शरीर में मौजूद लोहे की मात्रा ही डिटेक्टर का अलार्म बजाने के लिए पर्याप्त थी।

वैज्ञानिकों के अनुसार एक स्वस्थ व्यक्ति के शरीर में लगभग 4 ग्राम लौह तत्व पाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त शरीर को प्रतिदिन लगभग 2.2 मिलीग्राम लौह तत्वों की ज़रूरत पड़ती है। साधारण दशाओं में आँत हमारे भोजन में मौजूद लौह तत्वों में से केवल दस प्रतिशत भाग को ही ग्रहण कर पाती है और इतना ही पर्याप्त भी होता है।

लेकिन जब यह संतुलन बिगड़ जाता है तब आँतें अधिक मात्रा में लौह तत्वों का अवशोषण करने लगती हैं। यह बढ़ी हुई मात्रा खर्च न होकर शरीर के विभिन्न अंगों में जमा होने लगती है। अग्न्याशय, यकृत, हृदय, और हाथ-पैरों के जोड़ इससे सबसे पहले प्रभावित होते हैं। इस बीमारी को **"हीमोक्रोमेटोसिस"** के नाम से जाना जाता है। आजकल ऑस्ट्रेलिया, फ्रांस, स्वीडेन, ब्रिटेन और अमेरिका में प्रति हज़ार 2 से 3 व्यक्ति इसके शिकार होते हैं।

वैज्ञानिकों के अनुसार **हीमोक्रोमेटोसिस एक आनुवंशिक** रोग है, जो संतान को अपने माता-पिता से प्राप्त होता है। इस रोग को जन्म देने वाली जीन माता-पिता दोनों से ही प्राप्त होने पर व्यक्ति रोग का शिकार होता है। लौह तत्व धीरे-धीरे शरीर में जमा होते रहते हैं और बीमारी का पता लगने में 20 से 40 वर्ष लग जाते हैं।

इस बीमारी में अग्न्याशय और यकृत में लौह तत्वों की मात्रा 50-100 गुना, और हृदय में 10-15 गुना बढ़ जाती है। लौह तत्वों की बढ़ी हुई मात्रा से प्रारंभ में शरीर पर कोई प्रभाव नही पड़ता, लेकिन जब मात्रा 20–40 ग्राम तक पहुँच जाय, तब बीमारी के लक्षण पता चलते हैं। लौह तत्व की इतनी मात्रा "मेटल डिक्टेटर" के अलार्म को बजा सकने के लिए पर्याप्त है।

जिन अंगों में लौह तत्व जमा हो जाते हैं, उन्हें क्षति पहुँचती है। सबसे पहले अग्न्याशय की कोशिकाओं के क्षतिग्रस्त हो जाने से व्यक्ति को मधुमेह हो जाता है। हीमोक्रोमेटोसिस के 80 प्रतिशत रोगी मधुमेह का शिकार हो जाते हैं। बाद में त्वचा का रंग बदल कर गहरा भूरा हो जाता है। यकृत की कोशिकाओं के क्षतिग्रस्त हो जाने से यकृत सिरोसिस हो जाता है, जो बाद में कैंसर जैसे भयानक रोग को जन्म देता है। हृदय में लौह तत्वों की बढ़ी हुई मात्रा मांसपेशियों को नुकसान पहुँचाती है, जिससे हृदय गति बंद हो सकती है। हाथ-पैरों के जोड़ों में अधिक लौह तत्व जमा हो जाने से गठिया हो सकता है और वृषभों (टेस्टिस) में जमा लौह तत्व नपुंसकता को जन्म दे सकता है।

385/3, कस्तूरबा नगर, सारस्वत भवन के पीछे, रतलाम—457001 (म० प्र०)

यह रोग विशेष रूप से पुरुषों को ही होता है। महिलाओं को यह रोग ऋतुचक्र की समाप्ति के बाद ही होता है। हीमोक्रोमेटोसिस का संदेह होते ही रक्त की जाँच बहुत आवश्यक होती है। मधुमेह, यकृत और हृदय रोगों से पीड़ित ऐसे लोगों को, जिनमें बीमारी का कारण स्पष्ट न हो, हीमोक्रोमेटोसिस की पुष्टि के लिए रक्त की जाँच अवश्य करा लेनी चाहिए।

इस रोग से बचने के लिए समय पर उपचार बहुत आवश्यक है। इसके उपचार में प्रारम्भ में तो शरीर में जमा अतिरिक्त लौह भंडार को कम करने वाले पदार्थों का इंजेक्शन दिया जाता है, लेकिन यदि स्थिति थोड़ी गंभीर हो गई है तो कम से कम साल दो साल तक प्रति सप्ताह या दो सप्ताह में एक बार एक यूनिट खून निकलवाने की सलाह दी जाती है।

लेकिन ध्यान रखें उपचार से लाभ तभी तक होता है जब तक लौह तत्वों से शरीर के ऊतकों को कोई हानि न पहुँची हो।

हाँ, हीमोक्रोमेटोसिस के रोगियों को बिना लौह तत्व वाले भोजन की सलाह कभी नहीं दी जाती, क्योंकि भोजन में लौह तत्व बहुत थोड़ी मात्रा में ही पाए जाते हैं, जो शरीर की दैनिक आवश्यकता भर के लिए ही होते हैं। परन्तु यह ध्यान रहे कि जिन व्यक्तियों के शरीर में लौह तत्व की कमी है उन्हें शरीर में लौह शक्ति प्राप्त करने के लिये लौह तत्व की गोलियाँ या लौह संपूरित विटामिन कभी नहीं खाने चाहिए, अन्यथा वे लौह शक्ति प्राप्त करने के बजाय हीमोक्रोमेटोसिस का शिकार हो जाएँगे। बिना चिकित्सक की सलाह लिए कभी कुछ नहीं करना चाहिए। □□

तत्वों के अल्पांश का पता लगाने के लिए न्यूट्रॉन सक्रियकरण विश्लेषण

वीरेन्द्र शर्मा

सबसे हल्के तत्त्व हाइड्रोजन को छोड़कर न्यूट्रॉन सभी तत्त्वों का एक आवश्यक घटक है। जैसे-जैसे हाइड्रोजन से आरंभ करके हम यूरेनियम तक पहुँचते हैं हम देखते हैं कि पारमाण्विक नाभिक में न्यूट्रॉनों की कुल संख्या बढ़ती जाती है। नाभिक के अन्दर बंधनयुक्त अवस्था में न्यूट्रॉन, प्रोटॉन के सहोदर (सिबलिंग) की तरह व्यवहार करता है वास्तव में प्रोटॉन व न्यूट्रॉन नाभिक के अन्दर एक ही कण की अलग-अलग नाभिकीय अवस्थायें हैं। इनके बीच में मीज़ॉन कणों (कण त्रयी) की अदला-बदली होती रहती है। नाभिक के अन्दर इनके प्रबल आकर्षण का कारण यही मीज़ॉनिक डोरी है, मीज़ॉनों का बादल है।

यूँ न्यूट्रॉन एक आवेशहीन कण है जबकि प्रोटॉन पर उतना ही धनात्मक आवेश है जितना इलेक्ट्रॉन पर रिणात्मक आवेश है। परन्तु नाभिक के बाहर, मुक्त अवस्था में न्यूट्रॉन न सिर्फ़ एक विखण्डनशील कण हैं, भेदनशील भी हैं। विद्युत् व चुम्बकीय बलों से गुजरने पर यह अपने मार्ग से विचलित नहीं होता अलबत्ता हाइड्रोजन बहुल पदार्थ में दाखिल होने पर यह प्रोटॉन से टकराकर धीमा ज़रूर हो जाता है, रुक भी जाता है।

बला की भेदन क्षमता के कारण एक नया नाभिक इसे आसानी से ग्रहण कर लेता है। इस घटना को 'न्यूट्रॉन कैप्चर' कहते हैं। परन्तु 'न्यूट्रॉन कैप्चर' के बाद वह नाभिक जिसने न्यूट्रॉन का अभिग्रहण किया है, रेडियोधर्मी हो जाता है।

तत्त्वों के स्थायी बने रहने के लिए ज़रूरी है कि न्यूट्रॉन-प्रोटॉन अनुपात उनके नाभिकों में एक क्रान्तिक सीमा के नीचे बना रहे। लेड (सीसा) के बाद तत्त्वों

व्याख्याता, 882/29, कमल कॉलोनी, रोहतक—124001 (हरियाणा)

की सारणी के सभी तत्त्व इसीलिए रेडियोधर्मी हैं, क्योंकि इनमें न्यूट्रॉन-प्रोटॉन अनुपात एक क्रान्तिक मान से ज़्यादा है। न्यूट्रॉन-प्रोटॉन का अनुपात 1.47 से ज़्यादा होने पर तत्त्व रेडियोधर्मी हो जाता है। उत्तर-यूरेनियम तत्त्व इसीलिए रेडियोधर्मी हैं। यह भी तथ्य है कि यदि हम प्राकृतिक रूप से उपलब्ध रासायनिक तत्त्वों के लिए एक आरेख न्यूट्रॉन संख्या व प्रोटॉन संख्या के बीच तैयार करें, तब एक ऐसी पट्टी प्राप्त होती है जिस पर पड़ने वाले सभी तत्त्व (नाभिक) अपेक्षतया स्थिर होते हैं। अपने पड़ोमी नाभिकों की तुलना में इनसे न्यूट्रॉन या प्रोटॉन बिलगाना बहुत अधिक ऊर्जा की अपेक्षा रखता है जबकि इस पट्टी (आइलैण्ड ऑव स्टेबिलिटी) के दोनों ओर जो तत्त्व या नाभिक हैं वे या तो अस्थिर हैं या रेडियोधर्मी। इन अपेक्षतया अस्थिर नाभिकों पर यदि भेदनशील न्यूट्रॉनों की बौछार की जाये तब ये नाभिक एकदम से रेडियो-धर्मी हो उठते हैं।

हमारी विषयवस्तु का आधार तत्त्वों की यही अर्जित या न्यूट्रॉन अभिप्रेरित रेडियोधर्मिता है। 'न्यूट्रॉन ऐक्टिवेशन एनालिसिस' की नींव है यही रेडियोधर्मिता।

विषाणु-जीवाण, हार्मोन, किण्वक, विटामिन जैसी सूक्ष्म प्रणालियों में आवश्यक घटक के रूप में जिन तत्त्वों का अल्पांश मौजूद होता है उन्हें ट्रेस एलिमेन्ट्स कहा जाता है। जन्तु ऊतकों में ट्रेस एलिमेन्ट्स की कमीबेशी का रोगों से सीधा सम्बन्ध है। न्यूट्रॉन ऐक्टि-वेशन एनालिसिस रोग निदान का आधार बन सकती है।

इस पद्धति में जन्तु ऊतक का इस्तेमाल एक टाग्-इट या सैम्पॅल के रूप में किया जाता है। अकेला तंत्राणु तन्तु (नस तन्तु या नॅर्व फ़ाइबॅर) भी टाग्इट बन सकता है—बालों की अकेली लट भी। बस एक न्यू-ट्रॉन बहुल स्रोत चाहिये, जिससे अविरल रूप में न्यूट्रॉन निकलते रहें। कैलीफ़ोर्नियम-252 एक ऐसा ही न्यूट्रॉन प्रचुर स्रोत है जिसके प्रति मिलीग्राम से स्वतः स्फूर्त विखंडन के फलस्वरूप दो अरब चौंतीस करोड़ न्यूट्रॉन निकलते हैं, प्रति सैकेण्ड, अविरल रूप से।

पॉवर रिएक्टॅर (एटमी भट्टी) भी एक बेहतरीन न्यूट्रॉन स्रोत के रूप में काम में लाई जाती है जिसमें न्यूट्रॉन-प्रवाह एक लाख खरब प्रति वर्ग मीटर प्रति सेकेण्ड से लेकर एक करोड़ खरब प्रति वर्ग मीटर प्रति सेकेण्ड तक बना रहता है। इकाई क्षेत्र से प्रवाहित प्रति सेकेण्ड न्यूट्रॉनों की संख्या की न्यूट्रॉन फ़्लक्स कहा जाता है। यूँ इकाई आयतन में मौजूद न्यूट्रॉनों की संख्या व उनकी औसत चाल के गुणनफल को भी न्यू-ट्रॉन फ़्लक्स कहा जाता है।

न्यूट्रॉन ऐक्टिवेशन एनालिसिस में टाग्इट पर एटमी भट्टी से निकलने वाले न्यूट्रॉनों की पहले तो बौछार की जाती है फिर रेडियो-रासायनिक विधि से उन तत्त्वों के सूक्ष्मांश (जो एक माइक्रोग्राम से लेकर एक पाइक्रोग्राम या उससे भी कम हो सकता है) को बिलगाया जाता है जो रेडियोधर्मिता ग्रहण कर चुके हैं। एक ग्राम के दस खरब-वें भाग का भी पता इस विधि से लगाया जा सकता है।

किसी भी जैविक या यान्त्रिक प्रणाली, जीव, सूक्ष्म-आवयविक संगठन, माइक्रोब जैसी सूक्ष्म संरच-नाओं में विभिन्न तत्त्वों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश का पता लगाने के लिए दो पद्धतियाँ काम में लाई जाती हैं।

इनमें "ऐब्सेलूट मेथॅड" खासा पेचीला है, क्योंकि इसमें ट्रेस एलिमेन्ट्स का परिष्कृत व शुद्धेतर आकलन तभी संभव है जब न्यूट्रॉन फ़्लक्स (स्रोत से प्रति सैकेण्ड निकलने वाले न्यूट्रॉनों की सही जानकारी हो) का सही मान मालूम हो। यानी इकाई क्षेत्र से प्रति सैकेण्ड गुजरने वाले न्यूट्रॉनों की कुल संख्या मालूम होनी चाहिये। न्यूट्रॉन स्रोत का क्रॉस सेक्शन मालूम हो (न्यूक्लियर क्रॉस सेक्शन)। नाभीकीय प्रतिक्रिया के फलस्वरूप बनने वाले रेडियो नाभिकों (रेडियो-न्यू-क्लिआइड) की हाफ़ लाइफ़ (अर्द्ध-आयु या अर्द्ध जीवन अवधि) की सही जानकारी के अलावा यह जानना भी एकदम से ज़रूरी है कि प्रॉडक्ट-न्यूक्लियस की एक्टि-विटी कितनी है यानी प्रति सेकेण्ड उसके कितने

नाभिक लगातार टूट रहे हैं और उनसे कितना रेडियो विकिरण निकल रहा है।

सहज काम में ली जाने लायक (सहज प्रयोज्य) दूसरी पद्धति में विश्लेष्य 'टार्गेट' में न्यूट्रॉन द्वारा अभिप्रेरित रेडियोसक्रियता (रेडियोएक्टिविटी) की तुलना उस मानक टार्गेट द्वारा ग्रहण की गई रेडियोधर्मिता (रेडियो एक्टिविटी) से की जाती है जिसमें विश्लेष्य तत्त्व की ज्ञात मात्रा पहले से ही मौजूद होती है।

अव्वल दर्जे की सुग्राहिता व सूक्ष्मग्राहिता के अलावा न्यूट्रॉन एक्टिवेशन एनालिसिस प्रचलित अन्य रासायनिक पद्धतियों से कई मायने में मौजूद पदार्थों की रासायनिक अवस्था से जरा भी प्रभावित नहीं होती क्योंकि यह पद्धति नाभिकीय प्रतिक्रियाओं (न्यूक्लियॅर रिएक्शन्स) पर आधारित है।

स्पेसिफ़िसिटी (विशिष्टता) इस पद्धति की दूसरी खूबी है। हम जानते हैं कि दो रेडियो समस्थानिकों के सभी नाभिकीय गुण कभी भी एक जैसे नहीं हो सकते लेकिन इस विधि में रेडियो समस्थानिकों की विशिष्ट रेडियोसक्रियता, उनकी अर्द्ध आयु आदि का शुद्धतम् आकलन किया जाता है।

अलग-अलग तत्त्वों की शिनाख्त करने के लिए टार्गेट पर एक ही बार न्यूट्रॉन विकिरण डालना यथेष्ट रहता है।

हाल के वर्षों में न्यूट्रॉन एक्टिवेशन एनालिसिस खासी चर्चित रही है। चाँद की मिट्टी में मौजूद कम से कम 72 तत्त्वों की शिनाख्त इस पद्धति से विश्वसनीय तरीके से की गई है। दुनिया-भर की उन अठ्टाइस प्रयोगशालाओं में से तेरह ने चाँद से लाई गई मिट्टी की जाँच के लिए इसी पद्धति को ज्यादा भरोसेमन्द पाया है।

नेपोलियन बोनापार्ट की मृत्यु के रहस्य को न्यूट्रॉन एक्टिवेशन एनालिसिस ने सुलझाया है। एक टापू पर बन्दीगृह से बदतर एकान्तवास के दौर में उन्हें हल्का विष (आर्सेनिक) दिया गया। बालों की एक लट ने उनकी मृत्यु के रहस्य को मृत्यु के एकसौ चालीस वर्ष बाद सुलझाया।

पुरातात्त्विक महत्त्व की वस्तुओं की दुनिया भर में होने वाली चोरी-चकोरी से रहस्य का पर्दा इस विधि ने कई बार उठाया है। वास्तव में चोरी गई कलाकृतियों को ट्रेस एलीमेंन्ट प्रोफाइल से पहचाना जाता है। तत्त्वों की 'रूपरेखा व रेखाचित्र' उनकी अंगुलियों के निशान होते हैं, उनके स्पैक्ट्रम की मानिन्द। मृत व्यक्ति की शिनाख्त उसके बालों की एक लट से भी हो सकती है। किन्हीं भी दो व्यक्तियों के बालों का गामा स्पैक्ट्रम कभी भी एक जैसा नहीं होता।

अपराध व न्यायिक विज्ञान ने न्यूट्रॉन एक्टिवेशन एनालिसिस को निरन्तर अपनाया है।

तेल निगमों के लिए तेल की खुदाई एक खर्चिला व अनुमान आश्रित काम रहा है। अब एक विश्लेषक एक फ़ास्ट न्यूट्रॉन स्रोत के जरिये "न्यूक्लियर-वेल-डिग्गिंग" के अन्तरगत कार्बन व ऑक्सीजन परमाणुओं के अनुपात से तेल की उपस्थिति का पता लगाया जा सकता है।

खुदाई में निकले सिक्के, ठीकरों, कालपात्रों व सांस्कृतिक अवशेषों का कालनिर्धारण व युगानुरूप वर्गीकरण करने में इस पद्धति से बड़ी मदद मिली है।

अर्द्ध-चालकों की परिशुद्धता की जाँच में इस पद्धति को बहुत कारग़र पाया गया है।

जरा सी अशुद्धि से इन अर्द्ध-चालकों की वैद्युत चालकता लाखों गुणा बढ़ कर पूरे इलेक्ट्रॉनिक परिपथ को बेकार बना सकती है। यूँ नियन्त्रित तरीके से अशुद्धि का अल्पांश शुद्ध अर्द्ध-चालकों में उनकी वैद्युत चालकता को बढ़ाने के लिए मिलाया जाता है। लेकिन कौन सी अशुद्धि किस अर्द्ध-चालक में मिलानी है यह पूर्व निर्धारित होता है। निस्सन्देह न्यूट्रॉन एक्टिवेशन एनालिसिस ने संभावनाओं के नये क्षितिज खोले हैं। लेकिन इस पद्धति की अपनी सीमाएँ भी हैं। अपेक्षतया भारी तत्त्वों की शिनाख्त ही इस विधि से भरोसेमन्द तरीके से हो सकती है, पर अपेक्षतया हल्के तत्त्वों का विश्लेषण इससे कर पाना मुमकिन नहीं है। □□

विज्ञान को आम आदमी के लिए कैसे मोड़ें ?

हरीश अग्रवाल

भारतीय विज्ञान कांग्रेस का 77वां अधिवेशन इस बार अनेक बातों में पहले के अधिवेशनों से भिन्न रहा। इसमें उपस्थिति सबसे ज़्यादा रही, अनेक क्षेत्रों में काम करने का संकल्प लिया गया और विभिन्न योजनाओं को निर्धारित समय पर समाप्त करने का निश्चय किया गया।

केरल में कोचीन में हुए इस अधिवेशन में अपने उद्घाटन भाषण में प्रधानमंत्री ने कुछ स्पष्ट बातें कहीं। उनका कहना था विज्ञान तो आगे जा रहा है, लेकिन आदमी उसका उपयोग करने में समाज की भलाई की बात नहीं सोचता। बड़े देशों में उद्योगों का विस्तार हुआ है, वे बहुत आगे बढ़े हैं, लेकिन छोटे गरीब देशों को नई टेक्नोलॉजी का लाभ नहीं मिला है। उन्होंने प्रश्न उठाया—ऐसी प्रगति या औद्योगीकरण का क्या लाभ है जो आदमी को ही नष्ट कर दे ? क्या हम ऐसा स्वस्थ पर्यावरण नहीं दे सकते जो आदमी को आराम से रहने दे ?

प्रधानमन्त्री ने ऊर्जा के नए स्रोतों के इस्तेमाल की भी बात उठाई। उनका कहना था कि हमें स्थानीय रूप से उपलब्ध ऊर्जा तथा अन्य साधनों का लाभ उठाना होगा। उनकी मान्यता थी कि विज्ञान खराब नहीं है। उसका इस्तेमाल करने वाले खराब हो सकते हैं। उनके भाषण का सार था कि 'वे आक्रामक विज्ञान की बजाय मानवतावादी विज्ञान के समर्थक हैं।"

विज्ञान कांग्रेस में भाग लेने वाले कुछ वैज्ञानिकों का कहना था कि प्रधानमन्त्री के भाषण में कुछ बातें बहुत नई तथा भारतीय विज्ञान को आगे बढ़ाने वाली थीं। उनके दार्शनिक दृष्टिकोण से सभी प्रभावित हुए। कुछ वैज्ञानिकों का कहना था कि प्रधानमन्त्री ने विज्ञान नीति के बारे में कुछ नहीं कहा। प्रधानमन्त्री ने अभी कार्यभार संभाला है, इसलिए उन्होंने नीति सम्बन्धी कुछ कहना शायद ठीक नहीं समझा।

ऐसी बात नहीं है कि नीति सम्बन्धी कोई बात इस विज्ञान कांग्रेस में नहीं हुई। वैज्ञानिकों तथा प्रशासकों ने देश के विज्ञान के बारे में विस्तार से चर्चा की। विज्ञान और टेक्नोलॉजी विभाग ने सम्मेलन में पेश की गई रिपोर्ट में सिफारिश की कि आठवीं पंचवर्षीय योजना के अन्त तक अनुसंधान और विकास पर खर्च दो गुना किया जाए। विभाग के सचिव ने यह भी भविष्यवाणी की कि चार महीने बाद मानसून बढ़िया होगा। शायद संसार में पहली बार यह दीर्घकालीन भविष्यवाणी की गई है। पहले भी दो बार भारतीय वैज्ञानिकों की भविष्यवाणियाँ सही हुई थीं, लेकिन वे एक मास पहले की गई थीं।

श्रीलंका के वैज्ञानिक डॉक्टर **सिरिल पूनमपेरूमा** का कहना था कि पृथ्वी के अलावा अन्य ग्रहों पर भी जीवन के चिह्न हैं। उनकी मान्यता थी कि हमारे ब्रह्माण्ड का स्वरूप विचित्र है। इसमें अब भी जीवन का निर्माण हो रहा है। शायद नब्बे के इस दशक में हमें इस बारे में प्रमाण भी मिल सकते हैं।

एक महत्वपूर्ण चर्चा इस विषय पर हुई कि हम कैसे पृथ्वी को विनाश से बचा सकते हैं। प्राकृतिक तथा मानव-निर्मित आपदाएँ हमें घेरे हुए हैं। क्या हम उनका मुकाबला कर सकते हैं और इस पृथ्वी को रहने योग्य बनाए रख सकते हैं ? वैज्ञानिकों ने अपील की कि पृथ्वी की रक्षा का एक कार्यक्रम बनाया जाए। ओज़ोन ह्रास, ग्रीनहाउस प्रभाव, जलवायु परिवर्तन, वनों का विनाश तथा घटते साधन आदमी को ही नहीं सारे ग्रह को बर्बाद कर देंगे। यदि हम अभी से कुछ नहीं करेंगे और पृथ्वी की रक्षा की चिन्ता नहीं करेंगे

तो बहुत देर हो जाएगी और हमारे सारे प्रयत्न बेकार जायँगे।

प्रसिद्ध जीवनशास्त्री **डॉ० पुष्प भार्गव** ने चेतावनी दी कि भविष्य में जैविक तथा रासायनिक हथियार, परमाणु हथियारों से अधिक विनाशकारी सिद्ध होंगे।

उन्होंने कहा कि भारतीय वैज्ञानिक ये विनाशकारी हथियार बना सकते हैं, लेकिन हमारा ऐसा कोई कार्यक्रम नहीं हैं। उनका कहना था कि हमें आधुनिक विज्ञान पर ज़ोर देना होगा, नहीं तो विज्ञान कांग्रेस की कोई सार्थकता नहीं रहेगी। उन्होंने विज्ञान कांग्रेस में युवा वैज्ञानिकों की अनुपस्थिति की भी शिकायत की। उनका कहना था कि 70 प्रतिशत अनुसंधान जीवन, विज्ञान, अंतरिक्ष विज्ञान, रसायनशास्त्र तथा परमाणु विज्ञान में हो रहा है, लेकिन विज्ञान कांग्रेस में इन विज्ञानों पर कोई विचार-विमर्श नहीं हुआ।

इस बार की विज्ञान कांग्रेस को इस अर्थ में महत्यपूर्ण कहा जाएगा कि इसने विज्ञान को एक नई दिशा दी है। इसने देश की स्वतन्त्रता तथा गुटनिरपेक्षता को कायम रखने के लिए वैज्ञानिक खोज को बढ़ावा देने पर बल दिया है। भारतीय विज्ञान कांग्रेस के अध्यक्ष **प्रोफेसर यशपाल** का कहना था कि यदि विकसित देश कापीराइट तथा पेटेंट कानूनों में "घुसपैठ" करेंगे तो देशों में आविष्कारों की रक्षा करना मुश्किल हो जाएगा। उनका कहना था कि पश्चिमी बौद्धिक सम्पति अधिकार इन्हीं देशों की बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की सुरक्षा के लिए है।

विज्ञान कांग्रेस की एक और उपलब्धि वैज्ञानिकों तथा सामाजिक वैज्ञानिकों में सम्पर्क स्थापित करवाने में रही। आशा प्रकट की गई कि कोचीन में जो विचार-विमर्श हुआ उसका प्रभाव राष्ट्रीय नीतियों पर पड़ेगा। अब विज्ञान, शिक्षा तथा टेक्नोलॉजी के लिए समर्थन बढ़ाना होगा। हम विज्ञान और टेक्नोलॉजी को केवल शिक्षा का एक अंग बनाकर चुप नहीं बैठ सकते। विज्ञान कांग्रेस ने "समाज में विज्ञान" के विचार को पूरी तरह सार्थक बनाया है। □□

(इस्वा फीचर्स)

5 जून विश्व पर्यावरण दिवस पर

समुद्री पर्यावरण : समस्यायें एवं समाधान

राजेश कुमार केसरी

समुद्र हमारे पृथ्वी के लगभग 70 प्रतिशत भाग को घेरे हुए है। समुद्र पर्यावरण से जुड़ी हुई समस्यायें पिछले दशक की नई समस्या नहीं है। समुद्र हमसे हज़ारों मील दूर क्यों न हो, प्रकृति को इस विशाल धरोहर में हम अमृत घोलें या विष, परिणाम तो हमें भुगतने ही पड़ेंगे। पिछले कुछेक वर्षों में समुद्री पर्यावरण काफी प्रदूषित हुआ है। तेल, हथियार तथा दूसरे मालवाहक जहाज़ों की दुर्घटनाओं से समुद्र-जल दिन-प्रतिदिन प्रदूषित होता जा रहा है।

प्राचीन कथाओं में समुद्र को 'रत्नाकर' भी कहा गया है। समुद्र अपने गर्भ में हमारे लिए बहुमूल्य और उपयोगी वस्तुएँ छिपाये हुए है। समुद्री जीव-जन्तुओं से विविध प्रकार की ओषधियाँ, कीटनाशक दवाएँ, औद्योगिक रसायन, उर्वरक आदि प्राप्त किये जाते हैं। हमारे निकटवर्ती समुद्री क्षेत्र में भी ऐसे जीव-जन्तु पाए जाते हैं। भारत और अमेरिका की संयुक्त 'भारत-अमेरिका परियोजना' के अंतर्गत वैज्ञानिकों ने लगभग 500 से भी अधिक ऐसे रसायन समुद्री जीव-जन्तुओं से निष्कर्षित किये हैं, जिन्हें गर्भरोधी, विषाणुरोधी आदि के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है।

समुद्र में पाये जाने वाले जीव-जन्तुओं से कुछ बहुत ही उपयोगी दवाएँ निकाली जा चुकी हैं, जैसे-कैटेबियाई स्पंजों से प्राप्त **'किस्टोसीन एरालसिनोसाइड'**। इसका उपयोग ट्यूमररोधी ओषधि में होता है। सार्दानिया के निकट मिलने वाले सूक्ष्मजीवों से **'सेफो**लो-

बी० एस-सी० तृतीय वर्ष (जीव विज्ञान); सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद–211002

स्पॉरिन' का संश्लेषण किया गया है। इससे हृदय-प्रत्यारोपण जैसी शल्य-चिकित्सा आसानी से हो जाती है। घेघा रोग (Goiter) में बहुत से शैवालों का उपयोग करते हैं, जिससे आयोडीन की कमी पूरी होती है। एड्स (AIDS) की सर्वाधिक प्रचलित औषधि **'एजीडोथाईमीर्डीन'** एक विशेष प्रकार की समुद्री मछली के शुक्राणुओं से प्राप्त होती है। समुद्र में बहुत प्रकार के पॉलीकीट निवास करते हैं। इनमें से कुछ पॉलीकीटों की विशेष जाति **थिबोपस सिटोसस** से **'थिलेपिन'** नामक पदार्थ निकाला जाता है जो एक शक्तिशाली फफूँदी-प्रतिरोधी पदार्थ है। कुछ विषैले पदार्थ यथा **टेट्रोडोटॉक्सिन'** वफर मछली तथा समुद्री मछली से प्राप्त किया जाता है।

समुद्री जल के प्रदूषित होने के मुख्य कारण हैं, नदी से लाई हुई विभिन्न प्रकार की गन्दगियाँ, उद्योगों के अवांछित पदार्थ एवं मल-जल का विसर्जन, समुद्र में तेल-वाहक जहाज़ों का दुर्घटनाग्रस्त होना आदि। इसके साथ ही हमारा समुद्रतटीय पर्यावरण मनुष्य की बढ़ती हुई आबादी, बन्दरगाह, बड़े पैमाने पर यांत्रिक प्रक्रिया तथा औद्योगिकीकरण एवं पर्यटन से प्रदूषित हो रहा है।

भूगर्भीय तेल की खोज में लगे जहाज़ समुद्र के प्रदूषण का सबसे प्रमुख कारण हैं। तेल का पता लगाने में बहुत सा तेल जो हानिकारक पदार्थों से युक्त होता है, समुद्र जल में मिल जाता है। सारी नदियाँ अपना अस्तित्व समुद्र में ही खोती हैं, जो साथ में गन्दगियाँ तथा बहुत से हानिकारक पदार्थ समुद्र में विसर्जित करती हैं। ज़्यादातर उद्योग-धंधे नदी और समुद्र के किनारे ही स्थापित किये जाते हैं। उद्योगों से निकलने वाले उत्सर्जित पदार्थ जिसमें कच्चा तेल, कैडमियम, जस्ता, सीसा, आर्सेनिक आदि, समुद्र जल में मिल कर उसे प्रदूषित करते जा रहे हैं। मल-जल के भी लगातार समुद्र में विसर्जन से समुद्र-जल प्रदूषित हो जाता है। स्वीडेन से प्रकाशित 'एम्बायो' नामक पत्रिका के एक अंक में तो यह सूचना प्रकाशित है कि इस गंदे समुद्री जल में स्नान करने से बहुत सी घातक बीमारियाँ जैसे टी० बी० (यक्ष्मा), कालरा आदि घर कर जाती हैं।

समुद्र के बिना हमारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अधूरा रह जाता है। इधर कुछ वर्षों में तेल, कीटनाशक तथा प्रदूषण फैलाने वाले पदार्थों से लदे माल-वाहक जहाज़ तेज़ी से दुर्घटनाग्रस्त हुए हैं, जिससे दुनिया में चिंता की लहर दौड़ गई है। पिछले वर्ष 7 अप्रैल को नार्वे के तट के पास एक रूसी 'माइक' पनडूब्बी डूब गई थी, जिसमें 42 लोग मर गये थे। 26 जून तथा 16 जुलाई को नार्वे के ही समुद्र तट के पास एक रूसी पनडुब्बी की अणु भट्टी खराब हो गई थी तथा एक रूसी पनडुब्बी में आग लग गई थी। दिसम्बर 1989 में रूसी नौसेना की एक आणविक पनडुब्बी दुर्घटना का शिकार हो गई थी। यद्यपि दुर्घटना में कोई मरा नहीं परन्तु आस-पास का बड़ा समुद्री क्षेत्र प्रभावित हो गया था। मई 1990 में ब्रिटेन की एक मछली पकड़ने वाली नौका लेबनान में पंजीकृत एक तेल टैंकर, जो कारम की खाड़ी से कोरडम जा रहा था, के बीच इंग्लिश चैनेल में टक्कर हो गई जिससे करीब एक हज़ार टन तेल समुद्र में बिखर गया। समुद्र की सतह पर तेल फैल जाने से बाहरी वातावरण से सीधे सम्पर्क टूट जाता है फलस्वरूप उस क्षेत्र में निवास करने वाले जीव-जन्तुओं की मृत्यु होने लगती है।

समुद्री जल खारा (नमकीन) होता है। शुद्ध जल की अपेक्षा इसमें 3.5% ज़्यादा खारापन होता है। समुद्र-जल में मुख्य रूप से क्लोराइड, सल्फेट, बाइकार्बोनेट, कार्बोनेट, ब्रोमाइड, सोडियम, मैग्नीशियम, कैल्सियम, पोटैशियम लवण मिलते हैं। इसमें सोडियम क्लोराइड बहुत ज़्यादे मात्रा में होता है। मुख्य रूप से इसी की वजह से समुद्र का जल खारा होता है। समुद्र जल से ही हम नमक का निर्माण विभिन्न विधियों द्वारा करते हैं। समुद्र के इस विशाल क्षेत्र को हम दो मुख्य भागों में विभाजित करते हैं—

(1) पेलाजिक क्षेत्र (Pelagic zone)—पूरा बाहरी पानी का भाग।

(2) बेन्थिक क्षेत्र (**Benthic zone**)—तलहटी का भाग।

पेलाजिक क्षेत्र में बेन्थिक क्षेत्र की अपेक्षा ज्यादा जीव-जन्तु पाये जाते है। इस क्षेत्र में शैवाल, कुछ जीवाणु (बैक्ट्रिया) तथा कभी-कभी कवक (फंजाई) भी पाये जाते हैं। इसके ऊपर वाले विकसित पादप समूहों—ब्रायोफाइटा, टेरिडोफाइटा, जिम्मोस्पर्म (नग्न-बीजी तथा एन्जियोस्पर्म (आवृतबीजी) के सदस्य इस क्षेत्र में नहीं मिलते हैं। पेलाजिक क्षेत्र में फाइटोप्लें-क्टान (अति सूक्ष्म तैरने वाले पादप) जैसे—डाइएटम, डाइनोफ्लैजलेट्स तथा इसके अतिरिक्त सुनहले-भूरे शैवाल, हरी शैवालें आदि मिलती हैं, जो कार्बनिक कार्बन तथा ऑक्सीजन बहुत ज्यादा मात्रा में उत्पन्न करती हैं। इसी से जीव-जन्तु अपनी ऑक्सीजन की आवश्यकता पूरी करते हैं। कुछ समुद्री खर-पतवारें (**Sea weeds**) यथा **सारगासम** भी तैरती अवस्था में मिलती हैं। समुद्र के ऊपरी भाग में समुद्री कशेरुक जैसे—बोनी फिश, शार्क, समुद्री कछुआ तथा व्हेल आदि जन्तु मिलते हैं। साँस लेने वाले जन्तुओं में कछुआ और व्हेल वहाँ बहुतायत में मिलते हैं जहाँ प्रकाश आसानी से पहुँच जाता है। इसके अलावा मछलियाँ ऊपरी भाग से नीचे तक तैरती हुई मिलती हैं। समुद्र की निचली सतह (बेन्थिक क्षेत्र) में काफी अँधेरा होता है और इस क्षेत्र में रह रहे जन्तु ऊपरी सतह के मृत्य अवशेष पदार्थों (कार्बनिक पदार्थों) को अपने उपयोग में लाते हैं। इसके अतिरिक्त समुद्र में लगभग एक लाख मोलस्क (**Mollusk**) की जातियाँ जैसे—सीप, घोंघे, ऑक्टोपस आदि, सीलेन्ट्रेटा वर्ग के जन्तुओं में मूँगा (कोरल), जेलीफिश और सी-एनीमोन की लगभग ग्यारह हज़ार विभिन्न जातियाँ पाई जाती हैं। अगर हमारा समुद्री पर्यावरण इसी तरह निरन्तर प्रदूषित होता रहा तो वह समय दूर नहीं जब इन जीव-जन्तुओं का अस्तित्व ख़तरे में पड़ जायेगा।

समुद्री पर्यावरण की सुरक्षा में समुद्र प्रदूषण से जूझती दो संस्थाओं का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। एक '**ग्रीन पीस**' (हरित शांति) एवं दूसरी '**आई० एम० ओ०**' (विश्व सामुद्रिक संगठन)। 'आई० एम० ओ०' संयुक्त राष्ट्र की एक संस्था है। इसकी स्थापना 1948 में समुद्र में बढ़ते हुए प्रदूषण को रोकने के लिए की गई थी। इस संस्था का मुख्य काम है समुद्र प्रदूषण से उत्पन्न ख़तरे बताने वाली प्रचार सामग्री तथा जानकारी उपलब्ध करना, विभिन्न देशों की सर-कारों के बीच सामंजस्य स्थापित करना, परिप्रेक्ष्य में अंतर्राष्ट्रीय समझौते कराना आदि। इस संगठन ने सन् 1980 में दो समझौते कराये जिसमें समुद्र में जीवन सुरक्षा के लिए प्रतिज्ञापन तथा समुद्री मुठभेड़ों पर प्रतिबंध है।

12 राष्ट्रों का संगठन 'ग्रीन पीस' एक और समुद्र प्रदूषण से जूझती संस्था है। इसकी स्थापना दो दशक पूर्व 1970 में हुई थी। 'ग्रीन पीस' भी समुद्र को पर-माण्विक प्रदूषण से बचाने की पूरी कोशिश कर रहा है। 'ग्रीन पीस' अटलांटिक और प्रशांत महासागरों में विषैले पदार्थों के फेंके जाने पर अपना सख्त विरोध दर्ज करता रहा है। इसके आर्थिक स्रोत सीमित होने के बावजूद भी यह विश्व भर का ध्यान अपनी ओर खींचने में सफल रहा है। गत वर्ष यूरोप में 'ग्रीन पीस' ने रिपोर्ट दी थी कि किसी अन्य देश के मुकाबले रूसी नौसेना में सबसे ज्यादा दुर्घटनाएँ हुई हैं। 'आई० एम० ओ०' तथा 'ग्रीन पीस' ने अब तक 250 से अधिक समुद्र प्रदूषण विरोधी प्रस्तावों को प्रसारित कर विश्व को अगाह कर दिया है। इसके अतिरिक्त समुद्र प्रदूषण को कम करने के लिए देश विशेष जो भी नियम बनाये वे नियम उस देश के तटीय क्षेत्रों में रह रहे लोगों की सहमति से बनाये। समुद्रों में चलने वाले जहाज़ों पर एक निश्चित मीट्रिक प्रणाली वाले भार से ज्यादा माल न ढोये जायें, कुछ मानक संकेत और शब्दावली का प्रयोग करें जिससे जहाज़ों में आपस में टक्कर न हो।

समुद्र की समस्या सारे विश्व की समस्या है। इसका समाधान विश्व स्तर पर होना चाहिए, क्योंकि समुद्र नहीं तो वर्षा नहीं, वर्षा नहीं तो जीवन नहीं। लेकिन समुद्र है तो हमारा जीवन है। यदि इस संपदा का उपयोग मानव हित में न किया गया तो परिणाम बुरे होंगे। हमें अपने किए पर पछताने के सिवा और कुछ हाथ न लगेगा। आइए आज 5 जून विश्व पर्या-वरण दिवस के अवसर पर हम संकल्प लें कि हम अपने समुद्रों को और अधिक प्रदूषित न होने देंगे वरन् आज समुद्र जिस प्रदूषित अवस्था में हैं उससे मुक्त भी करेंगे। इतिहास साक्षी है कि मानव ने अपने संकल्प से पहले भी बड़े-बड़े काम किए हैं और आज भी मानव में कुछ करने का अदम्य साहस और अनन्त ऊर्जा है। □□

विज्ञान वक्तव्य

सुधी पाठकजन !

आपके हाथों में 'विज्ञान' का जून-जुलाई अंक देते हुए मुझे एक बात की प्रसन्नता है कि अंक आपके पास समय से पहुँच रहा है, वरना इलाहाबाद की गर्मियों में प्रेस जिस तरह खस्ताहाल रहते हैं उसमें मुद्रण समय से हो जाना आश्चर्य ही है। इस अंक के लेखों में पर्यावरण सम्बन्धी लेखों के साथ ही साथ आपको अन्य वैज्ञानिक विषयों पर भी लेख पढ़ने को मिलेंगे।

पर्यावरण की बात चली तो हाल ही में वाशिंगटन में विश्व पर्यावरण पर हुई गोष्ठी की याद ताज़ा हो आई, जिसे संयुक्त राज्य अमेरिका की सीनेट ने स्पांसर किया था। इस संगोष्ठी को संबोधित करते हुए प्रसिद्ध वैज्ञानिक **कार्ल सागन** ने चिन्ता व्यक्त की कि यदि विश्व के बढ़ते तापक्रम पर नियंत्रण नहीं किया गया तो इसके परिणाम बुरे होंगे। यदि हम वातावरण में कार्बन डाइ ऑक्साइड की लगातार बढ़ती मात्रा नहीं घटायेंगे तो अत्यधिक संख्या में 'पर्यावरणीय शरणार्थी' उत्पन्न हो जायेंगे। कार्बन डाइ ऑक्साइड से उत्पन्न 'हरित पौध गृह प्रभाव' (ग्रीन हाउस इफेक्ट) और क्लोरोफ्लोरोकार्बन्स से 'ओज़ोन की चादर के झीने होने' से ताप में वृद्धि होगी। डॉ० सागन ने चेतावनी दी कि ऐसे देखने में तो ताप थोड़ा ही बढ़ा लगता है, किन्तु परिणाम ख़तरनाक होंगे। अगली शताब्दी, जो निकट ही है, में ध्रुवों की बर्फ़ पिघलेगी, समुद्रों का जल स्तर ऊपर उठेगा, समुद्रतटीय क्षेत्र डूब जायेंगे, कृष्य भूमि मरुस्थलों में बदल जायेगी और घातक पराबैंगनी किरणें पेड़-पौधों-वनस्पतियों तथा जीव-जन्तुओं सहित मनुष्यों को भी प्रभावित किये बिना नहीं रहेंगी। डॉ० सागन ने कहा कि मनुष्य की सफलता का रहस्य है उसकी बुद्धि, उसका विवेक। और इन्हीं के सहारे मानव निश्चय ही समस्याओं के समाधान ढूँढ़ निकलेगा।

30 मई को विज्ञान परिषद् प्रयाग के विशाल सभागार में 'डॉ० आत्माराम स्मृति व्याख्यान' का तृतीय व्याख्यान सम्पन्न हो गया। यह व्याख्यान देश के चोटी के रसायनज्ञ और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति **डॉ० रघुनाथ प्रसाद रस्तोगी** ने दिया। डॉ० रस्तोगी के व्याख्यान का विषय था—'अनियंत्रित तंत्रों में भी व्यवस्था—विज्ञान की नई दृष्टि।'

समारोह के प्रारम्भ में परिषद् के प्रधान मन्त्री **प्रो० हनुमान प्रसाद तिवारी** ने मुख्य अतिथि प्रो० रस्तोगी, **सभाध्यक्ष श्री राम सहाय**, पूर्व कुलपति, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, **प्रो० चन्द्रिका प्रसाद एवं** अन्य गण्यमान्य अभ्यागतों का स्वागत करते हुए इस व्याख्यानमाला के इतिहास और **डॉ० आत्माराम के** जीवन पर प्रकाश डाला। इसके बाद डॉ० रस्तोगी ने स्वर्गीय डॉ० आत्माराम को भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

डॉ० रस्तोगी ने बताया कि उनके व्याख्यान से सम्बन्धित अनुसंधान बीसवीं शती के उत्तरार्ध में प्रारंभ हुए हैं और अब इस विषय पर विश्व के अनेक देशों में शोध हो रहा है।

डॉ० रस्तोगी ने अपने विद्वतापूर्ण व्याख्यान में नये और प्राचीन अनेक प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के अनुसंधानों का उल्लेख किया और बताया कि बादल, आसमान में चमकने वाली बिजली और लंदन के समुद्रतट अनियंत्रित तन्त्रों के उदाहरण हैं। किन्तु सूक्ष्म अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि अनियंत्रित तंत्रों में भी एक प्रकार की व्यवस्था होती है। डॉ० रस्तोगी ने यह विचार व्यक्त किया कि हिन्दी समृद्ध भाषा है और हिन्दी के माध्यम से जटिल से जटिल वैज्ञानिक विषयों को भी समझाया जा सकता है। बिजली गुल थी फिर भी डॉ० रस्तोगी का व्याख्यान एक घन्टे तक चला और श्रोता मन्त्रमुग्ध से सुनते रहे। इस समारोह की अध्यक्षता श्रीराम सहाय जी ने और कृतज्ञता ज्ञापन डॉ० चन्द्रिका प्रसाद ने किया।

पिछले दिनों लखनऊ में 'आर्य समाज' की एक सभा को सम्बोधित करते हुए 'आर्य समाज' के प्रचारक, वेदों के प्रकाण्ड विद्वान और प्रसिद्ध वैज्ञानिक स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती ने यह इच्छा व्यक्त की कि उनके देहावसान के बाद उनके शरीर की अस्थियाँ अनुसंधान के लिए किसी मेडिकल कॉलेज को दे दी जायें। विज्ञान की ऐसी सेवा बिरले ही कर पाते हैं। आज के युग के इस 'दधीचि' को शत-शत प्रणाम।

पिछले लगभग दो माह 'विज्ञान परिषद् प्रयाग' के लिए अच्छे सिद्ध हुए। 7 अप्रैल को 'विश्व स्वास्थ्य दिवस', 22 अप्रैल को 'विश्व पृथ्वी दिवस' और 5 जून को 'विश्व पर्यावरण दिवस' पर विचार-गोष्ठियाँ सम्पन्न हुईं। 30 मई को 'डॉ० आत्माराम स्मृति व्याख्यान माला' का तृतीय व्याख्यान सम्पन्न हुआ। इस प्रकार कुल मिलाकर पिछले दो माह का समय सन्तोषप्रद रहा।

शुभ कामनाओं सहित

आपका

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

विज्ञान विस्तार

हिन्दी की त्रैमासिक विज्ञान पत्रिका "वैज्ञानिक" के शुल्क में वृद्धि

छपाई में हुई तीव्र वृद्धि के कारण दिनांक 1.4.1990 से वैज्ञानिक की एक प्रति का मूल्य 5 00 रु० होगा। पत्रिका के नियमित ग्राहकों के लिए शुल्क दरें इस प्रकार हैं :

व्यक्तिगत : 15 रू० (एक वर्ष), 40 रू० (तीन वर्ष)
संस्थागत : 25 रू० (एक वर्ष), 70 रू० (तीन वर्ष)

हिंदी विज्ञान साहित्य परिषद् का सदस्यता शुल्क 1.4.1990 से निम्नलिखित होगा।

व्यक्तिगत : 15 रू० (एक वर्ष), 100 रू० आजीवन)
संस्थागत : 25 रू० (एक वर्ष), 250 रू० (आजीवन)
प्रवेश शुल्क रू० 1.00 अलग

हिंदी विज्ञान साहित्य परिषद् के सदस्यों को वर्तमान नियमों के अनुसार 'वैज्ञानिक' निःशुल्क भेजी जाती है।

हिन्दी विज्ञान साहित्य परिषद्, सूचना प्रभाग, सेन्ट्रल काम्पलेक्स, भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र, बम्बई—400085

समय के साथ बढ़िए **'आविष्कार'** पढ़िए

नेशनल रिसर्च डिवेलपमेंट कारपोरेशन द्वारा प्रकाशित विज्ञान और प्रोद्योगिकी की लोकप्रिय मासिकी जो सिर्फ 3 रुपए में आप तक लाती है—

0 वैज्ञानिक अनुसंधानों 0 प्रौद्योगिक विकासों 0 नए आविष्कारों 0 नई स्वदेशी प्रौद्योगिक विधियों 0 नए विचारों0 नए उत्पादों 0 नई तकनीकों तथा विज्ञान के अनेक पहलुओं पर

रोचक जानकारी—ढेर सारी।

हर माह विशेष आकर्षण : हम सुझाएँ आप बनाएँ

विज्ञान में रुचि रखने वाले सभी जागरूक पाठकों, विद्यार्थियों, अध्यापकों, आविष्कारकों, वैज्ञानिकों, इंजीनियरों और निजी उद्योग लगाने वालों के लिए समान रूप से उपयोगी

वार्षिक मूल्य 30 रुपए, सदस्यता शुल्क मनीआर्डर/पो० आर्डर/बैंक ड्राफ्ट से भेजें।

प्रबन्ध निदेशक

नेशनल रिसर्च डिवेलपमेंट कारपोरेशन (भारत सरकार का उपकम)

'अनुसंधान विकास' 20-22 जमरूदपुर सामुदायिक केन्द्र

कैलाश कालोनी एक्सटेंशन, नई दिल्ली—110048

विज्ञान

पर्यावरण पर विशेष सामग्री

परिषद् की मुख पत्रिका
अगस्त-सितम्बर 1990
5 रुपये

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

5 जून 'विश्व पर्यावरण दिवस' पर

पर्यावरणीय मुद्दों में बढ़ती रुचि

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

माननीय अध्यक्ष जी, विद्वज्जन एवं युवा मित्रो !

आज 5 जून को 'विश्व पर्यावरण दिवस' के अवसर पर पर्यावरण के हितचिंतन के ध्येय से परिषद् पुस्तकालय कक्ष में पधारे आप सभी का मैं 'विज्ञान परिषद् प्रयाग' की ओर से और अपनी ओर से हार्दिक स्वागत करता हूँ। मेरा प्रणाम स्वीकार करें।

अभी गत माह 7 अप्रैल को 'विश्व स्वास्थ्य दिवस' और 22 अप्रैल को 'विश्व पृथ्वी दिवस' पर इसी कक्ष में हम पर्यावरण को लेकर विचारों का आदान-प्रदान कर चुके हैं। आज आपसे मेरा विनम्र निवेदन है कि आप पर्यावरण संबंधी किसी एक समस्या को लें और संक्षेप में, 5-6 मिनट में, अपने विचार रखने की अनुकम्पा करें। इससे जहाँ एक ओर विषय में विविधता आयेगी वहीं दूसरी ओर हमें आपके विचारों को लेख के रूप में प्रकाशित करने में भी सुविधा होगी। इस प्रकार की विचार-गोष्ठियों में हमारा सदैव यह प्रयास रहता है कि अधिक से अधिक लोग अपने विचारों को व्यक्त करें।

पर्यावरण अब अगली पीढ़ी के लिए भविष्य का मुद्दा नहीं रहा। पर्यावरण अचानक ही सभी की चिंता का विषय हो गया है। निर्वनीकरण, अम्लवर्षा, हरित पौधगृह प्रभाव से पृथ्वी का गर्म होना, क्लोरोफ्लोरो-कार्बन्स के कारण ओज़ोन की छतरी में छेद होना जैसे संकट ऐसे हैं जिनसे विश्वव्यापी परिवर्तन होंगे। अतएव अब ये समस्यायें शोध-पत्रिकाओं के पन्नों से निकल कर सारे संसार में वैज्ञानिक संगोष्ठियों, विधेयकों और जन-आन्दोलनों का रूप ले चुकी हैं। पर्यावरण आम बाज़ारों से लेकर राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय राज-नीति का मुख्य मुद्दा बन चुका है।

कुछ क्षेत्रों में तो पर्यावरण की इतनी अधिक क्षति हुई है कि क्षतिपूर्ति हेतु युद्ध-स्तर का आर्थिक व्यय करना पड़ेगा। वास्तविकता यह है कि कहीं-कहीं स्थिति इतनी नाज़ुक है कि सैनिक कार्यवाही की आवश्यकता प्रतीत होती है। किन्तु जनसंख्या विस्फोट, रेगिस्तानीकरण, मृदा-क्षरण, भोजन और जल का अभाव, ग़रीबी और महामारियों जैसे संकटों के समाधान सेना के पास निश्चय ही नहीं हैं। इन समस्याओं का समाधान तो तब है जब सरकारें अपनी कार्य-प्रणाली में सुधार लायें, आपसी संघर्ष के मार्ग को त्यागकर शांति का वरण करें ताकि सार्वजनिक पर्या-वरणीय समस्याओं के समाधान को सर्वोच्च वरीयता प्राप्त हो सके। अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरणीय समस्याओं का समाधान विश्वस्तर पर ही संभव है। प्रकृति अपना कार्य कैसे संपादित करती है इससे संबन्धित सभी प्रश्नों के उत्तर हमारे पास नहीं हैं। अतः हमारी सबसे बड़ी ज़रूरत है प्रकृति को समझने की। हमारी समस्त योजनायें ऐसी होनी चाहिए जिससे पारिस्थितिक तंत्र को क्षति न पहुँचे और प्रकृति का संतुलन बना रहे। माना जाता है कि यह युग विज्ञान का युग है। किन्तु आज भी विज्ञान और समाज के बीच गहरी खाई है। हमें इस खाई को पाटना होगा। जब तक विज्ञान का प्रकाश आम लोगों तक नहीं पहुँचेगा तब तक आदि-वासियों से यह आशा करना कि वे जंगल नहीं कटने देगें, व्यर्थ है। जंगलों के कटने से वर्षा के अभाव में कहीं सूखा पड़ता है, कहीं मरुभूमि का विस्तार होता है, तो कहीं अतिवृष्टि भूमि की ऊपरी पोषक पर्त अपने साथ बहा ले जाती है, इसका ज्ञान उन्हें कैसे होगा? मोटर वाहनों और कोयले तथा लकड़ी के दहन से वायु में कार्बन डाइऑक्साइड, कार्बन मोनो ऑक्साइड; सल्फर डाइऑक्साइड जैसी विषैली गैसें छोड़ी जाती हैं जो अनेक रोगों को जन्म देती हैं, इस ख़तरे की गंभीरता वे भला कैसे समझ पायेंगे?

आज मानवता के सम्मुख जो सबसे बड़ा संकट है वह निरंतर बढ़ती जनसंख्या का है। यदि मनुष्यों की आबादी इसी गति से बढ़ती रही तो आने वाले 40-50 वर्षों में विश्व जनसंख्या 5 बिलियन से बढ़कर 10

बिलियन हो जायेगी। इसमें 90 प्रतिशत तीसरी दुनिया के लोग होंगे और उसके 90 प्रतिशत शहरों के निवासी। फिर शहरों में कैसी भीड़ होगी, इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है। जरा सोचिए हम किधर जा रहे हैं? प्रगति की ओर अथवा विनाश की ओर? इस नैराश्य में कहीं आशा की भी कोई किरण है क्या?

मेरा निश्चित मत है कि आशा है? आज पर्यावरण को लेकर सारे संसार में लोग जितने चिंतित हैं, उससे ऐसा लगता है कि हमें—मानव जाति को—अपनी भूल का एहसास हो चुका है और भूल सुधार के लिए हम कृत संकल्प हैं। आवश्यकता है एक नये सोच की, एक नये दर्शन की, जिसमें हम समस्त जीव-जन्तुओं, पेड़-पौधों-वनस्पतियों, वायु-जल के साथ तालमेल बिठा कर रहें।

इन शब्दों के साथ एक बार मैं पुनः आपका स्वागत करते हुए आपसे निवेदन करूँगा कि आप अपने विचार अवश्य व्यक्त करें। अध्यक्षजी की अनुमति से मैं पहले वक्ता को अपने विचार प्रस्तुत करने के लिए आमंत्रित कर रहा हूँ······ □□

5 जून 'विश्व पर्यावरण दिवस' पर

पर्यावरण संरक्षण की आवश्यकता

दिनेश मणि

पर्यावरण-प्रदूषण की समस्या अब एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बन चुकी है। अभी तक हम विकसित देशों को इसके लिये दोषी ठहराते रहे हैं, किन्तु विकासशील देश भी इस समस्या को भयावह रूप देने में पीछे नहीं हैं। हमने विकसित देशों को अपना आदर्श माना है और विकास की दौड़ में शामिल होकर पर्यावरण को होने वाले नुकसान की अनदेखी की है। फलस्वरूप विभिन्न प्रकार की समस्यायें हमारे सामने खड़ी हो गयी हैं।

शुरुआत मिट्टी से ही करते हैं। समस्त वनस्पतियों, जीव-जन्तुओं के जीवन का आधार यह मिट्टी आज तेजी से अपनी उर्वरा-शक्ति खो रही है। 26 करोड़ 60 लाख हेक्टेयर क्षेत्र का एक तिहाई भाग वनों की कटाई, जल के जमाव या मिट्टी के खारेपन के कारण उपजाऊ नहीं रह गया है और अन्य एक तिहाई हिस्सा कुछ अन्य कारणों से केवल आंशिक तौर पर ही उपजाऊ है। अतः शेष बचे क्षेत्रफल को नुकसान से बचाना और भी अनिवार्य हो जाता है। पर्यावरण विभाग के अनुमान के अनुसार प्रतिवर्ष छह अरब टन ऊपरी मिट्टी बहकर समुद्र में चली जाती है। बाढ़ और सूखे की आशंका वाले क्षेत्रों में भी लगातार वृद्धि हो रही है।

मिट्टी में कूड़े-कचरे एवं अन्य अपशिष्ट पदार्थों के मिलने से 'मिट्टी-प्रदूषण' की समस्या उत्पन्न हो गयी है। आजकल सघन खेती कार्यक्रम के अन्तर्गत रासायनिक उर्वरकों, पेस्टीसाइड्स आदि का बहुतायत से प्रयोग हो रहा है। इनके अवशेष पदार्थ बहते हुये नालों आदि से जलस्रोतों में मिलकर उन्हें प्रदूषित करते हैं। शहरों के गन्दे नालों में बहने वाले मल पदार्थ युक्त जल (सीवेज-स्लज) से सिंचाई करने पर मिट्टी में कैडमियम, क्रोमियम, निकिल, मरकरी, जस्ता, लैड अदि विषैली भारी वस्तुओं की मात्रा बढ़ जाती है जो मिट्टी की भौतिक दशा, फसलोत्पादन और अन्ततः मनुष्यों एवं जानवरों द्वारा ऐसी फसलों के उपभोग करने पर उनके स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं।

जल भी एक महत्वपूर्ण संसाधन है, किन्तु विभिन्न उद्योग जैसे कि राजस्थान की कपड़ा छपाई और रंगाई मिलों से, तमिलनाडु और उत्तर प्रदेश में चमड़ा उद्योग और केरल में नारियल के रेशे की प्रोसेसिंग का

शोध छात्र, शीलाधर मृदा विज्ञान संस्थान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद–2

काम जल को प्रदूषित कर रहे हैं। एक सर्वेक्षण से पता चला है कि देश का लगभग 70% भूगर्भीय जल मानव उपयोग के लिये अनुपयुक्त हो चुका है। देश में 36 करोड़ व्यक्तियों को पीने का साफ़ पानी उपलब्ध नहीं है।

जहाँ तक वनों की स्थिति है, इनका सर्वनाश जारी है। छः योजनाओं की अवधि में विकास से हमें जो बड़ा नुकसान हुआ है वह हमारी वन सम्पदा का नुकसान है। साथ ही सातवीं योजना का जो प्रारूप है वह भी त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि इसमें कहा गया है कि देश के भौगोलिक क्षेत्र का 23% (सत्तर करोड़ हेक्टेयर) वनों से आच्छादित है और बिना समय तय किये 33% क्षेत्र (10 करोड़ हेक्टेयर) के वन आच्छदन का लक्ष्य रखा गया है। अंतरिक्ष विभाग की राष्ट्रीय रिमोट सेंसिग एजेन्सी के अनुसार अच्छे वनों का 15 लाख हेक्टेयर वार्षिक ह्रास हुआ, जिससे हमारा वास्तविक वन क्षेत्र 3 करोड़ 30 लाख हेक्टेयर रह गया है। 30 वर्ष के योजना काल में वन रोपण की दर एक लाख 20 हज़ार हेक्टेयर रही है। यानि हर वर्ष 13 लाख हेक्टेयर वन क्षेत्र की कमी हो रही है।

पर्यावरण की बात करते समय वन्य जन्तुओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि ये भी पर्यावरण के ही घटक हैं और इसे स्वच्छ रखने में इनकी भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण है। ये कई तरह के प्रदूषण को समाप्त करते हैं। परन्तु स्वतन्त्रता के पूर्व इनका मानव द्वारा स्वार्थवश बड़ी संख्या में वध किया गया। फलस्वरूप भारतीय चीता जैसी तीव्रगामी प्रजाति तो विलुप्त हो चुकी है, जिसे भावी पीढ़ियाँ कभी नहीं देख सकेंगी।

अतः स्पष्ट है कि स्वच्छ पर्यावरण हेतु पारिस्थितिकीय संतुलन भी आवश्यक है। इसके लिये वैज्ञानिक विकास का लाभ उठाते हुये ऐसे उपाय किये जाने की आवश्यकता है जिससे पर्यावरण भी स्वच्छ होता रहे। पर्यावरण संरक्षण के सन्दर्भ में घरेलू सफाई, जनसंख्या नियंत्रण, कल-कारखानों में प्रदूषण नियंत्रक संयन्त्र लगाना, ऊर्जा के प्रदूषण रहित वैकल्पिक स्रोतों को विकसित करना आवश्यक है। किन्तु सबसे प्रभावशाली, सस्ता, सुलभ तथा स्थायी उपाय वर्तमान वनों की सुरक्षा और वृक्षारोपण कार्य हैं। हालाँकि वनों के कटान पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाना व्यावहारिक नहीं है, फिर भी मनुष्य को अपनी प्रवृत्ति में बदलाव लाकर नैतिकता, दूरदर्शिता, संयम तथा नागरिक भावना से वन सम्पदा का प्रयोग करना चाहिये। यह हमारे संविधान के अनुच्छेद 51 (क) : भाग 4 (क) के अनुसार नागरिकों के मूल कर्तव्यों में से एक है। ☐☐

5 जून 'विश्व पर्यावरण दिवस' पर

आज का प्रदूषित पर्यावरण

प्रमोद कुमार शुक्ल

पर्यावरण और प्रदूषण आजकल एक दूसरे के पर्याय बन गये हैं। पर्यावरण में प्रदूषण इतना बढ़ गया है कि पर्यावरण का नाम लेते ही एक हानिकारक वातावरण हमारे दिमाग़ में आ जाता है। पर्यावरण स्वस्थ या अस्वस्थ होता है। स्वस्थ पर्यावरण वह है जिसमें शुद्ध वायु का संचार हो, नदियाँ, तालाब, झरने, कुएँ आदि शुद्ध जल से भरपूर हों, मौसम नियमित हो और प्रकृति अपने घटकों से परिपूर्ण हो। कभी-कभी प्राकृतिक असन्तुलन से भी पर्यावरण प्रदूषित हो जाता है, जैसे—अतिवृष्टि, अनावृष्टि, बाढ़, भूस्खलन आदि। परन्तु इस प्रकार के प्रदूषण को प्रकृति स्वयं शुद्ध भी कर लेती है।

मानव ने अपने बहुमुखी विकास के लिए प्रकृति का भरपूर उपयोग किया है और इस सीमा तक कि अब प्रकृति स्वयं अपना संतुलन रख पाने में असमर्थ हो गयी। पर्यावरण प्रदूषण के लिए पूर्णरूप से मानव

शोध छात्र, शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान, इलाहाबाद—211002

ही ज़िम्मेदार है। परन्तु कितनी बड़ी विडम्बना है कि निरन्तर आगे बढ़ने की होड़ में जहाँ उसने विवेक का परिचय दिया है, वहीं दूसरी ओर निरन्तर प्रदूषण बढ़ा कर पृथ्वी पर जीवन के लिए ख़तरा पैदाकर अपने अविवेक का परिचय भी दिया है।

सरल जीवन बनाने के लिए भौतिक साधनों की उपलब्धि तथा औद्योगिक विकास किसी भी देश के लिए गौरव की बात है। लेकिन इन सब के साथ पर्यावरण का स्वच्छ होना भी अत्यन्त जरूरी है। आजकल जिस गति से मानव उन्नति हो रही है उसी गति से पर्यावरण प्रदूषण भी हो रहा है। प्रकृति में अत्यधिक हस्तक्षेप और परमाणु विस्फोट आदि के परिणामस्वरूप अनेक बीमारियाँ हो रही हैं। विभिन्न प्रदूषण कारकों से होने वाला पर्यावरण प्रदूषण मुख्यत: निम्न रूपों में समझा जा सकता है—

वायु प्रदूषण—कारखानों एवं मोटर वाहनों से निकला हुआ धुँआ जिसमें सल्फर डाइऑक्साइड तथा मोनोऑक्साइड जैसी विषैली गैसें होती हैं, वायु को प्रदूषित करती हैं।

हमारे देश में दिल्ली और बम्बई सर्वाधिक प्रदूषित शहर हैं। दिल्ली को तो विश्व का चौथे नम्बर का प्रदूषित शहर का खिताब मिल चुका है। कलकत्ता की भी लगभग 60% जनसंख्या वायु-प्रदूषण के कारण विभिन्न रोगों से ग्रस्त है। वायु प्रदूषण के कारण चर्म तथा नेत्र रोग, सिर दर्द तथा चक्कर आना, शिथिलता तथा श्वास रोग हो रहे हैं।

ध्वनि प्रदूषण—जल तथा वायु प्रदूषण का प्रभाव तत्काल दिखायी देता है, किन्तु ध्वनि प्रदूषण दूरगामी तथा व्यापक होता है। यह वैज्ञानिक सत्य है कि 120 डेसीबिल की ध्वनि कान और सिर दर्द पैदा करती है तथा 150 या इससे अधिक डेसीबिल की ध्वनि मानव को बहरा बना सकती है। एक कार के हार्न से 90-95 डेसीबिल, मोटरसाइकिल से 120 डेसीबिल और अन्तरिक्षयान से 140-170 डेसीबिल तक ध्वनि होती है। इससे आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है कि मानव के ऊपर तेज़ ध्वनि का कितना बुरा प्रभाव पड़ रहा है।

जल प्रदूषण—जल ही जीवन है। जल के प्रमुख स्रोत नदियाँ तथा वर्षा है। अत्यधिक शहरीकरण, परमाणु संयंत्र, तेल-शोधक, चमड़ा, उर्वरक, इस्पात आदि के कारखानों से निकले अवशिष्ट पदार्थ के बहुत बड़ी मात्रा में नदियों में प्रतिदिन विसर्जन से नदियों के पानी में लगातार विषैले पदार्थों की वृद्धि हो रही है। ये विषाक्त पदार्थ जलीय जीवों के लिए ही नहीं अपितु स्थलीय जीवों के लिए भी ख़तरा बन गये हैं।

मृदा प्रदूषण—मृदा में अत्यधिक कीटनाशकों, उर्वरकों तथा प्रदूषित जल के प्रयोग से विषैले कार्बनिक तथा अकार्बनिक तत्वों जैसे—कैडमियम, लेड, क्रोमियम, मरकरी, ज़िंक आदि की मात्रा मृदा में दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है, जिससे मृदा प्रदूषित तो होती ही है साथ ही उससे उत्पादित खाद्यान्न भी प्रदूषित हो जाते हैं। ये खाद्यान्न उपयोग किये जाने पर बीमारियाँ पैदा करते हैं।

यदि हमने बढ़ते प्रदूषण पर नियन्त्रण न किया तो वह दिन दूर नहीं जब मानव-जीवन पृथ्वी पर दूभर हो जायेगा। □□

5 जून 'विश्व पर्यावरण दिवस' पर

पर्यावरण और धूम्रपान

दर्शना नन्द

धूम्रपान के कुप्रभावों को दृष्टिगत रखते हुए धूम्रपान को विषपान कहना अनुचित न होगा। धूम्र पान करने वाले व्यक्ति को प्राय: हृदय और कैंसर जैसे घातक रोगों का शिकार होना पड़ता है। परिणाम-स्वरूप उसकी आयु कम हो जाती है और वह मृत्यु की कगार पर भी पहुँच जाता है।

उपनिदेशक, उद्यान, इलाहाबाद मण्डल (अ० प्रा०), सी-67, गुरुतेग बहादुर नगर (करेली हाउसिंग स्कीम), इलाहाबाद-211016

धूम्रपान करके मनुष्य स्वयं अपने शरीर को तो क्षति पहुँचाता ही है, साथ ही अपने मुँह से इसका ज़हरीला धुँआ निकाल कर वह वायुमण्डल को भी प्रदूषित करता है। सिगरेट पीने वाला व्यक्ति अगर रोगी है तो इसके धुँए के साथ वह वायु में रोगाणु भी छोड़ता है।

इस बीच वह केवल सिगरेट की कश का आनन्द लेने में मस्त रहता है। धूम्रपान न करने वाले व्यक्ति के लिए वायुमण्डल में छोड़े हुए इस धुँए को अपनी साँस के साथ खींचने पर वह सिगरेट पीने वाले की अपेक्षा अधिक हानिकारक होता है। फिर भी सिगरेट पीने वाले को इस बात की कतई चिन्ता नहीं होती कि यह धुँआ किसके मुँह पर जा रहा है। धूम्रपान न करने वाले कैसा महसूस कर रहे होंगे—उसे इस बात से भी कोई मतलब नहीं रहता।

इसका परिणाम यह होता है कि इस रोगयुक्त कीटाणुओं से भरे हुए ज़हरीले धुँए को वह अपने परिवार के सदस्यों को अपनी साँस के साथ खींचने के लिए विवश करता है।

लगातार धूम्रपान करने से धुँए के अवयव विटामिन-सी को नष्ट कर देते हैं। प्रयोगों द्वारा यह भी सिद्ध हो चुका है कि एक सिगरेट पीने से ही शरीर का करीब 25 मिलीग्राम विटामिन-सी निष्क्रिय हो जाता है।

प्रतिदिन 20 सिगरेट पीने वाले के सिरम में विटामिन-सी की 25% तथा 20 से अधिक पीने वाले के सिरम में 40% तक की कमी हो जाती है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में सिगरेट न पीने वालों के मुँह से छोड़े गए धुँए को साँस के साथ खींचने के कारण प्रतिवर्ष 3000 से 5000 फेफड़े के कैन्सर के ऐसे मरीज़ होते हैं, जिनकी मृत्यु हो जाती है।

पुनः धूम्रपान करने वालों के मुँह से छोड़ा हुआ धुँआ धूम्रपान न करने वालों द्वारा श्वास के साथ खींचते रहने से हृदय रोग तथा अन्य प्रकार के कैंसर के रोगों के कारण हुई मृत्यु सहित कुल संख्या उपरोक्त की लगभग दस गुनी हो जाती है।

इस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका के कार्यस्थलों और घरों में तम्बाकू का धुँआ, धूम्रपान न करने वाले कुल 46000 व्यक्तियों को प्रति वर्ष मार डालता है। इसमें 3000 फेफड़े के कैन्सर से, 11000 अन्य अंगों के कैन्सर से तथा 3200 व्यक्तियों की हृदय रोग से मृत्यु होती है।

संयुक्त राज्य अमेरिका के एक फर्म के स्वास्थ्य सम्बन्धी अध्यक्ष **डॉ० डेविस वीक्स** के अनुसार एक आदर्श कार्यालय, जिसमें हवा के आवागमन हेतु झरोखे या रोशनदान भी बने रहते हैं, में 100000 कार्य करने वालों के बीच धूम्रपान द्वारा छोड़े गए धुँए को साँस के साथ खींचने से उत्पन्न फेफड़े के कैन्सर से 250 व्यक्तियों की मृत्यु हो जाती है। परन्तु जिस कार्यालय में झरोखे या रोशनदान की व्यवस्था नहीं रहती उसमें यह संख्या दूनी हो जाती है।

इस प्रकार कार्य स्थलों, सामाजिक स्थानों, सिनेमाघरों, बसों, रेलगाड़ियों और रास्ता चलते वायुमण्डल में उड़ाए गए बीड़ी, सिगरेट के धुँए धूम्रपान न करने वालों के श्वास के साथ खींचने पर उनकी क्या दुर्दशा होती होगी—इसका अनुमान भली-भाँति लगाया जा सकता है।

क्यों न इस विषपान और बीड़ी-सिगरेट व अन्य नशीले पदार्थों के निर्माण पर कानूनी प्रतिबन्ध लगा दिया जाय? क्यों न निषिद्ध स्थानों पर धूम्रपान को कड़ाई के साथ रोकने का अभियान चलाया जाय? अभी 31 मई 1990 को तम्बाकू निषेध दिवस मनाया गया। यह निषेध दिवस के रूप में ही क्यों रहे? क्यों न इसे जड़ से समाप्त कर दिया जाय?

प्रयोगों द्वारा यह भी ज्ञात हुआ है कि प्रतिदिन 2 ग्राम विटामिन-सी ग्रहण करने से धूम्रपान करने वालों के शरीर में इसकी मात्रा लगभग स्थिर हो जाती है। पुनः प्रतिदिन 40 मिलीग्राम विटामिन-सी लेने से गम्भीर व चिरकालीन कार्बन मोनोऑक्साइड के ज़हरीले प्रभाव से बचाव हो सकता है।

विटामिन-सी प्राप्त करने के लिए आँवले का फल एक सर्वोत्तम स्रोत है। प्रायः प्रयोग किए जाने वाले

फलों में आँवला ही एक ऐसा फल है जिसमें सबसे ज्यादा और अपेक्षाकृत बहुत ज्यादा भी, विटामिन-सी पाया जाता है। आँवले का प्रति 100 ग्राम गूदा 600 मिलीग्राम विटामिन-सी प्रदान करता है। फिर भी विटामिन-सी की मात्रा आँवले के फल में 750 मिलीग्राम तक भी पाई गई है।

सुखाए हुए आँवले के फल भी समान रूप से उपयोगी होते हैं। विटामिन-सी की उपलब्धता की दृष्टि से आँवले के बाद अमरूद के फल की गणना की जाती है। अमरूद के प्रति 100 ग्राम गूदे में 299 मिलीग्राम विटामिन-सी उपलब्ध रहता है।

अत: आँवले और अमरूद की पैदावार बढ़ाने के लिए अधिक से अधिक इनके बाग और वृक्ष लगाएँ। आँवला और अमरूद के वृक्ष घटिया से घटिया और 9.5 पी० एच० तक वाली उसरीली भूमि में भी भली-भाँति फल-फूल सकते हैं। ये वृक्ष सूखा भी सहन कर लेते हैं। अमरूद के बाग़ तो जलमग्न और बाढ़ग्रस्त क्षेत्रों और नदियों की तलहटियों में भी खूब फल देते हैं।

इस प्रकार आँवला और अमरूद के फलों द्वारा विटामिन-सी उपलब्ध होने तथा इनके वृक्षों द्वारा प्राण वायु ऑक्सीजन निर्माण होने से, प्रदूषित वातावरण में पर्याप्त सीमा तक सुधार लाया जा सकता है।

□ □

5 जून 'विश्व पर्यावरण दिवस' पर

ओज़ोन और पर्यावरण

कु० स्मृति दुबे

आदरणीय सभाध्यक्ष जी और उपस्थित सज्जनो !

मैं आपके समक्ष, आज 5 जून, 'विश्व पर्यावरण दिवस' के अवसर पर इस विचार गोष्ठी में अपना आलेख 'ओज़ोन और पर्यावरण' प्रस्तुत कर रही हूँ।

ओज़ोन ऑक्सीजन के तीन अणुओं से बनी जीवन-रक्षक गैस है, जो पृथ्वी को एक नाज़ुक पर्दे की भाँति लपेटे हुये है, और इस ग्रह की तथा इसके वासियों की सूर्य की घातक पराबैंगनी किरणों से सुरक्षा कर रही है। इसे जीवन-सहायक इसीलिये माना जाता है क्योंकि इसमें कम तरंगदैर्घ्य (वेव लेन्थ) का प्रकाश, जो कि 300 नैनोमीटर से कम हो, को अपने में अवशोषित करने की अद्भुत क्षमता है। जहाँ पर वातावरण में ओज़ोन उपस्थित नहीं होगी, वहाँ सूर्य की हानिकारक पराबैंगनी किरणें पृथ्वी पर पहुँचने लगेंगी। ये किरणें मनुष्य सहित समस्त जीव-जन्तुओं और वनस्पतियों के लिये हानिकारक हैं। ओज़ोन पृथ्वी से 60 किलोमीटर की ऊँचाई पर पायी जाती है। पृथ्वी से दूरी स्ट्रैटोस्फीयर कहलाती है। यह 8 किलोमीटर ध्रुवों से लेकर 17 किलोमीटर विषुवत् रेखा तक फैली हुयी है। अगर यह सारी ओज़ोन पृथ्वी की सतह पर एकत्र की जाय तो हमें मात्र 3 मिलीमीटर मोटी ओज़ोन की एक पर्त प्राप्त होगी। परन्तु इस पतली पर्त का पृथ्वी के निकट होने पर, प्रभाव निश्चित रूप से हानिकारक होगा।

जब पराबैंगनी किरणें ऑक्सीजन के एक अणु पर प्रहार करती हैं तो फोटॉन उस अणु को दो अत्यधिक क्रियाशील भागों में विभक्त कर देता है। ये भाग शीघ्रता से ऑक्सीजन के एक सम्पूर्ण अणु से संयोग कर के ओज़ोन की रचना करते हैं, अत: हम कह कहते हैं कि ओज़ोन की रचना ऑक्सीजन के **प्रकाश-रासायनिक परिवर्तन** से होती है, तथा यह क्रिया जितनी अधिक तीव्रता से होगी उतनी ही अधिक मात्रा में ओज़ोन गैस का निर्माण होगा। परन्तु बहुत से रसायन जो हमारे उद्योगों के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं, ओज़ोन बनाने को क्रिया को कम करते हैं, तथा इसके अणुओं के टूटने का कारण बनते हैं। इनमें **क्लोरोफ्लोरोकार्बन्स**

बी० एस-सी० तृतीय वर्ष, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद—211002

की विशेष भूमिका है। इसे संक्षिप्त रूप में सी० एफ० सीज़ भी कहते हैं। इसका प्रयोग मुख्यतः रेफ्रिजरेटरों में ठंडक पैदा करने आदि की तकनीकों में होता है। दूसरी गैसें जो काफ़ी हद तक ओज़ोन के क्षय के लिये ज़िम्मेदार हैं, उनमें नाइट्रस ऑक्साइड सहित वे सभी गैसें हैं जिनमें क्लोरीन, ब्रोमीन और फ्लोरीन विद्यमान् होती हैं।

आजकल **'ओज़ोन छिद्र'** अथवा ओज़ोन की चादर का झीना होते जाना अखबारों की सुर्खियों में है और उन सभी लोगों की चिन्ता का विषय बना हुआ है, जो लगातार खराब होते पर्यावरण को सुधारना चाहते हैं। वैज्ञानिक परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि पिछले 10 वर्षों में **आर्कटिक** या उत्तरी ध्रुव और **अन्टार्कटिका** या दक्षिणी ध्रुव में इस सुरक्षा कवच की मोटाई में कमी पायी गयी है। वास्तविकता तो यह है कि यही शनैः शनैः बढ़ता झीनापन हमें आगे आने वाले ख़तरे की चेतावनी देता है। **जब पृथ्वी और सूर्य से यह सुरक्षा** पर्त हट जायेगी, ग्रह के जीव-जन्तु तथा वनस्पतियाँ हानिकारक पराबैंगनी किरणों के सीधे सम्पर्क में आ जायेंगी, तब स्थिति कितनी भयावह होगी इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है।

कुछ सिरफिरे लोगों का ऐसा मानना है कि ओज़ोन की परत तो अन्टार्कटिका में झीनी हो रही है और वहाँ पर मनुष्यों का निवास तो है नहीं, अतएव यह 'ओज़ोन छिद्र' किसी भी प्रकार से चिन्ता का विषय नहीं है। परन्तु ऐसा विचार तो स्वयं को भ्रमित रखने का प्रयास मात्र ही कहा जा सकता है, क्योंकि अनुसंधानों द्वारा अब यह पता चल चुका है कि ओज़ोन की कमी से होने वाले अनिष्टकारी प्रभाव अन्टार्कटिका से काफ़ी दूर-दूर के क्षेत्रों को भी अपनी लपेट में ले लेंगे। एक अनुमान के अनुसार सात प्रतिशत ओज़ोन की कमी पृथ्वी पर करीब 15 प्रतिशत पराबैंगनी किरणों की मात्रा बढ़ा देगी। और वास्तव में यही कारण है कि आज विश्व की सरकारें, तकनीकी विशेषज्ञ तथा उद्योग नीतियों का निर्धारण करने वाले ओज़ोन रूपी पृथ्वी के सुरक्षा कवच को बनाये रखने के लिये न केवल चिन्तित हैं वरन् प्रयत्नशील भी।

पराबैंगनी किरणों का विकिरण कई घातक बीमारियों के लिये ज़िम्मेदार है यथा— 1 शरीर की त्वचा का काला पड़ जाना, 2 हिम अंधता, 3 आँख की रोशनी का प्रभावित होना, 4 चर्म कैंसर, 5 असमय शरीर पर झुर्रियों का पड़ना, 6 बुढ़ापा आदि।

ये किरणें वनस्पतियों की वृद्धि पर भी कुप्रभाव डालती हैं जैसे प्रकाश संश्लेषण का कम हो जाना, बहुत से पौधों तथा फसलों में बीजों का अंकुरण देर से होना आदि। पानी वाले पौधों में शैवालें पराबैंगनी किरणों से अधिक प्रभावित होती हैं। ऐसी आशंका है कि ओज़ोन की पर्त को होने वाली क्षति से जलीय पारिस्थितिकी, विशेष रूप से मछलियाँ प्रभावित होंगी।

अतएव हमारा यह कर्तव्य है कि हम पृथ्वी के जीव-जन्तुओं और वनस्पतियों की सुरक्षा के लिए ऐसे रसायनों का प्रयोग कम से कम करें जो ओज़ोन के सुरक्षा कवच को कमज़ोर कर रहे हैं। और साथ ही हम ऐसी नई तकनीकें खोजें जो पर्यावरण को क्षति न पहुँचायें। मुझे विश्वास है कि विश्व के समस्त हितचिन्तक समय रहते ही समस्त जीवधारियों के लिये वरदान ओज़ोन परत को बचाने की कार्यवाही करने में कोई कमी नहीं करेंगे। □□

5 जून 'विश्व पर्यावरण दिवस' पर

भारत में पर्यावरण सुरक्षा : प्रदूषण नियंत्रण

राजेश कुमार केसरी

प्रदूषण की समस्या किसी विशेष स्थान या देश की समस्या नहीं है, बल्कि पूरे विश्व की समस्या है। भारत जैसे विकासशील देश में यह स्वयंसिद्ध है कि ग़रीबी, वनों की लगातार कटाई और मनुष्य की लालच के कारण देश के अनेक भू-खण्ड निर्जन होते जा रहे हैं। इसका हमारे देश की अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। स्वतंत्रता के बाद से तो औद्योगिकीकरण और शहरीकरण के कारण हमारा पारिस्थितिक तन्त्र काफ़ी प्रभावित हुआ है। हमारे देश की आधी जनसंख्या ग़रीबी रेखा के नीचे रह रही है। देश की 14 प्रमुख नदियाँ, जिनमें गंगा भी है, हमारे देश में 85% पीने का पानी उपलब्ध कराती हैं। ये नदियाँ बुरी तरह से प्रदूषित हो चुकी हैं। शहरों का वातावरण इतना विषाक्त हो चुका है कि वहाँ के निवासी प्रातः मात्र दो घण्टे ही शुद्ध हवा ले पाते हैं। प्रदूषित भोजन को ग्रहण करने के कारण मनुष्यों में तरह-तरह के असाध्य रोग घर करते जा रहे हैं। इन रोगों की संख्या पिछले 30 सालों में दुगनी हो गयी है। भारत के अस्पतालों में जो रोगी भर्ती किये जाते हैं, उनमें से 80% से अधिक रोगी प्रदूषण से पीड़ित होते हैं।

लगभग एक दर्जन मुख्य कारक हैं, जो हमारी भूमि, जल और हवा को प्रदूषित कर रहे हैं।

(1) औद्योगिक और घरेलू ईंधन के दहन से निकला कार्बन डाइऑक्साइड।

(2) मोटर वाहनों और उद्योगों द्वारा अधजले ईंधन से निकला हुआ कार्बन मोनोऑक्साइड।

(3) जंगलों की लगातार कटाई से जंगली जीव और वृक्षों के नीचे उगने वाली वनस्पतियाँ प्रभावित होती हैं। अनेक जीव-वनस्पति जातियाँ लुप्त होती जा रही हैं।

(4) पेट्रोल व डीज़ल से निकला विषाक्त सीसा।

(5) रंग और पेन्ट उद्योग में इस्तेमाल होने वाला पारा।

(6) हवाई जहाज़ से और ज्यादा मात्रा में खाद का उपयोग आदि से उत्सर्जित कचरे में नाइट्रोजन ऑक्साइड।

(7) तेल का पता लगाते समय तेल का रिस कर समुद्र के बहुत बड़े क्षेत्र में फैल जाना।

(8) रासायनिक उद्योगों द्वारा निकलने वाले कार्बनिक और विषैले प्रदूषक।

(9) नाभिकीय ईंधन निर्माण उद्योग, परमाणु अस्त्रों के परीक्षण आदि से निकलने वाले रेडियोधर्मी तत्व।

(10) उद्योगों से निकला कचरा और मल-जल जिसका विसर्जन नदियों में होता रहता है।

(11) कोयले के दहन और मोटर गाड़ियों से निकले धुँये में सल्फर डाइऑक्साइड।

उपर्युक्त प्रदूषण भारत के पर्यावरण को बुरी तरह से प्रभावित किये हुए हैं और करते जा रहे हैं। खनिज पदार्थ जैसे—कोयला आदि की खुदाई से ज़मीन के बड़े-बड़े भूभाग बेकार होते जा रहे हैं। भारत में देहरादून के पास ज़मीन का बहुत बड़ा भाग चूने-पत्थर की लगातार खुदाई के कारण क्षरित होता जा रहा है। नदियों का करीब 90% प्रदूषण घरेलू अवशिष्ट पदार्थों के विसर्जन से तथा बाकी बचा 10% प्रदूषण उद्योगों के अवांछित पदार्थों के विसर्जन से होता है। अतः घरेलू और उद्योगों से प्रदूषित पानी जिनमें ख़तरनाक रोगों के वाहक जीवाणु होते हैं को नदी में उत्सर्जित करने से पहले परिशोधित कर लेना चाहिए।

बी० एस-सी० तृतीय वर्ष (जीव विज्ञान), सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद—211002

भारत के समुद्र तटीय क्षेत्रों के मुख्य प्रदूषक कच्चा तेल ओर इसके व्युत्पन्न, रेडियोधर्मी तत्व, बिजली घरों का कचरा आदि हैं। प्रदूषकों का प्रभाव कुछ मछलियों और अन्य समुद्री जीवों के लिए अत्यधिक विषाक्त होता है।

भारत देश की हवा, कार्बन डाइऑक्साइड, कार्बन मोनोक्साइड, सल्फर डाइऑक्साइड और नाइट्रोजन ऑक्साइड जैसी कुछ गैसों से काफ़ी हद तक प्रदूषित हो चुकी है। नये कानून के अन्तर्गत वायु प्रदूषण के लिए दण्ड को बढ़ा कर 7 वर्ष तक के कारावास में बदल दिया गया है। कारखानों और उद्योगों के द्वारा नये कानूनों का उल्लंघन करने पर दण्ड के रूप में 5000 रु० तक की राशि प्रतिदिन के हिसाब से दोषी उद्योगों से वसूल की जा सकती है।

भारत में प्रदूषण से सम्बन्धित लगभग तीन दर्जन कानून राज्य और केन्द्र द्वारा लागू किये गये हैं। अनेक भारतीय न्यायालयों ने दोषी उद्योगों के विरुद्ध अपने निर्णय दिये हैं। लेकिन मात्र कानून हमारी पर्यावरणीय समस्याओं का समाधान नहीं हैं। इसके लिए लोगों की जागरूकता और उनकी साझेदारी आवश्यक है।

प्रसन्नता की बात है कि हम कुछ नई तकनीकें विकसित करने में सफल हुए हैं, जो प्रदूषण से लड़ने में सक्षम हैं। इस सम्बन्ध में यहाँ मात्र एक-दो उदाहरण देना चाहूँगा। पहला—आनुवंशिक इंजीनियरी के क्षेत्र में **डॉ० आनन्द एम० चक्रवर्ती** ने कुछ ऐसे विचित्र सूक्ष्मजीवों को खोज निकाला है जो प्रदूषण से लड़ने में सक्षम हैं। ये सूक्ष्मजीव हाइड्रोकार्बन को पचा कर प्रोटीनयुक्त खाद्य पदार्थ में बदल देते हैं। यह भोजन समुद्री जीवों द्वारा खाया जाता है। और दूसरा उदाहरण है—केरल विश्वविद्यालय के **डॉ० पी० उन्नाय** ने एक ऐसे जलीय कीट की खोज की है जो **साल्वीनिया मोलेस्टा** नामक एक जलीय पादप का इस कदर तेज़ी से भक्षण करता है कि इस पानी के पौधे की समस्या से छुटकारा मिल सकता है।

अतः पर्यावरणीय समस्याओं से हमें निराश नहीं होना चाहिए।

मनुष्य ने यदि पर्यावरण के संतुलन को बिगाड़ा है तो आज यह भी सिद्ध कर दिया है कि पर्यावरण को लेकर आज का मानव चिंतित है और प्रदूषण-मुक्त तकनीकों को विकसित करने की मानव में क्षमता भी विद्यमान है। आवश्यकता है इस क्षमता को सही दिशा देने की। □□

'आर एच फैक्टर' है क्या ?

उदय ठाकुर

मनुष्य के रक्त को मुख्यत. 'ए', 'बी', 'ए बी', 'ओ' व 'आर एच' वर्गों में बाँटा गया है। इनमें से प्रथम चार वर्गों में से माता का रक्त वर्ग कोई भी हो, उसका होने वाले शिशु पर कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ता। यदि कोई गम्भीर स्थिति आती है तो वह पाँचवें अर्थात् 'आर एच' वर्ग से उत्पन्न होती है। 'आर एच' वर्ग अतिरिक्त वर्ग के रूप में शरीर में उपस्थित होता है। जिन लोगों में यह वर्ग रहता है, उन्हें 'आर एच पोज़िटिव' व जिनमें नहीं होता उन्हें 'आर एच नेगेटिव' कहते हैं।

'आर एच' बीमारी तब होती है जब पति 'आर एच पोज़िटिव' व पत्नी 'आर एच नेगेटिव' हो और गर्भ में स्थित बच्चे का रक्त वर्ग 'आर एच पोज़िटिव' हो। अधिकतर मामलों में यदि पिता का रक्त वर्ग 'आर एच पोज़िटिव' है तो वही बच्चे में भी आ जाता है।

साधारणतः 'आर एच नेगेटिव' माता जब प्रथम बार गर्भधारण करती है तो जन्म लेने वाला पहला बच्चा सामान्य होता है, चाहे उसका रक्त वर्ग 'आर एच पोज़िटिव' हो। परन्तु इसके बाद जितनी संतानें होती हैं, उनमें **पीलिया व एनीमिया** (शरीर में रक्त की कमी) की निश्चित संभावना रहती है और यह

प्रधानाचार्य, पवित्रधाम, रोटरी स्कूल फॉर डेफ, रामबाग रोड, अम्बाला छावनी—133001, दिल्ली

स्थिति प्रत्येक गर्भ के साथ-साथ बढ़ती ही जाती है, यहाँ तक कि बच्चे की मृत्यु गर्भ में ही हो सकती है।

इसका कारण यह है कि प्रत्येक मनुष्य के शरीर में किसी भी बाह्य तत्त्व या किसी भी नए पदार्थ को, जो शरीर के भीतर पहुँच गया हो, नष्ट करने की क्षमता होती है जिसके लिए शरीर में तुरन्त एक विशेष प्रकार के तत्त्व उत्पन्न हो जाते हैं। इन्हें 'ऐंटीबाडीज़' कहते हैं।

गर्भावस्था के अंतिम चरण में बच्चे का कुछ रक्त माता के रक्त में आ मिलता है। चूँकि बच्चा 'आर एच पोज़िटिव' है, इसलिए उसके रक्त में 'आर एच फैक्टर' मौजूद होगा, जो माता के रक्त में नहीं है। इसीलिए यह माता के शरीर के लिए बाह्य अथवा नई वस्तु के सामान है। इसी वजह से माता के शरीर में इनको नष्ट करने के लिए तुरन्त ऐंटीबाडीज़ बनता है। ये ऐंटीबाडीज़ माता के शरीर में आई समस्त रक्त-कोशिकाओं को नष्ट कर देती हैं।

पहला बच्चा इसलिए सामान्य होता है कि उस समय तक माता के शरीर में केवल इतनी संख्या में ऐंटीबाडीज़ उत्पन्न हो पाते हैं जो केवल माता के रक्त में पहुँची बच्चे की रक्त कोशिकाओं को ही नष्ट कर पाते हैं। परन्तु प्रत्येक गर्भधारण के साथ-साथ माता के शरीर में इनकी संख्या इतनी बढ़ जाती है कि ये अब बच्चे के शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं और वहाँ उसकी रक्त कोशिकाओं को समाप्त करने लगते हैं। इससे बच्चे के शरीर में रक्त की कमी हो जाती है। यह कमी इतनी अधिक हो जाती है कि बच्चे के बचने की संभावना बहुत कम रहती है। इन्हीं रक्त कोशिकाओं के नष्ट होने के फलस्वरूप ही बच्चे को **पीलिया** भी हो जाता है।

यह ज़रूरी नहीं कि बच्चा गर्भ में ही मर जाए या जन्म के तुरन्त बाद ही मर जाए। ऐसा भी देखा गया है कि बच्चा एक-डेढ़ महीने बाद तक जीवित रहता है, परन्तु वह दिन पर दिन कमज़ोर होता जाता है। उसका जिगर बढ़ जाता है और अन्त में वह मर जाता है। ऐसा भी हो सकता है कि बच्चा न मरे परन्तु ऐसे में बच्चा मानसिक रूप से विकलांग हो सकता है।

आज विज्ञान ने इतनी उन्नति कर ली है कि इस प्रकार के बच्चों को बचाया जा सकता है। इस दिशा में पहला कदम तो यह होना चाहिए कि जैसे ही स्त्री गर्भधारण करे, वह अपना व अपने पति के रक्त की जाँच कराए। यदि पति-पत्नी दोनों 'आर एच पोज़िटिव' या दोनों 'आर एच नेगेटिव' हैं या पति 'आर एच नेगेटिव' और पत्नी 'आर एच पोज़िटिव' है तो भी होने वाली संतान को कोई ख़तरा नहीं है।

ऐसे में केवल 'आर एच नेगेटिव' पत्नी को अपने चिकित्सक को इसकी जानकारी दे देनी चाहिए जिससे यदि प्रसूति के समय माता को रक्त देने की आवश्यकता पड़े तो उसे जल्दी ही 'आर एच नेगेटिव' रक्त ही दिया जाए।

इसके अलावा अब 'आर एच नेगेटिव' माता से पैदा बच्चे का रक्त जन्म होते ही बदल दिया जाता है। बच्चे के शरीर से 'आर एच पोज़िटिव' रक्त को पूर्णतया निकाल कर उसमें 'आर एच नेगेटिव' रक्त कुछ समय तक भेजा जाता है। यदि गर्भस्थित बच्चा गंभीर रूप से प्रभावित है तो ऐसे में समय से पहले ही ऑपरेशन क्रिया द्वारा बच्चे के बचने की संभावना बढ़ जाती है।

इस प्रकार के मामले में 'ऐंटी आर एच' टीका बहुत सहायक होता है। पहला बच्चा होने के 48 घंटों के भीतर माता को यह टीका लगा देना चाहिए। इससे माता के शरीर में बच्चे से पहुँची हुई रक्त कोशिकाएँ तीन से आठ सप्ताह के भीतर नष्ट हो जाएँगी और जब वे ही नहीं होंगी तो ऐंटीबाडीज़ बनने का प्रश्न ही नहीं उठता और दूसरे बच्चे के जीवन को अधिक ख़तरा नहीं रहता। किसी कारण यदि 'आर एच नेगेटिव' स्त्री का गर्भपात हो जाए, तब भी यह टीका लगवा लेना चाहिए।

□ □

5 जून विश्व पर्यावरण दिवस पर

खसेरी दाल का मानव एवं पशुओं पर प्रभाव

प्रेम प्रकाश व्यास

भारत जैसे विकासशील देश में जहाँ पर भुखमरी ग़रीबी और बढ़ती जनसंख्या के साथ-साथ प्राकृतिक प्रकोप भी कुपोषण की आग में घी का काम करते हैं, उन पदार्थों की सूचि अत्यन्त ही लम्बी है जो अपनी तमाम विषाक्तता के बावजूद लोगों के द्वारा खाए जा रहे हैं, और उन तमाम कानूनों का मज़ाक उड़ा रहे हैं जो स्वास्थ्य की सुरक्षा के लिए बनाए गए हैं। इनमें से ही एक है **खसेरी दाल**। लैग्युमिनेसी कुल का यह फलीदार पौधा **लैथाइरस सटाइवस**, मातरा, खसेरी, टेउड़ा, बातरा या खेसरी के नाम से जाना जाता है। यह एकवर्षीय शााक है जो 45 से 60 से. मी. तक लम्बा होता है तथा इस पर रोमयुक्त फलियाँ लगती हैं। इसके बीज भूरे या काले होते हैं। इसमें तीन रंग के पुष्प उगते हैं। श्वेत रंग के पुष्प "एल्बस" कहलाते हैं, गुलाबी पुष्प "रोलेशियस" कहलाते हैं और नीले-पुष्प "साएनियस" कहलाते हैं।

भारत में खसेरी दाल से सर्वाधिक प्रभावित राज्य मध्यप्रदेश है। इस राज्य के रींवा, दुर्ग, सतना और राजस्थान से सटी रतलाम क्षेत्र के सीमा में लकवे के शिकार लोगों का प्रतिशत सर्वाधिक कहा जाता है। इस क्षेत्र में लोकोक्ति भी प्रसिद्ध है 'मातरा की रोटी, मातरा की दार, मातरा की स्त्री राखन हार"। लगातार पड़ने वाले अकाल, भूमि की उर्वरता में निरन्तर कमी और सिंचाई के साधनों की कमी से इस क्षेत्र में अन्य फ़सलें न के बराबर होती हैं। परन्तु खसेरी ऐसी विपरीति परिस्थितियों में भी फलती-फूलती है। यह रबी की फसल है, जो गेहूँ, जौ, चने के साथ बोयी जाती है। बाकी उक्त फ़सलों के नष्ट हो जाने पर भी खसेरी के उगने की संभावना शत प्रतिशत रहती है। खसेरी की चपाती बनाकर, चावल के साथ उबाल कर या दाल पकाकर खाया जाता है। लेकिन इन तमाम संयोगों से यह दाल गरीब वर्ग में लोकप्रिय तो है ही पर इसके दुष्परिणाम बड़े भयंकर हुए हैं। इस क्षेत्र में लकवा महामारी की तरह फैलता है। यहाँ तक कि पूरे गाँव ही लकवे के शिकार हो जाते हैं।

खसेरी दाल का प्रयोग कब प्रारम्भ हुआ इसका कोई वैज्ञानिक विवरण उपलब्ध नहीं है, परन्तु सर्व-प्रथम इसका पूर्ण विवरण प्रस्तुत करने का श्रेय **जनरल स्लीमैन** को है। मध्यभारत में ठगी प्रथा समाप्त करने वाले इस अंग्रेज़ अधिकारी की पुस्तक **"रैम्बल्स एण्ड रिकलेक्शन ऑव एन इण्डियन ऑफिसिएल्स"** में खसेरी दाल की जानकारी विस्तृत ढंग से दी गई है। 1884 में प्रकाशिकत इस पुस्तक में **स्लीशैन** लिखते हैं कि 1829 से 1833 तक सागर ज़िले के आसपास के क्षेत्र में भीषण अकाल पड़ा और गेहूँ, जौ व बाजरा की सम्पूर्ण फसलें नष्ट हो गईं, परन्तु खसेरी पर इसका कोई असर न पड़ा और गाँवों में खसेरी दाल से गोदाम भर गए। फलस्वरूप लोगों को मजबूरन यह दाल खानी पड़ी। 1834 में लकवे का पहला प्रकोप दिखाई दिया। घोड़े लकवे से ग्रस्त होकर विकलांग हो गए। बैलों में चलने की क्षमता न रही और लोगों के पाँवों पर लकवे का असर हुआ। और घिसट-घिसट कर चलने वालों की संख्या में बढ़ोत्तरी होने लगी। स्लीमैम ने अपनी पुस्तक में तत्कालीन अंग्रेज़ सरकार को खसेरी दाल के उगाने पर रोक लगाने की सलाह दी। पर उस सलाह पर आज भी अमल नहीं हो पाया और उसका प्रमाण है लकवाग्रस्त लोगों की भीड़। भारत के अलावा खसेरी दाल सीरिया, ईरान, अल्जीरिया, इथियोपिया, पाकिस्तान व बंगलादेश में भी उगाई जाती है और वहाँ पर भी लकवाग्रस्त लोगों की अच्छी संख्या है। यूरोप में

खसेरी दाल के उत्पादन पर कठोर प्रतिबन्ध होने के कारण लकवाग्रस्त लोगों का प्रतिशत अत्यन्त न्यून है। भारत में यह दाल मध्यप्रदेश के अतिरिक्त जम्मू व काश्मीर, पंजाब, बिहार व पश्चिमी बंगाल में उगाई जाती है। मध्यप्रदेश खसेरी दाल से सर्वाधिक त्रस्त क्षेत्र है। यहाँ कृष्य भूमि का 15% इसकी चपेट में है। ग़रीबी, बढ़ती जनसंख्या व अन्य खाद्य पदार्थों के उपलब्ध न होने के कारण इसका प्रयोग बढ़ा ही है।

खसेरी दाल से उत्पन्न लकवा रोग अत्यन्त ही विचित्र व अप्रत्याशित रूप से आक्रमण करता है। खेत में काम करने वाले मज़दूर-किसान, जिनका प्रमुख भोजन खसेरी दाल है, इसके शिकार बनते हैं। पीठ में तीव्र दर्द तथा हाथ या पाँव में अकड़न जैसे प्राथमिक लक्षण दो या तीन दिन में रोगी को लकवे का शिकार बना देते हैं। रोगी के हाथ या पाँव या शरीर का आधा भाग लकवाग्रस्त हो जाता है और वह या तो घिसट-घिसट कर चलता है या फिर लकड़ी के साथ। जो मवेशी खसेरी दाल खाते हैं वे भी चलते-चलते अचानक गिर जाते हैं और उनके लकवाग्रस्त पैर उन्हें जीवन भर उठने नहीं देते हैं। स्त्रियों में यह रोग कम पाया जाता है। संभवतया यह उनमें पाये जाने वाले हार्मोन एस्ट्रोजन के कारण होता है। कई बार रोगी के पाँव में ऐंठन उत्पन्न होती है, पाँव मुड़ जाते हैं व लकवा उस पर आक्रमण कर चुका होता है।

मवेशियों में खसेरी दाल से एक अन्य रोग भी उत्पन्न हो जाता है। इसे **डिप्थोनिया** कहते हैं, जो पशु के श्वसन-तंत्र पर लकवे के कारण होता है। इसके कारण पशु को श्वास लेने में कठिनाई होने लगती है। अन्य दालों की तरह खसेरी दाल भी प्रोटीन का एक स्त्रोत ही है परन्तु इसमें पाए जाने वाले विषैले रासायनिक पदार्थों के कारण इसका दुष्प्रभाव अत्यन्त घातक होता है। नेशनल इंस्टीट्यूट ऑव न्युट्रिशन' हैदराबाद के वैज्ञानिकों ने खंसेरी दाल में पाए जाने वाले लकवा उत्पन्न करने वाले तत्वों को खोज निकाला है। अध्ययन के अनुसार इसमें **"बीटा एन ऑक्सेलिल एमिनो एल एलेनिन"** पाया जाता है। यह साधारणतया **"बी० ओ० ए० ए०"** के नाम से जाना जाता है। यह पदार्थ मस्तिष्क में तंत्रिका-तंत्र को नष्ट करने में सक्षम है। एक अन्य रसायन **बीटा एन ऑक्सेलिल एल्फा बीटा डाई एमीनो प्रोपियोनिक एसिड (ओडेप)** भी लकवा रोग उत्पन्न करने में सक्षम है। ये पदार्थ खंसेरी दाल के बीजपत्र में पाए जाते हैं तथा ये जल में विलेय हैं। ये सभी पदार्थ तंत्रिका-तंत्र को बुरी तरह प्रभावित करते हैं।

एक लम्बे समय से खसेरी दाल के दुष्प्रभाव प्रकट होते रहने के बावजूद भी सरकार ने अभी तक इसकी रोकथाम के लिए कुछ भी नहीं किया है। 1960 में मध्यप्रदेश के सतना व रींवा ज़िले के भागलखण्ड क्षेत्र में लकवा महामारी की तरह फैला, और **इंडियन कौंसिल ऑव मेडिकल रिसर्च** ने एक दल इसका पता लगाने भेजा। दल ने पाया कि खसेरी दाल मज़दूरों को भोजन के रूप में दी गई है। यह सस्ती भी थी तथा इसका प्रचलन भी खूब था। इस दल ने इसके उपयोग पर तत्काल प्रतिबन्ध लगाने की मांग की, परन्तु उस पर कोई अमल नहीं किया गया। 1978 में पुणे की '**मेडिको फ्रेंड्स सर्कल** ने भी इस क्षेत्र का दौरा किया तथा सरकार को खसेरी दाल के कुप्रभावों से अवगत कराया। पर नतीजा शून्य ही रहा।

इस समय भी खसेरी दाल का उपयोग धड़ल्ले से हो रहा है। इसे अरहर की दाल में मिलाकर बेचा जा रहा है। लकवाग्रस्त लोगों की संख्या में निरन्तर बढ़ोतरी हो रही है। आवश्यकता इस बात की है कि उत्पादन पर कठोर प्रतिबन्ध लगाया जाय। किसी वैकल्पिक सस्ते खाद्य स्त्रोत को उपलब्ध कराया जाय। और जब तक विकल्प न ढूँढ़ लिया जाये तब तक कम विषैली **किस्म पूसा** 24 (जो भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् द्वारा जाय। विकसित की गई है) को सीमित मात्रा में ही उगाया जाय। खसेरी दाल को प्रेशर कुकर में उबालने पर इसके 70–80% विषैले तत्व निकल जाते हैं। पर भारत जैसे ग़रीब देश में जहाँ खाने के ही लाले पड़े हैं, प्रेशर कुकर की कल्पना भी बेकार है। यदि खसेरी दाल का उपयोग रोका न गया तो लकवाग्रस्त लोगों की संख्या में निरन्तर बढ़ोतरी होती रहेगी। □□

खाद्य पदार्थों में कृत्रिम रंग कितने हानिकारक

डॉ० डी० डी० ओझा

मानव शरीर का रंगों से गहरा सम्बन्ध है। मनमोहक रंगों के वशीभूत होकर ही मनुष्य ने इन्हें किसी न किसी प्रकार अपने दैनिक जीवन में उपयोग करने का प्रयत्न किया। हमारे देश में विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्रों में उन्नति के साथ मानव जीवन भी जटिलतम होने लगा है। इसमें अन्य कारणों के अतिरिक्त शुद्ध भोजन एवं पानी का न मिलना भी सम्मिलित है। आजकल खाद्य पदार्थों में संश्लेषित रंगों का सम्मिश्रण आम बात सी हो गई है।

वर्ष 1956 में वैज्ञानिक **परकिन** ने सर्वप्रथम 'माव' नामक रंग का संश्लेषण किया। उसके बाद तो संसार में अनेक प्रकार के कृत्रिम रंग प्रयुक्त किये जाने लगे। इस समय विश्व में कुल 8 लाख मिट्रिक टन से भी अधिक संश्लेषित रंगों का उत्पादन किया जाता है। इनमें से लगभग 56 प्रतिशत कपड़ा उद्योग, 15 प्रतिशत काग़ज़ तथा चमड़ा उद्योग, 23 प्रतिशत कार्बनिक रंग तथा 6 प्रतिशत अन्य वस्तुओं के रंगने में प्रयुक्त किये जाते है, जिनमें खाद्य पदार्थ भी शामिल है। इस समय विश्व में 65 तरह के संश्लेषित रंगों का उपयोग किया जाता है, इनमें से डेनमार्क में 33, ब्रिटेन में 20, जापान में 11, भारत में 11; कनाडा में 10, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में 9 तथा रूस में 3 रंग खाद्य पदार्थों में उपयोग करने हेतु वैध हैं। नार्वे तथा ग्रीस दो ऐसे देश हैं जहाँ कोई संश्लेषित रंग उपयोग नहीं किया जाता है।

भारत में प्रयुक्त होने वाले संश्लेषित खाद्य रंग

हमारे देश में खाद्य मिलावट निवारक अधिनियम (**Prevention of Food Adulteration Act**) 1954 के तहत 13 संश्लेषित रंग खाद्य पदार्थों में उपयोग करने के लिए वैध किए गए थे। 1968 में 5 रंग विषाक्ता के कारण निकाल दिये थे तथा 3 नए रंग पुनः जोड़ दिये थे। इस प्रकार अब कुल 11 रंगों का उपयोग वैध है। इनके नाम हैं – अमरन्थ, ब्रिलिएन्ट ब्लू एफ सी एफ, कारमोइसीन, इरिथ्रोसीन, फास्टग्रीन एफ सी एफ, फास्ट रेड ई, ग्रीन एस, इंडिगो कार्मीन, पोंसियू चार चार, सनसेट येलो एफ सी एफ तथा टारट्राजीन।

इसके अतिरिक्त कई वर्जित रंग भी उपयोग किए जाते हैं, जिनमें औरामीन, बटर येलो (पीला), ब्लू बी आर एम (नीला), कांगो रेड, सूडान दो तथा तीन (लाल), मेलाकाइट ग्रीन (हरा), मेटानिल येलो या गऊ मार्का पीला रंग, ओरेन्ज दो एवं रोडामीन बी प्रमुख हैं।

ये वर्जित रंग बाजार में आसानी से उपलब्ध होते हैं तथा इनका मूल्य भी वैध रंगों की तुलना में कम होता है। ये रंग जटिल स्वास्थ्य समस्याओं को जन्म देते हैं। कृत्रिम रंगों का प्रयोग करने से कोई लाभ नहीं होता है, क्योंकि न तो इनमें कुछ पोषकता होती है और न ही ये सुरक्षित होते हैं।

रंगों की विषाक्तता

यद्यपि भारत सरकार के 'खाद्य मिलावट निवारण अधिनियम' द्वारा मेटानिल येलो का निषेध कर रखा है, क्योंकि इसके सेवन से पुरुषों के शुक्राणुओं का निर्माण रुक जाता है तथा अन्य रोग हो जाते हैं, फिर भी इसका प्रयोग जलेबी, बर्फी, लड्डू, हिंग, कैशर सुपारी, अरहर की दाल तथा सुनहरे चावल बनाने में किया जाता है। इसका कारण यह है, कि ये रंग खाद्य पदार्थों को अत्यधिक आकर्षक एवं लुभावने बना देते हैं। कृत्रिम रंगों का खाद्य पदार्थों में सेवन करने से पाचन-क्रिया प्रभावित होती है। और तो और कम-

ब्रह्मपुरी, हजारी चबूतरा; जोधपुर–342001 (राजस्थान)

ज़ोरी, जोड़ों की बीमारी, लकवा, कैन्सर जैसे घातक रोग भी हो जाते हैं। यही नहीं, गर्भवती महिलाओं में तो शिशु पूरी तरह से विकसित नहीं हो पाते हैं। ऐसे रंगों का प्रयोग करने से रक्त में विकार उत्पन्न हो जाते हैं। पोंसियू के खाद्य पदार्थों में लगातार प्रयोग से रक्त में हीमोग्लोबीन की मात्रा कम हो जाती है। इसी प्रकार एरीथ्रोसीन रंग जीन्स में आधारभूत परिवर्तन करने में सक्षम होता है। कांगो रेड नामक रंग से खरगोश के भ्रूण में दोष उत्पन्न हो जाते हैं। टारट्राजीन के खाने से चूहों में पेचिश हो जाती है तथा यह रंग एलर्जी भी उत्पन्न कर देता है।

'केन्द्रीय खाद्य प्रौद्योगिकी अनुसंधान संस्थान', मैसूर ने संश्लेषित कोलतार रंगों की अपेक्षा प्राकृतिक रंगों की, जो कि फूलों की पंखुड़ियों (**Petals**), नीले अंगूर इत्यादि से बनाये जाते हैं, की उपादेयता प्रतिपादित की है।

कृत्रिम रंगों के प्रयोग से बचने के उपाय

(1) प्राकृतिक रंग, जो कि ज्यादा शुद्ध एवं सुरक्षित होते हैं, उन्हें ज्यादा उपयोग में लाना चाहिये।

(2) उपभोक्ताओं को संश्लेषित रंग युक्त तथा रंगहीन पेय पदाथ दोनों में जो अन्तर है उसे समझना चाहिये। इस दिशा में विभिन्न रंगों से होने वाले शारीरिक विकारों के सम्बन्ध में समय-समय पर शिक्षा देनी चाहिये। डेनमार्क ने हाल ही में उपभोक्ताओं के लिये दो तरह के रंगदार (केरामल युक्त) तथा रंगहीन पेय पदार्थ तैयार किये हैं।

(3) फलों के रसों को, जो कि टेट्रापेक्स में पैक होते हैं, उन्हें भी बिना रंग से मिश्रित किये बेचना चाहिये।

परीक्षण विधि

यदि हम मेटानिल येलो या लेड क्रोमेट की खाद्य पदार्थों में उपस्थिति जानना चाहते हैं, तो घर पर ही यह परीक्षण किया जा सकता है।

(i) यदि मेटानिल येलो को हल्दी में परीक्षण करना है तो इसकी थोड़ी सी मात्रा को परखनली में लेकर कुछ बूँदें सान्द्र नमक के अम्ल की डालनी चाहिए। यदि तुरन्त बैंगनी रंग आ जाय, जो चिर काल तक रहे, तो मेटानिल येलो मिश्रित है और यदि यह रंग जल डालने पर समाप्त हो जाय तो हल्दी है।

(ii) मेटानिल येलो को मिठाई में ज्ञात करने हेतु हल्के गर्म पानी से खाद्य पदार्थों से रंग को एकत्रित कर नमक के अम्ल की कुछ बूँदें डालनी चाहिए। यदि मैगनेटा (**Magneta**) रंग आ जाय तो हानिकारक रंग की उपस्थिति निश्चित है।

(iii) दाल में लेड क्रोमेट की उपस्थिति जानने हेतु 5 ग्राम दाल में कुछ बूँदे नमक के अम्ल की डालनी चाहिए तथा कुछ पानी मिलाकर हिलाना चाहिए। यदि गुलाबी रंग आ जाये तो समझना चाहिए कि लेड क्रोमेट मिलाया गया है।

यदि हम इस ओर ध्यान दें कि आजकल कितने रंगों का हम विभिन्न खाद्य पदार्थों में उपयोग करते हैं तो हमें इनका स्वत: अन्दाज़ हो जायेगा जैसे बैकरी उत्पाद, जैम, सौस, कैचप, जेली, वेफर्स, टाफी, आइसक्रीम तथा चाकलेट आदि। इन सभी में हानिकारक संश्लेषित रंगों का समावेश होता है। गाँवों की अपेक्षा शहरी जनता कृत्रिम रंगों का खाद पदार्थ में अधिक प्रयोग करती है।

अत: इस दिशा में यह कारगर उपाय होगा कि उपभोक्ताओं को इन कृत्रिम रंगों के प्रयोग के बारे में पूर्ण जानकारी दी जाये, जिससे वे हानिकारक रंगों से मिश्रित खाद्य पदार्थों के सेवन से बचें तथा बीमारी से बचें। इस प्रकार प्रचार व प्रसार माध्यम से हमारे देश में पौष्टिकता स्तर बढ़ाने में सहायता मिल सकती है। संश्लेषित रंगों के विकल्पस्वरूप प्राकृतिक रंगों के विकास की ओर भी ध्नान देना ज़रूरी है। प्राकृतिक स्रोतों से रंगों को प्राप्त करने सम्बन्धी शोध कार्य औद्योगिक विष विज्ञान अनुसंधान केन्द्र, लखनऊ, राष्ट्रीय रसायन प्रयोगशाला, पूना; केन्द्रीय खाद्य प्रौद्योगिकी अनुसंधान संस्थान मैसूर तथा चर्म अनुसंधान संस्थान, मद्रास में हो रहे हैं। प्राकृतिक रंगों में बीटा कैरोटिन, क्लोरोफिल, हल्दी, केसर, फ़्लेवनोएड आदि

हैं जो विभिन्न प्रकार के पेड़ पौधों आदि से प्राप्त किए जाते हैं।

खाद्य पदार्थों में रंगों के इस्तेमाल को रोकने के लिए, खाद्य मिलावट निवारण अधिनियम 1954' के नियमों का पालन कराने हेतु सामाजिक कार्यकर्ताओं वैज्ञानिकों एवं जागरूक नागरिको को आम लोगों में जागृति लाने के लिए एकजुट होकर कार्य करना होगा। □□

5 जून विश्व पर्यावरण दिवस पर

धरती डूबेगी बढ़ते जलस्तर से

डी० एन० भटनागर

फॉसिल ईंधनों पर दौड़ती मोटर व रेल गाड़ियाँ, वायुयान और अन्य वाहन भले ही आज मनुष्य की आधुनिकता का प्रतीक बन गये हैं, उनसे निकलने वाला बेहिसाब धुँआ पर्यावरण को जो हानि पहुँचा रहा है उसके कुप्रभाव से शायद धरती का कोई भी प्राणी अछूता नहीं बचेगा।

धुँए की गैसों—कार्बन डाइऑक्साइड, मिथेन, क्लोरोफ्लोरोकार्बन आदि—ने वायुमण्डल में मिलकर उसे ऐसा बना दिया है कि सूर्य से पृथ्वी पर आने वाली किरणें पृथ्वी से परावर्तित होकर उसमें फँस जाती हैं। परिणामस्वरूप वायुमंडल धीरे-धीरे गरम होता जा रहा है। इसे "ग्रीन हाउस प्रभाव" कहते हैं। इसके प्रभाव से हमारी पृथ्वी पर गरमी का असर दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।

यद्यपि अभी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि हरित गृह प्रभाव से पृथ्वी पर सबसे अधिक गरमी कब पड़ने की संभावना है, अनुमान है कि यह स्थिति अगली शताब्दी के उतरार्द्ध में आयेगी। अधिक गरमी के कारण ध्रुव प्रदेशों तथा पर्वतों के ग्लेशियर पिघलेंगे, पानी गर्म होकर अधिक स्थान घेरेगा और जलस्तर 0.5 से 2.5 मीटर बढ़ जायेगा और तटवर्ती प्रदेशों की लगभग 10 करोड़ आबादी को सीधे प्रभावित करेगा।

विशेषज्ञों का अनुमान है कि अगली शताब्दी के अन्त तक समुद्री जलस्तर में होने वाली 1 मीटर की भी बढ़ोतरी बंगलादेश, इन्डोनेशिया और दक्षिण पूर्वी एशिया के बड़े भूभागों को जलमग्न कर देगी। हमारा देश भी इससे अछूता नहीं बचेगा। गुजरात, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश और बंगाल के बड़े क्षेत्र इसकी चपेट की लपेट में हैं। ये कृषि उपज की दृष्टि से महत्वपूर्ण और सघन आबादी वाले भूभाग हैं।

दुनिया के "वैज्ञानिक पृथ्वी पर हरित गृह के प्रभाव से चिन्तित हैं और इसके असर को कम हुआ देखना चाहते हैं लेकिन वे इसे कम करने में आने वाली कठिनाइयों, जैसे विशेषकर फॉसिल ईंधनों पर हमारी निर्भरता, से भी भली-भाँति वाकिफ हैं। यह भी समझा जा रहा है कि हरित गृह के प्रभाव के लिए जिम्मेवार गैसों का अब तक उत्पादित संग्रह हमारे सब उपायों के वावजूद पृथ्वी के मौसम को अगली कई शताब्दियों तक प्रभावित करता रहेगा।

इसीसे आज अधिकतर वैज्ञानिक इस पक्ष में हैं कि एक ओर तो पर्यावरण को धुँए से प्रदूषित होने से बचाने के प्रभावी प्रयत्न तुरन्त शुरू कर दिये जाने चाहिए और दूसरी ओर पर्यावरण में संग्रहीत धुँए के दीर्घकालीन प्रभावों से बचने के उपाय ढूँढ़े जाने चाहिए।

यही कारण है कि आज जहाँ दुनिया के मौसम विशेषज्ञों, वैज्ञानिकों, समाज शास्त्रियों, योजनाकारों और सरकारी क्षेत्रों में समुद्रों के बढ़ते जलस्तर को लेकर विशेष हलचल है, कृषि वैज्ञानिक शुष्क खेती के लिए उपयुक्त पौधों की विशेषतः तापसह नस्लों के विकास की ओर ध्यान दे रहे हैं। वे पौधों की ऐसी नस्लों का विकास कर लेना चाहते हैं जो मौसम के

डी 720, सरस्वती विहार, दिल्ली—110034

इस बदलाव को झेल कर भी हमारी झोली में अपनी सौगात डालते रहने में सक्षम हों।

दुनिया के 300 से अधिक अग्रणी समुद्र वैज्ञानिक इस पक्ष में हैं कि इस स्थिति से निपटने की तैयारी अभी से शुरू कर देनी चाहिए। उन्होंने इसके लिए एक अंतरराष्ट्रीय संगठन बनाए जाने की अपील की है। विशेषज्ञों के अनुसार जिन क्षेत्रों में समुद्री पानी के फैलाव को रोका जाना है उनकी पहचान और सर्वेक्षण तुरन्त प्रारम्भ किया जाना चाहिए। जिन क्षेत्रों के जलमग्न होने में कोई संदेह न हो वहाँ से आबादी को सुनियोजित ढँग से हटाने के उपाय करने चाहिए। इसी प्रकार प्रभावित समुद्र तटों को नष्ट होने से बचाने के तरीके भी खोजे जाने चाहिए। पीने के पानी को खारे पानी से संदूषित होने से बचाने के उपाय करने की भी आवश्यकता पड़ेगी।

यही नहीं, इन सब उपायों को करने के लिए अनेक कम्प्यूटरों पर अनेक प्रकार के ढेरों आँकड़ों को लेकर अनेक तरह के अध्ययन आवश्यक होंगे जिन्हें अभी तुरन्त प्रारम्भ कर देना तेज़ी से बदलते मौसम के कारण उत्पन्न होने वाली स्थिति से निपटने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। □□

[सम्प्रेषण]

ट्रीशियम (हाइड्रोजन-3)

दिलीप भाटिया

परमाणु बिजलीघर विद्युत्-उत्पादन करते हैं। दाबित भारी पानी किस्म के परमाणु बिजलीघरों में जिनमें प्राकृतिक यूरेयिनम ईंधन व भारी पानी शीतलक व मंदक के रूप में काम में आता है, वहाँ पर ट्रीशियम उत्पन्न होती है व भारत में राजस्थान, मद्रास व नरोरा रिएक्टरों में इससे बचाव के लिए, बिजलीघर के संचालन व अनुरक्षण के समय इसके कारण अत्यधिक सावधानी रखने की आवश्यकता होती है। आइए, इसके बारे में कुछ जानकारी प्राप्त करें।

ट्रीशियम हाइड्रोजन का आइसोटोप है। इसका रासायनिक संकेत H^3 है। इसके एक परमाणु का भार हाइड्रोजन के एक परमाणु के भार से तीन गुना होता है। ट्रीशियम के एक परमाणु में एक प्रोटॉन, एक इलेक्ट्रॉन व दो न्यूट्रॉन होते हैं। ट्रीशियम से बीटा विकिरण निकलता है जिसकी अधिकतम ऊर्जा 18 **Kev** होती है। ट्रीशियम का विकिरण अर्धकाल (रेडियोएक्टिव हाफ-लाइफ) लगभग 12·4 वर्ष है।

अनेक रासायनिक व नाभिकीय क्रियाओं द्वारा ट्रीशियम बनती है। यह वातावरण में विभिन्न प्रकार से पहुँचती है। प्राकृतिक रूप में कॉस्मिक किरणों से ट्रीशियम उत्पन्न होती है। कॉस्मिक किरणों में उपस्थित न्यूट्रॉन वायु में स्थित नाइट्रोजन से प्रक्रिया करके ट्रीशियम बनाते हैं व तारों से भी विकिरण द्वारा ट्रीशियम की उत्पत्ति होती है। हवा में स्थित हाइड्रोजन के प्रत्येक परमाणु के अनुपात में 4 × 10–12 परमाणु ट्रीशियम होती है तथा धरातल पर वर्तमान पानी के प्रत्येक हाइड्रोजन परमाणु के लिए 10–18 होती है।

एक मेगाटन परमाणु परीक्षण से 0.7 किलोग्राम ट्रीशियम निकलती है। एक ग्राम ट्रीशियम में 9600 क्यूरी रेडियोधर्मिता होती है। साधारण जल प्रयोग करने वाली परमाणु भट्टी में (जैसी भारत में तारापुर में है) बोरॉन व लीथियम की न्यूट्रॉन से होने वाली प्रक्रिया में ट्रीशियम निकलती है, लेकिन इसकी मात्रा नगण्य होती है। परन्तु भारी पानी प्रयोग होने वाले बिजलीघरों में (राजस्थान, मद्रास, नरोरा) भारी पानी के सक्रियकरण से ट्रीशियम अत्यधिक मात्रा में उत्पन्न होती है। भारी पानी में हाइड्रोजन का दूसरा आइसोटोप ड्यूट्रियम होता है, जिसका भार हाइड्रोजन परमाणु से दुगुना होता है। D^2 में एक प्रोटॉन, एक

अभियन्ता-एस० ई०, राजस्थान परमाणु बिजलीघर, अणुशक्ति (कोटा), राजस्थान, टाइप 4/6-सी, अणुकिरण कॉलोनी, भाभानगर—323307 (कोटा, राजस्थान)

इलेक्ट्रॉन व एक न्यूट्रॉन व ड्यूट्रियम की प्रक्रिया द्वारा ट्रीशियम उत्पन्न होती है व इस प्रकार के बिजलीघरों में विद्युत्-उत्पादन के साथ ट्रीशियम की मात्रा भी बढ़ती जाती है।

ट्रीशियम से निकलने वाली बीटा विकिरण कम ऊर्जा की होने के कारण हमारे शरीर की चमड़ी की बाहरी परत को भी पार नहीं कर सकती, जिसे पार करने के लिए बीटा विकिरण की ऊर्जा कम से कम 70 **Kev** होनी चाहिए। हमारे शरीर की बाह्य मृत चमड़ी 0.07 मिलीमीटर मोटी होती है, जबकि ट्रीशियम बीटा विकिरण केवल 0.005 मिलीमीटर चमड़ी में से प्रवेश कर सकती है। इस प्रकार ट्रीशियम जब तक शरीर के बाहर है, इससे हमें किसी प्रकार की हानि नहीं होती है।

शरीर के अन्दर स्थित मांसपेशियों पर किसी प्रकार की मृत परत नहीं है, जो उसकी ट्रीशियम से रक्षा कर सके। शरीर में ट्रीशियम अंगों और पेशियों के सीधे सम्पर्क में आती है और मांस के अन्दर प्रवेश करती है। अपनी ऊर्जा इन्हें स्थानान्तरित कर इन्हें हानि पहुँचाकर जीवाणु सेल को नष्ट कर देती है। इसलिए ऐसी सावधानी रखना आवश्यक है, जिससे ट्रीशियम शरीर के अन्दर न पहुँच सके।

गैसीय ट्रीशियम मानव शरीर में नहीं रह सकती, परन्तु वाष्प व पानी के रूप में यह शारीरिक जल में घुलमिल कर शरीर के अन्दर रहती है। परमाणु बिजलीघरों से यह वाष्प या जल के रूप में निकलती है। मानव शरीर में यह साँस, भोजन व चर्म द्वारा प्रवेश करती है। शरीर में जाने पर रक्त-प्रवाह द्वारा यह सभी अंगों में फैल जाती है। जलीय रूप होने के कारण शारीरिक तरल द्रव्यों में अपना स्थान बना लेती है। शरीर में ट्रीशियम की उपस्थिति का अनुमान मूत्र, रक्त व मुखलार के परीक्षण से लगाया जा सकता है। सरलता से उपलब्ध होने के कारण मूत्र का विश्लेषण करके ट्रीशियम की मात्रा जानी जाती है। शरीर में स्थित जल की आधी मात्रा 6 से 10 दिनों में नये जल में परिवर्तित हो जाती है, इस प्रकार ट्रीशियम की आधी मात्रा भी इस अवधि में निकल जाती है व ट्रीशियम का प्रभावी अर्धकाल 6 से 10 दिन माना जाता है। तरल पदार्थों के अधिक सेवन (पानी, चाय, कॉफी, कोल्ड ड्रिंक) से इस अवधि को और कम किया जा सकता है। ट्रीशियम से मिलने वाली विकिरण मात्रा को कम करने के लिए यह सरलतम, सुविधाजनक श्रेष्ठ उपाय है। जब तक पूरी ट्रीशियम शरीर से निकल नहीं जाती है, यह अंगों व जीवाणुओं को हानि पहुँचाती रहती है। मनुष्य के ट्रीशियम संदूषित क्षेत्र में काम समाप्त कर देने के पश्चात् भी शरीर में स्थित रहने के कारण यह हमें हानि पहुँचाती रहती है। इस प्रकार से मिलने वाली विकिरण मात्रा उस बाह्य विकिरण से अलग होती है जो हमें मात्र विकिरण क्षेत्र में काम करने पर ही मिलती है, अन्यथा नहीं। ट्रीशियम की 2000 माइक्रोक्यूरी शरीर में हमेशा रहकर मनुष्य को 5 रैम (विकिरण मापन इकाई) प्रतिवर्ष की अधिकतम प्राप्त मात्रा देती है।

भोजन व साँस द्वारा रेडियोधर्मी पदार्थ शरीर के अन्दर प्रवेश करते हैं। इन्हें शरीर में कम से कम मात्रा में प्रवेश पाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मापदंड हैं। वायु व जल में विकिरणधर्मी पदार्थों की अधिकतम मात्रा निश्चित की जाती है। एक अधिकतम मान्य सांद्रण के वातावरण में 2000 घंटे काम करने से 5 रैम विकिरण-मात्रा मिलती है। एक अधिकतम मान्य सांद्रण (मैक्जिमम् परमिसिबल कन्सेन्ट्रेशन) प्रति घंटा 2.5 मिलीरैम, (1 रैम=1000 मिलीरैम) विकिरण-मात्रा देगा।

मूत्र-विश्लेषण द्वारा शरीर में ट्रीशियम की मात्रा जानी जा सकती है। मूत्र का नमूना कार्य समाप्ति के दो घंटे पश्चात् देना चाहिए। कार्य समाप्ति के तुरन्त बाद मूत्राशय पूरा खाली करके दो घंटे बाद नमूना देना चाहिए। नमूना देने में अधिकतम् विलम्ब एक दिन से अधिक नहीं होना चाहिए। जितना शीघ्र नमूना देंगे, उतना ही सही विश्लेषण का परिणाम मिलेगा।

मानव शरीर में 40 लीटर तरल पदार्थ होता है व एक एम पी बी बी (अधिकतम अनुमेय मात्रा) का मूल्य 2000 माइक्रोक्यूरी है। इस प्रकार 50 माइक्रोक्यूरी प्रति लीटर ट्रीशियम एक एम पी बी बी बतलाता है। यदि यह मात्रा शरीर में बनी रहे, तो मनुष्य को 100 मिलीरैम प्रति सप्ताह या 5 रैम प्रति वर्ष विकिरण मात्रा मिलती है। यदि मानव शरीर में 2000 माइक्रोक्यूरी ट्रीशियम पहुँच जाता है तो उसे विकिरण क्षेत्र में काम करने से रोक दिया जाता है। एक प्रभावी अर्धकाल (6 से 10 दिन) के बाद यह मात्रा 1000 माइक्रोक्यूरी रह जाती है। मात्रा कम होने पर मनुष्य पुनः विकिरण क्षेत्र में कार्य कर सकता है। सिंटीलेटर स्पेक्ट्रोमीटर द्वारा ट्रीशियम की मात्रा का विश्लेषण किया जाता है।

ट्रीशियम से सुरक्षा के लिए कई सावधानियाँ रखी जाती हैं। भारी पानी को बहने व फैलने से रोका जाता है। रबर के दस्ताने व प्लास्टिक सूट का प्रयोग किया जाता है। ट्रीशियम वातावरण में काम करते समय साँस लेने के लिए शुद्ध हवा, एयर लाइन रेस्पिरेटर द्वारा, ली जाती है। प्लास्टिक सूट का प्रयोग करके चमड़ी द्वारा शोषण रोका जाता है। खुले घाव हों, तो इस वातावरण में काम करना निषिद्ध होता है। इस प्रकार सुरक्षा के साधन अपनाने व कार्य सही ढँग से योजनाबद्ध तरीके से करके शरीर में प्रवेश करने वाली ट्रीशियम की मात्रा को कम से कम रखा जा सकता है।

भारत के सभी परमाणु बिजलीघरों में ट्रीशियम मापन व सुरक्षा प्रावधानों की पूर्ण व्यवस्था है व एक स्वतः निर्भर स्वास्थ्य भौतिकी विभाग द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मापदंडों का कड़ाई से पालन करके इन्हें सुरक्षित नियंत्रित मात्रा में रखा जाता है। □□

5 जून विश्व पर्यावरण दिवस पर

नये पर्यावरण की तलाश

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

अब कान से कम सुनाई पडता है और आँखों से कम दिखता है। दाँतों में गड्ढे बन चुके हैं और हाथ पाँव के पोर-पोर दर्द करते हैं। दिमाग़ में अजीब तनाव बना रहता है। शायद यह उम्र का तक़ाज़ा है। लेकिन 60 वर्ष की आयु कोई बहुत बड़ी आयु नहीं। पश्येम शरदः शतम् के अनुसार 40 वर्ष और जीना होगा। लेकिन 2000 ई० तक तो बड़ी उथल पुथल की कल्पनाएँ की जा रही हैं। विशेषतया पर्यावरण को लेकर जन-जन चिन्तित है। पर्यावरण का यह 'हौवा' क्या सचमुच कोई समस्या है या केवल अनुमान है—सम्भावना है?

विगत 20 वर्षों में पर्यावरण के विषय में अजीबो-ग़रीब बातें सुनने में आई हैं—कुछ आन्दोलन भी चले हैं। कुछेक में तो तथ्य जान पड़ता है लेकिन गंगा की सफाई का जो शंखनाद हुआ उसमें गहराई कम जान पड़ी। बारम्बार जलमार्गों की सफाई कराने की बात उठाई जाती है और फिर ठप हो जाती है।

पर्यावरण सन्तुलन कई बातों पर निर्भर करता है। कोई भी तन्त्र तरह-तरह के कारकों द्वारा नियन्त्रित होता है। कारकों में परिवर्तन के साथ ही तन्त्र में क्षोभ आता है। कुछ काल तक वह बाहरी दाब को आत्मसात करता है किन्तु अन्त में टूटने लगता है। विश्व पर्यावरण आज ऐसी ही टूटन की स्थिति में है। वैज्ञानिकों ने कई समस्याएँ चुनकर उन्हें पर्यावरण में उथल-पुथल के लिए उत्तरदायी बताया है—पौधघर प्रभाव, ओज़ोन स्तर का विघटन, अम्ल वर्षा तथा वन विनाश।

इन बातों पर काफी लिखा-पढ़ा जा चुका है। हम उनसे आतंकित हैं। सबसे बड़ी आशंका है नाभिकीय विस्फोट से उत्पन्न अवपात की। यह तो राजनीतिक-

निदेशक, शीलाधर मृदा विज्ञान अनुसंधान संस्थान, इलाहाबाद—211002

संन्तुलन पर निर्भर करेगा कि कौन देश शिकार बनेगा पहले। एक बार नागासाकी तथा हिरोशिमा में जो हो चुका है उसकी पुनरावृत्ति न हो—यह सभी लोग चाहते हैं। यह शुभ लक्षण है।

किन्तु दो बातें मुख्य हैं जिनसे पर्यावरण संतुलन डगमगा सकता है—ऊर्जा की समस्या तथा जनसंख्या विस्फोट। ऊर्जा के जो स्रोत प्रदूषण को बढ़ाने वाले हैं, क्या उनका परित्याग किया जा सकता है? क्या गैर-पारम्परिक ऊर्जा स्रोतों का दक्षतापूर्वक दोहन सम्भव है? प्राकृतिक गैस तथा बायोगैस के उपयोग से गृहणियों को राहत मिली है, किन्तु बड़े-बड़े शहरों में शायद पेट्रोल राशनिंग के बाद ही कुछ सुधार नज़र आवे। सौर या पवन ऊर्जा या जल-विद्युत् का प्रयोग ख़र्चीला तो है किन्तु प्रदूषण रहित है। देश के कर्णधारों को इसी दिशा में बढ़ना चाहिए और नागरिकों को इसका पोषण करना चाहिए।

जनसंख्या विस्फोट अब मनुष्य के वश में तो है किन्तु परिवार-नियोजन से उपलब्ध परिणाम तनिक भी उत्साहवर्धक नहीं जान पड़ते। ग़रीबी रेखा के नीचे लोगों की संख्या बहुत बड़ी है और इसी जनता-जनार्दन के हाथ में पर्यावरण को बदल देने की शक्ति भी छिपी है। ईंधन की समस्या ने इस वर्ग को ऐसा तबाह कर रखा है कि चोरी छिपे जंगलों का सफाया हो रहा है—चरवाहे भेड़-बकरियाँ चरा कर हरियाली का विनाश करते हैं। लेकिन उनके समक्ष कोई विकल्प भी तो नहीं है। वृक्षारोपण के जितने उत्सव हैं उनमें उनकी भूमिका क्या है? क्या उन्हें पीड़ा नहीं होनी चाहिए कि वृक्ष न काटे जायें? शायद नहीं। उनमें यह विवेक आवेगा भी नहीं। अतः पर्यावरण सुरक्षा का भार उन लोगों पर है जो ग़रीबी रेखा से ऊपर हैं। किन्तु ये लोग सोचते हैं कि पर्यावरण से उन्हें क्या लेना देना।

वास्तव में पर्यावरण का दर्शन अत्यन्त जटिल एवं गम्भीर है। न केवल विचारकों के विचार करने से, न केवल योजना बनाने वालों की योजना से काम चलने वाला है—इसके लिए समग्र सामूहिक विचार विमर्श तो हो ही, सामूहिक ज़िम्मेदारी के साथ व्यक्तिगत ज़िम्मेदारी सौंपी जाय।

यदि 5000 वर्षों से हमारे पूर्वज पर्यावरण को संतुलित रखते आये हैं तो प्रौद्योगिकी और विज्ञान की असीम उपलब्धियों के इस युग में क्या हम उसे पूर्ववत् बनाये नहीं रख सकते? अवश्य! किन्तु···किन्तु ही तो वह सोच है—वह कर्तव्य निष्ठा है जिसकी हमसे आशा की जाती है।

नारेबाजी बन्द हो। बच्चे से लेकर बूढ़े तक के लिए पर्यावरण विषयक कोई न कोई ज़िम्मेदारी सौंपी जाय। कोई वनस्पतियों की सूची बनावे, कोई पशुओं की। कोई नदियों में पाये जाने वाले जलचरों की संख्या पर नज़र रखे, कोई पक्षियों पर। कूड़ा-करकट का निपटान, पेय जल की शुद्धता, खाद्यों में मिलावट—नई बस्तियों की सफाई, ग्रामीण इलाकों में पर्यावरण दर्शन का प्रचार, वन्य जातियों की गतिविधियों पर नज़र—वैज्ञानिकों द्वारा प्राप्त किये परिणामों का विवेचन, नई समस्याओं से राजनीतिज्ञों तथा वैज्ञानिकों को अवगत कराना—सामाजिक कार्य के लिए, अवैतनिक सेवा कार्य के लिए तैयार रहना—ये तमाम बातें हैं जिन्हें अगले 10 वर्षों तक करके देखा जाय। परिणाम तुरत-फुरत नहीं मिलेंगे लेकिन इक्कीसवीं शती में प्रवेश करते हुए सुरक्षित पर्यावरण के प्रति आश्वस्त हुआ जा सकता है। पर्यावरण सुधार को आगामी पंचवर्षीय योजनाओं का भी अभिन्न अंग बन जाना चाहिए।

□□

'विश्व पर्यावरण दिवस' पर विचार गोष्ठी

5 जून को 'विश्व पर्यावरण दिवस' के अवसर पर 'पर्यावरण सुरक्षा' विषय पर विचार गोष्ठी सम्पन्न हुई। विषय प्रवर्तन करते हुए 'विज्ञान' पत्रिका के सम्पादक **प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव** ने परिषद् की गतिविधियों पर संक्षेप में प्रकाश डालते हुए आज की पर्यावरणीय समस्याओं—जनसंख्या विस्फोट, निर्वनीकरण, सूखा-बाढ़, ओज़ोन की चादर का झीना होना, ताप में वृद्धि, अम्लवर्षा को रेखांकित करते हुए वक्ताओं को एक-एक समस्या पर विचार व्यक्त करने के लिए आमंत्रित किया। इस अवसर पर 'विज्ञान' पत्रिका के जून-जुलाई अंक का विमोचन **डॉ० जे० पी० श्रीवास्तव** ने किया।

श्री दिनेश मणि ने पर्यावरण संरक्षण की आवश्यकता पर बोलते हुए मिट्टी को बचाने पर विशेष बल दिया। **श्री राजेशकुमार केसरी** ने भारत के पर्यावरण को प्रदूषित करने वाले कारकों की चर्चा करते हुए कुछ तकनीकों यथा जेनेटिक इंजीनियरी द्वारा प्रदूषण निवारण पर ज़ोर दिया। **कु० स्मृति दुबे** ने ओज़ोन छिद्र के कारण सूर्य की पराबैंगनी घातक किरणों द्वारा मनुष्यों सहित जीव-जन्तुओं और वनस्पतियों को होने वाली बीमारियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया। **श्री दर्शनानन्द** ने धूम्रपान से स्वास्थ्य को होने वाले ख़तरों के प्रति आगाह किया। **श्री प्रमोद कुमार शुक्ल** ने विभिन्न प्रकार के प्रदूषणों पर प्रकाश डाला। **प्रो० शिवगोपाल मिश्र** ने प्रदूषण और बुढ़ापे के संबंधों को स्पष्ट किया और 'नये पर्यावरण की तलाश' पर बल दिया। **डॉ० सुरेन्द्र नाथ श्रीवास्तव** ने पर्यावरण और आर्थिक विकास में सन्तुलन बनाने और जनजागरण अभियान की आवश्यकता पर ज़ोर दिया। **डॉ० पूर्ण चन्द्र गुप्ता** ने अपनी उत्तराखण्ड की यात्रा के दौरान वहाँ के छिन्न-भिन्न होते पर्यावरण को जिस रूप में देखा उसका रोमांचक वर्णन किया और सुरक्षा के उपाय सुझाये। **श्री टी० एन० श्रीवास्तव** ने स्वतंत्रतापूर्व के भारतीय पर्यावरण और आज के प्रदूषित पर्यावरण की तुलना करते हुए अपने स्वयं के अनुभव को प्रस्तुत किया। **डॉ० चन्द्रविजय चतुर्वेदी** ने प्राचीन परम्पराओं में आस्था, प्राचीन भारतीय ऋषि मुनियों के दर्शन में आस्था और किसी सीमा तक 'बैक टु नेचर' पर बल दिया।

इन वक्ताओं के अतिरिक्त इस विचारगोष्ठी में **डॉ० जे० पी० श्रीवास्तव डॉ० व्यासजी द्विवेदी, डॉ० सुप्रभात मुकर्जी, सर्व श्री विनय कुमार, प्रभात रंजन बाँके बिहारी** आदि ने भी भाग लिया।

अपने अध्यक्षीय भाषण में **प्रो० वाचस्पति** ने स्थानीय स्तर पर, लोगों के सहयोग, विशेषकर युवा-वर्ग और विद्यार्थियों के छोटे-छोटे दल बनाकर कार्य, करने का सुझाव दिया और परिषद् द्वारा किए जा रहे कार्य की सराहना की।

विचार-गोष्ठी का समापन **प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव** के कृतज्ञता ज्ञापन से हुआ।

प्रस्तुति : प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

तीन पुस्तकें

1. **तत्व नये पुराने**
2. **राकेट एक परिचय**
3. **फोनोग्राफ से स्टीरियो तक**

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् द्वारा 'पढ़े और सीखें योजना' के अन्तर्गत प्रकाशित तीनों पुस्तकें भाषा की सरलता, रोचकता एवं विषय-वस्तु की प्रधानता की दृष्टि से उत्तम हैं,

"**तत्व-नये पुराने** नामक पहली पुस्तक, जिसके लेखक **प्रो० रामचरण मेहरोत्रा** एवं **रमाशंकर राय** हैं, में तत्वों की परमाणु संख्या, संक्षिप्त संकेत, नाम, गवेषणा वर्ष और नाम के स्रोत के विवरण को बड़े ही ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है (पृष्ठ 18-29)। तत्वों की परमाणु संरचना एवं रेडियो एक्टिविटी नामक अध्यायों को नये ढंग से प्रस्तुत करने के अतिरिक्त लेखक द्वय ने एक ओर जहाँ आवर्त तालिका में कुछ लुप्त तत्वों को अपनी कुशाग्र बुद्धि का परिचय देकर खोज निकाला, वहीं दूसरी ओर कृत्रिम तत्व बनाने के यन्त्र और, रचना विधियों को प्रस्तुत करके पुस्तक को नवीनता प्रदान की है। पुस्तक में एक्टीनियम सदृश कृत्रिम तत्व, आवर्त तालिका में भारी तत्वों का स्थान, कृत्रिम तत्वों के परमाणु आयुध एवं शान्तिपूर्वक उपयोग नामक अध्यायों में खोजपरक सामग्री की बहुलता है। पुस्तक अपने उद्देश्य में सफल एवं हर दृष्टि से उत्तम कहने योग्य है।

दूसरी पुस्तक का नाम **राकेट एक परिचय** है, जिसके लेखक श्री **मणीश चन्द्र उत्तम** हैं। इस पुस्तक में राकेट के इतिहास से लेकर ईंधन के आधार पर राकेट के वर्गीकरण तथा आधुनिक राकेट-विज्ञान की भारत में प्रगति तक का विहंगावलोकन लेखक ने बड़ी ही सूझ-बूझ के साथ किया है। विषय-प्रवेश में लेखक ने जहाज और राकेट के अन्तर को स्पष्ट करके बच्चों की ही नहीं बल्कि बड़ों की भी शंका का समाधान किया है। पुस्तक में विभिन्न नोदकों वाले राकेटों के योग्यता परीक्षण के अतिरिक्त **न्यूटन** के गति सम्बन्धी नियमों के आधार पर राकेट नोदन को गणितीय ढंग से समझाने का सफल प्रयास किया गया है।

तीसरी पुस्तक **फोनोग्राफ से स्टीरियो तक** के लेखक **डॉ वीरेन्द्र भटनागर** हैं। रंगीन चित्रों से युक्त इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में ध्वनि के स्तर, विभिन्न ध्वनियों में अन्तर एवं ध्वनि अंकन की विधियों का जो रोचक वर्णन प्रस्तुत किया गया है, उसी से पूरी पुस्तक की विशेषता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। डेसीबेल को परिभाषित करने के अतिरिक्त दैनिक जीवन में काम आने वाले विभिन्न ध्वनि स्तरों को सारणीबद्ध रूप में प्रस्तुत करके लेखक ने अपनी लेखन क्षमता का उत्कृष्ट परिचय दिया है। **एडीसन** के फोनोग्राफ, रिकार्ड बनाने और बजाने में बिजली के उपयोग नामक अध्यायों में पुराने समय से नये समय में ध्वनि-विज्ञान के क्षेत्र में हुई प्रगति का ब्यौरा दिया गया है। ध्वनि अंकन की चुंबकीय विधि, सिनेमा फिल्मों पर ध्वनि अंकन जैसे अध्यायों में बोलती फिल्मों के निर्माण की रूपरेखा को प्रस्तुत किया गया है। स्टीरियो ध्वनि, माइक, एम्प्लीफायर, और स्पीकर आदि सभी उपकरणों के बारे में रोचक जानकारी अन्तिम अध्याय 'नई खोजें, नई बातें' के साथ पूर्ण होती है। □□

—**दिनेश मणि**

शीलाधर मृदा विज्ञान अनुसंधान संस्थान
इलाहाबाद—2

विज्ञान

ओऽम ऋषि भारद्वाज

यह युग विज्ञान ज्ञान का युग, वैज्ञानिकता ही सत्य,
वैज्ञानिक दृष्टि अभीष्ट बने, हम पढ़ते सुनते नित्य।
लेकिन है यह 'विज्ञान' कौन? क्या कोई मारक अस्त्र?
अथवा यह कोई प्रहरी है, सीमा पर खड़ा सशस्त्र?
क्या यह पृथ्वीतर मानव है? अथवा आकाशी पक्षी?
क्या जलचर या दानव है? या शायद मानवताभक्षी?
पर नहीं आप गलती पर हैं, इक गलत धारणा पाली,
विज्ञान शब्द की मर्यादा पर धूल स्वयं ही डाली।
वैज्ञानिक चिंतन ही विवेक की हमको राह दिखाए,
जीवन, नभ, धरती, तारों के सारे रहस्य समझाए।
क्या अंतरिक्ष में होता है? क्या होता सागरतल पर?
कितने विचित्र पौधे-प्राणी बिखरे हैं भूमण्डल पर?
रोगों का है आवास कहाँ? है कौन जनक या वाहक?
हो कैसे उनसे मुक्ति? न ये बन सकें जान के ग्राहक।
विज्ञान जगत के समाचार कोने-कोने से लाकर,
हम तक पहुँचाती शीघ्र, भरे ज्यों गागर में रत्नाकर।
है ऐसी एक पत्रिका जो हर माह प्रकाशित होती,
जनमानस रूपी खेतों में वह बीज ज्ञान के बोती।
कहते उसको 'विज्ञान' कार्य परजनहिताय वह करती,
प्रत्येक मास इक नया ज्ञान भंडार प्रकाशित करती।
परिषद् विज्ञान जीवियों की इक, यह उसकी संतान,
पचहत्तर वर्षों से इसकी आभा न हुई है म्लान।
'विज्ञान' रूढ़ियों, अंधे विश्वासों की जड़ता तोड़े,
हैं धन्य सभी वे लोग जिन्होंने इससे रिश्ते जोड़े।
ऐसा वैज्ञानिक ज्ञान नहीं हो सके न इससे प्राप्त,
हतभाग्य सभी वे नारी-नर 'विज्ञान' जिन्हें अज्ञात।

□□

ग्राम-भरतपुर, पो०-डेंगरी, जिला–एटा (उ० प्र०) 205241

वन्य प्राणियों को बचाइये सड़क दुर्घटनाओं से

सतीश कुमार शर्मा

आवागमन के साधनों में सड़क परिवहन अपना विशेष महत्व रखता है। आज़ादी के बाद सड़कों की लंबाई तथा उस पर चलने वाले वाहनों की संख्या में बेतहाशा वृद्धि हुई है तथा उसी अनुपात में सड़क मार्ग से यात्रा करने वालों की न केवल संख्या बढ़ी है अपितु सड़क दुर्घटनाओं में मरने वाले एवं अपंग होने वालों की संख्या में तेज़ी से बढ़ोत्तरी हुई है।

सड़कों पर केवल आदमी ही मर रहे हों, यह बात भी नहीं है। सच तो यह है कि हज़ारों वन्य प्राणी एवं पालतू पशु भी वाहनों से कुचल कर मारे जा रहे हैं। यह तथ्य हाल ही में प्रकाशित एक अध्ययन रिपोर्ट से उजागर हुआ है। अध्ययन से ज़ाहिर हुआ है कि राष्ट्रीय उच्च मार्ग संख्या 11 पर वर्ष 1980-81 के दौरान मात्र 5 कि. मी. की दूरी पर 363 वन्य प्राणियों, 26 पालतू पशुओं तथा 50 अवारा एवं अर्द्ध पालतू पशुओं सहित 439 प्राणियों का सड़क दुर्घटनाओं में विनाश हुआ। उभयचारी प्राणियों—मेंढ़क, सरीसृपों में विभिन्न किस्मों के साँप, पक्षियों में फाख्ता तथा स्तनधारियों में कुत्ते सर्वाधिक मरने वाले प्राणी रहे। पक्षियों में फाख्ता के बाद दूसरे स्थान पर कौवा, तीसरे स्थान पर देशी मैना, चौथे स्थान पर गिद्ध और तोता तथा पाँचवें स्थान पर मोर मरने वालों में रहे।

अध्ययन में पाया गया कि उभयचारी तथा सरीसृप वर्ग के प्राणी सर्वाधिक वर्षा ऋतु में मरते हैं। वर्ष के शेष समय यानी सर्दी तथा गर्मी में ये प्राणी कम संख्या में मारे जाते हैं क्योंकि अनियमित तापी होने के कारण ये प्राणी सर्दी के कम ताप तथा गर्मी के अधिक ताप में अपने आपको क्रियाशील बनाये रखने में असमर्थ पाते हैं। अतः ये इन विपरीत मौसमी परिस्थितियों में अपने छुपाव स्थलों पर निष्क्रिय पड़े रहते हैं। इन मौसमों में इनकी गतिशीलता काफी घट जाती है तथा ये सड़कों पर कम ही आ पाते हैं एवं कम दुर्घटनाग्रस्त होते हैं।

वर्षा ऋतु आते ही अधिकांश उभयचारी तथा सरीसृप सक्रिय हो उठते हैं। इस समय इनमें से अनेक प्रजनन भी करते हैं साथ ही पिछली निष्क्रियता के उपवास में खर्च हुए शारीरिक जमा खाद्य की न केवल क्षतिपूर्ति करते हैं बल्कि अगली निष्क्रियता में जीवित रहने हेतु अतिरिक्त खाद्य पदार्थ जमा करने हेतु भोजन की सरगर्मी से तलाश करने में जुट जाते हैं। इस सबसे इनकी गतिशीलता बढ़ जाती है तथा ये इधर-उधर आते-जाते सड़क पार करते समय वाहनों की चपेट में आकर मारे जाते हैं। शीत रक्त वाले प्राणी डामर निर्मित काली सड़क द्वारा दिन में शोषित गर्मी के ताप का आनन्द लेने रात्रि की ठंड में कई बार सड़क पर आकर ठहर जाते हैं तथा वाहनों के टायरों के नीचे दब कर मारे जाते हैं।

पक्षी तथा स्तनी गर्म रक्त वाले प्राणी होने के कारण सालभर क्रियाशील बने रहते हैं। यही कारण है इन दोनों वर्गों के प्राणी पूरे साल मरते रहते हैं। पक्षी तो विशेष रूप से बहुत अधिक संख्या में मारे जाते हैं। एक साल में मारे गये 439 प्राणियों में 42 उभयचारी, 82 सरीसृप, 219 पक्षी, तथा 96 स्तनधारी थे। यानि मरने वाले प्राणियों में 49.88% तो केवल पक्षी ही थे। स्तनी 21.8% थे। पक्षियों के इतनी ज़्यादा संख्या में मरने का कारण उनके पास गति के दो साधन होना भी है। पक्षी न केवल पैरों से चलन गति, बल्कि डैनों से उड़न गति भी करते हैं। एक पक्षी अन्य किसी भी गैर पक्षी वन्य प्राणी के मुकाबले प्रतिदिन अधिक किलोमीटर गति करता है। यही कारण है कि पक्षियों के वाहनों से टकराकर मरने

की संभावना अधिक रहयी है। सड़क पर बैठा, खड़ा या चलता हुआ पक्षी सरीसृपों व उभयचारियों की तरह टायरों के नीचे दब कर मरता है जबकि नीची उड़ान लेता हुआ पक्षी वाहन के किसी भी भाग, विशेषकर अगले हिस्से से टकरा कर मारा जाता है ।

अलग-अलग जातियों के पक्षियों के दुर्घटना में मरने के कारण अलग-अलग होते हैं। गिद्ध जैसे मृत-भोजी पक्षी सड़क पर पहले से दुर्घटनाग्रस्त किसी प्राणी पर दावत उड़ाते समय स्वयं मारे जाते हैं। कौवों में युवा कौवे, जो हाल ही में घोंसला छोड़कर निकले होते हैं, सड़क से अनभिज्ञ होने के कारण प्रौढ़ कौवों के मुकाबले ज़्यादा मरते हैं। चलता हुआ नर मोर अपनी लंबी पूँछ के कारण अपने पूरे शरीर को सड़क से पार निकलने में अपेक्षाकृत अधिक समय लेता है जो इसकी मौत के लिये कारण बन सकता है। अनेक पक्षी सड़कों पर परिवहन के दौरान बिखरे दानें व अन्य खाद्य पदार्थ खाने के लालच में सड़कों पर आते हैं तथा उनमें से कुछ दुर्घटनाग्रस्त हो जाते हैं। अध्ययन से यह भी स्पष्ट हुआ है कि रात्रिचर तथा जलचर पक्षियों की तुलना में दिनचर पक्षी अधिक संख्या में दुर्घटनाग्रस्त होकर मारे जाते हैं।

सड़कों पर मरने वाले स्तनधारियों में गिलहरी, नेवला, गीदड़, चमगादड़, जंगली बिल्ली, खरगोश आदि हैं। अध्ययन में पाया गया है कि गिलहरी तथा नेवला प्रायः इसलिए मारे जाते हैं क्योंकि ये सड़क पार करते समय अचानक रुक कर पिछले पैरों पर लम्बवत खड़े होकर कुछ देर इधर-उधर का नज़ारा देखने में समय बर्बाद करते हैं, तब तक कोई भागता हुआ वाहन आ चुका होता है। कई बार ये प्राणी सड़क पार करते समय अचानक बीच सड़क वापिस मुड़ कर गति की दिशा बदल कर स्वयं ख़तरा मोल ले लेते हैं। कुत्तों में सर्वाधिक मृत्युदर संभोगकाल एवं बच्चे उत्पन्न करते समय पायी गई है। उष्माकाल में अनेक नर कुत्ते आपस में लड़ते हुये मादाओं का पीछा करते हैं तथा दिशाहीन दौड़ लगाते रहते हैं एवं वाहनों से टकराते रहते हैं। कुछ कुत्ते तो बकायदा भौंकते हुये अगले वाहन का पीछा करते हैं तथा पीछे से आ रहे वाहन के नीचे दबकर मर जाते हैं। प्रजनन के बाद पिल्लों के पैदा होने के कारण कुत्तों की संख्या में अचानक वृद्धि हो जाती है। पिल्ले मन्द गति से इधर-इधर गति करते रहते हैं तथा सड़कों पर भारी संख्या में मारे जाते हैं। इस तरह कुत्तों की संख्या काफ़ी हद तक सड़क दुर्घटनाओं द्वारा नियन्त्रित कर दी जाती है। उड़ानहीन होने के कारण स्तनधारियों की मृत्यु टायरों के नीचे दबने या वाहनों के निचले हिस्सों से ठोकर लगने के कारण होती है।

भारत में वन्य प्राणियों की सड़क दुर्घटनाओं की विपुलता

अध्ययन में बताया गया है कि वर्ष 1978 में राष्ट्रीय उच्च मार्गों की लंबाई 28870 कि०मी० तथा राज्य उच्च मार्गों की लंबाई 57000 किमी० थी। अन्य सड़कें यथा स्थानीय 155000 किमी० एवं ग्रामीण 360000 कि० मी० लंबी थीं। उस समय लगभग 2100000 वाहन सड़कों पर दौड़ रहे थे। अध्ययन में माना गया है कि राष्ट्रीय तथा राज्य उच्च मार्गो पर लगभग समान मात्रा में वन्य प्राणियों एवं पशुओं की दुर्घटनाओं में मृत्यु हो रही है। अध्ययन के अनुसार दोनों तरह के उच्च मार्गों पर ही प्रतिवर्ष लगभग 7540000 वन्य प्राणी एवं पशु मारे जाते हैं। अन्य सड़कों पर मारे जाने वाले प्राणियों की संख्या इसमें शामिल नहीं है। आज जबकि सड़कों की लंबाई तथा वाहनों की संख्या में आशातीत बढ़ोतरी हो चुकी है, प्रति वर्ष मरने वाले प्राणियों की संख्या बहुत ज़्यादा पहुँचने की सम्भावना है।

प्राणियों का महत्व

इन मरने वाले प्राणियों में अनेकानेक उपयोगी किस्में भी नष्ट हो जाती हैं जो हमारे पारिस्थितिकी तन्त्र में प्राकृतिक संतुलन के लिये ज़िम्मेदार हैं। मरने वाला कोई वन्य प्राणी व्यर्थ की वस्तु नहीं है। उभयचारी बड़ी संख्या में कीट-पतंगों का सफाया कर कृषि-पारिस्थितिकी तन्त्र को विघटित होने से बचाते हैं तो साँप, चूहों, मूषकों, गिलहरियों जैसे नाशक रोडेन्टों को

नष्ट कर कृषि की अमूल्य सेवा करते हैं। मरने वाले पक्षी यदि जीवित रहें तो वे कीट नियन्त्रण, परागण, प्रकीर्णन जैसी कृषि उपयोगी क्रियायें संपादित करने के अलावा कई तरह के आर्थिक उत्पादन देने हेतु भी उपलब्ध रह सकते हैं। हायना, गिद्ध, गीदड़ जैसे प्राणी मृत जीवों को खाकर निःशुल्क सफाई अभियान चलाकर मानव को दुर्गन्ध एवं जीवाणुमुक्त वातावरण उपलब्ध करते हैं।

कैसे बचायें वन्य प्राणियों को सड़क दुर्घटनाओं से ?

हालाँकि ऐसा कोई तरीका नहीं है, जिससे हम वन्य प्राणियों की दुर्घटनाओं को शतप्रतिशत रोक सकें। फिर भी कुछ उपायों को प्रयोग में लाकर दुर्घटनाओं में कमी लाई जा सकती है। चूँकि प्राणियों की गति पर हमारा कोई नियन्त्रण नहीं होता है न ही उनकी उपस्थिति का हर समय हमे ज्ञान रहता है अतः इन प्राणियों को बचाने में और भी दिक्कतों का सामना करना पड़ता है। वन्य प्राणियों को सड़क दुर्घटना में बचाना यद्यपि कुछ कठिन ज़रूर है तथापि हमे इन प्राणियों को बचाने की तरफ सावधानीपूर्वक पर्याप्त ध्यान देना चाहिये। रात को वाहन की रोशनी की चकाचौंध में अनेक प्राणी अपनी दिशा व रास्ते से भटक जाते हैं। वाहन चालक को दयाभाव दिखाते हुए "डिपर" का उपयोग करना चाहिये तथा फँसे हुए वन्य प्राणियों को बचने का रास्ता एवं समय दे देना चाहिये। कुछ चालक जान-बूझकर भागते वन्य प्राणी को वाहन की मारक रेंज में लाते हैं। साँपों को तो जान-बूझकर कुचला जाता है। लोगों में अंधविश्वास है कि साँप चूकि पेट के बल गति करता है अतः वह अपने जन्म से दुःखी है। यदि उसे मार दिया जावे तो मारने वाले को पुण्य मिलता है तथा साँप को पेट के बल चलने के दुःख से मुक्ति। हमें ऐसे आधारहीन अन्धविश्वासों को छोड़कर सर्प संरक्षण करना चाहिए। मार्गी वाहन के सामने सड़क पर उपस्थित पक्षी या पक्षियों के झुण्ड को बचाने के लिये हल्के हार्न का उपयोग कुछ दूरी रहते करने से पक्षियों को हटने की जानकारी व समय मिल जाता है तथा पक्षी तुरन्त सड़क छोड़ देते हैं। यदि कोई प्राणी वाहन से टकरा कर मर चुका हो तो उसे स्वयं ही खींच कर सड़क से दूर हटा देना चाहिये ताकि गिद्ध, हायना, कौवे, आदि को बचाया जा सके। इसके अतिरिक्त बचाये जा सकने योग्य घायल प्राणियों का इलाज कर उनका पुनर्वास किया जाना चाहिये या उन्हें चिड़ियाघरों में रखवा दिया जाना चाहिये। वन्य प्रणियों की सुरक्षा सम्बन्धी प्रावधान मोटर वाहन अधिनियम में रखा जाना भी उचित होगा। न केवल चालकों को बल्कि जन साधारण को भी वन्य प्राणियों के संरक्षण में शामिल करते हेतु, जन-चेतना हेतु जगह-जगह उचित डिज़ायन किये बोर्ड, बस स्टैण्ड, रेलवे स्टेशन, सड़कों के किनारे व अन्य स्थानों पर प्रदर्शित किये जाने चाहिये तथा इस विषय को प्रचार माध्यमों पर भी महत्व देना चाहिये। इस तरह की भी कोई विशेष व्यवस्था की जानी चाहिये कि वन्य प्राणी (सुरक्षा) अधिनियम 1972 की अनुसूची 1 से 4 विशेषकर 1 व 2 अनुसूची के प्राणियों की सड़क पर विशेष रूप से सुरक्षा की जावे। यदि सड़कें अभयारण्यों एवं राष्ट्रीय पार्कों में से गुजरती हैं तो वन्य प्राणियों की सुरक्षा सम्बन्धी कड़े प्रावधान रखे जाने चाहिये तथा उनका पालन कराया जाना चाहिये।

आइये हम सब मिलकर सड़कों पर नष्ट हो रही हमारी बहुमूल्य वन्य प्राणी संपदा को बचाने में जुट जायें। □□

5 जून विश्व पर्यावरण दिवस पर

काफ़ी कुछ हो रहा है पर्यावरण के लिए

मनोज कुमार पटैरिया

[**पर्यावरण एवं वन मंत्रालय, भारत सरकार के सचिव श्री महेश प्रसाद से श्री मनोज कुमार पटैरिया की बातचीत**

—सम्पादक]

दुनिया भर में पिछले दो दशकों से बढ़ रही पर्यावरण समस्याओं ने निर्णायकों, वैज्ञानिकों, तथा अन्य जागरुक लोगों के सामने अनेक प्रश्न खड़े कर दिए हैं, जिनके उत्तर आसानी से नहीं मिलते, और जिससे इस ग्रह पर जीवन तक को ख़तरा उत्पन्न हो सकता है। ग्रीन हाउस प्रभाव से विश्व ताप में बढ़ोत्तरी, वायुमण्डल की ओज़ोन परत में छेद होना, तेजाबी वर्षा, अनवरत सूखा, बाढ़, ईंधन जलाऊ लकड़ी और चारे की कमी, हवा और पानी में प्रदूषण, हानिकारी रसायनों और विकिरणों के दुष्प्रभाव आदि, आधुनिकीकरण, और अनियमित औद्योगीकरण से उत्पन्न हुए प्रेत आज तीसरी दुनिया को अपने अन्दर समेटने के लिए मुँह बाए खड़े हैं। इन्हीं सब प्रश्नों पर श्री महेश प्रसाद से भारतीय परिप्रेक्ष्य में जब बात की गई, तो काफी उपयोगी जानकारी सामने आई।

प्रश्न : आज पूरी दुनिया पर पर्यावरण संकट गहराता जा रहा है, जिससे कई हानिकारक प्रभाव पैदा हो रहे हैं, भारत में इसकी क्या स्थिति है ?

उत्तर : देश में पर्यावरण की स्थिति अच्छी नहीं है। इसे सुधारने के लिए काफी काम की ज़रुरत है। हमने अपनी असीमित ज़रुरतों को पूरा करने के लिए लगातार प्रकृति का दोहन किया है, जिससे पर्यावरण में असंतुलन पैदा हुआ है। वनों का अनवरत कटाव, मनमाना औद्योगीकरण, और पर्यावरण के बारे में अज्ञानता, के कारण स्थिति इतनी खराब हुई है। पर अब इस ओर गम्भीरतापूर्वक ध्यान दिया जा रहा है। अभी भी यदि हम चेत जाएँ, तो पर्यावरण से तालमेल करके संकट से बच सकते हैं।

प्रश्न : देश में पर्यावरण संरक्षण और उसके विकास के लिए क्या किया जा रहा है ?

उत्तर : हिमालय की चोटियों से लेकर केरल के समुद्री तटों तक हमारा पर्यावरण विविध रूपों में फैला हुआ है। इसके संरक्षण और विकास के लिए अनेक कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं। प्राकृतिक साधनों का संरक्षण, पर्यावरण प्रभाव मूल्यांकन, प्रदूषण नियंत्रण, पुनरुद्धार और विकास, अनुसंधान और विकास, पर्यावरण शिक्षा और सूचना, पर्यावरण कानूनों आदि कार्यक्रमों के माध्यम से पर्यावरण को सुधारने और बचाने की पूरी कोशिशें विभिन्न स्तरों पर की जा रही हैं।

प्रश्न : क्या कानून बना देने से स्थिति सुधर जाएगी, प्रायः कहा जाता है कि पर्यावरण से सम्बन्धित कुछ कानूनों में बड़ी शिथिलताएँ हैं, यह कहाँ तक सच है ?

उत्तर : पर्यावरण कानूनों में व्याप्त खामियों को देखते हुए ही 'पर्यावरण (सुरक्षा) अधिनियम 1986' पारित किया गया था, जिससे स्थिति काफी सुधरी है। इधर 'वायु (प्रदूषण निवारण एवं नियंत्रण) अधिनियम 1981', तथा 'जल (प्रदूषण निवारण एवं नियंत्रण) अधिनियम 1974, में भी संशोधन करके इन्हें और कठोर बनाया गया है। 'वन (संरक्षण) अधिनियम 1980' में भी संशोधन करके उल्लंघन-

वरिष्ठ सम्पादन सहायक, प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय, सी० एस० आई० आर०, हिल साइड रोड, नई दिल्ली—12

कर्ताओं के विरुद्ध कड़ी दण्ड की व्यवस्था की गई है। अब पर्यावरण कानूनों को दृढ़तापूर्वक लागू करने के लिए कड़े कदम उठाए जा रहे हैं।

प्रश्न : पिछले दिनों गंगा कार्य योजना की काफी चर्चा रही, यह योजना क्या है ?

उत्तर : उत्तर प्रदेश, बिहार और पश्चिम बंगाल के 16 से अधिक नगरों को जीवनदान देने वाली देश की एक बड़ी नदी गंगा, आज अत्यधिक प्रदूषित हो गई है, इसे प्रदूषण मुक्त करने के लिए 14 जून 1986 को वाराणसी में गंगा कार्य योजना का आरम्भ हुआ। 252.80 करोड़ रुपये की इस योजना में 262 कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं। अनेक शहरों में पुरानी मल निकासी नालियों का नवीनीकरण और विस्तार किया जा रहा है। पंपिंग स्टेशनों की क्षमता बढ़ाई जा रही है। जहाँ गन्दे नाले नदी की ओर जाते हैं, उन्हें वहाँ से हटा कर दूसरी ओर किया जा रहा है। आधुनिक सीवेज उपचार संयंत्र कानपुर, वाराणसी, और इलाहाबाद में लगाए जा रहे हैं। इसके साथ ही शुष्क शौचालय परिवर्तन, सुलभ शौचालय, विद्युत् शवदाहगृह उपलब्ध कराने और तटों के सुधार कार्य भी हो रहे हैं। लगभग कार्य पूरे हो चुके हैं, बाकी मई 1991 तक पूरा होने का लक्ष्य है।

प्रश्न : प्रदूषण की रोकथाम के लिए और क्या योजनाएँ हैं ?

उत्तर : जल और वायु को प्रदूषण मुक्त रखने के लिए उनकी गुणवत्ता का विभिन्न स्तरों पर मूल्यांकन किया जाता है, ताकि मानक स्तर में वृद्धि होने पर उचित कदम उठाए जा सकें। 306 केन्द्र पानी की गुणवत्ता पर नज़र रखते हैं। गन्दे पानी को साफ़ कर के पुनः उपयोग में लाने की युक्तियों का विकास किया गया है। नागपुर, ग्वालियर और बड़ौदा में यह प्रणाली लगाई गई है। 140 केन्द्र वायु की गुणवत्ता पर निगरानी रखते हैं। औद्योगिक प्रदूषण रोकने हेतु रिफाइनिंग, फाउण्ड्री, कीटनाशी दवाओं, औषधि, पेट्रोरसायन और प्लास्टिक जैसे 6 उद्योगों के लिए प्रदूषण मानक तैयार किए गए हैं। फाइबर ग्लास, सीसा, सिरेमिक, टिरजैंट, विस्फोटक, अम्ल, क्षार, बूचड़खानों, मांस आदि उद्योगों द्वारा फैलाए जा रहे प्रदूषण को भी रोका जा रहा। बड़े उद्योगों को प्रदूषण रोकने संबंधी निर्देश दिए जाते हैं, न मानने पर कानूनी कार्यवाही व जुर्माना तथा उद्योग को बन्द तक किया जा सकता है।

प्रश्न : देश में पर्यावरण अनुसंधानों की क्या दशा और दिशा है ?

उत्तर : देश की ज़रूरतों के अनुसार विभिन्न अनुसंधान और विकास कार्य किए जा रहे हैं जिनमें मौलिक और व्यावहारोपयोगी दोनों प्रकार के अनुसंधान शामिल हैं। अनेक वनस्पतियाँ ऐसी हैं, जो आदिवासियों द्वारा प्रयोग में लाई जाती हैं, पर हमें उनकी जानकारी नहीं होती। ऐसी 300 प्रजातियाँ खोजी गई हैं और उनके औषधीय व खाद्य महत्व पर अनुसंधान किया जा रहा है। अनेक पादप प्रजातियाँ नष्ट होने को हैं, उन्हें ऊतक संवर्धन तकनीक द्वारा पुनः प्रवर्धित किया जाता है। इसके अतिरिक्त वायु और जल की निगरानी और नियंत्रण, औद्योगिक उत्सर्जन, कृषि रसायन, इंजीनियरी, वनस्पति जातियों और प्राणि जातियों के संरक्षण, प्रदूषण का प्रभाव आदि क्षेत्रों पर अनुसंधान किया जा रहा है। राष्ट्रीय पर्यावरणीय इंजीनियरी अनुसंधान संस्थान, नागपुर, भारतीय विज्ञान संस्थान, बंगलौर, गोविंद बल्लभ पंत हिमालय पर्यावरण एवं विकास संस्थान, अल्मोड़ा, भारतीय वन अनुसंधान संस्थान, देहरादून, आदि संस्थाएँ पर्यावरण विषयों पर अनुसंधान कर रही हैं। कुल वार्षिक बजट 182 करोड़ रुपए है।

प्रश्न : प्रदूषण नियंत्रण और अनुसंधान परियोजनाओं पर जो धन खर्च किया जा रहा है, तो क्या इन परियोजनाओं के बाद में उपयोगी या अनुपयोगी होने के मूल्यांकन की भी कोई योजना है ?

उत्तर : पर्यावरण के प्रभाव दूरगामी होते हैं, अभी कुछ नहीं कहा जा सकता कि हमारी पर्यावरण संरक्षण परियोजनाएँ कितनी सफल होती हैं, या कितनी असफल ! अभी तो हमने शुरुआत की है, परि-

णाम तो आने वाला समय बताएगा। वैसे सभी परियोजनाओं/पूर्व योजनाओं पर पूरा विचार विमर्श करके ही उन्हें लागू किया जाता है, और आगे भी उन पर नज़र रखी जाती है।

प्रश्न : प्रकृति और मानव का साहचर्य शुरु से है, इस साहचर्य को बनाए रखने के लिए प्रकृति और वन्य जीवन के संरक्षण हेतु क्या कार्यक्रम हैं ?

उत्तर : प्राकृतिक समृद्धि ही हमें पर्यावरण संकट से उबार सकती है। अत: सामाजिक वानिकी कार्यक्रम के अन्तर्गत जनता का सहयोग लेकर पेड़ लगाने पर महत्वपूर्ण कार्य किया गया है। साथ ही काटे गए वनों के बदले में वनरोपण कार्यक्रम में भी सफलता मिली है। दावानल नियंत्रण परियोजना के तहत वनों में आग लगने से होने वाली क्षति को रोका जा रहा है। भारत में आज 67 राष्ट्रीय उद्यान और 394 अभ्यारण्य हैं, जिनमें विभिन्न वनस्पतियों व प्राणियों को सुरक्षित रखा गया है। 'बाघ परियोजना' के तहत बाघों को संरक्षण प्रदान करने हेतु राष्ट्रव्यापी योजना चलाई गई। नमभूमि वनस्पति तथा कच्छ वनस्पति संरक्षण हेतु विशेष कदम उठाए गए हैं।

प्रश्न : हमारे देश में पर्यावरण को सर्वाधिक ख़तरा किस बात से हैं ?

उत्तर : बढ़ती हुई जनसंख्या से, लेकिन इसका नियंत्रण पर्यावरण मंत्रालय के दायरे में नहीं आता।

प्रश्न : पर्यावरण संरक्षण के प्रति लोगों में जागरुकता व अभिरुचि पैदा करने व इस विषय में जानकारी देने के लिए क्या किया जा रहा है ?

उत्तर : लोगो में पर्यावरण के प्रति चेतना पैदा करना, पर्यावरण कार्यक्रमों का महत्वपूर्ण अंग है। राष्ट्रीय प्राकृतिक विज्ञान संग्रहालय, नई दिल्ली, पर्यावरण शिक्षा केन्द्र, अहमदाबाद, सी० पी० रामास्वामी अय्यर पर्यावरण केन्द्र, मद्रास आदि संस्थाएँ विभिन्न कार्यक्रमों द्वारा पर्यावरण प्रचार-प्रसार का कार्य करती हैं। अभी विभिन्न प्रांतों के 2000 बच्चों को पर्यावरण किट प्रदान की गई है। राष्ट्रीय प्राकृतिक विज्ञान संग्रहालय ने सचल पर्यावरण प्रदर्शनी आरम्भ की है, जो घूम-घूम कर लोगों को पर्यावरण की जानकारी देती है। इसके अलावा विभिन्न प्रतियोगिताओं, व्याख्यानों, सम्मेलनों और प्रदर्शनियों के माध्यम से पर्यावरण सूचनाओं का प्रचार-प्रसार किया जाता है।

प्रश्न : आप ग्रीन हाउस प्रभाव पर कुछ प्रकाश डालेंगे ?

उत्तर : उद्योगों के धुंये, ईंधन के जलने और वाहनों के, धुंये से जो गर्म गैसें निकलती हैं, उनमें कार्बन डाइऑक्साइड और कार्बन मोनोऑक्साइड गैसें होती हैं। ये गैसें वायुमण्डल में लगातार इकट्ठी होकर एक चैम्बर सा बना लेती हैं। इस तरह पृथ्वी के चारों ओर एक आचरण सा बन जाता है। ऐसा आवरण जिसके भीतर सूर्य से आने वाली गर्मी तो पहुँच सकती है, पर पृथ्वी की अनुपयोगी गर्मी वापस अंतरिक्ष में नहीं लौट सकती। इस तरह पृथ्वी का ताप लगातार बढ़ सकता है। इसे ही ग्रीन हाउस प्रभाव कहते हैं। वैज्ञानिकों का अनुमान है, कि यदि लगातार ताप बढ़ता रहा हो ध्रुवों की बर्फ पिघल कर धरती को भी डुबो सकती है। इसलिए समय रहते इस तबाही से बचने के उपाय हैं—प्राकृतिक साधनों का संतुलित दोहन, नियंत्रित औद्योगीकरण और बिकास तथा अधिकाधिक वृक्षारोपण।

प्रश्न : पाठकों के लिए कोई संदेश !

उत्तर : हमारी प्राकृतिक संपदा, वायु, भूमि और जल हमारी पूँजी है। इस पूँजी को हमें अक्षुण्ण रखना है, और केवल ब्याज से काम चलाना है। यदि हम इस पूँजी में से कुछ लेते हैं, तो उसे पूरा करना भी हमारा कर्त्तव्य है। और इसका एक ही उपाय है—बृक्षारोपण, तभी हम आने वाली पीढ़ियों के लिए इस पूँजी को बचा कर रख सकेंगे।

□□

जस्ता और पर्यावरण

श्रीमती मीनाक्षी

शरीर को स्वस्थ एवं निरोग रखने के लिए हमें कार्बोहाइड्रेट, वसा, प्रोटीन व जल के अलावा अनेक खनिज लवणों की भी आवश्यकता होती है, जिनमें जस्त (जस्ता) भी एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। मानव शरीर में जस्ता यद्यपि अल्प मात्रा में ही पाया जाता है, फिर भी शारीरिक क्रियाओं के लिए इसकी उपस्थिति अति आवश्यक है।

पृथ्वी पर जस्ता मुख्यतया ब्रिटिश कोलम्बिया, कनाडा, बर्मा, भारत, ओक्लाहोमा आदि स्थानों में पाया जाता है। इसका मुख्य अयस्क ज़िंक-सल्फाइड ब्लेण्ड हैं। इसके अतिरिक्त ज़िंक कार्बोनेट (केलेमाइन), सिलिकेट विलीमाईट ज़िंक ऑक्साइड, ज़िंकाइट या लाल ज़िंक अयस्क के रूप में भी पाया जाता है।

ज़िंक ताँबे की अपेक्षा अधिक विद्युत् धनात्मकता वाली धातु है, अत: यह सरलता से अपचयित नहीं होता व यह मैंगनीशियम को प्रतिस्थापित करता है। प्रकृति में जस्ता द्वि-संयोजक रूप में पाया जाता है। यह ताँबे की अपेक्षा अधिक गतिशील है। यह अपने द्विगुण आवेश को उच्च पी० एच० पर भी बनाये रख सकता है, अत: इसे ताँबे की अपेक्षा अधिक दृढ़ता से अधिशोषित होना चाहिए, किन्तु क्षीणतर सह-संयोजक बन्ध बनाता है, जिसके फलस्वरूप ताम्र धातु की अपेक्षा कम दृढ़ता से अधिशोषित होता है।

भू-मण्डल में जस्ते की मात्रा 80 अंश बतायी गई है। मिट्टी में 100-300 अंश भी पाया जाता है।

समुद्री जल में हेलोजनों के अतिरिक्त जस्ता, ताँबा, लोहा आदि अनेक तत्त्व भी प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। समुद्री जल में सूक्ष्म-तत्त्व जस्ते का संघटन (प्रतिशत भार के अनुसार) $1 \cdot 5 \times 10 - 7$ है। कुछ समुद्री जीव (विशेषतया शैवाल) समुद्री जल में से तत्त्वों का संचय करने की अपार क्षमता रखते हैं। काइयों में जस्ते की सर्वाधिक मात्रा 1,000 10,000 अंश प्रति दश लक्षांश पाई जाती है।

पौधों में जस्ते की मात्रा मैंगनीज की तुलना में कम रहती है। एक ही जाति के पौधों में जस्ते की मात्रा में अन्तर देखा गया है। कम मात्रा में जस्ते की उपस्थिति पौधों की वृद्धि के लिए ज़रूरी है, परन्तु ज़्यादा मात्रा में इसकी उपस्थिति हानिकारक होती है। नींबू की पत्तियों में सामान्यतया 25-50 अंश अंश तक जस्ता पाया जाता है, किन्तु न्यूनाग्रस्त पत्तियों में 10 अंश से भी कम मात्रा में जस्ता पाया जाता है, जबकि साधारणतया अन्य पौधों में प्राय: 50 अंश से कम जस्ता पाया जाता है गेहूँ, जौ, फली, सूर्यमुखी आदि पौधों में अच्छी वृद्धि के लिए जस्ता आवश्यक तत्त्व है, इसके विपरीत टमाटर के पौधों, फलयुक्त वृक्षों व अथ आदि के पौधों पर जस्ते का हानिकारक प्रभाव देखा गया है। सूखे चारों में भी जस्ते की मात्रा 15-37 अंश पाई गई है। गोबर की खाद जस्ते का सर्वोत्कृष्ट (12-1850 अंश जस्त प्रति दशलक्षांश) साधन है।

कुछ खाद्य पदार्थों में भी जस्ता पाया गया है, जैसे दालों में 85 प्रतिशत, पत्तेदार सब्जियों में 1.2 प्रतिशत, समुद्री उत्पादनों में 3.7 प्रतिशत एवं माँस, अंडे, दूध आदि उत्पादनों में लगभग 1.5 प्रतिशत मात्रा पाई गई है।

मनुष्य के संतुलित आहार में साधारण रूप से जस्ता अल्प मात्रा में उपस्थित रहता है। मानव शरीर में इसकी दैनिक आवश्यकता लगभग 12 मिलीग्राम होती है। ऊतकों में भी अल्प मात्रा में इसका वितरण पाया जाता है वयस्क मनुष्य में खाद्य पदार्थों द्वारा शरीर में जाने वाली जस्ते की मात्रा 0.0161 ग्राम प्रतिलीटर प्रतिदिन है। प्रति-

कनिष्ठ वैज्ञानिक सहायक, रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर, राजस्थान

दिन ही पीने के पानी द्वारा शरीर में जाने वाली जस्ते की मात्रा न्यूनतम 0.008 मिलीग्राम प्रति लीटर व अधिकतम 1.19 मिलिग्राम प्रतिलीटर है जबकि विश्व स्वास्थ्य संगठन ने पीने के पानी में जस्ते की मात्रा 5 मिलीग्राम प्रतिलीटर से 15 मिलीग्राम प्रति लीटर तक रखी गई है ।

जस्ता मानव शरीर में ताम्र धातु से अधिक मात्रा में पाया जाता है । यकृत, पित्ताशय व अग्न्याशय में जस्ते की सर्वाधिक मात्रा पाई गई है । छोटे बच्चों की अपेक्षा वयस्क शरीर के यकृत में जस्ते की मात्रा अधिक पायी गई है, जबकि स्तनधारियों के यकृत में जस्ते की मात्रा इसकी अपेक्षा कम पाई गई हैं । इसी तरह मानव दूध में भी जस्ते की मात्रा गाय के दूध की अपेक्षा कम पाई गई है । मनुष्य के बालों, नाखूनों व दाँतों में भी जस्ता पाया गया है ।

शरीर की वृद्धि के लिये जस्ता एक आवश्यक धातु है । यह मानव रुधिर की लाल रक्त कणिकाओं में पाया जाता है । कार्बन-डाइ-ऑक्साइड को शरीर से बाहर निकालने में जस्ता बड़ी मदद करता है । जस्ता धातु शरीर में इन्सुलिन व अन्य एंज़ाइम्स के क्रिया-वेग को भी तेजी से बढ़ाता है । इसलिए ये एंज़ाइम सक्रिय कारक भी कहे जाते हैं । इन्सुलिन ज़िंक-यौगिकों के साथ शीघ्र ही रवादार हो जाता है व इंसुलिन की क्रिया को बढ़ाता है और संभवत: यह अग्न्याशय में इंसुलिन को संग्रह करने में मदद करता है । इसी कारण अग्न्याशय में जस्ते की सर्वाधिक मात्रा पाई जाती है ।

जस्तायुक्त डिहाइड्रोजिनेज़—कई डिहाइड्रोजिनेज़ों (फ्लेवो प्रोटीन रहित) में विशेष रूप से एल्कोहॉल डिहाइड्रोजिनेज़ एवं ग्लूटॉमेट डि-हाइड्रोजिनेज़ में ज़िंक की उपस्थिति दर्शायी गई है । ज़िंक एंज़ाइमी संरचना का एक समाकल अंश है और प्रत्येक सक्रिय केन्द्र में एक-एक ज़िंक परमाणु होता है, इस कारण प्रति एंज़ाइम अणु से परिबद्ध एन० ए० डी० अणु की संख्या उसमें ज़िंक परमाणुओं की संख्या के बराबर होती है ।

यीस्ट एल्कोहॉल डिहाइड्रोजिनेज़ (अणु भार 151,000) प्रति अणु चार ज़िंक परमाणु होते हैं, और इसलिये चार एन० एन० डी० अणु संलग्न होते हैं, जब कि यकृत के एंज़ाइम (अणु भार 84,000) में दो ज़िंक परमाणु होते हैं और दो एन० ए० डी० अणु संलग्न होते हैं । दोनों एल्कोहॉल एवं ग्लूटॉमेट एंज़ाइमों से ज़िंक संस्करण कारकों की अभिक्रिया के द्वारा ज़िंक का अपचयन करने पर न केवल निष्क्रियण होता है 'वरन् एंज़ाइमी प्रोटीन का उप इकाइयों में वियोजन भी हो जाता है ।

ज़िंक की क्रिया की व्याख्या करने के लिए कई सम्भावनाएँ बतलाई गयी हैं । यह भी ज्ञात हुआ है कि ज़िंक, ए० ए० डी० से प्रोटीन में थायोल समूहों से तथा अन्य कई पदार्थों से जो एंज़ाइमों के आधार रूप में प्रयुक्त हो सकते हैं, बन्ध स्थापित कर सकता है । इन डिहाइड्रोजिनेज़ों में ज़िंक का कार्य निःसन्देह ही बंध स्थापित करना है, या तो सक्रिय केन्द्र से प्रति-कारकों का अथवा प्रोटीन उप-इकाईयों का एक दूसरे से ।

मानव शरीर के अलावा अनेक पशु-पक्षियों में भी सूक्ष्ममात्रिक तत्त्व 'जस्ते' की अनिवार्यता की खोज (सर्वप्रथम चूहों पर) की गई । निम्नलिखित सारणी में विभिन्न प्राणियों में सूक्ष्ममात्रिक तत्त्व (जस्ता) का संघटन मिलीग्राम प्रति किलोग्राम दर्शाया गया है ।

प्राणी	मुर्गी	मनुष्य	सुअर	बिल्ली	खरगोश	चूहा
शरीर भार कि ग्रा.)	2·0	65	125	4·0	2·6	0·35
जस्तसंघटन मिलीग्राम	0·35	28	25	23	50	30

साधारणतया डि-ज़िंकीफिकेशन द्वारा भी पानी के पाइप (लोहा, पीतल आदि धातु के) खराब हो जाते हैं । इसके फलस्वरूप यह धातु पीने के पानी में प्रवेश कर जाता है । जस्ता पानी में कार्बोनेट व सल्फेट के रूप में रहता है, क्योंकि ये लवण पानी में घुलनशील हैं । जस्ते की घुलनशीलता क्षारीयता व अम्लीयता पर निर्भर करती है । शुद्ध जस्ते पर पानी की क्रिया

शून्य रहती है, जबकि अशुद्ध जस्ता पानी को भाप तथा हाइड्रोजन गैस में परिवर्तित कर देता है।

अधिक मात्रा में जस्ते के सेवन से स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। पाँच मिलीग्राम प्रतिलीटर से अधिक मात्रा में होने पर क्षारीय पानी में कसैला स्वाद पैदा होता है। इसकी अधिक सांद्रता से शरीर में मिचलापन व धुंधलापन का कारण हो सकता है। गैस्ट्रोइन्टेस्टाइनल व चिड़चिड़ापन जैसे जहरीले प्रभाव भी अधिक मात्रा में जस्ते को ग्रहण करने से उत्पन्न होते हैं।

विश्व में जस्ता ही एकमात्र छिद्रमय धातु (Porous Metal) है। इस विशिष्ट गुण के कारण ही भारत में अनेक लोग पीने के पानी को ठंडा रखने के लिए जस्त धातु के पात्र (Water Bottle) को प्रयोग में लाते हैं जिन्हें बोलचाल की भाषा में 'बादला' कहते हैं। जस्ते की चद्दर के बड़े-बड़े पात्र बनाकर उसके ऊपर ऊनी कपड़े (नमदा) का खोल चढ़ा देते हैं। इस ऊनी खोल को पानी से गीला रखते हैं। हवा लगने पर पानी का वाष्पीकरण होता रहता है, जिससे जस्ते के पात्र में रखा पानी ठंडा होता रहता है।

जस्ते का उपयोग विभिन्न प्रकार की दवाइयाँ, रसायन, टूथपेस्ट पैकिंग एवं मिश्र धातुओं के निर्माण में भी किया जाता है। □□

5 जून विश्व पर्यावरण दिवस पर

पर्यावरण एवं विकास : सन्तुलन की कसौटी

अमरनाथ श्रीवास्तव

आज से कुछ दशक पूर्व ही पर्यावरण के मुद्दों पर चिन्तन तीसरी दुनिया के देशों के लिये 'बिलासिता' की बात मानी जाती थी। इस समय इन देशों में विकास कार्य अपनी अपेक्षित गति प्राप्त कर रहा था, सामान्य नागरिकों की औसत आय में वृद्धि जीवन की बुनियादी जरूरतें उपलब्ध कराना ही विकास का उद्देश्य माना जाता था। प्राथमिक आवश्यकता यह होती थी कि गरीबी दूर करने के लिये आर्थिक वृद्धि को गति प्रदान की जाय। इसके हो जाने के बाद ही हम इससे उत्पन्न प्रदूषण या अन्य सम्भावित असुरक्षा जैसे नकारात्मक सह-प्रभावों के बारे में सोचते थे।

विश्व में पर्यावरण आन्दोलन स्टाकहोम पर्यावरण सम्मेलन 1972 के बाद से शुरू हुआ। इस सम्मेलन को बीते 18 वर्ष होने के बाद भी पर्यावरण दोहन-शोषण रोकने की दिशा में कोई चमत्कारिक परिवर्तन होता तो नहीं दिख रहा है। किन्तु इस बात में दम है कि इस अवधि में पर्यावरणीय चेतना का जन-सामान्य में व्यापक प्रसार हुआ है।

भारत जैसे प्राकृतिक संसाधनों वाले देश में भी पर्यावरणीय आन्दोलन काफी सशक्त हो रहा है, जो भारत को पर्यावरण संकट से बचाने के लिये काफी प्रभावकारी हो सकता है।

स्टाकहोम पर्यावरण सम्मेलन के ठीक एक वर्ष बाद सन् 1973 में **सुन्दरलाल बहुगुणा** द्वारा चलाये गये 'चिपको आन्दोलन' के बाद भारत में पर्यावरण आंदोलन इतना अधिक व्यापक और सशक्त हुआ कि भारत विश्व के सर्वाधिक प्रभावशाली पर्यावरण आन्दोलन का केन्द्र माना जाने लगा। चिपको आन्दोलन की तर्ज पर ही दक्षिण भारत में प्रसिद्ध पश्चिमी घाट को बचाये रखने के लिये "अपिक्को आन्दोलन" 1982 के बाद से उभर कर सामने आया। भारतीय पर्यावरण की इस विकास यात्रा में यह मील का पत्थर माना जाता है।

छात्र पत्रकारिता एवं जनसम्प्रेषण विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-5

पर्यावरण और विकास में पूरक सम्बन्ध है। क्या वही विकास है—जो प्रकृति के शोषण एवं दोहन करके अस्थाई समृद्धि प्राप्त करने के लिये होता है? आज प्रकृति के साथ मनुष्य के बुनियादी रिश्तों में परिवर्तन हुआ है। मनुष्य अपने को प्रकृति-पुत्र कहलाने के बजाय उसका स्वामी एवं शोषक कहलाना अधिक पसन्द करता है। प्रकृति माँ की बजाए शोषण की वस्तु बन गयी है।

पर्यावरण और विकास के बीच सन्तुलन बनाये रखने के लिये सबसे ज़रूरी बात यह है कि प्राकृतिक संसाधनों का प्रयोग विकास की उसी सीमा तक किया जाय जहाँ तक वे पुनः उसी रूप में विकसित हो सके। दुर्भाग्य से इन प्राकृतिक संसाधनों का यह सोच कर शोषण किया गया कि ये 'कामधेनु' (गाय) है, जितना दुह सकोगे उतना ही बढ़ेगा। आज इसके दुष्परिणाम को देखने के लिये वैज्ञानिक आँकड़ों की ज़रूरत नहीं है।

कुछ प्राकृतिक एवं औद्योगिक दुर्घटनाओं के बाद यह प्रश्न सभी लोगों को झकझोर रहा है कि क्या मानव की ग़लती से उत्पन्न इन गिने-चुने दुर्घटनाओं के कारण विकास कार्य या कल-कारखानों को स्थापित करने पर रोक लगा दें? जबकि सच्चाई यह है कि देश को आत्मनिर्भर बनाने के लिये, महाशक्तियों के दबाव से मुक्ति पाने के लिये एवं विश्व के औद्योगिक दौड़ में स्वयं को शामिल करने के लिये समुन्नत प्रौद्योगिकी एवं औद्योगिकी कार्य निरन्तर चलाये जाने की आवश्यकता है। इसके साथ ही हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इन विकास कार्यों से पर्यावरण के स्तर में सुधार हो न कि ह्रास। विकास की इस यात्रा में हमें विकास और पर्यावरण में सामंजस्य बनाये रखे जाने हेतु कोई रास्ता निकालने की आवश्यकता है।

इस बात को आज बड़े दावे के साथ कहा जाता है कि पर्यावरण की बात अनेक मंचों से उठाने वाले लोग विकास नहीं चाहते हैं या पर्यावरण को बहुत अधिक महत्व दिया गया तो देश का विकास रुक जायेगा। इस वर्ग के पक्षधरों ने अनावश्यक ग़लतफ़हमी पैदा कर रखी है कि पर्यावरण ओर विकास एक दूसरे के विरोधी हैं। इस प्रकार की बहस से पर्यावरण चेतना और विकास को काफी हानि पहुँची है। वास्तविकता तो यह है कि पर्यावरण और विकास एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, विरोधी नहीं। विकास के द्वारा हम पर्यावरण को बनाए रख सकते हैं। विकास की योजनाओं को क्रियान्वित करते समय हमें पर्यावरण सम्बन्धी अनेक पहलुओं पर ध्यान देना चाहिये। ऐसा करके हम इन योजनाओं का दीर्घकालिक लाभ उठा सकते हैं।

भारत में पर्यावरण की समस्या पश्चिमी देशों से बिल्कुल भिन्न है। भारतीय पर्यावरण आन्दोलन के सामने इसके अलावा कोई दूसरा विकल्प शेष नहीं बचता है कि वह अस्तित्व रक्षा और जीविका संसाधन के रूप में प्रकृति के महत्व तथा आर्थिक पुनर्वितरण की आवश्यकता पर बल दे। पर्यावरण और विकास के सम्बन्ध में भारतीय संस्कृति के संदेश को देश की विकास नीति का उद्देश्य ज़रूरतमन्दों को ज़िन्दगी की बुनियादी जरूरतों जैसे रोजी-रोटी और आवास के साथ-साथ उसे प्रदूषण रहित, स्वच्छ एवं सुन्दर पर्यावरण उपलब्ध कराना, होना चाहिये। मानव को प्रकृति पर विजय का सपना छोड़कर उसके साथ तालमेल रखते हुये जीना होगा।

पर्यावरण के संरक्षण एवं सुधार की ज्वलन्त समस्या इस समय हमारे लिये एक बहुत बड़ी चुनौती है। यदि समय रहते हम इस चुनौती को स्वीकार करके इसके निराकरण के लिये आवश्यक कदम नहीं उठायेंगे तो आने वाले वर्षों में जहरीले एवं विषाक्त वातावरण में कठिनाइयाँ और बढ़ जायेंगी। यह सत्य है कि आज हम पर्यावरण के प्रति पहले से अधिक जागरूक हैं, परन्तु यह जागरूकता अभी बहुत कम लोगों तक सीमित है। भारत एक विकासशील देश है। ग़रीबी की समस्या अत्यन्त जटिल है। हमें जनसामान्य के लिये रोटी, कपड़ा एवं मकान की व्यवस्था के लिये विकास की नयी योजनाएँ बनानी हैं। परन्तु इसके साथ ही पर्यावरण सम्बन्धी अनेक समस्याओं पर विजय श्री भी प्राप्त करनी है। विकास और पर्यावरण के बीच समन्वय एवं तालमेल बनाये रखना हमारा कर्त्तव्य है। □□

ग्रामीण पर्यावरण : समस्यायें एवं समाधान

डॉ० देवेन्द्र नाथ सिनहा

भारत की तीन चौथाई जनसंख्या आज भी गाँवों में निवास करती है। खेतों से अन्न उपजाकर मानव के लिये भोजन प्रदान करना ग्रामीण अंचलों का प्रमुख कार्य है। जीवन की तीन बुनियादी जरूरतों—रोटी, कपड़ा एवं मकान की जरूरतों को पूरा करना है। शहरों की दशा दिन पर दिन पर्यावरण प्रदूषण के कारण बिगड़ती जा रही है। किसी क्षेत्र विशेष की उन्नति उसके आस-पास स्थित औद्योगिक कल-कारखानों से आँकी जाती है। लेकिन समय ने यह साबित कर दिया है कि इसकी होड़ में आज जो नगर बने वे दुःख के आँसू बहा रहे हैं। सुबह से शाम तक कोलाहल, वातावरण में धुँये से भरे बादल। लगता है साँस लेने के लिये हवा नहीं मिलेगी। पानी की समस्या धीरे-धीरे बढ़ती ही जा रही है। इस मशीनी युग में मानव स्वयं मशीन होकर रह गया है। ये सभी समस्यायें तकनीकी प्रगति की देन हैं। हमारी औद्योगिक नीति ऐसी रही कि लोगों को रोजगार के अधिक से अधिक अवसर मिले। और इस तरह धीरे-धीरे देश में उद्योगों का जाल बिछ गया। लोग देहातों से शहरों की ओर काम की तलाश में भागने लगे। शहरों की आबादी बढ़ने लगी। इसका यह परिणाम हुआ कि शहरों में गंदी बस्तियों का विस्तार तेजी से होने लगा। अब स्थिति ऐसी हो गई है कि गाँवों का शहरीकरण होने से गाँवों का पर्यावरण दूषित हो गया है और शहरों में गाँवों के लोगों के आने से मलिन बस्तियों के बढ़ने से शहरों का पर्यावरण भी चौपट हो गया है। यदि यही स्थिति रही तो ग्रामीण एवं शहरी सभ्यता का अन्तर ही समाप्त हो जायेगा।

अब समय आ गया है जब हमें अपनी औद्योगिक नीति में यह प्रयास करना पड़ेगा कि कोई ऐसा उद्योग गाँवों में न लगे जो गाँव की प्राकृतिक छटा को नष्ट कर दे। कल-कारखानों की धुँआ उगलने वाली चिमनियों से वायु में प्रदूषण होगा, वृक्ष नष्ट होंगे एवं कल-कारखानों से निकलने वाले कचरों को गाँवों के समीप नदी-नालों में डालकर जल को प्रदूषित कर देंगे। आज भी पानी की जरूरतों को पूरा करने के लिये ग्रामीण इन्ही ताल-पोखरों, नालों, नदियों के पानी का उपयोग करते हैं तथा पशु भी इन्हीं स्रोतों से पानी प्राप्त करते हैं। यदि इसे रोका नहीं गया तो गाँवों में लोगों का जीवन दूभर हो जायेगा।

परियोजनायें बनाते समय यह अवश्य ध्यान देना होगा कि गाँवों में जो भी लघु उद्योग व कुटीर उद्योग लगें, वे ग्रामीण अंचलों के कार्यकलापों का पूरक बनकर रहें तथा ग्रामीण साधनों पर ही विकसित हों। उसमें ग्रामीणों के श्रम का पूर्ण उपयोग हो तथा रोजगार के अवसर बढ़ें। इससे ग्रामीण युवकों का पलायन नगरों की ओर रूकेगा तथा ग्रामीण अंचलों को उनकी क्षमताओं का पूरा लाभ मिलेगा।

गाँवों में 75% रोगों का कारण दूषित जल है। लेकिन वैज्ञानिक विकास द्वारा ग्रामीण अंचलों को जल प्रदूषण से मुक्त किया जा सकता है। ग्रामीण विकास को प्राकृतिक रूप में ही देखना पड़ेगा। वैज्ञानिक उपलब्धियों का ग्रामीणीकरण करके ही कार्य में लाना पड़ेगा अन्यथा ग्रामीण पर्यावरण में असंतुलन उत्पन्न होगा ही।

जनसंख्या वृद्धि गाँवों को अधिक दिनों तक प्रभावित नहीं कर पायेगी। पहले यह धारणा थी कि श्रम के लिये जनसंख्या अधिक हो ताकी कृषि कार्य समुचित रूप से हो सके। इसी कारण ग्रामीण शिक्षा की तरफ न ध्यान देकर पूरा समय कृषि की तरफ

प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, एनाटॉमी विभाग, बी० आर० डी० मेडिकल कॉलिज, गोरखपुर-273013

लगाते थे। ग्रामीण कार्य आज भी मानव श्रम की ओर केन्द्रित है। किन्तु विज्ञान की प्रगति के साथ कृषि के विकसित उपकरणों व उन्नत बीजों आदि के उपयोग से उपज बढ़ानी है ताकि गाँवों के लोग समझ सकें कि कम मानव श्रम से खेतों में अधिक उपज ली जा सकती है। इससे उन्हें खेतों में काम करने के लिए अधिक बच्चों की जरूरत न होगी। उन्हें छोटे परिवार के महत्व को समझना चाहिए।

पर्यावरण संतुलन को बनाये रखने के लिये यह आवश्यक हो गया है की पेड़-पौधों को अधिक से अधिक संख्या में लगाया जाये। यह वृक्षारोपण कार्यक्रमों को ग्रामीण अंचलों में प्रमुखता देनी होगी। इससे ऊर्जा के साधन भी उपलब्ध होंगे, पशुओं को चारा मिलेगा और जंगलों पर दबाव कम होगा।

खेतों में उपज बढ़ाने के लिये रासायनिक उर्वरकों का उपयोग अधिक होने लगा है। और तो और फ़सल को रोगों से मुक्त करने के लिये कीटनाशकों का भी उपयोग अधिक होने लगा है। इसके अधिक प्रयोग से या आवश्यकता से अधिक प्रयोग से मिट्टी और आस-पास के जल-स्रोत दूषित हो जाते हैं। अतः कीटनाशकों का उपयोग वैज्ञानिक आधारों पर सीमित मात्रा में ही होना चाहिये। क्योंकि इससे मनुष्यों, पशुओं और फ़सलों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

ग्रामीण पर्यावरण को सुरक्षित रखने के लिये शिक्षा का विशेष महत्व है। अतः ग्रामीण अंचलों में पर्यावरण के प्रति जागरूकता पैदा करनी होगी ताकी प्रदूषण के अभिशाप से ग्रामीणों को बचाया जा सके। गाँव को गाँव ही रहने दिया जाये, शहर न बनाया जाये, यही श्रेयस्कर है।

□□

129वें जन्म दिन पर

आचार्य प्रफुल्लचन्द्र रे

डॉ० अजय कुमार चतुर्वेदी

रे भारत के उन अग्रणी वैज्ञानिकों में से एक हैं, जिन्होंने भारत में विज्ञान को स्थापित कर जीवन पर्यन्त उसके प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया। भारत में आज विज्ञान और टेकनोलॉजी की उन्नति का श्रेय इस महान वैज्ञानिक की उपलब्धियों का ही परिणाम है। अतः आप केवल वैज्ञानिक ही नहीं अपितु एक प्रमुख राष्ट्र निर्माता भी थे।

भारत में वैज्ञानिक क्रान्ति लाने में अग्रणी वैज्ञानिक होने के साथ ही आपने औद्योगिक स्तर को उठाने में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। आपने रसायनिक उद्योगों की शुरुआत की।

इस अनोखी, विलक्षण विशिष्ट प्रतिभा को **आचार्य प्रफुल्लचन्द्र रे** के नाम से जाना जाता है। **आचार्य रे का जन्म 2 अगस्त 1861 को बंगाल प्रान्त के खुलना जिले में रडली कतिपारा नामक गाँव में हुआ था।** आचार्य रे का परिवार सुख-सुविधाओं से सम्पन्न कायस्थ जमीनदार परिवार था। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के स्कूल में ही हुई। आगे की शिक्षा आपने कलकत्ता में पायी। सबसे पहले 1870 में हारे स्कूल में दाखिल हुए। चार साल बाद बीमारी के कारण स्कूल छोड़ना पड़ा।

स्वस्थ होने पर प्रफुल्लचन्द्र को एलवर्ट स्कूल में दाखिल कराया गया। वहाँ राष्ट्रीयता के पुजारी **श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी** के सम्पर्क में आये जिससे आजीवन राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत रहे। 1879 में एन्ट्रेन्स की परीक्षा पास करने के बाद प्रफुल्ल चन्द्र ने मेट्रोपोलिटन इन्स्टीट्यूट में दाखिला लिया। वह विद्यासागर कॉलिज में पढ़ना चाहते थे, परन्तु दाखिला नही मिला। फिर भी **श्री सुरेन्द्र बनर्जी** के भाषण सुनने जाया करते थे। 1882 तक इस इन्सटीट्यूट में अध्ययन करते रहे।

उन दिनों मेट्रोपोलिटन इन्सटीट्यूट में विज्ञान की

रसायन विभाग, धर्म समाज कॉलेज, अलीगढ़

शिक्षा का प्रबन्ध न था। अतः वह विज्ञान पढ़ने प्रेसीडेसी कॉलेज जाते थे। प्रफुल्लचन्द्र विज्ञान की ओर आकर्षित हो चुके थे। **एलेक्जेन्डर बेडलर** से प्रभावित होकर रसायन विज्ञान में आप विशेष रुचि लेने लगे। 1882 में 'गिलक्राइस्ट छात्रवृत्ति' प्राप्त कर इंग्लैण्ड अध्ययन करने गये। 1885 में एडिनवर्ग विश्वविद्यालय से बी० एस-सी० की डिग्री प्राप्त की। वहाँ आपने भौतिक, रसायन, वनस्पति व जन्तु विज्ञान विषय पढ़े। रसायनाचार्यों के सत्संग से प्रफुल्लचन्द्र ने रसायन विज्ञान का विशेष रूप से अध्ययन किया। उनकी रुचि भी थी।

बी० एस-सी० की परीक्षा से पूर्व एडिनवर्ग विश्वविद्यालय के रेक्टर ने एक निबन्ध प्रतियोगिता का आयोजन किया। निबन्ध का विषय 'गदर के पूर्व और बाद का भारत' था। प्रफुल्लचन्द्र ने इस प्रतियोगिता में भाग लिया। निर्णायकों ने आपके निबन्ध की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की और उच्चकोटि का बतलाया। फिर भी पारितोषिक नहीं मिला। 1886 में यह निबन्ध प्रकाशित हुआ, जिसकी अत्यधिक सराहना हुई। यह उनकी उत्कृष्ट साहित्यिक प्रतिभा का उदाहरण था।

1887 में प्रफुल्लचद्र ने डी० एस-सी० की डिग्री सम्मानपूर्वक प्राप्त की। आपने रसायन विज्ञान में विशेष योग्यता प्रदर्शित की जिसके लिए 'होप' छात्रवृत्ति मिली। डी० एस-सी० के मौलिक निबन्ध की प्रशंसा हुई। आपके कार्य से प्रभावित होकर आप को विश्वविद्यालय की केमीकल सोसायटी के उपसभापति पद पर चुना गया। लन्दन के इण्डिया ऑफिस में इण्डियन एड्यूकेशनल सर्विस में आने की कोशिश की परन्तु सफलता नहीं मिली, क्योंकि आप काले हिन्दुस्तानी थे, जो गोरों की दृष्टि में हीन थे।

डी० एस-सी० को प्राप्त कर डॉ० प्रफुल्लचन्द्र रे 1888 में भारत लौट आए। नौकरी के लिए एक वर्ष प्रतीक्षा करनी पड़ी। 1889 में प्रेसीडेन्सी कॉलेज में असिस्टेण्ट प्रोफेसर ऑव केमिस्ट्री के पद पर 250 रु० मासिक वेतन पर नियुक्त हुए। 28 वर्ष तक आप कॉलेज की सेवा करते रहे। यहाँ पर भी आपको ब्रिटिश सरकार की काली भेदनीति का शिकार बनना पड़ा। इसका विरोध करने के लिए आप डाइरेक्टर से मिले। डाइरेक्टर आपके विरोध को सह नहीं सके और व्यंग भरे शब्दों में बोले ' यदि आप अपने को इतना योग्य केमिस्ट समझते हैं तो स्वयं कोई व्यवसाय क्यों नहीं चलाते।" डाइरेक्टर का तीखा व्यंग उनके जीवन में नया रंग लाया। उन्होंने उद्योग लगाने का विचार किया और उसी के प्रबन्ध में लग गये। अपने प्रयासों से उन्होंने एक उद्योग खोला जिसका नाम 'बंगाल केमीकल्स वर्क्स' रखा। जो आज भी विद्यमान है। यह उद्योग अपनी तरह का पहला उद्योग था। 1892 में आपने एक दवाई बनाने का कारखाना 'बंगाल केमीकल एण्ड फार्मास्यूटीकल वर्क्स' नाम से स्थापित किया। आज यह बहुत बड़ा उद्योग है। इस औद्योगिक क्रांति के साथ ही राष्ट्रीयता भी जुड़ी हुई थी। आपने स्वदेशी लोगों को काम देकर सामाजिक उत्थान का भी कार्य किया।

डॉ० रे ने प्रेसीडेन्सी कॉलेज में अध्यापन के साथ अन्वेषण कार्य का भी सूत्रपात किया। अध्यापक के रूप में तो आपने बहुत सफलता प्राप्त की साथ ही आप एक उच्च श्रेणी के अनुसंधानकर्ता भी थे।

डॉ० रे ने 'हिन्दू रसायन का इतिहास' नामक ग्रन्थ लिखकर प्रसिद्धि पाई। यह एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ ने पाश्चात्य वैज्ञानिकों में तहलका मचा दिया। इसका प्रथम भाग 1902 में प्रकाशित हुआ था।

1886 में डॉ० रे ने पारे और उसके मिश्रण से बने हुए पदार्थों के सम्बन्ध में सर्वप्रथम खोज कर धूम मचा दी। मरक्यूरस नाइट्राइट पदार्थ संसार में सबसे पहले आपने बनाकर अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की। आपने फिर एक अमीन नाइट्राइट का भी निर्माण किया। ओर्गेनो-मेटेलिक यौगिकों का निर्माण भी आपके द्वारा ही हुआ। आपने पारा, गन्धक और आयोडीन के संयोग से एक नवीन यौगिक बनाया। यह यौगिक प्रकाश में रंग बदलता है।

डॉ० रे ने 'वाष्प घनत्व' पर भी शोध किया। आपके शोधों का स्तर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का था। संभवतः इसी कारण डॉ रे को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति मिली।

डॉ० रे की ख्याति व प्रतिभा से प्रभावित होकर बंगाल सरकार ने आपको योरोप भेजा। योरोप में आपका बड़ा सम्मान हुआ। फ्रांस की 'एकेडेमी ऑव साइन्स' ने आपके सम्मान में उत्सवों का आयोजन किया। लंदन की केमीकल सोसायटी ने आपको सम्मानित कर अपनी संस्था का 'फेलो' बना लिया। उन दिनों ऐसा सम्मान प्राप्त करना गौरव की बात थी। यह गौरव देश का गौरव था। इससे भारत वैज्ञानिक पटल पर आया।

1912 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि के रूप में डॉ० रे इंग्लैण्ड गये। केमीकल सोसायटी के अधिवेशन में आपने अपना शोध पत्र 'अमोनियम नाइट्राइट का वाष्प घनत्व' प्रस्तुत किया। इस शोध की प्रशंसा हुई। इंग्लैण्ड के महान वैज्ञानिक **रामजे** ने आपको इस शोध पर बधाई दी। **डॉ० वेल** ने तो आपको महान विद्वान बताया। **डॉ० आर्मस्टोन** ने तो डॉ० रे को 'मास्टर ऑव नाइट्राइट' के नाम से सम्बोधित किया। यह अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आपकी ख्याति का प्रमाण है। ड्यूर हाम विश्वविद्यालय ने आपको डी० एस-सी० की मानद उपाधि से सम्मानित किया। ब्रिटिश सरकार ने भी आपकी प्रतिभा और ख्याति से प्रभावित होकर आपको 'सी० आई० ई०' की पदवी सम्मानस्वरूप भेंट की। यह अपने आपमें एक बड़ी उपलब्धि थी।

1916 में प्रेसीडेंसी कॉलेज से सेवा निवृत्त हुए। कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति **सर आशुतोष मुकर्जी** के अनुरोध पर आपने विज्ञान कॉलेज में 'पालित प्रोफेसर ऑव केकिस्ट्री' के पद पर कार्य किया। आपकी बहुमुखी प्रतिभा से कॉलेज का नाम हुआ और आपको 'आचार्य' के नाम से जाना जाने लगा। अतः आप आचार्य प्रफुल्लचन्द्र रे बन गए। 1919 में आपको 'सर' की उपाधि से सुशोभित किया गया। 1920 में आप 'भारतीय विज्ञान कांग्रेस' के सभापति बनाये गये। 1924 में आपने 'इन्डियन केमीकल सोसायटी' नामक नई संस्था को जन्म दिया। यह संस्था आज भी अपना कार्य कुशलता से कर रही है। आप इस संस्था के दो साल फाउण्डर प्रेसीडेन्ट भी रहे। आचार्य रे को भारत में रसायन विज्ञान के विकास का जनक माना जाता है।

आचार्य रे ने रसायन विभाग में दो छात्रवृत्तियाँ अपने पास से दीं। इतना ही नहीं, 1922 में आपने 'नागार्जुन शोध पुरस्कार' भी अपने पास से दिया। सर आशुतोष के नाम से जन्तु विज्ञान व वनस्पति विज्ञान में शोध पर पुरस्कार अपने पास से दिये। रसायन विज्ञान के प्रसार में भी आपने आर्थिक सहयोग दिया। 1936 में साइन्स कॉलेज से सेवा निवृत्त हुए। आपकी सेवाओं, ख्याति व प्रतिभा, से प्रभावित होकर आपको सम्मानीय अवकाशप्राप्त आचार्य नियुक्त किया गया।

आचार्य रे को अनेक अन्तर्राष्ट्रीय एवम् राष्ट्रीय सम्मान मिले। 'डच एकेडेमी ऑव म्यूनिख' व 'लन्दन केमीकल सोसायटी' ने अपको सम्मानित फेलो चुना। कलकत्ता, ढाका, बनारस विश्वविद्यालयों ने आपको मानद डी० एस-सी० की उपाधियों से अलंकृत किया।

आचार्य प्रफुल्लचन्द्र रे ने सामाजिक बुराइयों को दूर करने में भी अहम भूमिका निभाई। प्राकृतिक आपदाओं के समय भी डॉ० रे ने मानवता के लिए महत्वपूर्ण कार्य किये।

जब आचार्य रे को अन्वेषणों व अन्य उत्कृष्ट कार्यों से ख्याति मिल रही थी तभी ईश्वर ने 16 जून, 1944 को हमसे उन्हें सदा के लिए अलग कर दिया। परन्तु आज भी आपके उच्चस्तरीय शोधों, अन्वेषण, व अन्य कार्य हमारे सामने मेहनत-लगन के उदाहरण और प्रेरणास्रोत हैं, जो कभी भी हमें आचार्य जी से अलग नहीं कर सकते। आप आज भी अपने उच्चस्तरीय शोधों में जीवित हैं।

आचार्य प्रफुल्लचन्द्र रे लोकप्रिय अध्यापक, महान वैज्ञानिक, रसायन उद्योगों के जनक, समाज सेवी, राष्ट्र निर्माता थे। हमें अपने इस महान वैज्ञानिक पर गर्व है। आचार्य रे के चरणचिह्नों पर चलना ही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी। □□

विज्ञान वार्ता | संकलन : डॉ० अरुण आर्य

(1) समुद्र तल के किसान

जी हाँ ! समुद्र तल में भी किसान पाये जाते हैं। यह न तो किसी कवि की कोरी कल्पना है और न ही विज्ञान रूपक का कोई अंश, जिसमें समुद्र तल पर पायी जाने वाली किसी पुरातन सभ्यता का वर्णन किया गया हो। यह है संयुक्त राज्य अमेरिका के दो भूवैज्ञानिकों **डॉ० नेलसन एवं डॉ० जानसन** ('साइन्टिफिक अमेरिकन, फ़रवरी 1987) का विचार।

इन भूवैज्ञानिकों के अनुसार कैलीफोर्निया की भूरी ह्वेल मछलियाँ तथा प्रशान्त महासागर के वालरस (समुद्री सिंह) ही वे किसान हैं जो समुद्र तल को अपने खाने की तलाश में खोदते हैं। इस कार्य में वे न केवल अनेक छोटे जानवरों को खा जाते हैं, बल्कि बहुत सी मिट्टी भी कुरेदते हैं जो कि समुद्री जानवरों एवं वहाँ के पर्यावरण के लिये अनुपयोगी है। ये प्रति वर्ष उससे अधिक मिट्टी खोदते हैं जितनी कि कोई नदी अपने पानी के साथ वर्ष भर में समुद्र में गिराती है। प्रकृति विभिन्न प्रकार से जीव-जन्तुओं में संतुलन बनाये रखती है, यह भी उसका एक उदाहरण है।

असामान्य गड्ढे एवं नालियाँ, समुद्र तल पर **डॉ० नेलसन** को तब नज़र आये जब वे समुद्र तल का निरीक्षण किन्हीं भूविज्ञान सम्बन्धी खतरों हेतु कर रहे थे। उस क्षेत्र में ह्वेल मछलियाँ बहुतायत से आती थीं। उनके पेट में मिट्टी भी पायी गई है। विस्तृत अध्यनों से ज्ञात हुआ है कि ये ग्रे ह्वेल मछलियाँ अपने प्रिय भोजन पर्पटीय जीवों के लिए समुद्र तल तक जाती हैं। यहाँ पर पाई जाने वाली लम्बी नालियों को बनाने वाला 'वालरस' है। यह इस बात से ज्ञात हुआ कि बहुत सी सीपियों के आवरण इनके किनारों पर पाये गये।

ह्वेल मछलियाँ जब अपना शिकार करती हैं तो बहुत से अण्डे एवं छोटे भ्रूण तथा कुछ भोजन भी नीचे गिर जाता है। इस भोजन को खाकर छोटे कीड़े बड़े होते हैं और बड़े जानवरों का भोजन बनते हैं। जब अगले मौसम में भूरी ह्वेल मछलियाँ वहाँ आती हैं तो ये बड़े जानवर उनका भोजन बनते हैं। यह बिलकुल वैसा ही है जैसे कोई किसान अपनी ज़मीन को खोदता है, बीज बोता है और पकने पर फसल काट लेता है।

(2) केले के पेड़ : जानवरों का अच्छा चारा

बी० बी० सी० रेडियो की विश्व सेवा को दिये गये अपने नवीन साक्षात्कार में 'पाकिस्तान कृषि शोध संस्थान, के महानिदेशक **डॉ० अमानत अली** ने पाकिस्तान में विकसित कुछ नये चारों के बारे में बताया।

फल आने के पश्चात् केले के पेड़ों को काट लिया जाता है, उसमें खाद मिलाई जाती है जो कि सूखी होनी चाहिये क्योंकि केले में 90 प्रतिशत पानी होता है जब कि साइलो संरक्षण (सिलेज) हेतु 30 प्रतिशत सूखा पदार्थ होना चाहिये। पूरा केले का वृक्ष इस कार्य में उपयोगी है। इस मिश्रण में तीन प्रतिशत शीरा (मोलेसेज़) मिला देते हैं। कभी-कभी गेहूँ का भूसा भी मिलाया जाता है। डॉ० अली के अनुसार खाद के इस मिश्रण में किसी प्रकार की बीमारी फैलने का कोई अंदेशा नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण प्रक्रिया अनाक्सीकारक श्वसन द्वारा होता है। यह एक लैक्टिक अम्ल किण्वन प्रक्रिया है जिसमें सभी सूक्ष्म जीवाणु मर जाते हैं और सिलेज को बिना किसी डर के जानवरों को खिलाया जा सकता है। यह हरे चारे के समान ही पोषक है।

(3) यूरोकाइनेज : हृदय रोगियों के लिए वरदान

रक्त के थक्के बनना हृदय रोगियों के लिए एक समस्या है। ये रक्त के थक्के धमनियों में रक्त प्रवाह को रोक देते हैं, जो मृत्यु का कारण भी हो सकता है। ये रक्त के थक्के यूरोकाइनेज एन्ज़ाइम में घुल सकते हैं,

प्रवक्ता, वनस्पति विज्ञान विभाग, विज्ञान संकाय, एम० एस० विश्वविद्यालय, बड़ौदा—390002, गुजरात

यूरोकाइनेज़ आजकल या तो मनुष्य के मूत्र अथवा वृक्क की कुछ कोशाओं को कृत्रिम रूप से उगाकर प्राप्त किया जाता है। लेकिन यह विधि खर्चीली एवं कुछ कठिन भी है। यह एन्ज़ाइम कुछ दूसरे प्रोटीनों के साथ बनता है जिसे बाद में अलग किया जाता है।

एक अमेरिकी दवा बनाने वाली कम्पनी के वैज्ञानिकों ने कृत्रिम रूप से अणु जैविकी विधियों को अपना कर यूरोकाइनेज़ का निर्माण किया है। उन्होंने पहले मनुष्य की वृक्क कोशाओं से रिवर्स ट्रांसक्रिपटेज एन्ज़ाइम के द्वारा मेसेन्जर (वाहक) आर एन ए (RNA) को अलग किया फिर उससे डी एन ए (DNA) का निर्माण किया जो यूरोकाइनेज़ एन्ज़ाइम बनाने का 'जीन' रखता है। फिर इसे **इसकेरेसिया कोलाई** नामक जीवाणु में रोपित किया। यह जीवाणु यूरोकाइनेज़ बनाने में सक्षम है। अब इसे और अधिक एन्ज़ाइम बनाने में प्रयुक्त किया जा रहा है।

(4) शैवाल का भोज्य सामग्री के रूप में प्रयोग

इस समय लगभग 40 से अधिक भूरी, लाल, हरित तथा नील-हरित शैवालों का प्रयोग भोज्य सामग्री के रूप में किया जा रहा है। जिन देशों में इनका प्रयोग बहुतायत से होता है उनमें जापान, चीन, फिलीपीन्स, इण्डोचीन आदि सम्मिलित हैं।

खाद्य शैवालों में **पोरफाइरा टनेरा** विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जो कि समुद्र में उगने वाला बड़े आकार का एक रक्तिम शैवाल है। इसकी खेती से जापान को लगभग 880 लाख अमेरिकी डॉलर का लाभ होता है। इसे जापानी अपनी भाषा में 'आसा कुसानोरी' कहते हैं। इसके अतिरिक्त जिन अन्य शैवालों का उपयोग वे करते हैं उसमें **नॉस्टॉक लैमीनेरिया** (काम्बो) आदि प्रमुख हैं।

जापानी खेतिहर **पोरफाइरा** को किनारे के उथले समुद्र में फ़सल के रूप में उगाते हैं। पहले वे समुद्र के पास छोटी-छोटी क्यारियों में इसके बीजाणुओं को उगाते हैं। पौध तैयार हो जाने पर वे बाँस के खम्भों में बँधे रस्सों पर, जो थोड़े पानी में डूबे हुये होते हैं, इन्हें लगा देते हैं। पौधों की कुछ वृद्धि के उपरांत बाँस के टुकड़ों को नदियों के मुहाने पर ले जाया जाता है, जहाँ उन्हें पानी में घुले हुये पदार्थ अधिक मात्रा में उपलब्ध होते हैं। □□

पेड़-पौधों का अद्‌भुत संसार

डॉ० विजय कुमार श्रीवास्तव

[हाल ही में नई दिल्ली के "पुस्तक महल" से एक पुस्तक प्रकाशित हुई है—"विश्व प्रसिद्ध मांसाहारी तथा अन्य विचित्र पेड़-पौधे।" इसे विज्ञान लेखक **डॉ० जगदीप सक्सेना** ने लिखा है। पुस्तक में पेड़-पौधों से जुड़े अनेक आश्चर्यजनक तथ्यों का वैज्ञानिक खुलासा किया गया है। प्रस्तुत है पुस्तक का संक्षिप्त परिचय **डॉ० विजय कुमार श्रीवास्तव** की कलम से। डॉ० श्रीवास्तव भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद् (आई० सी० एम० आर०) के प्रकाशन एवं सूचना विभाग में वरिष्ठ अनुसंधान अधिकारी के पद पर कार्यरत हैं और पिछले दस सालों से लोकप्रिय विज्ञान लेखन से जुड़े हैं।

—सम्पादक]

पुस्तक के प्रारम्भ में पौराणिक महत्व के वृक्षों की जानकारी दी गयी है। **सोम, कल्पवृक्ष** और **रुद्राक्ष** के वृक्ष अनेकानेक मनगढ़न्त कहानियों से घिरे हुए हैं। आम आदमी इन्हें चमत्कारिक वृक्षों के रूप में जानता है। जबकि इनमें ऐसा कुछ नहीं है। लेखक ने इन तीनों पौधों के वैज्ञानिक और ओषधीय पक्षों पर प्रकाश डाला है।

इसके अलावा पुस्तक में और भी विचित्र, रहस्यमय और अजीबो-ग़रीब पेड़-पौधों का ज़िक्र है। पुस्तक में कुल 17 अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय पेड़-पौधों की एक नई दुनिया को हमारे समाने उजागर करता है। "मांसाहारी पेड़-पौधे" शीर्षक के अंतर्गत एक ऐसे पौधे के बारे में बताया गया है, जो कबूतर और चूहा भी खा सकता है। छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े खाने वाले तो ढेरों पौधे हैं। एक ऐसे शिकारी पौधे

'सम्प्रेषण' फीचर, सम्पर्क सूत्र : डी 720, सरस्वती विहार, दिल्ली—110034

के बारे में भी बताया गया है, जो देखने में फन फैलाये नाग जैसा दिखता है।

पेड़-पौधे दोस्त और दुश्मन के बीच फ़र्क कर लेते हैं। उन्हें भी हमारी तरह सुख और दुःख का आभास होता है। वे हमारे मन की बात ताड़ लेते हैं संगीत सुनने से फ़सलों की पैदावार बढ़ जाती है। बेलें अपने सहारे को देखकर उससे लिपटती हैं। पेड़-पौधों के जीवन से जुड़े इन आश्चर्यजनक तथ्यों के बारे में सम्भवतया हिन्दी में पहली बार वैज्ञानिक खुलासा किया गया है।

विशाल पेड़ों के बारे में दिलचस्प जानकारी जुटायी गई है। अमेरिका में पाये जाने वाले **सिकोया** के एक पेड़ का तना इतना चौड़ा है कि उसके अन्दर से कार गुजरने लायक रास्ता बनाया गया है। कमल-कुल के पौधे के एक विशाल पत्ते पर बच्चे को बैठाया जा सकता है। जंगलों में मौजूद पेड़ वहाँ से आदि-वासियों की ज़रूरत पूरी करने में समर्थ हैं। खाना, पानी, दूध, जूते, टोपी वगैरह सभी कुछ। ऐसे पेड़-पौधों की जानकारी, "दुकानदारी करते पेड़-पौधे," अध्याय में दी गई है।

बहुत से लुभावने पौधे बेहद ज़हरीले हैं। इनमें से कुछ के ज़हर का उपयोग हत्या करने के लिए किया गया। "प्रमुख ज़हरीले पेड़-पौधे" अध्याय में ऐसे आठ पौधों के बारे में बताया गया है। एक अध्याय में लेखक ने बताया है कि पेड़-पौधे रेडियो और टी० वी० के एंटिना का काम कर सकते हैं। पेड़-पौधों से रेडियो सिगनल भी प्राप्त किया जा चुका है।

कहा जाता है चीन का **जिन्सेंग** नामक पौधा आदमी के हर रोग के लिए 'रामबाण' है। यही कारण है कि इसे दुनिया के सबसे चमत्कारी पौधे की संज्ञा दी गई है। इसके इतिहास और विकास के बारे में पूरा अध्याय है। इसी प्रकार रहस्यमय **ड्रैगन** के पेड़ पर भी एक अध्याय लिखा गया है। पहले कहा जाता था कि ड्रैगन के पेड़ से खून टपकता है। इस रहस्य का पर्दाफ़ाश किया गया है।

कुछ फफूंदें सूक्ष्म प्राणियों का शिकार करती हैं, जबकि कुछ कीड़े फफूंदों का बाग़ लगाते हैं। इनके बारे में अलग-अलग अध्याय हैं। **कुकुरमुत्ते** आदिकाल से मानव-मन में कुतूहल पैदा करते रहे हैं। इनके बारे में तरह-तरह की रहस्यमय कहानियाँ प्रचलित थीं। अध्याय "अद्‌भुत कुकुरमुत्ते" ऐसी ही रोचक जानकारी से भरा पड़ा है। कुछ अजीबो-ग़रीब पेड़-पौधों का भी ज़िक्र है जैसे बूढ़ा होने पर एक पेड़ की कमर झुक जाती है, एक पेड़ की लकड़ी लोहे से भारी है, कुछ पेड़ आत्महत्या करते हैं, एक पौधा मौसम की भविष्य-वाणी करता है, आदि।

जीवाणुओं के बारे में "सबसे अद्‌भुत् सबसे निराले जीवाणु" अध्याय के अंतर्गत बेहद दिलचस्प जानकारी जुटायी गई है। जानकर ताज्जुब होता है कि जीवाणु एक मिनट में अपनी लम्बाई का चार हज़ार गुना फासला तय कर लेता है। कई उद्योग-धन्धे जीवाणुओं के दम पर ही चल रहे हैं। प्राकृतिक संतुलन को बनाये रखने में जीवाणुओं का बड़ा हाथ है।

पुस्तक के अन्त में भारत के कुछ प्रसिद्ध प्राचीन वृक्षों की जानकारी दी गई है, जैसे कलकत्ता का विराट **वट वृक्ष**, बिहार का **बोधि वृक्ष**, **कबीर बड़**, आदि।

वैज्ञानिक तथ्यों के साथ रोचक जानकारी देकर लेखक ने पुस्तक को आदि से अन्त तक पठनीय बना दिया है। पेड़-पौधों में ज़रा-सी भी रुचि रखने वाले हर व्यक्ति के लिए यह पुस्तक संग्रहणीय है। सुन्दर चित्रों और साफ़ छपाई के कारण पुस्तक आकर्षक दिखती है। मुख पृष्ठ भी मनोहर है। और पुस्तक का मूल्य है केवल 18 रुपये। □□

(सम्प्रेषण)

विज्ञान वक्तव्य

आपके हाथों 'विज्ञान' का यह अंक क्षमा याचना के साथ दे रहा हूँ। 'विज्ञान' का अगस्त अंक समय से प्रकाशित न हो पाया और विवश होकर यह अंक भी संयुक्तांक निकालना पड़ा।

कुछ लेखों के साथ आपको इस अंक में विज्ञान विषयक नये साहित्य की भी जानकारी मिलेगी।

5 जून को 'विश्व पर्यावरण दिवस' पर एक विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया था। (देखें पृष्ठ 20)।

पर्यावरण निदेशालय, लखनऊ, उत्तर प्रदेश सरकार के आर्थिक सहयोग से पर्यावरण पर हम एक पुस्तक भी शीघ्र प्रकाशित करने जा रहे हैं। पुस्तक मुद्रणाधीन है। यह आप सबके सहयोग से ही संभव हो सका हैं।

यह दशक निश्चित रूप से पर्यावरण का दशक है। सभी ओर से पर्यावरण का संदेश मिलता है। पत्र-पत्रिकायें, पुस्तकें, रेडियो, टेलीविज़न आदि माध्यमों के द्वारा स्वस्थ पर्यावरण की पुनर्प्रतिष्ठा के लिए पर्यावरण विज्ञानियों की बातें बार-बार प्रचारित की जाती हैं। पर्यावरण की अवहेलना करने वाले उद्योगों अथवा पर्यावरण को क्षति पहुँचाने वालों के विरुद्ध कड़े कदम उठाये जाते हैं।

पर्यावरण की सुरक्षा के मामले में भारत विश्व के उन्नत देशों की भाँति ही क़दम से क़दम मिलाकर चल रहा है। आज हम अपने जंगलों, नदियों, शहरों और सागरों को प्रदूषित होने से बचाने में लगे हुए हैं। गाँवों के निकट कल-कारखाने और बड़े-बड़े बाँध बनाने की छूट नहीं रही। गाँवों के लोगों का शहरों में आना और शहरों में मलिन बस्तियों के विस्तार के प्रति हम सचेत हैं। टेहरी और नर्मदा बाँध परियोजनाओं के प्रति आम लोगों की जागरूकता शुभ लक्षण है।

मैं एक बात बार-बार कहता हूँ और फिर कह रहा हूँ—मेरी मनुष्य की बुद्धि, उसके विवेक पर पूरी आस्था है। मानव इस धरती को पुनः 'सुजला, सुफला, शस्य-श्यामला' बनाने में सक्षम है। अपेक्षित है दृढ़ निश्चय और संकल्प। □□

नया साहित्य

1. प्रदूषण-रोधी वृक्ष—विष्णु दत्त शर्मा

प्रकाशक : किताबघर, 24/4866 शीलतारा हाउस, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली—110002

प्रथम संस्करण 1989; मूल्य पचास रुपये

मुद्रक : कौशिक प्रिंटिंग प्रेस, नवीन शाहदरा, दिल्ली–110032

2. प्रदूषण और रामचरित मानस—विष्णु दत्त शर्मा

प्रकाशक : शोध प्रकाशन अकादमी 23, लक्ष्मी विहार, गाजियाबाद (हिन्दी अकादमी, दिल्ली के आर्थिक सहयोग से)

प्रथम संस्करण : 1990 ; मूल्य 70 रुपये

वितरक : किताबघर, मेन रोड, गाँधी नगर, दिल्ली—110031

मुद्रक : अरिहन्ता प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली—110032

3. हिन्दी विज्ञान पत्रकारिता—मनोज कुमार पटैरिया

प्रकाशक : तक्षशिला प्रकाशन, 24/4762, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली—110002

प्रथम संस्करण : 1990 ; मूल्य दो सौ रुपये मात्र

आवरण : करुणानिधान

मुद्रक : साहित्य कम्पोजिंग एजेंसी द्वारा अनिल प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली—110032

4. भयानक रोगों पर विजय की कहानियाँ—जगदीप सक्सेना एवं साधना सक्सेना

प्रकाशक : फैमिली बुक्स प्रा० लिमिटेड, एफ–2/16 अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली—110002

प्रथम संस्करण जून 1990 ; मूल्य पेपर बैक 18 रु० सजिल्द लायब्रेरी संस्करण 30 रु०

मुद्रक : क्वालिटी ऑफसेट प्रिंटिंग प्रेस, नारायणा, नई दिल्ली —110028

5. कोऽहम् (कौन हूँ मैं)—डॉ० चन्द्र विजय चतुर्वेदी

प्रकाशक : संतोष कुमार चतुर्वेदी, शिल्पी प्रकाशन, 374/117 सी/7 मीरापुर, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण 1990 ; मूल्य पच्चीस रुपये

मुद्रक : मीना प्रेस, 1036, मुट्ठीगंज, इलाहाबाद

6. आर्थिक वनस्पति विज्ञान—रघुनाथ प्रसाद

प्रकाशक : सरस्वती प्रकाशन, विण्ढमगंज—232221, मिर्जापुर, उत्तर प्रदेश

प्रथम संस्करण 1990 ; मूल्य 20 रुपये

प्रमुख वितरक : नन्द किशोर इण्टरप्राइजेज विण्ढमगंज, 232221, मिर्जापुर, उत्तर प्रदेश

मुद्रक : कमल किशोर, पुष्पा प्रिंटिंग प्रेस, विण्ढमगंज, मिर्जापुर, उ० प्र०

7. स्नातक वनस्पति विज्ञान—रघुनाथ प्रसाद

प्रकाशक : सरस्वती प्रकाशन, विण्ढमगंज—232221, मिर्जापुर, उत्तर प्रदेश

प्रथम संस्करण 1989-90 ; मूल्य 30 रुपये

उत्तर प्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के
शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है, यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिये। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं :

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०; आधा पृष्ठ 100.00 रु०; चौथाई पृष्ठ 50.00 रु०; आवरण द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ 500·00 रु०।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत; 500 रु० संस्थागत

वार्षिक : 25 रु०

त्रिवार्षिक : 60 रु०

प्रति अंक : 2 रु० 50 पैसे

इस अंक का मूल्य : 5 रु०

प्रेषक : विज्ञान परिषद्

महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

परिषद् की मुख पत्रिका

अक्टूबर 1990

2 रुपये 50 पैसे

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 1913; 'विज्ञान' का प्रकाशन अप्रैल 1915
अक्टूबर 1990; वर्ष 76, अंक 7

प्रकाशक
डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी
प्रधान मंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

मुद्रक
श्री सरयू प्रसाद पाण्डेय
नागरी प्रेस
186 अलोपी बाग
इलाहाबाद

सम्पर्क
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002

मूल्य
आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत; 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु०
वार्षिक : 25 रु०
एक प्रति : 2 रु० 50 पैसे

विज्ञान विस्तार

लेडी इव बैलफर

डॉ० मुरारी मोहन वर्मा

इंग्लैंड निवासी **लेडी इव बैलफर** को विश्व की प्रथम महिला कृषि वैज्ञानिक होने का श्रेय प्राप्त है। उन्होंने कृषि-क्षेत्र में उत्पादकता, मृदा उर्वरता एवं मानव स्वास्थ्य के सुधार के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किए हैं।

लेडी इव बैलफर ने 'जैविक-क्रांति' का नारा दिया और परम्परागत कृषि के लिए जैविक पदार्थों के उपयोग पर बल दिया। ब्रिटिश सरकार ने लेडी इव बैलफर के महत्वपूर्ण कार्यों के आधार पर उनकी संस्तुति को अध्यादेश के रूप में घोषित किया, जिसमें किसानों को जैविक खादों के उपयोग के लिए समुचित अनुदान देने का प्रावधान किया गया था।

इव बैलफर का जन्म से आज लगभग 91 वर्ष पूर्व ईंग्लैंड के प्रसिद्ध बैलफर परिवार में हुआ था। **वे सर ए० जे० बैलफर** की भांजी थीं, जिन्होंने कंजर्वेटिव दल के नेता एवं इंग्लैंड के प्रधानमन्त्री के रूप में ख्याति अर्जित की थी।

इव बैलफर बचपन से ही कृषि और बागवानी में विशेष रुचि लेती थीं। खेतों में जाकर विभिन्न फसलों की बुआई, उनकी देखभाल, सिंचाई आदि देखती और जानकारी प्राप्त करती थीं। बारह वर्ष की छोटी वय में ही इस बालिका ने कृषि वैज्ञानिक बनने का सपना संजो लिया था। सत्रह वर्ष की उम्र में इव बैलफर ने रीडिंग विश्वविद्यालय से कृषि-शिक्षा में डिप्लोमा प्राप्त किया। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान 'महिला आर्मी' की ट्रेनिंग सफलतापूर्वक पूरी की। उन्होंने वायुयान चलाने का भी प्रशिक्षण प्राप्त किया और विभिन्न एयरक्राफ्टों को उड़ाने में दक्षता हासिल की।

लेडी इव बैलफर की कृषि-जीवन की प्रगाढ़ इच्छा ने उन्हें एक 'प्रायोगिक फार्म' को विकसित करने को विवश कर दिया। अत: 1919 में 'हाग्ले प्रायोगिक फार्म' को इव बैलफर ने खरीदकर कृषि की उन्नति के लिए वैज्ञानिक परीक्षण प्रारम्भ कर दिए। लगभग 200 एकड़ के क्षेत्रफल वाले इस प्रायोगिक फार्म को उन्होंने तीन भागों में विभाजित करके अलग-अलग प्रयोग शुरू कर दिए। ये प्रयोग निम्न प्रकार से थे—

- एक भाग में तो जैविक पदार्थों के उपयोग पर आधारित प्रयोग प्रारम्भ किया,
- दूसरे भाग में पूर्ण रूप से रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग किया और
- तीसरे भाग में जैविक तथा पशु-पालन सम्बन्धी प्रयोग।

इव बैफलर के प्रयोगों के परिणामों से अनुप्राणित होकर किसानों ने रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग तेज़ी से प्रारम्भ कर दिया, जिसके फलस्वरूप फसलों के उत्पादन में वृद्धि होने लगी। उर्वरकों की लोकप्रियता इतनी बढ़ गयी कि अधिकांश कृषि-वैज्ञानिकों एवं किसानों ने जैविक खादों के उपयोग को उपेक्षित-सा कर दिया। कुछ वैज्ञानिकों ने प्राप्त आँकड़ों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि रासायनिक उर्वरकों के लगातार उपयोग से मृदा की उर्वरता धीरे-धीरे क्षीण होने लगती है। फलस्वरूप फसलों की उत्पादकता भी कम होने लगती है।

इव बैलफर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द लिविंग स्वायल' में अपनी अवधारणाओं की पुष्टि निम्न वाक्यों में करने का प्रयास किया है—

"मेरा विषय भोजन है, जिसका सम्बन्ध प्रत्येक प्राणी मात्र से है। इस पर उनका स्वास्थ्य एवं जीवन निर्भर करता है। भोजन के लिए फ़सलों और फलों का उपयोग होता है, जो मृदा से उत्पन्न होते हैं। कोई व्यक्ति अगर इस प्रकार निर्मित त्रिकोण, मृदा-भोजन-

रीडर, शीलाधर मृदा विज्ञान अनुसंधान संस्थान, इलाहाबाद—211002

स्वास्थ्य के पारस्परिक सम्बन्धों को नहीं मानता तो निश्चित रूप से हम कह सकते हैं कि वह वैज्ञानिक अनुसन्धानों पर आधारित तथ्यों की अवहेलना करता है।"

अतः इस व्याख्या से स्पष्ट होता है कि मृदा का महत्व प्राणीमात्र के लिए है। मृदा उसके जीवन के लिए अन्न, फल आदि जैसे पदार्थ उत्पन्न करती है। इस प्रकार मनुष्य का पुनीत कर्तव्य बनता है कि वह मृदा की हर तरह से सुरक्षा करे।

लेडी बैलफर ने जैविक पदार्थों के उपयोग को महत्व देते हुए अपने 'हाग्ले प्रायोगिक फार्म' पर कई दीर्घकालीन क्षेत्र-प्रयोगों को कार्यान्वित किया। इसी प्रकार का कार्य उन दिनों भारत में **सर एलवर्ट हावर्ड** कर रहे थे। हावर्ड ने कार्बनिक पदार्थों के द्वारा कम्पोस्ट बनाकर किसानों को प्रयोग के लिए उपलब्ध कराया और किसानों को प्रशिक्षित भी किया। डॉ० **नीलरतन धर** ने भी कार्बनिक पदार्थों के उपयोग से भारतीय मृदाओं के नाइट्रोजन की कमी की पूर्ति के लिए फॉस्फेट की उपस्थिति में नाइट्रोजन स्थिरीकरण के द्वारा स्थायी उर्वरता वृद्धि के लिए महत्वपूर्ण कार्य प्रारम्भ किया। परिणामस्वरूप विश्व के अनेक देशों में वैज्ञानिकों ने इस प्रकार के शोधों में रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया। इव बैफलर के शोधों का परिणाम विश्वव्यापी रहा।

लेडी बैलफर ने सन् 1943 ई० में **स्काट विलियम्सन** तथा **इन्स पीयर्स** के सहयोग से 'स्वायल एसोसियेशन' नामक संस्था की स्थापना की जिसका उद्देश्य था जैविक तथा कार्बनिक पदार्थों के प्रयोग से मृदा की उर्वरता एवं उत्पादकता की वृद्धि के लिए वैज्ञानिक अनुसंधानों को कार्यान्वित करना तथा किसानों तक उन तथ्यों को पहुँचाना। इस संस्था द्वारा 'साइंस, सिंथेसिस एण्ड सैनिटी' 'ए स्टडी ऑव द लिविंग स्ट्रक्चर ऑव द सोसायटी,' 'द लिविंग स्वायल' जैसे अनेक महत्वपूर्ण प्रकाशन किए गये। कृषि क्षेत्र में कार्यरत वैज्ञानिक, कार्यकर्ताओं एवं किसानों ने इन प्रकाशनों का भरपूर लाभ उठाया।

मनुष्य तथा प्रकृति के सह-सम्बन्धों को वैज्ञानिक विश्लेषणों द्वारा प्रकाश में लाने का महत्वपूर्ण योगदान इस संस्था की सार्थक उपलब्धि कही जा सकती है। परम्परागत कृषि के द्वारा प्रकृति के सन्तुलन में यदि मनुष्य क्षणिक लाभ के लिए किसी प्रकार की गड़बड़ी उत्पन्न करता है तो कालान्तर में किसी समस्या का पैदा होना अवश्यम्भावी है। उदाहरण के लिए यह देखा गया है कि रासायनिक उर्वरकों का धुँआधार प्रयोग, कीटनाशी रसायनों का छिड़काव आदि के दीर्घकालीन प्रभाव मृदा और उसके सूक्ष्मजीवों पर, फ़सलों पर तथा अन्ततोगत्वा मनुष्यों एवं अन्य प्राणियों पर अपना कुप्रभाव छोड़ जाते हैं। डी डी टी का प्रयोग कुछ वर्षों से स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होने के कारण जिस प्रकार समाप्त करना पड़ा उसी प्रकार अम्लीय मृदाओं में अमोनियम सल्फेट जैसे उर्वरकों का प्रयोग, अम्लजनक होने के कारण, बन्द करना पड़ा। कुछ विषाक्त पदार्थों से युक्त, उर्वरकों का प्रयोग स्थगित करना पड़ा जैसे बाइयूरेट, फ्लोराइड आदि।

बैफलर में एक बड़ा गुण यह था कि वह अन्य वैज्ञानिकों के अनुसंधानों की कद्र करती थीं। भारतीय कृषि वैज्ञानिक प्रोफेसर धर के अनुसंधानों की ओर उनका ध्यान गया। लेडी इव बैफलर ने अपने 'न्यू वेल्स फार्म' पर वर्ष 1957-58 में डॉ० धर के प्रयोग को क्षेत्र-परीक्षण के लिए संचालित किया। उन्होंने लगभग साढ़े पाँच एकड़ (5.42 एकड़) के भूभाग पर जौ उगाकर जैविक पदार्थ एवं बेसिक स्लैग के प्रभाव का अध्ययन किया और तुलना के लिए एक प्लाट में अमोनियम सल्फेट डाला। जैविक पदार्थ तथा बेसिक स्लैग मिलाये गये प्लाटों में फ़सल की उपज अमोनियम सल्फेट से अधिक पाई गयी। मृदा में उपलब्ध नाइट्रोजन की वृद्धि भी जैविक पदार्थ वाले प्लाटों में प्रेक्षित की गई। डॉ० धर के प्रयोगों के सफल परीक्षण के परिणामस्वरूप डॉ० धर के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हुए लेडी इव बैफलर ने डॉ० धर को अपनी संस्था 'स्वायल एसोसियेशन' का उपाध्यक्ष मनोनीत किया। डॉ० धर इस पद पर अनेक वर्षों तक रहे।

यहाँ के प्रयोगिक फार्म पर मृदा के भौतिक गुणों पर आधारित कई क्षेत्र प्रयोगों को कार्यान्वित किया गया। जल-धारण-क्षमता, मृदा-संरचना, सरन्ध्रता आदि महत्वपूर्ण विषयों पर विशद अध्ययन करके किसानों को इस प्रकार के ज्ञान से अवगत कराया गया। किसानों के लिए समय-समय पर अल्पकालीन प्रशिक्षण देकर उन्हें जैविक पदार्थों से प्राप्य लाभों के विषय में शिक्षित करना इस संस्था का एक महत्वपूर्ण कार्य है।

'स्वायल एसोसियेशन' द्वारा सन् 1952 में एक त्रैमासिक पत्रिका 'मदर अर्थ' का प्रकाशन भी प्रारम्भ किया गया परन्तु बाद में इस पत्रिका का नाम बदलकर 'द लिविंग अर्थ' रख दिया गया। इस पत्रिका का उद्देश्य विश्व में 'जैविक क्रांति' से सम्बन्धित लेखों को प्रकाशित करके जनसामान्य में उसके महत्व के प्रति जागरूकता पैदा करना है। लेडी इव बैफलर इस पत्रिका के मुख्य सम्पादक के कठिन दायित्व का निर्वाह एक लम्बे अरसे तक करती रहीं। इस पत्रिका की लोकप्रियता का सहज अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि आज इस पत्रिका के, विश्व के 42 राष्ट्रों में, 3000 से अधिक स्थाई सदस्य हैं।

प्रारम्भिक वर्षों में 'स्वायल एसोसियेशन' के कार्यक्रमों को संपादित करने में लेडी बैफलर ने विकट आर्थिक समस्याओं का सामना किया, जो उनके संघर्षमय एवं साहसपूर्ण जीवन का परिचायक है। शोधकार्य के लिए क्षेत्र-परीक्षणों को कार्यान्वित करने में विशेष रूप से आर्थिक व्यवस्था का अतिरिक्त प्रावधान करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में लेडी बैफलर ने प्रयास करके कुछ संस्थाओं के सहयोग एवं अनुदान के द्वारा क्षेत्र-परीक्षण सम्बन्धी कार्यक्रमों को सम्पन्न करने में सतत प्रयत्नशील रहीं। वे 'स्वायल एसोसियेशन' की प्रथम अध्यक्ष रहीं। **डेविड को** इस संस्था के प्रथम निदेशक थे। पत्रिका और पुस्तकों के सम्पादन कार्य के लिए **डॉ० नाइजेल उड्ले** का योगदान सराहनीय है। लेडी बैफलर 'हाग्ले प्रायोगिक फार्म' के प्रबन्धक के पद पर भी एक लम्बे अरसे तक कार्यरत रहीं।

लेडी इव बैफलर को ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रदत्त विशिष्ट सम्मान 'ओ० बी० ई० एवार्ड' भी प्राप्त हुआ। इनके कार्यों के आधार पर जैविक-कृषि अपनाने वाले किसानों को अतिरिक्त अनुदान देने की घोषणा भी सरकार ने की। 'स्वायल एसोसियेशन' ने 'जैविक कृषि अभियान' को सन् 2000 ई० तक सम्पूर्ण ब्रिटिश राज्य में कुल कृषि क्षेत्र के पाँचवें भू-भाग तक विस्तार देने की योजना बनाई है। जैविक कृषि जो परम्परागत कृषि की आधुनिक प्रणाली के रूप में यदि आज वैज्ञानिक अनुसंधानों के समन्वय के साथ विश्व में प्रचलित हो रही है तो इसके पीछे निसंदेह लेडी इव बैफलर जैसे कर्मठ व्यक्तियों के सतत् प्रयासों के हाथ हैं।

इसी वर्ष इस जुझारू महिला वैज्ञानिक का निधन हो गया। लेडी इव बैफलर का पार्थिव शरीर नहीं रहा पर अपने अनुसंधानों में वे सदा जीवित रहेंगी। विश्व की भुखमरी की समस्या के निदान के लिए किए गए उनके वैज्ञानिक कार्य आने वाली पीढ़ियों के वैज्ञानिकों सदा अनुप्राणित करते रहेंगे। □□

भुसावली केला

दर्शनानन्द

केला अत्यंत पौष्टिक और उपयोगी फल है। इसे बच्चों से लेकर वृद्धों तक सभी पसंद करते हैं। खाते समय केले का मधुर स्वाद और सुवास चित्त को प्रसन्न कर देता है। इसका पका फल बहुत पाचक होता है। ऐसा इसमें उपलब्ध शर्करा की प्रचुरता तथा मण्ड (स्टार्च) की न्यूनता के कारण होता है। कच्चे (हरे) केले के गूदे में शर्करा की उपलब्धता केवल नाम मात्र अर्थात् 1 से 2 प्रतिशत तथा मण्ड की अधिक (लगभग 20 प्रतिशत) होती है। इसी कारण कच्चा केला कठिनाई के साथ पचता है।

उपनिदेशक उद्यान (अ० प्रा०) इलाहाबाद मण्डल, सी-67, गुरु तेगबहादुर नगर (करेली हाउसिंग स्कीम), इलाहाबाद—211016 (उ० प्र०)

पकने के बीच गूदे में मण्ड की मात्रा लगभग समाप्त हो जाती है, जो घटकर या 2 प्रतिशत तक रह जाती है। गूदे में मण्ड की मात्रा घटने के साथ-साथ शर्करा की मात्रा बढ़कर 20 प्रतिशत तक पहुँच जाती है। इसी कारण पके केले का परिपाचन बड़ी सुगमतापूर्वक होता है।

पके केले में शर्करा प्रहासन (रीड्यूसिंग शुगर अर्थात् ग्लूकोज़ व फ़क्टोज़) की मात्रा शर्करा अप्रहासन (नॉन रीड्यूसिंग शुगर अर्थात् शुक्रोज़) से अधिक रहती है, जो अधिक उपयोगी तथा स्फूर्तिदायक होती है। आँतों के रोगियों के लिये पुष्टई के रूप में प्रायः केले का प्रयोग किया जाता है। बच्चों के उदर-गुहीय (Coeliac) रोगों में, जब कि कार्बोहाइड्रेट का प्रयोग असहनीय होता है, केला आसानी के साथ हज़म हो जाता है। सब्ज़ी वाली किस्मों (**Plantain**) की फलियों में पकने पर भी लगभग 6 प्रतिशत मण्ड रह जाता है।

पका कर खाने वाले केले (Banana) के गूदे में जल 70 प्रतिशत, रीड्यूसिंग शुगर 4 से 11 प्रतिशत, नॉन रीड्यूसिंग शुगर 6 से 16 प्रतिशत, मण्ड 3 से 7 प्रतिशत, कुल कार्बोहाइड्रेट 36.4 प्रतिशत, खटास 4.5 प्रतिशत, प्रोटीन 1.3 प्रतिशत, वसा 0.2 प्रतिशत, राख 0 7 प्रतिशत और पेक्टिन 0.7 प्रतिशत उपलब्ध होती है। पके केले के गूदे का टी० एस० एस० (कुल घुलनशील ठोस पदार्थ) 18.16 प्रतिशत होता है।

केले के गूदे में उपर्युक्त के अलावा कैल्शियम 0.1 प्रतिशत, फॉस्फोरस 0.05 प्रतिशत, लोहा 0.4 मिली ग्राम प्रति 100 ग्राम गूदा, विटामिन-ए (केरोटीन) 2.4 पी० पी० एम० (2.4 भाग प्रति 10 लाख भार), विटामिन बी-1 (थायमिन) 0.5, विटामिन बी-2 (राइबोफ्लैविन) 0.5, विटामिन-सी (ऐस्कॉर्बिक एसिड) 120 तथा नियासिन (निकोटिनिक एसिड) 7.0 पी० पी० एम० उपलब्ध होते हैं। पके केले के प्रति 100 ग्राम ताज़े गूदे में 153 कैलॉरी ऊष्मा की शक्ति भी उपलब्ध होती है। अतः केले का फल क्षुधापूर्ति के लिये भी बड़ा उपयोगी होता है। इसे भोजन के रूप में बड़ी आसानी के साथ प्रयोग कर सकते हैं। दिन भर की पूर्ण ऊष्मा शक्ति प्राप्त करने हेतु कार्य करने वाले एक पुरुष तथा एक स्त्री के लिये प्रतिदिन क्रमशः 1.96 किग्रा० एवं 1.63 किग्रा० केला खाने की आवश्यकता होती है। अगर इसके साथ कुछ दूध पी लिया जाय तो यह पूर्ण भोजन का काम करता है।

चीनी चम्पा, पूवन, मालभोग वगैरह केले की बहुत सी किस्मे हैं, जो पका कर खाई जाती हैं। इनमें से एक किस्म भुसावली केला भी है, जो भुसावल में पैदा होता है। इसी को बसरइ ड्वार्फ (**Basrai dwaf**) भी कहते हैं। इसकी फलियों का छिलका हरा-पीला होता है और फलियाँ लम्बी, मोटी और कुछ घुमावदार होती हैं। इसका गूदा मीठा, सुवासयुक्त और बहुत ही स्वादिष्ट होता है। बाज़ार में प्रायः यही केला उपलब्ध होता रहता है। कुछ लोग इसे हरी छाल का केला कह देते हैं परन्तु वास्तव में हरी छाल एक अलग ही किस्म है जिसका छिलका पकने पर भी हरा होता है।

बसरइ ड्वार्फ केले की एक बौनी किस्म है। इसके पौधे 2 मीटर की ऊँचाई तक वृद्धि करते हैं और पत्ते क्षैतिज दशा में फैले हुए चौड़े और कम लम्बाई के होते हैं। इसकी धार या घौद में 150 से 200 फलियाँ निकलती हैं।

केले की बागवानी के लिए गर्म, आर्द्र और अधिक वर्षा युक्त जलवायु सर्वोत्तम होता है। पाला, लू और ठंडी हवा से पौधों को बचाना बहुत आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त उत्तम जलोत्सारणा वाली उपजाऊ और भुरभुरी दोमट मिट्टी, जो जैविक पदार्थों से भरपूर हो, अधिक उपयुक्त होती है। भारत वर्ष के उत्तरी मैदानी क्षेत्रों के बस्ती, गोरखपुर, गोण्डा, बहराइच, सीतापुर आदि जैसे तराई वाले भागों के अतिरिक्त कानपुर, फतेहपुर और इलाहाबाद जैसे सूखे वातावरण वाले क्षेत्रों में भी भुसावली केले की बागवानी बड़े पैमाने पर की जा रही है। फतेहपुर में जमरांवां, ग्राम मीतनपुर व बड़ा गाँव और इलाहाबाद

में सुलेमसराय बसरइ ड्वार्फ की पैदावार के लिए प्रमुख क्षेत्र हैं।

केले का प्रसारण बगल से निकलने वाली तलवार पुत्ती द्वारा किया जाता है। इसकी पत्ती तलवार की भाँति लम्बी, नुकीली और सकरी होती है। तलवार पुत्ती का तना नीचे की ओर मोटा और भारी तथा ऊपर की ओर पतला होता है। मातृ पौधों के बगल से सम्भाल कर खोद कर अलग कर लेना चाहिए। आम तौर से रोपण के लिए 70 से 90 सेमी० ऊँचाई की पुत्तियाँ उपयुक्त होती हैं। जो पुत्ती चौड़ी पत्ती वाली और समान मोटाई की पतले और कमजोर तने वाली हो उसका रोपण के लिए चयन नहीं करना चाहिए। इस किस्म की पुत्तियाँ वाटर सकर (जल पुत्ती) कहलाती हैं।

पुत्तियों का रोपण जून-जुलाई से करना चाहिए। इसके पहले अप्रैल-मई में 1 8 × 1.8 मीटर की दूरी पर 60 × 60 × 60 सेमी० के गड्ढे खोदना चाहिए। एक मास बाद प्रति गड्ढा 20 किग्रा० गोबर की सड़ी खाद और ऊपर की मिट्टी मिलाकर भर देना चाहिए। इसी के साथ प्रति गड्ढा 90 ग्राम फॉस्फेट ऊपरी भाग में मिला देना चाहिए। रोपण के पूर्व हर पुत्ती की चोटी का 1/3 भाग तेज चाकू से काट देना चाहिए और भूमिगत तने के कटे भाग को सेरेसान या एगलाल के 0.25 प्रतिशत घोल में 1/2 से 1 मिनट तक डुबाना चाहिए। उपर्युक्त दूरी पर एक हेक्टेयर में 3025 पौधे लगाये जा सकते हैं।

फॉस्फेट की उपरोक्त मात्रा (90 ग्राम) के अतिरिक्त पौधे के जीवन काल में प्रति पौधा 200 ग्राम नाइट्रोजन और 170 ग्राम पोटाश की भी आवश्यकता होती है। केले का जीवन काल लगभग एक वर्ष का होता है। पौधा लगाने के एक मास पर नाइट्रोजन का 1/4 भाग और पोटाश का 1/2 भाग प्रयोग करना चाहिए। रोपड़ के तीन और पांच महीने पर तथा पुन: छठे महीने में पोटाश का शेष आधा भाग भी प्रयोग कर देना चाहिए। उर्वरकों का प्रयोग तने के चारों ओर 30 सेमी० स्थान छोड़कर पौधे के पूरे फैलाव तक 5 से 10 सेमी की गहराई में करना चाहिए। सभी उर्वरकों का प्रयोग रोपण के छः मास के भीतर कर डालना चाहिए।

ग्रीष्म ऋतु में एक सप्ताह पर और शरद ऋतु में 2 सप्ताह पर सिंचाई करनी चाहिए। शुरू में समय-समय पर निराई व हल्की गुड़ाई भी करनी चाहिए।

रोपाई करने से लगभग एक वर्ष में केले फूल फल देने लगते हैं। फूलने के तीन सप्ताह में फलियाँ 3-4 महीने में विकसित हो जाती हैं। पूर्ण विकसित होने पर फलियों के कोने गोल हो जाते हैं और छिलके के हरे रंग में कुछ हल्कापन आ जाता है। ऐसी अवस्था आ जाने पर धार को काट लेना चाहिए। धार काटने के 20 दिन बाद केले का एक तिहाई तना कूट स्तम्भ) काट देना चाहिए। पौधे के बगल से जो फालतू पुत्तियाँ निकलती दिखाई दें उन्हें हटा देना चाहिए। धार लग जाने पर पौधे में नीचे की ओर लटकते दुए नरफूल को काट देना चाहिए। अगर केले की धार के भार से पौधा झुक रहा हो तो उसे लकड़ी का सहारा देना चाहिए।

समय-समय पर बनाना बीटल, बंची टॉप, तना छेदक, भुनगा, एन्थैक्नोज व फिंगर टिप रॉट जैसे रोगों व कीटों से फसल का उपचार करते रहना चाहिए। बसरइ ड्वार्फ की एक धार में 150 से 200 तक फलियाँ लगती हैं। कैम्पियरगंज, कोठिया, बलिया, हजारा व मॉन्थन जैसी सब्जी पकाने वाली किस्मों में 200 से 250 फलियाँ आसानी के साथ लग जाती हैं। एक पौधे से एक धार निकलती है अतः एक हेक्टेयर केले के बाग से 3025 धारें निकलती हैं। बसरइ ड्वार्फ की एक धार से औसतन 100 फलियों की दर से एक हेक्टेयर से कम से कम तीन लाख फलियाँ प्राप्त कर अच्छी आमदनी की जा सकती है।

□□

सौर ऊर्जा पादप रोग-निदान में सहायक

डॉ० अरुण आर्य्य

आप माने या न माने बहुत प्राचीनकाल में ही प्रतिदिन काफ़ी बड़ी मात्रा में बेकार जा रही सौर ऊर्जा के उपयोग का विचार वैज्ञानिकों के मस्तिष्क में आ चुका था। प्रमाण बताते हैं कि भारतवर्ष में प्राचीन काल में किये जाने वाले यज्ञों के लिए अग्नि, अवतल दर्पणों के द्वारा, सूर्य रश्मियों को एक स्थान पर केन्द्रित करके उत्पन्न की जाती थी।

सन् 214 ईसा पूर्व में यूनान के प्रसिद्ध वैज्ञानिक **आर्कीमिडीज़** ने कई बार पालिश किए हुये 'दर्पणों' की सहायता से संकेन्द्रित सूर्य-रश्मियों को साइराकूज पर आक्रमण कर देने वाले रोमन ज़हाज़ी बेड़े पर परावर्तित करके उसे 200 फुट की दूरी से जलाकर राख कर दिया था। इस दाहक कांच को आवश्यकतानुसार प्रत्येक दिशा में घुमाया जा सकता था। सौर ऊर्जा का उपयोग युद्धास्त्र के रूप में किये जाने का इतिहास में यह शायद सर्वप्रथम अवसर था।

सुर्य, ऊर्जा का एक असीम और महत्वपूर्ण स्रोत है। व्यवहारिक स्तर पर सौर किरणों को सीधे विद्युत् में परिवर्तन के प्रयास पिछले तीन दशकों से हो रहे हैं। प्रकाश बोल्टीय सेल, सौर ऊर्जा को सीधे विद्युत् में परिवर्तित करता है। अंतरिक्ष अनुसंधान कार्यों में सौर सेल का व्यापक उपयोग हो रहा है। पश्चिमी देशों में इसकी लागत को कम कर इसे आर्थिक दृष्टि से अन्य ऊर्जा स्रोतों की तुलना में सस्ता बनाने के लिये अनुसंधान कार्य युद्धस्तर पर हो रहा है।

सौर ऊर्जा का एक अन्य महत्वपूर्ण उपयोग किया है इज़राइल के वैज्ञानिक **डॉ० जे० काटन** (1981) ने। मृदाजन्य बीमारियों द्वारा प्रतिवर्ष बहुत नुकसान होता है। कृषि की फ़सलों को जब लगातार एक ही खेत में बोया जाता है तो सूक्ष्मजीवाणुओं एवं कवकों की संख्या में कई गुना वृद्धि हो जाती है, जिससे बचने के लिए या तो फ़सल को बदलना होता हैं या फिर खेत को।

खेतों को प्लास्टिक शीटों से ढँक कर, सौर ऊर्जा द्वारा मा्ल्चिग की विधि से मिट्टी के तापक्रम को वायुमण्डल से 6-9° से० (सेन्टीग्रेड) तक बढ़ा दिया जाता है। इसके साथ-साथ खेतों में पानी दिया जाता है। वाष्पन के द्वारा छोटी-छोटी पानी की बूँदें प्लास्टिक शीट की निचली सतह पर जमा हो जाती हैं और वे सूर्य किरणों को वापस नहीं जाने देतीं। बूंदों द्वारा अवशोषित की गई यह ऊर्जा मिट्टी का तापमान 5 से 10 सेमी० गहराई तक कई डिग्री सेल्सियस बढ़ा देती है। परिणामस्वरूप तमाम रोग उत्पन्न करने वाले कीटाणुओं का अंत हो जाता है और मृदा में रहने वाले सभी जीवाणुओं की संख्या में बहुत कमी होती है।

एम० एस० वि० वि०, बडोदरा में जब इस प्रकार के प्रयोग किये गये तो यह पाया गया कि प्लास्टिक की पतली चादरों (0.03 मि० मी०) से मिट्टी के भीतर (5 सेमी० नीचे) का तापमान 6° से० बढ़ गया। अप्रैल-मई (1989) के महीनों में 45 दिनों तक यह प्रयोग किया गया जिससे न केवल मिट्टी में रहने वाले जीवाणुओं व सूक्ष्म कवकों की संख्या में कमी हुयी बल्कि अरहर (*Cajanus indicus*) की फ़सल में विल्ट जैसी बीमारियों को उत्पन्न करने वाले **फ्यूजेरियम उडम** (*Fusarium udum*) नामक कवक का अन्त हुआ।

पारदर्शी पोलीइथलीन (पोलीथीन) अन्य प्रकार की चद्दरों से अधिक उपयोगी पायी गई है। जब विभिन्न रंगों की पोलिथीन को प्रयोग में लाया गया तो लाल रंग कुछ ही दिनों में उड़ गया। काला पोलीथीन स्वयं तो काफी गरम हो गया परन्तु मिट्टी का तापक्रम नहीं

वनस्पति विज्ञान विभाग, विज्ञान संकाय, एम० एस० विश्वविद्यालय, बड़ौदा—590005

बढ़ा। नीले एवं हरे रंग में नीला रंग अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ।

मिट्टी को पहले भी भाप के द्वारा 60° से 100° से० तक गर्म करके जीवाणुओं की संख्या एवं उनकी किस्मों में कमी पायी गई, परन्तु वर्तमान विधि अधिक उपयोगी है, क्योंकि इससे "जैविक वैक्यूम" नहीं होता जिसके कारण जब तापमान फिर वापस आता है तो थोड़े ही समय में सूक्ष्मजीवों की संख्या में बहुत वृद्धि नहीं होती।

इस विधि से आलू एवं कपास की फ़सलों में **वर्टीसीलियम डहेलिआई** (*Verticillium dahelii*) के कारण होने वाली व्याधियों में 20 से 60 प्रतिशत तक कमी आई। इसी प्रकार अन्य फसलों में भी सूर्य द्वारा मल्चिंग के कारण संतोषजनक परिणाम पाये गये हैं। इस विधि के द्वारा खरपतवारों की संख्या में भी भारी कमी हुयी है।

इस विधि की सफलता तभी होगी जब हमें कम दाम पर अधिक समय तक ठीक रहने वाली पोलिथीन उपलब्ध होगी। हमारे यहाँ जबकि सौर ऊर्जा की बहुतायत है, सरकार द्वारा इस दिशा में प्रयास किये जाने की आवश्यकता है।

□□

ब्रह्माण्ड का स्वरूप क्या है?

श्याम लाल धीमान

प्राचीन काल में मनुष्य को ब्रह्माण्ड के विषय में बहुत कम ज्ञान था। स्वयं पृथ्वी के सम्बन्ध में भी उसे भ्रान्ति थी कि यह चपटी है और सूर्य इसकी परिक्रमा करता है। कालान्तर में पृथ्वी के गोलाकार होने का पता चला। 1543 में **कॉपरनिकस** की मृत्यु के समय उनकी पुस्तक "ऑन द रिवोल्यूशन ऑव द सेलेसियल स्फीयर" प्रकाश में आई, जिसमें पृथ्वी और अन्य ग्रहों के सूर्य के चारों ओर परिक्रमण करने की अवधारणा प्रतिपादित की गयी थी। समय के साथ-साथ ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में भी हमें अनेक तथ्यों का पता लगता रहा है। ब्रह्माण्ड सम्बन्धी अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये। इनमें 'महाविस्फोट सिद्धान्त' (बिग बैंग थ्योरी) प्रमुख है।

'महाविस्फोट सिद्धान्त' के अनुसार प्रारम्भ में ब्रह्माण्ड का सारा पदार्थ एक आदिम विशाल गोले में समाहित था। चूँकि पदार्थ की उपस्थित में ही गुरुत्वाकर्षण होता है और पदार्थ आधिक्य के कारण इसका मान भी अकल्पनीय रहा होगा, अतः आदिम विशाल गोले में पदार्थ अधिक घनीभूत रहा होगा। यह गुणों में 'ब्लैक होल की' तरह रहा होगा। सिद्धान्त के अनुसार माना जाता है कि 15-20 अरब वर्ष पूर्व किसी कारणवश पदार्थ का यह गोला फट गया और इसका पदार्थ समय के साथ-साथ बिखरता गया। बिखरे पदार्थ के संघनन के फलस्वरूप ही ग्रहों एवं तारों का निर्माण हुआ। गुरुत्वाकर्षण के कारण तारा समूह और नीहारिकायें भी अस्तित्व में आयीं।

एक अन्य सिद्धान्त जिसे स्थिर अवस्था सिद्धान्त (स्टीडी स्टेट थ्योरी) कहते हैं, के अनुसार इस ब्रह्माण्ड का न कोई आदि है और न अन्त। इसका स्वरूप सदैव एकसा ही रहता है। परन्तु प्रसार करते ब्रह्माण्ड का स्वरूप एक सम्मान तभी रह सकता है जब इसका घनत्व न बदले। घनत्व को स्थिर रखने के लिए सिद्धान्त में व्यवस्था दी गयी है कि ब्रह्माण्ड में पदार्थ उत्पन्न होता रहता है। यह पदार्थ और कहीं से नहीं बल्कि शून्य से उत्पन्न होता है। आज 'महाविस्फोट सिद्धान्त' ही अधिक मान्य है।

ब्रह्माण्ड प्रसार करता है—इस बात का पता आस्ट्रिया के गणितज्ञ एवं भौतिक विज्ञानी **क्रिश्चियन डाप्लर** द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त से लगाया जाता है। उनके नाम पर ही इसको 'डाप्लर सिद्धान्त' के नाम से जाना जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि कोई तारा हमसे दूर जा रहा है तो उसका वर्णक्रम वेग के

प्रवक्ता भौतिकी, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कोट द्वार, पौड़ी गढ़वाल, उत्तर प्रदेश-246149

अनुसार लाल रंग की ओर विस्थापित हो जाता है। वर्णक्रम के इस विस्थापन को 'लाल-विस्थापन' कहते हैं। यह विस्थापन वेग के अधिक होने पर अधिक और कम होने पर कम होता है। प्रेक्षणों से सुदूरस्थ तारों के वर्णक्रम में 'लाल-विस्थापन' देखा गया है। अतः स्पष्ट है कि सुदूर स्थित तारे हमसे दूर हटते जा रहे हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि हमारा ब्रह्माण्ड प्रसार करता जा रहा है। परन्तु हम यहाँ प्रसार करने का अर्थ यह नहीं लगा सकते कि सूर्य हमसे दूर भागता जा रहा है। पृथ्वी अन्य ग्रहों की तरह गुरुत्वाकर्षण बल के कारण सूर्य से सम्बद्ध है। इसी प्रकार, हमारी आकाशगंगा के अनेकानेक तारे भी हमसे दूर नहीं जा सकते। वे भी आकाशगंगा के केन्द्र से सम्बद्ध हैं। तब फिर हमसे कौन तारे दूर हटते जा रहे हैं? वे तारे जो दूसरी नीहारिकाओं में उपस्थित हैं। ज्ञातव्य है कि ब्रह्माण्ड में लगभग दो खरब नीहारिकायें हैं। वास्तव में ये नीहारिकायें ही परस्पर दूर हटती जा रही हैं। जिस नीहारिका में हम रहते हैं उसे ही आकाशगंगा कहा जाता है।

नीहारिकाओं का वेग ज्ञात हो जाने पर हम '**हब्बल के नियम** से नीहारिकाओं की दूरी को भी ज्ञात कर सकते हैं। इस नियम के अनुसार, किसी नीहारिका में स्थित तारे का वेग, हब्बल नियतांक और तारे की दूरी के गुणनफल से प्राप्त होता है। इस प्रकार, इससे तारे की दूरी की गणना की जा सकती है। हब्बल के नियतांक का मान 55—75 किलोमीटर प्रति सेकण्ड प्रति मेगापारसेक होता है। एक मेगापारसेक 3×10^{19} किलोमीटर के तुल्य होता है। ब्रह्माण्ड में ऐसी नीहारिकाओं का पता लगाया जा चुका, है जो हमसे अरबों प्रकाश वर्ष दूर हैं। नियमानुसार अधिक दूरी पर स्थित नीहारिकाओं का वेग भी अधिक होता है। इन नीहारिकाओं का वेग प्रकाश वेग के समतुल्य प्राप्त होता है। उक्त नियम का पता अमेरिकन वैज्ञानिक **एडविन पी० हब्बल** ने 1929 में लगाया था।

अब आप प्रश्न कर सकते हैं कि प्रसार करता हुआ ब्रह्माण्ड कहाँ समाता जा रहा है? क्या इसके बाहर भी व्योम (स्पेस) है जहाँ यह घुसता जा रहा है? यदि ब्रह्माण्ड के बाहर व्योम है तो फिर इस व्योम के परे क्या है? चूँकि किसी भी परिघटना को समझने के लिए एक प्रतिरूप (मॉडल) की आवश्यकता होती है अतः हम यहाँ ब्रह्माण्ड के प्रतिरूप की परिकल्पना करेंगे। परन्तु परिकल्पना विद्यमान सिद्धान्तों के अन्तर्गत ही होनी चाहिये। सौभाग्य से हमारे पास ऐसा सिद्धान्त है जो ब्रह्माण्ड सम्बन्धी परिघटनाओं की व्याख्या करने में सक्षम है। यह है **आइंसटीन** का 'अपेक्षिकता का व्यापक सिद्धान्त।' यह सिद्धान्त इतना व्यापक है कि एक ओर तो यह न्यूटन की कण भौतिकी से जुड़ा है और दूसरी ओर यह स्थूल भौतिकी से सम्बन्धित घटनाओं की भी व्याख्या करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार हमारे ब्रह्माण्ड के प्रतिरूप में निम्नलिखित गुण होने चाहिये—

(1) ब्रह्माण्ड में स्थित प्रत्येक बिन्दु समान रूप से महत्वपूर्ण होना चाहिये। अर्थात इसमें कहीं पर भी स्थित प्रेक्षक एक ही प्रकार के परिणाम प्राप्त करेगा।

(2) यह प्रसारी होना चाहिये, क्योंकि यह प्रेक्षणों की माँग है।

(3) इसका कोई छोर नहीं होना चाहिये। यदि ऐसा नहीं होगा तो ब्रह्माण्ड में स्थित बिन्दु समान रूप से महत्वपूर्ण नहीं होंगे।

(4) वह सान्त अर्थात् अनन्त नहीं होना चाहिये, क्योंकि यह प्रेक्षणों की माँग है।

(5) उसे संवृत अर्थात् द्विविमीय सतह से बन्द होना चाहिये, क्योंकि उसके खुला होने पर भी ब्रह्माण्ड के स्वरूप में समरूपता का दोष रहेगा। संवृत ब्रह्माण्ड सीमाहीन भी होता है और हम उसके अनुपस्थित किनारे पर कभी भी नहीं पहुँच सकते।

उपरोक्त शर्तों के अनुसार हमारे ब्रह्माण्ड का स्वरूप बहुत कुछ प्रसार करते गोलाकार गुब्बारे की तरह होगा। गोलाकार गुब्बारा सान्त होता है। इसकी द्विविमीय सतह पर स्थित प्रत्तेक बिन्दु समान रूप से

उपयोगी है अर्थात् सतह पर स्थित किसी भी बिन्दु की कोई विशिष्ट स्थिति नहीं होती है। न ही इसका कोई कोना ही होता है। यदि हम ब्रह्माण्ड रूपी गुब्बारे पर चींटियों के झुंड के झुंड बिखरे हुए मान लें तो प्रसार की अवस्था में ये नीहारिकाओं के सदृश चींटियों के झुंड परस्पर दूर हटते जायेंगे। इस दृष्टान्त से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि यदि कोई प्रेक्षक ब्रह्माण्ड के किसी बिन्दु से एक ही दिशा में चलता जाये तो वह पुनः अपने ही मूल स्थान पर लौट आता है। इसी प्रकार, हम यह भी कह सकते हैं कि यदि कोई प्रेक्षक सुदूर ब्रह्माण्ड में देख सकने में समर्थ है तो उसे अपना सिर ही दिखाई पड़ेगा।

अभी भी हमें अपने प्रश्नों के उत्तर नहीं मिल पाये हैं। इसके लिए हम आइंसटीन के व्यापक सिद्धान्त में निहित **दिक्-काल की अवधारणा** पर लौट चलते हैं। क्या यह अवधारणा ब्रह्माण्ड पर लागू हो सकती है? परन्तु हमें अपने प्रश्न को और स्पष्ट करना होगा। क्योंकि दिक्-काल दो प्रकार से घटित हो सकता है—ब्रह्माण्ड के भीतर और बाहर। इसको हम एक प्रश्न के आधार पर समझ सकते हैं—क्या समय के रुकने अथवा समाप्त होने पर ब्रह्माण्ड समाप्त हो जायेगा? वास्तव में समय की अवधारणा ब्रह्माण्ड में घटित होने वाली घटनाओं के लिए ही है। न तो यह समूचे ब्रह्माण्ड पर ही लागू हो सकती है और न उसके बाहर। अतः हम कह सकते हैं कि समय का अस्तित्व ब्रह्माण्ड में है न कि समय का अस्तित्व समय में।

चूँकि आइंसटीन के उक्त सिद्धान्त से दिक्-काल में अन्तर्सम्बन्ध होता है अतः दिक् अर्थात् व्योम का अस्तित्व भी काल अर्थात् समय की तरह ब्रह्माण्ड के के अन्दर है, न कि ब्रह्माण्ड का अस्तिव व्योम में। अतः कहा जा सकता है कि समय और व्योम ब्रह्माण्ड के अन्दर हैं, उसके बाहर नहीं। इस प्रकार ब्रह्माण्ड के परे कुछ भी नहीं है।

हमारे इस रहस्यमय ब्रह्माण्ड की अन्तिम परिणति क्या है? क्या यह इसी प्रकार सदैव प्रसार ही करता रहेगा? अथवा क्या भविष्य में यह प्रसार रुक जायेगा और गुरुत्वाकर्षण के कारण संकुचन आरम्भ हो जायेगा? वैज्ञानिकों के अनुसार इन प्रश्नों के उत्तर ब्रह्माण्ड में उपस्थित द्रव्यमान में निहित हैं। यदि उसके पदार्थ का यह द्रव्यमान एक निश्चित द्रव्यमान से अधिक है तो समयानुसार ब्रह्माण्ड की प्रसारगति कम होती जायेगी और तब एक ऐसा समय आयेगा कि प्रसार रुक जायेगा। इसके पश्चात् संकुचन प्रारम्भ होगा। संकुचन गति प्रारम्भ में कम होगी और फिर बढ़ती जायेगी। अन्त में सारा पदार्थ एक ही जगह संचनित हो जायेगा। तब फिर महाविस्फोट होगा और सारी प्रक्रियायें पुनः दोहराई जायेंगी। इस प्रकार यह दोलनी ब्रह्माण्ड होगा।

परन्तु यदि ब्रह्माण्ड का कुल द्रव्यमान निश्चित द्रव्यमान से कम हुआ तो ब्रह्माण्ड का प्रसार अनन्त काल तक होता रहेगा। तब ये नीहारिकायें अलग-थलग हो जायेंगी। अभी भी वैज्ञानिक उक्त निश्चित द्रव्यमान का पता नहीं लगा पाये हैं।

कुछ वैज्ञानिकों का विचार है कि पदार्थ की अपनी निश्चित आयु होती है। उनके अनन्तर यह नष्ट हो जाता है। यह अवधारणा 'प्रोटॉन-क्षय' नामक परिकल्पना पर आधारित है। प्रोटॉन की आयु 10^{30} वर्ष अथवा इससे अधिक आँकी गयी है। इस अवधारणा के अनुसार ब्रह्माण्ड नष्ट होकर प्रकाश में रूपांतरित हो जायेगा। 'प्रोटॉन-क्षय परिकल्पना' को सिद्ध करने के लिए वैज्ञानिक अपने प्रयोगों को जारी रखे हुए हैं। □□

हम अकेले ही नहीं ब्रह्माण्ड में

विनोता शुक्ला

हमारी आकाशगंगा में 50 अरब तारे हैं तथा वैज्ञानिकों के अनुसार इन मौजूदा पचास अरब तारों में से प्रत्येक 100 वें तारे में जीवन मौजूद हो सकता है। शक्तिशाली वेधशालाओं, अंतरिक्ष की ओर दृष्टि गड़ाये कृत्रिम उपग्रहों, गहन अंतरिक्ष की खोज में निकले अंतरिक्षयानों से प्राप्त जानकारी के अनुसार

ए-6, यूनिवर्सिटी फ्लैट्स, चैथम लाइंस, इलाहाबाद—2

हमारी आकाशगंगा में कम से कम 150 ग्रह ऐसे हैं, जिन पर सिर्फ जीवन ही नहीं, उच्चकोटि की सभ्यता विद्यमान है। उनमें से कुछ की सभ्यतायें तो इतनी उन्नत हैं कि पृथ्वी का सारा विज्ञान बचकाना कहा जा सकता है तथा 21वीं सदी की ओर क़दम बढ़ाती इस सभ्यता को आदिवासी सभ्यता।

महाकवि कालिदास के विश्वप्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' में आकाश से आने वाली एक ऐसी रोशनी की चर्चा है, जो व्यक्ति को उठाकर अंतर्ध्यान हो जाती है। इसी नाटक में एक ऐसे आकाशयान का उल्लेख है जिसमें **इन्द्र** का सारथि राजा को बैठाकर गायब हो जाता है। 'बाइबिल' की एक कथा के अनुसार; उत्तरी दिशा से एक बवंडर आया और साथ ही एक प्रकाशयुक्त विमान जिसमें चार मुख और चार पंख वाले चार मनुष्य जैसे ही सजीव प्राणी थे। **ईसा** से 218 वर्ष पूर्व के रोमन इतिहास में भी अंतरिक्ष से आने वाले यानों की चर्चा है। 'महाभारत' के युद्ध में **भीम पुत्र घटोत्कच** जिस यान से आया वह 12,000 घनफीट का था। उसमें आठ पहिये थे साथ ही वह दृश्य और अदृश्य होने की क्षमता रखता था। उसके आने से दिन में ही अंधकार छा गया और आकाश से पत्थरों की वर्षा होने लगी। कुछ इसी से मिलती-जुलती घटनाओं से चीन, यूनान, मिस्र, बेबीलोन के ग्रंथ भरे पड़े हैं। इन कथाओं की सत्यता को प्रमाणित करने के लिये कुछ स्थानों पर खुदाई भी की गई। पेरू में की गई खुदाई में 'नाजिका' नामक नगर के अत्यंत प्राचीन अवशेष प्राप्त हुये, जिसमें 50 मील लम्बी और 2 मील चौड़ी एक समतल भूमि भी है, जिसमें हवाई अड्डे के समान पट्टियाँ बनी हैं। ऑस्ट्रेलिया में सिडनी के पास एक प्राचीन गुफा में शिला पर खुदा हुआ एक अंतरिक्षयात्री का चित्र मिला है, जो अंतरिक्ष सूट पहने है और उसके सिर पर एरियल की सलाखें लगी हैं। मैक्सिको के एक अन्य खंडहर में भी विमान जैसी किसी वस्तु का चित्र मिला है, जिसमें एक अंतरिक्षयात्री बैठा है। **डॉ० पीटर कोलासियो** की प्रसिद्ध पुस्तक, 'नॉट ऑव दिस वर्ल्ड' में एक अमेरिकी पर्यटक के **संस्मरण का उल्लेख** इस प्रकार है, "वह एक मठ में कुछ दिन रुका था। एक दिन संयोगवश उसने अपेक्षाकृत गुप्त व सुनसान जगह पर कुछ शव रखे देखे जिनमें एक शव ऐसे व्यक्ति का था, जिसने अंतरिक्ष सूट पहन रखा था और उसके सिर के स्थान पर गेंद जैसा बड़ा गोला और आँखों की जगह केवल छेद थे। मसाले का लेप होने के कारण सभी शव सुरक्षित थे। हालाँकि इन तथ्यों को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता परन्तु फिर भी ये हमें कुछ सोचने को बाध्य अवश्य करते हैं।

पश्चिम जर्मनी के एक वैज्ञानिक **एरिकवॉन हैनिकैन** ने हाल में ही सिद्ध किया है कि 134 ईसवीं पूर्व तक पृथ्वी की कुछ जातियों का सुदूर अंतरिक्ष में रहने वाले समुन्नत सभ्य लोगों से संपर्क रहा है। संपूर्ण विश्व का सर्वेक्षण कर उन्होंने चार ऐसे स्थान भी निर्धारित किये जहाँ अंतरिक्षवासी उतरते थे। उनमें से एक तिब्बत, दूसरा कश्मीर, तीसरा अफ्रीका तथा चौथा दक्षिणी अमेरिका में स्थित थे।

अब तक 135 देशों में 65,000 से भी अधिक बार उड़नतश्तरियाँ देखी गई हैं। ये अंतरिक्षवासी आखिर बार-बार इस पृथ्वी पर क्या करने आते हैं? जाहिर है कि वे पृथ्वी के बारे में जानकारी एकत्र करने का प्रयास करते हैं, परन्तु उन्होंने कभी किसी से सम्पर्क बनाने का प्रयास नहीं किया, शायद डरते हों, या सम्पर्क बनाने का माध्यम तलाश कर रहे हों। जब कभी भी इन उड़नतश्तरियों का पीछा किया गया तो ये तीव्र गति से लुप्त हो गईं। जब अंतरिक्षयान अपोलो' चंद्रमा पर उतरा तो उसमें सवार अंतरिक्षयात्रियों ने उड़नतश्तरियों को अपने आस-पास मंडराते देखा था।

सन् 1940 में अमेरिका के पश्चिमी तट के निकट मोटरबोट में बैठे-बैठे समुद्र तट रक्षक **एच० ए० डहल** तथा **एफ० एल० क्रैसवेल** ने आकाश में 2000 फुट की ऊँचाई पर गोल आकृति के छह अंतरिक्षयान देखे, जिनमें से तेज़ प्रकाश निकल रहा था। पाँच यान एक मुख्य यान के चारों ओर परिक्रमा कर रहे थे।

इसी तरह परिक्रमा करते हुये वे 500 फुट की दूरी पर रुक गये। डहल ने कैमरा निकालकर फोटो लेना चाहा परन्तु तभी बीच वाले यान में विस्फोट हुआ और वह फट गया। दोनों तट रक्षकों ने तो एक गुफा की शरण ले ली, परन्तु उनके साथ का कुत्ता मारा गया। थोड़ी देर बाद वे बाहर निकल कर आये। तट पर फटे यान के टुकड़े बिखरे पड़े थे, जो अत्यधिक चमकीले व गर्म थे। निरीक्षण दल ने कई टन वज़न के टुकड़े एकत्र किए और उनका विश्लेषण करने पर पाया कि उस यान का निर्माण सोलह विविध धातुओं के मिश्रण से बनी धातु से किया गया था, जिसमें से एक भी धातु पृथ्वी पर ज्ञात नहीं है। जाहिर है इन धातुओं का नाम नहीं बताया जा सका और अभी तक इन धातुओं का रासायनिक विश्लेषण सम्भव नहीं हुआ है और ये टुकड़े आज भी अमेरिका के यू० एफ० ओ० (अनआइडेंटीफाइड फ्लाइंग ऑब्जेक्ट) विभाग में रखे हुए हैं।

इसी तरह 24 अक्टूबर सन् 1978 को ऑस्ट्रेलिया के 20 वर्षीय **फ्रेडरिक वाकेच** ने उड़ान भरने के थोड़ी ही देर बाद रेडियो संदेशा भेजा कि विमान 137 मीटर की ऊँचाई पर है और पास ही एक उड़नतश्तरी है, जिससे हरा प्रकाश निकल रहा है। कुछ देर बाद फिर संदेश मिला कि वह विचित्र वस्तु यान के ठीक ऊपर है और इंजिन में खराबी आ रही है। इसके बाद रेडियों पर धातु के टकराने का तेज़ स्वर सुनाई पड़ा और विमान से संपर्क टूट गया। तुरंत ही मेलबोर्न हवाई अड्डे से कई जहाज़ फ्रेडरिक की खोज के लिये उड़े पर वह तो विमान सहित ही गायब हो गया था।

ऐसे अनगिनत उदाहरण हैं, जब उड़नतश्तरी दिखाई दी, पर कोई खोज शुरू होने से पहले ही गायब हो गई और वैज्ञानिक काफी माथापच्ची करने के बाद भी इस रहस्य को नहीं समझ पाये हैं। परन्तु इस कथन की सत्यता में संदेह है। क्या वास्तव में अमेरिका, रूस, ब्रिटेन और फ्रांस जैसे देशों को इस बारे में कोई जानकारी नहीं है? कुछ विश्वस्त पश्चिमी सूत्रों के अनुसार यह चारों देश जानबूझकर सारी दुनिया को गुमराह कर रहे हैं। उदाहरणार्थ फ्रांस में एक ऐसी हवाई पट्टी है जहाँ पर आज तक कोई हवाई जहाज़ नहीं उतरा परन्तु फिर भी यह रात-दिन नीली रोशनी में नहाई रहती है, जैसे किसी चीज के उतरने का इंतजार कर रही हो। क्या वह चीज उड़न तश्तरी नहीं हो सकती? इस इलाके में कई बार आम नागरिकों द्वारा उड़नतश्तरियाँ देखी गई हैं।

इसी प्रकार कुछ गैरसरकारी रिपोर्टों के अनुसार 7 जुलाई सन् 1947 को अमेरिका के रोसवेल नामक शहर में (जो परमाणु नगर के नाम से भी जाना जाता था, क्योंकि यहाँ परमाणु बम संबंधी अनेक शोध-कार्य किये जाते थे अतः आम लोगों के लिए यह एक वर्जित क्षेत्र था) एक उड़नतश्तरी दुर्घटनाग्रस्त होकर गिर गई परन्तु तत्कालीन अमेरिकी सरकार की ओर से इस घटना पर पर्दा डालने का भरसक प्रयास किया गया। अपुष्ट सूत्रों के अनुसार दुर्घटनाग्रस्त उड़नतश्तरी के मलबे से चार जीवित अंतरिक्षयात्री भी बरामद हुये, जिनकी लम्बाई लगभग चार फुट और अंगुलियाँ झिल्लियों द्वारा आपस में जुड़ी थीं।

यह सब घटनायें क्या यह इंगित नहीं करतीं कि ब्रह्माण्ड में हम अकेले ही नहीं हैं? हो सकता है कि निकट भविष्य में हमारा अन्य ग्रहों की विकसित सभ्यताओं से संपर्क स्थापित हो जाये, क्योंकि पेरू देश के एक द्वीप में इकेनारा स्थान पर मिले कुछ पत्थरों पर अज्ञात लिपि में कुछ लिखा हुआ है और कुछ चित्र बने मिलें हैं, जिनमें एक उड़नतश्तरी आती दिखाई गई है, जिसका स्वागत पृथ्वीवासी हाथ उठा कर रहे हैं साथ ही किनारे पर बनी त्रिभुज आकृति यह स्पष्ट संकेत दे रही है कि अंतरिक्षवासी पिरामिडों के देश मिस्र में पहला कदम रखेंगे। एक अन्य पत्थर पर अंकित गणितीय लिपि को एक पादरी **डॉ० पेरियो एरिस** पढ़ने में सफल हो गये हैं, जिसने संपूर्ण विश्व के निवासियों के दिल की धड़कनें बढ़ा दी हैं। उनके अनुसार सन् 1990 में अंतरिक्षवासी पृथ्वी पर उतरेंगे। यह पत्थर दो लाख वर्ष पुराने तथा लिपि दस हज़ार

वर्ष पुरानी है। यह अद्भुत पत्थर पानी पर नाव की तरह तैरते हैं। ईस्टर द्वीप और फिलीपीन्स के मिडनाओं द्वीपों में भी कुछ इसी प्रकार के प्रमाण मिले हैं, जो साफ-साफ संकेत दे रहे हैं कि निकट भविष्य में अंतरिक्षवासी पृथ्वी पर आने वाले हैं।

तो अब आप भी हो जाइये तैयार अपने धड़कते दिलों को थामकर अंतरिक्षवासियों का स्वागत करने के लिये। □□

रग-रग में रेंगता एड्स का ज़हर

रमेशदत्त शर्मा

दिनों दिन पूरे देश में "एड्स" का आतंक फैलता जा रहा है। बम्बई और मद्रास के बाद अब दिल्ली इसकी चपेट में है। वेश्याओं के अलावा खून की बोतलों से भी एड्स पनप रहा है। क्या ऐसे में सरकार और संचार माध्यम हाथ पर हाथ धरे बैठे रहेंगे कि चेतेंगे? समय रहते नहीं चेते तो सन् दो हज़ार तक एड्स सबसे विकट नर-संहारक बन जाएगा।

"मैं तो अपने खेत बेचकर खाड़ी के देशों में नौकरी के लिए बम्बई आया था", उस राजस्थानी नौजवान ने रुआसे स्वर में अपनी करुण-कथा बयान की। "दुबई के लिए टिकट कटाया। सुबह जाना था। रात को कुछ दोस्त बोले कि चलो मौज मजा कर लें। मेरी जिन्दगी की पहली गलती थी वह। दुबई पहुँचा तो हवाई अड्डे से ही वापस कर दिया।" इस भारतीय नौजवान का खून जाँचा गया तो उसमें "एड्स" का विषाणु मौजूद था। इसीलिए उसे दुबई में प्रवेश नहीं करने दिया गया। अपने परिवार का एकमात्र कमाऊ सदस्य यह भोलाभाला ग्रामीण युवक अब मौत की घड़ियाँ गिन रहा है। क्योंकि एड्स का अभी तक न तो कोई टीका निकला है और न कोई दवा। एक बार रोग लग गया तो बस मौत ही उससे छुटकारा दिला सकती है।

इस नौजवान ने तो खैर, कोठे पर जाने का कुकर्म किया था। परन्तु पाँच दिन की बेबी तो बिलकुल बेकसूर थी। 8 जून 1990 को जब उसे दिल्ली के कलावती सरन शिशु चिकित्सालय में लाया गया तो बेबी बिलकुल पीली पड़ी हुई थी। उसे एक किस्म का पीलिया हो गया था—हाइपरबिलिरुबिनिमिया। इस रोग में पित्त (बाइल) में बनने वाला "विलिरूबिन" प्रोटीन ज़्यादा मात्रा में बनकर खून में जमा हो जाता है और हीमोग्लोबिन बनने में बाधा डालता है। पाँच दिन की बेबी को इस रोग से मुक्त करने का एक ही उपचार था कि उसकी देह का तमाम खून बदल डाला जाय। केवल दो यूनिट खून चाहिए था। लेकिन मूर्ख माता-पिता में से कोई भी अपनी बच्ची को बचाने के लिए खून देने को तैयार नहीं हुए। उस भूल के लिए वे जीवन भर पछताएंगे। क्योंकि बाज़ार से जो खून खरीदा उसे चढ़ाने के बाद जाँचा गया तो उसमें "एड्स" का विषाणु पल रहा था।

भारत में जिस पहले एड्स रोगी की मौत हुई वह भी खून चढ़वाने से रोगी बना था। वह सेठ अमेरिका से अपने दिल की बाईपास सर्जरी कराके लौटा था और वहीं से रोग लगा बैठा। एड्स—यानी "एक्वायर्ड इम्यूनोडेफिसिएंसी सिण्ड्रोम," "एच० आई० वी०" अर्थात् 'ह्यूमन इम्यूनोडेफिसिएंसी वाइरस' से फैलता है। यह विषाणु मुख्य रूप से लैंगिक सहवास से फैलता है। मर्द इसे फैलाने में औरतों से आठ गुना ज़्यादा समर्थ हैं। एड्स ग्रस्त खून चढ़वाने, एड्स ग्रस्त खून से बनी दवाएँ लेने और एड्स ग्रस्त रोगी की इस्तेमाल की गई सिरिंज इस्तेमाल करने से तथा माँ से बच्चे में भी एड्स आ सकता है।

इस समय पूरे भारत में कुल 720 ब्लड बैंक हैं जो हर साल करीब 15 लाख यूनिट खून जमा करते हैं। इनमें से सरकारी अस्पतालों में तो अब सभी रक्तदाताओं का खून लेने से पहले उसकी जाँच की जाती है कि उसमें एड्स विषाणु तो नहीं हैं। कायदे

बी-38, कृषि बिहार, नई दिल्ली-110048

से निजी ब्लड-बैंकों को भी करनी चाहिए। लेकिन एलाइसा-टेस्ट करने वाली मशीन दो लाख रुपये में आती हैं। हर बार टेस्ट करने पर भी काफी खर्च आता है। इस खर्च को भला खून बेचने वाले दुकानदार क्यों उठाने लगे ? दिल्ली में बड़े-छोटे करीब 30 ब्लड बैंक है। इनमें छः निजी ब्लडबैंकों में से चार हर साल करीब 10 हजार यूनिट खून बेचते हैं। दिल्ली के मेडिकल इन्स्टीट्यूट में हर साल 5 हज़ार यूनिट खून कम पड़ता है। सफदरगंज अस्पताल को 17,800 यूनिट खून हर साल चाहिए और इकट्ठा हो पाता है, केवल 4250 यूनिट। भारतीय रेड क्रास सोसायटी केवल 2250 यूनिट खून दे पाती है। पिछले साल सोसायटी ने साल भर में कुल 27 हज़ार यूनिट खून जमा किया था। बाकी खून मरीज़ों के सगे-संबंधियों को जहाँ-तहाँ से जुटाना पड़ता है। सफदरगंज अस्पताल को ही पिछले साल 11 हज़ार यूनिट खून खरीदना पड़ा।

खून बेचने वाले गरीब, भिखमंगे लोग खून बेचकर कोठों पर जाते हैं और वहीं से एड्स लगा बैठते हैं। जैसे ही उनके खून में एड्स के विषाणु पकड़े गए वे उस अस्पताल या ब्लड बैंक की जगह कहीं और बेचना शुरू कर देते हैं। अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान की एड्स अनुसंधानशाला के युवा वैज्ञानिक **डॉ० वाई० एन० सिंह** ने पाँच बड़े ब्लडबैंकों के सर्वेक्षण से पता लगाया कि वहाँ खून बेचने वाले पेशेवर लोगों में दस एड्स के रोगी थे। तलाशने पर मालूम हुआ कि लालकिले के पीछे और चाँदनी चौक की गलियों के गरीब लोग थे। ये सब कोठों पर जाते थे। पता चलते ही रक्तदाता दिल्ली से गायब हो गए और आस-पास के शहरों-कस्बों में खून बेचने लगे। खूनी धंधे के साथ ही संक्रमित खून से एड्स फैलने का ख़तरा बढ़ता जा रहा है। एक अप्रैल 1989 से 31 मार्च 1990 के बीच महानगरों में स्थित जाँच केन्द्रों में साढ़े तीन लाख से ज्यादा बोतल खून की जाँच की तो करीब 3600 नमूनों में "एच० आई० वी०" मौजूद था।

अक्टूबर 1985 से 31 मार्च 1990 तक 4 लाख 61 हज़ार के करीब स्त्री-पुरुषों की जाँच की गई, तो 2100 से अधिक में 'एड्स' का विषाणु पल रहा था। इस तरह संक्रमण-दर 4.7 प्रति हज़ार बैठती है। एड्स का वाइरस खून में पूरी तरह सक्रिय होने में चंद महीनों से लेकर 5-7 या 10 साल तक ले सकता है। औसतन 7 साल लगते हैं। इस बीच बिना खून की जाँच के पता ही नहीं चलेगा कि सामने वाला एड्स वाहक है या नहीं। एक बार उग्र रूप धारण करते ही एड्स का वाइरस खून में मौजूद रोगरक्षक सफेद कोशिकाओं में से खासतौर से टी-कोशिकाओं पर अपना कब्जा जमा लेता है। इस तरह मामूली निमोनिया भी एड्स रोगी की जान ले लेता है, क्योंकि फिर किसी भी दवा का कोई असर नहीं होता।

पिछले दिनों आकाशवाणी के लिए 'एड्स' पर राष्ट्रीय कार्यक्रम के सिलसिले में, जब मैं भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद के महानिदेशक डॉ० **अवतार सिंह पेंटल** से मिला तो उन्होंने बड़े दर्द से कहा था—"बड़ी देर कर दी है आपने। अब तो वक्त निकल गया। एड्स हर तरफ से हमला बोल रहा है, इस देश पर।" डॉ० पेंटल के अनुसार "बंबई में इस समय करीब एक लाख वेश्यायें हैं। हर वेश्या प्रतिदिन कम से कम दस ग्राहक निपटाती है। इनमें से 36 प्रतिशत यानी लगभग 26 हज़ार वेश्याएँ एड्स की शिकार हैं। अंदाज लगाइए कि बंबई में यह रोग कितनी तेज़ी से फैल रहा होगा।"

विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार सन् 1996 तक बंबई की हर तीसरी गृहिणी 'एड्स' का शिकार होने लगेगी। यह स्थिति सचमुच बड़ी भयावह है। उस समय सारी दुनिया में एड्स विषाणु को खून में पालने वाले 80 लाख से 100 लाख स्त्री-पुरुष कूते गए हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन के एड्स-नियन्त्रण कार्यक्रम के अध्यक्ष **डॉ० माइकेल ससंन** के अनुसार विकासशील देशों में यह रोग बड़ी तेज़ी से फैल रहा है। अफ्रीका के सहारा से नीचे के इलाके में सन् 1987 में 25 लाख एड्स-वाहक बताये गये थे। अब यह

संख्या 51 लाख से ऊपर जा पहुँची है। पहले '50 वयस्क स्त्री-पुरुष में 1' रोगी का अनुपात था, जबकि अब '40 में एक' तक बढ़ गया है। इसी तरह दो साल पहले एशिया में जहाँ-तहाँ इक्का-दुक्का एड्स रोगी सुना जाता था, वहीं अब एशिया में भी एड्स का वाइरस 5 लाख के करीब स्त्री-पुरुषों की नस-नस में दौड़ रहा है। अगर ठोस कदम नहीं उठाये गये तो सन् दो हज़ार तक एड्स विश्व की सबसे भयंकर महामारी का रूप धारण कर लेगा। लैंगिक संबंधों से रोग के फैलाव में इस दशक में छह गुनी बृद्धि होने की आशंका है और कम से कम 30 लाख स्त्रियाँ और बच्चे इस दशक के अंत तक एड्स की एड़ियों तले कुचलकर दम तोड़ देंगे।

बहुत से लोग सोचते हैं कि हम तो किसी कुकर्म में फँसे नहीं हैं, फिर हमें क्यों एड्स' हो जाएगा? क्या उन्हें पता है कि कल वे किसी चोट या दुर्घटना के कारण अस्पताल जाकर जब खून चढ़वाएँगे तो क्या पता उस खून में 'एच आई वी' छुपा बैठा हो? इसलिए केवल इस्तेमाल के बाद फेंकने वाली सिरिंज से खून निकलवाएँ या इंजेक्शन लगवाएँ। खून से बनने वाली दवाएँ अब भारत में बनाने पर पाबन्दी है, क्योंकि बहुतों में 'एच आई वी' पाया गया था। ऐसी सभी दवाएँ कड़ी जाँच-पड़ताल के बाद बाहर से आ रही हैं। रक्तदान कीजिए ताकि अस्पतालों को खून खरीदना न पड़े। हाल में ही सरकार ने 50 करोड़ रुपये के प्रावधान से एड्स-नियन्त्रण कार्यक्रम शुरू किया है। पूरे देश में 48 निगरानी और जाँच केन्द्र तथा पाँच सन्दर्भ केन्द्र कार्यरत हैं। एड्स रोगियों के प्रति सामाजिक बहिष्कार की जगह सहानुभूति जगानी होगी और जिन्हें एड्स के प्रकोप का सामना करना पड़ रहा है, उनके लिए एड्स क्लिनिक खुलने चाहिए। एड्स ग्रस्त वेश्याओं को 1500 रुपए प्रति माह पेंशन देकर धँधा छुड़ाने का प्रस्ताव भी अभी कागज़ों में अटका है। सभी संचार माध्यम भी एड्स के प्रति जन चेतना जगाने का काम भूलकर बेसुध पड़े हैं। उधर एड्स देश की नस-नस में ज़हर फैला रहा है।

□□

(इस्वा फीचर्स)

सुपोषण के लिए रोटी और चावल के साथ दाल भी ज़रूरी

डॉ० वाई पी० गुप्ता

आप भरपेट भोजन करने के बाद भी भूखे हो सकते हैं—यह छुपी भूख है कुपोषण। रोटी और चावल के साथ दाल भी खायी जाय तो प्रोटीन की ज़रूरत पूरी हो जाती है। पर गरीबों के मुँह से दाल छिनती जा रही है। प्रस्तुत है इस राष्ट्रीय विडम्बना पर पूसा इन्स्टीट्यूट के अवकाशप्राप्त वैज्ञानिक के विचार।

इस दुनिया में जीने के लिए भोजन चाहिए। ऐसा भोजन जो हमें स्वस्थ रखे। विश्व के विभिन्न भागों में लोग जीवित रहने के लिए भोजन जुटाने में लगे हैं। अमेरिका, कनाडा और पश्चिम यूरोपीय देशों को छोड़कर दुनिया की आधी से ज़्यादा आबादी अज्ञानता, गरीबी, कुपोषण और रोगों से जकड़ी हुई है। किसी भी राष्ट्र का अस्तित्व और समृद्धि कृषि और सुपोषण पर निर्भर करती है। लोग कितना और किस प्रकार का भोजन करते हैं और उनका जीवन स्तर कितना ऊँचा और नीचा है, यह कृषि उपज पर निर्भर करता है।

अपर्याप्त भोजन को कुपोषण कहा जाता है। लेकिन पर्याप्त भोजन मिलते रहने पर भी कई तरह के रोग हो सकते हैं। इसलिए भोजन का मिलना ही काफी नहीं। ज़रूरी बात यह भी है कि भोजन में जिन तत्वों की हमें आवश्यकता है वे नियमित रूप से

द्वारा श्री हरीश अग्रवाल, डी-40, गुलमुहर पार्क, नई दिल्ली-110049

मिलते रहें। उदाहरण के लिए भरपेट भोजन मिलने के बावजूद प्रोटीन की कमी हो सकती है। खून की कमी सम्बन्धी रोग (रक्ताभाव हो सकता है। विशेषत: माताओं और छोटे बच्चों को। इसके अलावा विटामिन "ए" और "बी" की कमी भी हो सकती है, जो कई बीमारियों को जन्म दे सकती है।

भोजन तीन काम करता है। पहला शारीरिक अर्थात् शक्ति देता है। जब भोजन पुष्टकर हो, उसमें चिकनाई, विटामिन और खनिज भी हों, तो वह हमारी क्षतिग्रस्त कोशिकाओं और तन्तुओं को ठीक-ठाक करता है।

भोजन का दूसरा काम है सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना। परिवार के सदस्यों या मित्रों, सम्बन्धियों और अतिथियों के साथ मिलकर बैठकर हम भोजन करते हैं और इससे आपसी रिश्ते मज़बूत होते हैं।

भोजन का तीसरा काम मनोवैज्ञानिक है। अर्थात् भोजन हमें प्रसन्नता देता है, सन्तुष्ट करता है और इससे आनन्द की प्राप्ति होती है।

कुपोषण की जड़ में गरीबी

कोई व्यक्ति कैसा भोजन करता है, यह कई बातों पर निर्भर करता है। जैसे धर्म देश, काल और भोजन के प्रति उसकी रुचि और अरुचि पर। खैर, कोई कुछ भी खाता है, ज़रूरी बात यह है कि भोजन में ऐसे सभी तत्व होने चाहिए जो शरीर को शक्ति दें और क्षतिग्रस्त तन्तुओं की मरम्मत करते रहें।

इस उद्देश्य को सामने रखकर आहार विशेषज्ञों ने बताया है कि कब, किसे कैसा भोजन करना चाहिए। कोई कितना और कैसा भोजन करे यह इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्ति कितनी आयु का है, कितना शारीरिक और मानसिक श्रम करता है, किस देश का है, वहाँ की जलवायु क्या है? उदाहरण के लिए यदि किसी देश में स्त्रियाँ और पुरुष शारीरिक श्रम अधिक करते हैं तो उन्हें ऐसे भोजन की आवश्यकता अधिक है, जिसमें कैलरी अधिक हो। कम शारीरिक श्रम करने वालों को कम कैलरी वाला भोजन चाहिए। भोजन कितनी शक्ति प्रदान करता है, यह कैलरी के रूप में नापा जाता है।

अंतर्राष्ट्रीय खाद्य नीति अनुसंधान संस्थान (वाशिंगटन) अमेरिका द्वारा किये गये एक अनुसंधान के अनुसार एक औसत भारतीय को उसके दैनिक भोजन में मुश्किल से 1900 कैलरी मिलती है। करोड़ों लोगों को इतनी कैलरी वाला भोजन भी नहीं मिल पाता, जबकि, न्यूनतम आवश्यकता 2200 कैलरी है। अमेरिका और पश्चिम यूरोपीय देशों में एक औसत व्यक्ति के भोजन में 3000 कैलरी होती है। इस प्रकार भारतीय भोजन अपर्याप्त है और इसका कुप्रभाव स्वास्थ्य पर पड़ता है।

भारतीय सुपोषण सलाहकार समिति ने बताया कि स्वस्थ रहने के लिए जो सन्तुलित भोजन किया जाय, इसमें क्या होना चाहिए। किन्तु जिसे सन्तुलित भोजन कहा जाता है, वह बहुत मँहगा है। इसलिए अधिसंख्य लोग असंतुलित भोजन खाकर ही किसी तरह जी रहे हैं। यानी कुपोषण का एक बड़ा कारण गरीबी है।

भारत में अधिसंख्य लोग शाकाहारी हैं। उनका मुख्य भोजन अनाज और दालें हैं, जो प्रोटीन और कैलरी के मुख्य स्रोत हैं। एक सर्वेक्षण से पता चला है कि विकासशील देशों में डेढ़ से दो अरब लोग अनाज खाकर गुजारा करते हैं। आधी दुनिया का मुख्य भोजन चावल है। चावल से एशियाई देशों के लोगों को उनकी ज़रूरत की 80 प्रतिशत कैलरी मिलती है। दुनिया में गेहूँ का नम्बर दूसरा है। मक्के का प्रयोग केन्द्रीय और दक्षिण अमेरिका में अधिक है।

संसार की अधिकतर जनसंख्या के लिए अनाज शक्ति का मुख्य स्रोत है। इसमें विटामिन "ए", "सी" और कैल्शियम को छोड़कर भोजन के अधिकांश तत्व विद्यमान हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि अधिकतर खनिज लोहा, फासफोरस और विटामिन-बी काम्प-लेक्स, चोकर या छाछ में पाये जाते हैं। यदि अनाज को तेज़ी से चलने वाली चक्कियों में पीसा जाय तो

इसमें से ज़्यादातर तत्व नष्ट हो जाते हैं। जनता के स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए विकसित देशों में अनाजों और रोटी में बी० जाति के विटामिन और कैल्शियम एवं लोहा जैसे खनिज मिलाये जाते हैं।

दालें

दालें प्रोटीन का उत्तम स्रोत हैं। दालों में भरपूर प्रोटीन होता है और इससे हमारे देश में अधिसंख्य लोगों की विशेषत: गरीबों की खाद्य संबंधी आवश्यकता की पूर्ति होती है, क्योंकि वे मँहगे खाद्य पदार्थ नहीं खरीद सकते। आमतौर पर दालों में 20-30 प्रतिशत प्रोटीन होता है, 60 प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट और विटामिन-बी तथा कैल्शियम व लोहा। दालों के कार्बोहाइड्रेट में उनके वज़न के बराबर कलैरी होती है।

भारत में खाद्य समस्या को अनाज व दालों की माँग और आपूर्ति को सामने रखकर देखा जाता है और फिर अब कुपोषण की समस्या के प्रति जागरूकता भी है। औसत भारतीय भोजन, कैलरी की दृष्टि से न केवल अपर्याप्त है, बल्कि असंतुलित भी है। हमारे देश के बहुत से लोग प्रोटीन की कमी से उत्पन्न कुपोषण के शिकार हैं, कुछ तो इसलिए कि भरपेट भोजन नहीं और जिन्हें मिलता भी है उनके भोजन में प्रोटीन पर्याप्त मात्रा में नहीं होता। यह समस्या बड़े बच्चों में अधिक है। प्रोटीन और कैलरी की कमी से उत्पन्न कुपोषण आज भारत की एक बहुत बड़ी समस्या है। भोजन के आवश्यक तत्वों की पूर्ति अनाजों और दालों से ही होती है, लेकिन इनसे मिलने वाला प्रोटीन इतना बढ़िया नहीं होता जितना मांसाहारी भोजन का होता है।

अनाजों और दालों में प्रोटीन के तत्वों में लायसीन और मैथिओनाइज जैसे अमाइनोएसिडों का अभाव रहता है। इस कमी से कई गम्भीर रोग हो सकते हैं। विशेषकर बच्चों को। उनका विकास रुक जाता है। कभी-कभी अकाल मृत्यु तक हो जाती है।

भोजन में प्रोटीन की कमी कुपोषण का बहुत बड़ा कारण तो है ही, लेकित पर्याप्त कैलरी का अभाव भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। यह समाज के आर्थिक रूप से पिछड़े लोगों में अधिक है। खासकर गर्भवती और दूध पिलाने वाली माताओं में। इसका प्रभाव राष्ट्र के भविष्य पर भी पड़ सकता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि दालों से हम प्रोटीन की कमी दूर कर सकते हैं। अनाज और दाल को मिलाकर खाने से भोजन के कई आवश्यक तत्वों की पूर्ति हो जाती है। इस तरह के भोजन से कई तरह के अमाइनोएसिड शरीर में पहुँचते हैं और प्रोटीन की गुणता बढ़ जाती है। दालों को बढ़िया तरीकों से वैज्ञानिक ढँग से उगाकर हम अपने देश के ज़्यादातर लोगों के भोजन के आवश्यक तत्वों की पूर्ति एक बड़ी सीमा तक कर सकते हैं। □□

(इस्वा फीचर्स)

सौर ऊर्जा से मोमबत्ती बनाइए

डी० एन० भटनागर

सौर ऊर्जा से मोमबत्ती बनाने की विधि का उपयोग करके ग्रामीण अपनी आय में वृद्धि कर सकते हैं। प्रदूषण रहित यह विधि ग्रामीण इलाकों में बेरोज़गारी दूर करने का एक कारगर तरीक़ा है। —सम्पादक

....

हमारे देहातों में ऊर्जा के साधनों के सर्वसुलभ न होने के कारण केवल ऐसे ही उद्योग चलाए जा सकते हैं जिन्हें मनुष्य स्वयं अपनी ऊर्जा से या अपने पालतू पशुओं की ऊर्जा के उपयोग से चला सकते हों, और ऐसे उद्योग गिने चुने ही हैं।

हमारे वैज्ञानिक देहातों की इस समस्या से अन्जान नहीं हैं। तभी तो अक्सर कोई न कोई ऐसी विधि लेकर सामने आते ही रहते हैं जिनका उपयोग देहातों में ग्रामीण अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने

डी—720, सरस्वती विहार, दिल्ली—110034

के लिए बखूबी कर सकते हैं। किंतु अधिकतर ग्रामीण इनके बारे में नहीं जान पाते और इनका लाभ उठाने से वंचित रह जाते हैं।

हाल ही में केन्द्रीय मरु अनुसन्धानशाला, जोधपुर के एक वैज्ञानिक **डॉ० प्रमोद बिहारी लाल चौरसिया** ने मोमबत्ती बनाने की एक ऐसी मशीन का विकास किया है जो सौर ऊर्जा पर आधारित है। यह नई मशीन एक ऐसी युक्ति है जो मोम को पिघलाने के लिए सूर्य की ऊर्जा का उपयोग करती है।

मोमबत्ती पैराफीन मोम से बनाई जाती है। इसके लिए सबसे पहले मोम को गर्म करके पिघलाया जाता है, फिर पिघले मोम को साँचे में डाल कर विभिन्न आकार व आकृतियों की मोमबत्तियों की शक्ल में ठण्डा कर लिया जाता है। बाद में इन्हें साँचे से अलग करके पैकेटों में भर लिया जाता है।

मोम को पिघलाने के लिए लकड़ी, कोयला, मिट्टी का तेल, गैस या बिजली कोई भी ईंधन जो आसानी से मिलता हो इस्तेमाल में ले आया जा सकता है। इस ईंधन पर होने वाला खर्च मोमबत्ती बनाने पर लगने वाली लागत का महत्वपूर्ण हिस्सा होता है। इसी पर मोमबत्ती की कीमत निर्भर करती है। ईंधन पर होने वाले खर्च को घटा कर मोमबत्ती का लागत मूल्य कम किया जा सकता है।

इसीलिए मोम को गलाने के लिए सौर ऊर्जा का उपयोग कर सकने वाली नई मशीन का विकास महत्व-पूर्ण है। सौर ऊर्जा हम सबको सुलभ मुफ्त में उपलब्ध ऊर्जा है। यही नहीं इसे ईंधन के रूप में उपयोग करने पर किसी प्रकार का प्रदूषण भी नहीं होता। इस मशीन की खूबियों को देखते हुए इसके विकास पर **'नेशनल रिसर्च डिवेलपमेंट कारपोरेशन** ने डॉ० चौर-सिया को 25,000 रु० का नक़द पुरस्कार देकर सम्मानित किया है।

नई मशीन

नई मशीन एक प्रकार की सौर संचायक युक्ति है। इसमें सूर्य से एक समतल लोहे की प्लेट पर सीधे किरणें पड़ने पर वे अवशोषित होकर ताप में बदल जाती हैं। अवशोषक का क्षेत्रफल लगभग आधा वर्ग मीटर है।

सौर संचायक लोहे की चद्दर का बना चौकोर आकृति का एक बक्सा है, इसकी सबसे ऊपरी समतल सतह काले रंग की होती है। इसमें ताप को रोके रखने के लिए इसे लोहे के एक अन्य चौकोर बक्से में रखा जाता है। इसकी ऊपरी सतह पर एक समतल काँच और दूसरी तरफ ताप कुचालक ग्लास वूल लगे होते हैं। इसके ऊपर की ओर लगा समतल काँच सूर्य की किरणों को बक्से में अंदर तो जाने देता है, लेकिन अंदर के ताप को बाहर नहीं निकलने देता, जिससे अन्दर उपयुक्त तापमान बना रहता है। इसे लोहे के एक स्टूल पर इस प्रकार जड़ दिया जाता है कि इसे सूर्य की दिशा में आसानी से घुमाया जा सके।

कार्य प्रणाली

इस सौर युक्ति से मोमबत्ती बनाना बहुत सरल है। साधारण से साधारण व्यक्ति भी थोड़े से प्रशिक्षण से इसका उपयोग करके आसानी से मोमबत्ती बना सकता है। इसमें दिन में कभी भी एक बार सुबह या शाम ठोस मोम भरा जा सकता है। शाम को मोम भरना और मोमबत्ती बनाना अपेक्षाकृत सुविधाजनक है। पट्टी (स्लैब) के आकार में ठोस मोम बाजार में मिलता है। इस मोम-पट्टी को तोड़कर छोटे-छोटे टुकड़े करके सौर युक्ति में भरा जाता है। एक छोटे आकार की सौर मशीन में एक बार में लगभग 12-14 किलो-ग्राम मोम भरा जा सकता है। मोमबत्ती बनाने के लिए शाम का लगभग दो घण्टे का समय काफी होता है।

मोमबत्ती बनाने के लिए सौर मशीन में ठोस मोम शाम को भर दी जाती है, फिर इस मशीन के सौर संचायक को सूर्य की दिशा में मोड़कर छोड़ दिया जाता है। यह मोम दूसरे दिन सूर्य की गर्मी से पिघल जाता है। सौर मशीन में दिन के समय मोम पिघलने के दौरान किसी भी प्रकार की देख-रेख की जरूरत नहीं पड़ती। पिघले मोम को सौर मशीन से निकालकर इच्छानुसार साँचे में डाल दिया जाता है। ठण्डा होने पर मोमबत्तियाँ साँचों से अलग कर ली जाती हैं।

सौर मशीन से पिघला हुआ मोम एक बर्तन में इकट्ठा कर लिया जाता है। सौर मशीन से पिघला हुआ मोम निकालने के बाद उसमें उसी वक्त ठोस मोम फिर भर दिया जाता है। यह मोम अगले दिन सूर्य की गर्मी से पिघलता है। इस प्रकार मोमबत्ती बनाने की प्रक्रिया को दोहराया जाता है और सौर मशीन से मोमबत्तियों का रोज़ उत्पादन किया जाता है।

मोमबत्ती उत्पादन

इस युक्ति से मोमबत्ती उत्पादित करने की क्षमता मौसम और धूप की तेज़ी पर निर्भर करती है। इस मशीन की क्षमता 12-14 किलोग्राम है। सर्दी में जब सौर ऊर्जा में कमी हो जाती है, इस मशीन से 6-10 किलोग्राम तक मोमबत्तियाँ बनाई जा सकती हैं। इस छोटी सौर मोमबत्ती मशीन की कीमत लगभग 1200 रुपये आने का अनुमान है। इसमें साँचों की क़ीमत शामिल नहीं है।

सौर मोमबत्ती मशीन की उत्पादन क्षमता बढ़ाने के लिए बड़ी सौर मशीन बनाई जा सकती है। बड़ी सौर मशीन में सूर्य की किरणों को अवशोषित करने वाला क्षेत्र बढ़ जाएगा जिससे अधिक मोम पिघलाई जा सकेगी। अधिक मोमबत्ती उत्पादित करने के लिए एक साथ कई सौर मशीनों का उपयोग भी किया जा सकता है।

सौर मशीन के फ़ायदे

इस मशीन की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें मोम को पिघलाने के लिए पूर्ण रूप से सौर ऊर्जा का ही उपयोग किया जाता है। इस विधि से मोमबत्ती बनाना परम्परागत तरीके से मोमबत्ती बनाने की तुलना में कई तरह से लाभकारी है, जैसे, (1) ईंधन की पूरी बचत, (2) नई विधि सरल, आसान और सुरक्षित, (3) श्रम की किफ़ायत, (4) मोम के पिघलते वक्त देख-रेख की जरूरत नहीं, (5) वाष्पीकरण से होने वाले मोम के नुक़सान में कमी, (6) धुँआ आदि न होने के कारण आसपास के वातावरण का प्रदूषण से बचाव, (7) रख-रखाव के खर्चे में कमी, और (8) मोमबत्ती बनाने की लागत में कमी जिससे अधिक लाभ की गुंजाइश।

इस मशीन का एक और लाभ यह है कि मोम के पिघलने पर अपनी इच्छा से मोमबत्ती बनाई जा सकती है, क्योंकि पिघला मोम इस मशीन में काफ़ी देर तक द्रव अवस्था में रहता है और किसी तरह का वाष्पीकरण नहीं होता। नई विधि से मोमबत्ती बनाने में लागत कम लगती है अतः उद्यमकर्ता को शुद्ध लाभ भी अधिक होता है।

इस नई विकसित मशीन को शिक्षित, अर्द्ध-शिक्षित, बेरोज़गार और ग्रामीण धंधे के रूप में अपना कर अपनी आय में वृद्धि कर सकते हैं। एक व्यक्ति इस छोटी सी सौर मोमबत्ती मशीन की सहायता से प्रतिदिन 20 से 40 रुपये तक आसानी से कमा सकता है। मोमबत्ती का उत्पादन बढ़ाकर आय को और भी अधिक बढ़ाया जा सकता है।

इस प्रकार यह मशीन रेगिस्तानी अथवा अन्य ऐसे इलाकों के लोगों के लिए, विशेषकर जहाँ प्रचुर सौर ऊर्जा उपलब्ध है, रोज़गार का अच्छा साधन बन सकती है। हमारे देश के अधिकांश किसान भी जो अपनी फ़सल लेने के बाद कुछ समय के लिए खाली रहते हैं, इस अवधि में इस मशीन के द्वारा मोमबत्ती बना कर अपने समय का सदुपयोग करते हुए अच्छी आय भी प्राप्त कर सकते हैं।

इस मशीन से संबंधित और अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिए निदेशक, केन्द्रीय मरु अनुसंधानशाला, जोधपुर से सीधे सम्पर्क किया जा सकता है।

□□

(सम्प्रेषण)

(1) विज्ञान परिषद् प्रयाग में 'हिन्दी दिवस' समारोह सम्पन्न

14 सितम्बर को विज्ञान परिषद् द्वारा हिन्दी दिवस' का आयोजन किया गया, जिसमें नगर के गण्यमान्य विज्ञान प्रेमी उपस्थित हुए। अध्यक्ष पद से बोलते हुए इलाहाबाद विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति **रामसहाय जी** ने हिन्दी वालों को यह सलाह दी कि वे न केवल अपने प्रान्त में हिन्दी प्रचार का कार्य करें अपितु पूरे देश में जायें और इस पर बल दें कि सारे प्रांत अपनी-अपनी भाषा में कार्य करें जिससे अंग्रेज़ी को इक्कीसवीं सदी तक विस्थापित किया जा सके। अन्य वक्ताओं में **डॉ० सुप्रभात मुकर्जी** ने कहा कि अंग्रेज़ी से रोष उत्पन्न करने का कार्य लिया जाता है किन्तु हिन्दी माध्यम अपनाने से यह रोष जल्दी समाप्त हो सकता है। 'शीलाधर मृदा अनुसंधान संस्थान' के **डॉ० मुरारी मोहन वर्मा** ने **गांधी जी** के उन वाक्यों को पढ़कर सुनाया जिनमें बच्चों को विदेशी भाषा के सीखने के लिए कितना अधिक श्रम करना पड़ता है, पर प्रकाश डाला गया है। **डॉ० जगदीश सिंह चौहान** ने बतलाया कि अब तो आई. ए. एस. की प्रतियोगिता में भी हिन्दी का प्रवेश हो चुका है। रसायन विभाग के ही अवकाशप्राप्त अध्यक्ष **डॉ० पूर्ण चन्द्र गुप्ता** ने कहा कि हिन्दी संस्थानों को सभी प्रकार का आर्थिक सहयोग सरकार से मिलना चाहिए। उन्हें डटकर काम करना चाहिए। 'अंग्रेज़ी हटाओ' का नारा लगाने से कार्य सिद्धि नहीं होगी। विज्ञान परिषद् विगत् 77 वर्षों से हिन्दी में ही काम करती रही है। लोगों को अपनी मानसिकता बदलनी होगी। बाहर से आये **डॉ० यू. डी. एन. बाजपेयी** ने बतलाया कि दक्षिण भारत में हिन्दी दिवस बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। इस अवसर पर **श्री दिनेशमणि** ने एक कविता सुनाई। परिषद् के ही अन्तरंगी **डॉ० शिवगोपाल मिश्र** ने बतलाया कि परिषद् के समक्ष जो आर्थिक संकट है, उसके लिए आज 'हिन्दी दिवस' के अवसर पर हम सभी यह व्रत लें कि जैसे भी हो धन संचय करके आत्म निर्भर बना जाय। सरकार पर आश्रित रहना ठीक न होगा।

अन्त में परिषद् के प्रधानमन्त्री **प्रो० हनुमान प्रसाद तिवारी** ने सभी को धन्यवाद दिया।

—प्रस्तुति : डॉ० शिवगोपाल मिश्र

(2) विज्ञान परिषद् की वाराणसी शाखा से

परिषद् द्वारा दिनांक 27-7-90 को भू-भौतिक विभाग में एक अत्यन्त रोचक व्याख्यान आयोजित किया गया। व्याख्यान का विषय था "जीव जगत् पर चन्द्रमा का प्रभाव" और व्याख्याता थे प्रसिद्ध भौतिकीविद **प्रो० देवेन्द्र कुमार राय**। आरम्भ में परिषद् के सचिव **डॉ० श्रवण कुमार** तिवारी ने बताया कि यह व्याख्यान चन्द्र तल पर मानव के पदार्पण की स्मृति में, उस घटना की बीसवीं वर्षगाँठ पर आयोजित किया गया है। स्मरणीय है कि 20 जुलाई सन् 1969 ई० को अपोलो 11 के तीन अंतरिक्षयात्री चन्द्रमा पर पहली बार उतरे थे।

प्रो० देवेन्द्र कुमार राय ने सरल उदाहरण द्वारा यह बताया कि हमारी पृथ्वी एक विशाल चुम्बक जैसा गुण प्रदर्शित करती है। इस गुण के अनेक कारण बताए जाते हैं. इसे समझने के लिए वाल्टर एल्सोसर नामक वैज्ञानिक ने "डायनैमो" सिद्धांत की परिकल्पना की थी, जिसके अनुसार पृथ्वी के अंतस्थल में विद्युत् धारायें प्रवाहित होती हैं जिनके कारण पृथ्वी पर चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न होता है। यहाँ यह स्वाभाविक प्रश्न उठा कि ये धारायें कैसे उत्पन्न होती हैं? और किस माध्यम में चलती हैं। इसके समाधान में कहा गया कि पृथ्वी के भीतर 1800 मील से 3200 मील तक का भाग द्रव-धातुओं के रूप में है। इसे बाह्य क्रोड कहते हैं। इससे आगे भीतरी क्रोड उच्च दाब के

कारण ठोस रूप में है। तापमान के अंतर के कारण बाह्य क्रोड में भँवरें बनती हैं जिनके चलते विद्युत धारायें उत्पन्न हो सकती हैं जो बाह्य क्रोड के सुचालक भाग में गतिमान हो सकता है। परन्तु यह भी तो सम्भव है कि विभिन्न स्थानों पर उठने वाली भँवरें भिन्न दिशा में होंगी अतः उनका परिणामी प्रभाव नगण्य या शून्य हो जायगा। अतः पृथ्वी के चुम्बकत्व का कारण स्पष्ट नहीं होता है। इसका समाधान करने के लिए पृथ्वी की घूर्णन गति पर विचार किया गया। इस घूर्णन के कारण बाह्य क्रोड का द्रव भी घूर्णन करता है। इस घूर्णन के कारण इसमें बनने वाली सभी भँवरें विलीन हो जाती हैं और पूरा द्रव एक समान गति से गतिशील हो जाता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पृथ्वी का चुम्बकत्व उसकी घूर्णन गति तथा उसके आंतरिक द्रवीय क्रोड के कारण होता है।

सूर्य की परिक्रमा करने वाले सभी ग्रहों में द्रवीय क्रोड तथा अक्षीय घूर्णन पाया जाता है। यदि चुम्बकत्व का उपर्युक्त सिद्धांत सच है तो सभी ग्रहों पर भी चुम्बकत्व पाया जाना चाहिए। पर इनमें से अब तक जिसकी जानकारी प्राप्त है, मंगल और शुक्र किसी पर भी चुम्बकत्व नहीं पाया जाता है। अतः भू-चुम्बकत्व के अस्तित्व का कारण कुछ और भी हो सकता है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि चन्द्रमा कक्षीय गति पृथ्वी की घूर्णन-गति को प्रभावित करता है। इतना ही नहीं, चन्द्रमा के कारण पृथ्वी के महासागरों में उठने वाले ज्वार-भाटा तथा सागर तल के वाष्पीकरण से उत्पन्न होने वाली विशाल मेघ-राशि भी पृथ्वी के घूर्णन को प्रभावित करता है। चन्द्रमा के प्रभाव के कारण पृथ्वी की घूर्णन गति कम होती जा रही है। इससे वर्ष में दिनों की संख्या कम होती जा रही है। अनुमान है कि 20 करोड़ वर्ष पूर्व यह संख्या 385 रही होगी। इस तथ्य के प्रागैतिहासिक प्रमाण भी प्राप्त किए गए हैं।

चन्द्रमा की यह भूमिका पृथ्वी एवं उस पर उत्पन्न जीव जगत् को युगों से प्रभावित करती आ रही है। चन्द्रमा ही भू-चुम्बकत्व के डायनैमो सिद्धांत को आधार प्रदान करता है। चन्द्रमा के कारण भू-चुम्बकत्व की तीव्रता और दिशा परिवर्तित हो सकती है। यहाँ एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य पर ध्यान जाता है। सूर्य तथा अंतरिक्ष से चलकर पृथ्वी के वायुमंडल तक अनेक प्रकार के आवेशित कण एवं विकिरण पहुँचते रहते हैं। भू-चुम्बकत्व आवेशित कणों की दिशा बदल देता है, वे सीधे धरती पर नहीं आ पाते हैं। कार्बन तथा प्रोटॉन-कण पृथ्वी के जीव-जन्तुओं एवं वनस्पतियों के जैव-परिवर्तन को बहुत अधिक प्रभावित करते है। इनके कारण किसी एक प्रकार के जीवों का सफाया हो सकता है या किसी दूसरी प्रजाति का विकास हो सकता है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि कुछ ऐसे ही कारणों से किसी युग में "डायनोसॉर" जैसे विशाल जीव उत्पन्न हुए थे और कालान्तर में उनका समूल नाश हो गया। इन तथ्यों की पुष्टि में अनेक उदाहरण पाए गए हैं और इनकी खोज भी जारी है। इस प्रकार चन्द्रमा भू-चुम्बकत्व को प्रभावित करके धरती के जीव-जगत् पर ऐतिहासिक प्रभाव डाल सकता है।

विद्वान वक्ता महोदय ने अनेक उदाहरण देकर जीव-जगत् पर चन्द्रमा के इस प्रभाव को अत्यन्त सरल ढंग से समझाया। □□

—प्रस्तुति : डॉ० श्रवण कुमार तिवारी
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी—5

पुस्तक–हिन्दी विज्ञान पत्रकारिता

लेखक—मनोज कुमार पटैरिया

प्रकाशन वर्ष—1990; **पृष्ठ संख्या**—256

मूल्य—दो सौ रुपये

प्रकाशक—तक्षशिला प्रकाशन, 23/4762, अन्सारी रोड, नयी दिल्ली—2

युवा विज्ञान लेखक और पत्रकार **श्री मनोज कुमार पटैरिया** द्वारा हिन्दी विज्ञान लेखन के इतिहास और शिल्प जैसे अछूते विषय पर लिखी गई इस पुस्तक ने हिन्दी साहित्येतिहास के एक अधूरे अध्याय को पूरा करने के लिये प्रामाणिक स्रोत सामग्री जुटाने का श्लाघनीय कार्य किया है। आज तक हिन्दी साहित्य के इतिहास पर जितने भी ग्रन्थ लिखे गये हैं, उनमें से अधिकांश में हिन्दी में रचे गये विपुल वैज्ञानिक साहित्य की कोई चर्चा नहीं है। इसी प्रकार हिन्दी विज्ञान लेखकों को भी प्रायः हिन्दी साहित्यकारों की बिरादर्री (सूची) में शामिल (सम्मिलित) नहीं किया जाता। इसका सर्वप्रमुख कारण सम्भवतः वैज्ञानिक साहित्य की विशिष्ट प्रकृति है। इन कृतियों की वैज्ञानिक विषय सामग्री के कारण इनमें गैर बैज्ञानिक पृष्ठभूमि वाले 'शुद्ध' हिन्दी साहित्यकारों की गति सम्भव न हो सकी। फलतः वैज्ञानिक कृतियाँ, हिन्दी साहित्य की मुख्यधारा में अपना उचित स्थान पाने से वंचित होती रही हैं। परन्तु 'हिन्दी विज्ञान पत्रकारिता' नामक इस प्रामाणिक पुस्तक के प्रकाशन से इस दिशा में एक बड़ी बाधा दूर हो गई है। उम्मीद की जानी चाहिए कि हिन्दी साहित्य के इतिहासकार अपनी पुस्तकों के नए संस्करण निकालते समय इस किताब में उपलब्ध सूचनाओं एवं सन्दर्भ सामग्री का भरपूर उपयोग करेंगे।

श्री पटैरिया द्वारा रचित यह पुस्तक पाँच भाग में विभक्त है। इनके अतिरिक्त एक अनौपचारिक किन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग 'परिशिष्ट' के रूप में है जिसमें विज्ञान प्रसार में लगी संस्थाओं, पत्रिकाओं, फीचर सेवाओं एवं लेखक-पत्रकारों की सूची (पता सहित) दी गई है। पुस्तक के अंत में 'सन्दर्भ सूची' और अनुक्रमणिका' तथा प्रारम्भ में 'प्राक्कथन', 'कृतज्ञता ज्ञापन' एवं 'प्रस्तावना' में दी गई सामग्री भी पुस्तक की विषयवस्तु को सही परिप्रेक्ष्य में समझने में सहायक है।

पुस्तक का पहला एवं दूसरा भाग क्रमशः विज्ञान पत्रकारिता के 'परिचय व पृष्ठभूमि' तथा 'विविध आयामों' से सम्बन्धित हैं। पहले भाग में चार एवं दूसरे भाग में छः अध्याय हैं। **पहले भाग** में हिन्दी विज्ञान पत्रकारिता के अर्थ, उद्देश्य एवं महत्व को परिभाषित करने के पश्चात् उसके उद्भव और विकास की चर्चा की गई है तथा वर्तमान की समीक्षा और भविष्य का आकलन है। इसी भाग में क्षेत्रीय भाषाओं की विज्ञान पत्रकारिता का एक सर्वेक्षण भी है जो हिन्दी विज्ञान लेखन की स्थिति के सापेक्ष मूल्यांकन हेतु अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। **दूसरे भाग** में हिन्दी की विज्ञान विषयक सामान्य पत्रिकाओं, शोध पत्रिकाओं, गृह-पत्रिकाओं, सन्दर्भग्रन्थों, पुस्तकों तथा शब्दावली के विषय पर अलग-अलग अध्यायों में विस्तार से चर्चा है। प्रत्येक अध्याय सम्बन्धित विषय के अतीत का ऐतिहासिक सर्वेक्षण प्रस्तुत करते हुए वर्तमान की कठिनाइयों का जिक्र करता है और उनके समाधान के लिए सकारात्मक सुझाव भी देता है। इसी क्रम में विज्ञान पत्रकारिता की विभिन्न विधाओं को अपने कलेवर में समेटे **चौथे भाग** की चर्चा कर लेना उचित होगा, क्योंकि पहले और दूसरे भाग की तरह यह भी हिन्दी विज्ञान साहित्य के इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस भाग में भी छः अध्याय हैं जो क्रमशः (i) विज्ञान समाचार, रिपोर्ताज और लेख (ii) विज्ञान कथा, उपन्यास और कविता (iii) विज्ञान नाटक और

रूपक (iv) विज्ञान चित्रकथा, व्यंग्यचित्र, हास्यव्यंग्य (v) वैज्ञानिक समीक्षा तथा (vi) वैज्ञानिक साक्षात्कार, भेंटवार्ता, परिचर्चा शीर्षक से पुस्तक में समाहित किए गये हैं। प्रत्येक अध्याय में सम्बन्धित विधा की प्रकृति को परिभाषित करते हुए उसके महत्व को उजागर किया गया है और उस विधा की कुछ रचनाओं/रचनाकारों का उदाहरण देकर नए लेखकों के मार्गदर्शन का अभिनन्दनीय प्रयास किया गया है।

पुस्तक के तीसरे एवं पाँचवें भाग तो विज्ञान के प्रतिष्ठित एवं नवोदित दोनों ही प्रकार के लेखकों के लिए केन्द्रीय महत्व के हैं। चार अध्यायों में विभक्त **तीसरा भाग** जहाँ विज्ञान पत्रकारिता के शिल्प एवं प्रविधि के बारे में उपयोगी जानकारी एवं मार्गदर्शन प्रदान करता है, वहीं **पाँचवें भाग** के पाँच अध्याय विविध विषयों जैसे लेखकीय आचार संहिता, पत्रकारिता सम्बन्धी कानून, पत्रकारिता में प्रशिक्षण, रोजगार एवं पुरस्कार आदि जानकारी उपलब्ध कराते हैं। इसी भाग में लेखक ने हिन्दी विज्ञान पत्रकारिता के क्षेत्र में महसूस की जा रही बाधाओं की चर्चा करते हुए अपने समाधान भी सुझाए हैं।

पूरी पुस्तक अत्यन्त रोचक, सूचनाप्रदा एवं ज्ञानवर्द्धक है। भाषा एवं प्रूफ सम्बन्धी भूलें नहीं के बराबर हैं। कहीं-कहीं एक अध्याय में दी गई जानकारी दूसरे अध्याय में दुहरा दी गई है, पर पुस्तक की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए ऐसे दुहराव से बच पाना कठिन है। विरामचिह्नों, विशेषकर अल्पविराम के प्रयोग में अंग्रेज़ी का प्रभाव यत्र-तत्र झलकता है। एक बात और ! पुस्तक में वर्णित विषय सामग्री की विविधता/व्यापकता को देखते हुए पुस्तक का शीर्षक 'हिन्दी विज्ञान पत्रकारिता' कुछ कमजोर जान पड़ता है। विशेषकर, पुस्तक के चौथे भाग में वर्णित अधिकांश विधाएँ मेरी दृष्टि में 'पत्रकारिता' की सीमा में न आकर 'साहित्य' के व्यापक अर्थ में ही समाहित की जा सकती हैं।

बहरहाल, इन छोटी-छोटी कमियों के बावजूद इस 'बड़ी' पुस्तक का महत्व कम नहीं होता। अत्यन्त लगन और परिश्रम से लिखी तथा आकर्षक रूप में छपी इस पठनीय और संग्रहणीय पुस्तक के लिए लेखक और प्रकाशक को कोटिशः बधाई ! हाँ, यदि प्रकाशक इस ऐतिहासिक महत्व की पुस्तक का सस्ता पेपर बैक संस्करण भी बाज़ार में उपलब्ध करा सके तो नवोदित लेखकों और हिन्दी भाषा का बहुत भला हो।

□□

—अनिल कुमार शुक्ल

डॉ० जगदीप सक्सेना की पुस्तक पुरस्कृत

डॉ० जगदीप सक्सेना को भारत सरकार के विज्ञान और प्रौद्योगिकी विभाग ने हिन्दी में मौलिक विज्ञान लेखन के लिए पाँच हज़ार रुपये के तीसरे पुरस्कार से सम्मानित किया है। यह पुरस्कार उनकी कृति 'विश्व प्रसिद्ध मांसाहारी तथा अन्य विचित्र पेड़-पौधे' के लिए दिया गया है (पुस्तक परिचय के लिए 'विज्ञान' अगस्त-सितम्बर, 1990 अंक देखें)। यह पुरस्कार गत 17 सितम्बर को भारत सरकार के विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी राज्य मंत्री श्री म० गो० कु० मेनन ने प्रदान किया।

डॉ० सक्सेना इलाहाबाद विश्वविद्यालय के छात्र रहे हैं। वह पिछले 10 वर्षों से हिन्दी में लोकप्रिय विज्ञान लेखन में रत हैं। राष्ट्रीय स्तर की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में अब तक उनके 300 से ज्यादा लेख प्रकाशित हो चुके हैं। उपर्युक्त कृति के अलावा डॉ० सक्सेना ने दो पुस्तकें और भी लिखी हैं। विज्ञान परिषद् से डॉ० सक्सेना का पुराना सम्बन्ध है। उन्होंने विज्ञान लेखन की शुरुआत 'विज्ञान' पत्रिका के माध्यम से की थी। वे विज्ञान परिषद् की दिल्ली शाखा के कार्यकारिणी के सदस्य हैं। वर्तमान में भारत कृषि अनुसंधान परिषद् में सहायक संचालक (हिन्दी) के पद पर कार्यरत हैं। विज्ञान परिषद् की ओर से उन्हें शुभकामनाएँ।

विज्ञान वक्तव्य

प्रिय पाठकगण !

'विज्ञान' का अक्टूबर 1990 अंक आपके सामने है। अक्टूबर माह की अपनी विशेषता है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका बहुत महत्व है। 2 अक्टूबर को ही विश्व की दो महान् विभूतियों—**राष्ट्रपिता महात्मा गांधी** और देश के लाडले **प्रधानमन्त्री लालबहादुर शास्त्री** का जन्म हुआ था। ये दोनों ही महान आत्माएँ हमारी प्रेरणा स्रोत हैं। अक्टूबर माह का प्रथम सप्ताह 'वन्य जीवन संरक्षण सप्ताह' और 9 अक्टूबर 'विश्व डाक टिकट दिवस' के रूप में मनाया जाता है।

वन्य जीवन संरक्षण के लिए जो सबसे बड़ी आवश्यकता है, वह है वनों की सुरक्षा, क्योंकि बिना वनों के वन्य जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

'वन (संरक्षण) अधिनियम, 1980' में वनीकरण पर विशेष बल दिया गया है। 'नयी राष्ट्रीय वन नीति' के अन्तर्गत पर्यावरण में स्थिरता बनाये रखने, पारिस्थितिक तन्त्र के विभिन्न घटकों में संतुलन कायम रखने और नैसर्गिक वनों को सुरक्षित रखने का प्रावधान है। इसमें आदिवासियों और जंगलों में 'सहजीवी' (Symbiotic) सम्बन्ध का ध्यान रखा गया है ताकि आदिवासियों के दैनन्दिन जीवन की आवश्यकताएँ जंगलों से पूरी होती रहें। अतएव वनीकरण और वृक्षारोपण 'नयी राष्ट्रीय वन नीति' की विशेषता है। यही नहीं, 1980 के 'वन संरक्षण अधिनियम' के कठोरता से पालन के लिए इसमें आवश्यक संशोधन भी किए गए हैं।

1972 के वन्य जीवन संरक्षण अधिनियम में भी, बदलती परिस्थितियों के अनुरूप, परिवर्त्तन किए गए हैं। आज देश में 67 'राष्ट्रीय पार्क' और 394 'अभयारण्य' हैं। 'स्नो-लेपर्ड (साह) कंजरवेशन प्रोजेक्ट' के तहत हिमालय क्षेत्र में 12 'स्नो-लेपर्ड रिजर्व' निर्मित करने का निश्चय किया गया है।

भारत में हाथियों की संख्या में लगातार गिरावट आ रही है। इसका कारण मुख्य रूप से हाथी-दांत के लिए हाथियों का शिकार है। नर-मादा की सानुपातिक संख्या में असंतुलन के कारण लैंगिक-प्रजनन भी प्रभावित हुआ है। यह निश्चय ही चिन्ता का विषय है। इसी कारण 'बाघ परियोजना' की ही भाँति 'हाथी परियोजना' प्रारम्भ करने का भी सरकार ने हाल ही में निश्चय किया है। इस नयी परियोजना का श्रीगणेश कर्नाटक राज्य से प्रारम्भ होगा।

कुछ लोगों का मानना है कि हमारी सरकार बड़े वन्य जीवों के संरक्षण पर बल दे रही है, पर छोटे जानवरों का संरक्षण उपेक्षित रह गया है। पर वास्तविकता यह नहीं है। जब बाघ और हाथी जैसे बड़े जीवों का संरक्षण होगा तो इनके आवास-जंगलों-का भी संरक्षण होगा और यदि इन बड़े जानवरों के नैसर्गिक आवास सुरक्षित रहेंगे तो इन आवासों में नाना प्रकार की जीव जातियाँ अपने आप पनपेंगी। किन्तु नैसर्गिक वन अपने वन्य जीवन के साथ तभी सुरक्षित रह सकते हैं जब हम वनों से मात्र उतना ही लें जितना देने के बाद वनों के जीवन को ख़तरा न हो। वन सम्पदा का दोहन विवेकपूर्ण होना चाहिए और वनों को सुरक्षित रखने का सबसे कारगर तरीका है 'सामाजिक वानिकी'। नैसर्गिक वनों के बाहर के क्षेत्र में सामाजिक वानिकी कार्यक्रमों की विशेष भूमिका है, महत्ता है, आवश्यकता है।

किन्तु इसी अक्टूबर माह में देश को एक बड़ी अपूरणीय क्षति भी सहनी पड़ी। देश के वयोवृद्ध नेता, स्वतन्त्रता सेनानी, देशभक्त, साहित्यकार, पत्रकार **पं० कमलापति त्रिपाठी** का 7-8 अक्टूबर की रात्रि में स्वर्गवास हो गया। इसके पूर्व 5 अक्टूबर को इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अवकाशप्राप्त हिन्दी विभागाध्यक्ष **डॉ० रामकुमार वर्मा** का भी निधन हो गया। डॉ० वर्मा स्वतन्त्रता सेनानी, नाटककार, कवि और प्रख्यात समीक्षक थे। इन दोनों ही महानुभावों के संसार से विदा लेने से देश को और हिन्दी जगत् को जो क्षति हुई है वह पूरी नहीं हो सकती। अपने कृतित्व में अवश्य ही ये अमर रहेंगे सदियों तक और आने वाली पीढ़ियों को अनुप्राणित करते रहेंगे। इन्हें विज्ञान परिषद् परिवार की भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित है।

आपका

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

हिन्दी की त्रैमासिक विज्ञान पत्रिका "वैज्ञानिक" के शुल्क में वृद्धि

छपाई में हुई तीव्र वृद्धि के कारण दिनांक 1.4.1990 से वैज्ञानिक की एक प्रति का मूल्य 5.00 रू० होगा। पत्रिका के नियमित ग्राहकों के लिए शुल्क दरें इस प्रकार हैं :

व्यक्तिगत : 15 रू० (एक वर्ष), 40 रू० (तीन वर्ष)
संस्थागत : 25 रू० (एक वर्ष), 70 रू० (तीन वर्ष)

हिंदी विज्ञान साहित्य परिषद् का सदस्यता शुल्क 1.4.1990 से निम्नलिखित होगा।

व्यक्तिगत : 15 रू० (एक वर्ष), 100 रू० (आजीवन)
संस्थागत : 25 रू० (एक वर्ष), 250 रू० (आजीवन)
प्रवेश शुल्क रू० 1.00 अलग

हिंदी विज्ञान साहित्य परिषद् के सदस्यों को वर्तमान नियमों के अनुसार 'वैज्ञानिक' नि:शुल्क भेजी जाती है।

हिन्दी विज्ञान साहित्य परिषद्, सूचना प्रभाग, सेन्ट्रल काम्पलेक्स, भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र, बम्बई—400085

उत्तर प्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के
शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है, यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियां भेजी जानी चाहिये। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं :

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०; आधा पृष्ठ 100.00 रु०; चौथाई पृष्ठ 50.00 रु०। आवरण द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ 500·00 रु०।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत; 500 रु० संस्थागत
वार्षिक : 25 रु०
त्रिवार्षिक : 60 रु०
प्रति अंक : 2 रु० 50 पैसे

प्रेषक : विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद–211002

विज्ञान

परिषद् की मुख पत्रिका

नवम्बर 1990

2 रुपये 50 पैसे
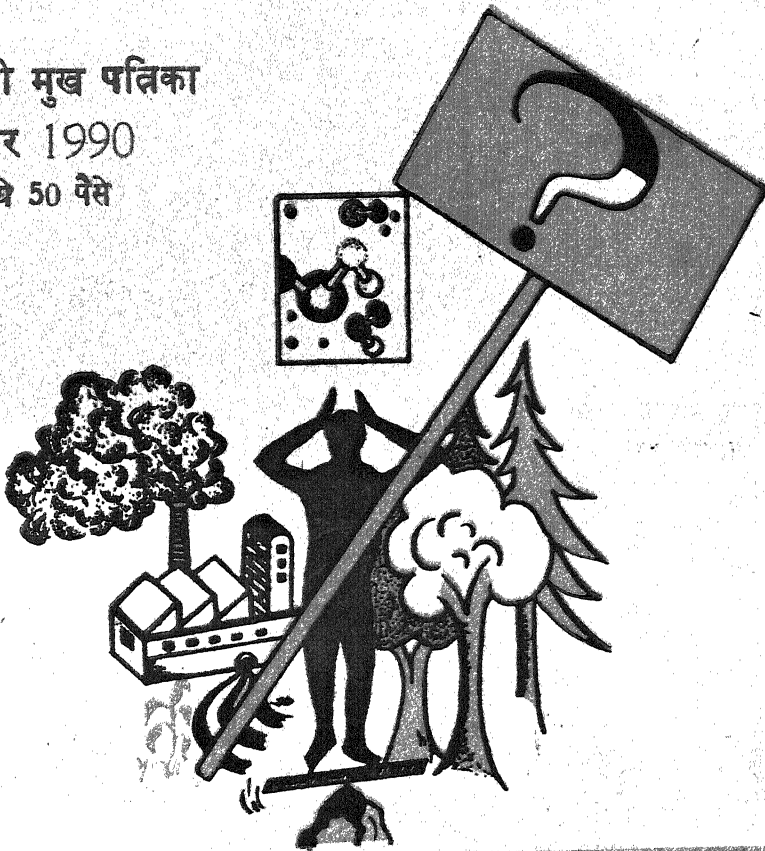
विज्ञान परिषद्, प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 1913; 'विज्ञान' का प्रकाशन अप्रैल 1915
नवम्बर 1990; वर्ष 76, अंक 8

मूल्य
आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत; 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु०
वार्षिक : 25 रु०
एक प्रति : 2 रु० 50 पैसे

प्रकाशक
डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी
प्रधान मंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

●

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

●

मुद्रक
श्री सरयू प्रसाद पाण्डेय
नागरी प्रेस
186 अलोपी बाग
इलाहाबाद

●

सम्पर्क
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद–211002

विज्ञान विस्तार

वन्य जीव संरक्षण : विचार गोष्ठी की आवश्यकता

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

मित्रो ! आज की विचार गोष्ठी में मैं आप सभी का हृदय से स्वागत करता हूँ। जैसा कि आप सब को विदित है, हम यहाँ वन्य जीव संरक्षण' विषय पर विचार-विमर्श के लिए एकत्र हुए हैं। वन्य जीव संरक्षण सप्ताह चल रहा है। आज हमारे देश में वन्य जीवों के संरक्षण के लिए 67 राष्ट्रीय उद्यान और 394 अभयारण्य हैं। इनकी सहायता से अनेक ऐसी जीव जातियों की संख्या में वृद्धि भी हुई, जो विलुप्तिकरण के कगार पर पहुँच गयी थीं। बाघ और घड़ियाल तो मात्र प्रतीक हैं। जानवरों के आवास सुरक्षित होने से छोटे-बड़े अनेक जीव-जन्तु और वनस्पतियों को इन नैसर्गिक आवासों में जीवनदान मिला है। पर क्या हमारे कर्तव्य की इतिश्री हो गई? क्या जनमानस में इनके प्रति दया या ममता का भाव उदय हो सका? क्या तात्कालिक लाभ के लिए हम आज भी अवैध शिकार नहीं कर रहे हैं? और यदि इन प्रश्नों के उत्तर नकारात्मक हैं तो आज भी वन्य जीवों के संरक्षण पर जगह-जगह विचार-गोष्ठियाँ आयोजित करके वन्य जीव संरक्षण के प्रति लोगों में चेतना जाग्रत करने की आवश्यकता बनी हुई है। और इसी उद्देश्य से आज की इस विचार गोष्ठी का आयोजन भी किया गया है। मेरा आपसे विनम्र निवेदन है कि आप अपने विचार अवश्य ही सामने रखें। कहावत है "बूँद-बूँद से घट भरे"। □□

पर्यावरण, पारिस्थितिकी एवं वन्य जीव

प्रमोद कुमार शुक्ल

किसी भी स्थान विशेष के पर्यावरण, वहाँ की पारिस्थितिकी एवं वहाँ निवास करने वाले वन्यजीवों के स्वभाव, रूप एवं क्रिया-कलापों में पारस्परिक सामंजस्य होता है। जीव वैज्ञानिकों का ऐसा मानना है कि किसी भी जीव प्रजाति को काफ़ी लम्बे समय तक पृथ्वी पर अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए स्थान विशेष की बदलती जलवायु तथा पर्यावरण के परिवर्तन के अनुरूप अपने को ढालना पड़ता है। क्योंकि ऐसा न कर पाने से जीव प्रजाति अन्ततः विलुप्त हो जाती है।

पर्यावरण पारिस्थितिकी के अलावा अन्य कारण भी वन्य जीवों के वंशनाश अथवा विलोपीकरण के लिए उत्तरदायी हैं, जिसमें प्रमुख अनियन्त्रित एवं निष्प्रयोजित शिकार, खेती का विस्तार तथा वनों का विनाश है। हालाँकि वन्य जीवों की हत्या हमारी प्राचीन कमज़ोरी है लेकिन इसकी वर्तमान में स्थिति जितनी चिन्तनीय है उतनी कभी भी नहीं थी। इस बात का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि हमारे वन्य जीवों का गौरव शेर सिर्फ गिरि वन के जंगलों में ही सीमित रह गया है। इसके अलावा नीलगाय, गैंडा, सफ़ेद शेर, जंगली भैंसा, कस्तूरी मृग, गोडावण पक्षी आदि का सर्वाधिक विनाश हुआ है, जिसके परिणाम स्वरूप स्थानीय पारिस्थितिकी तन्त्र असन्तुलित हो गया है। इससे वन्य जीवों का संरक्षण आवश्यक हो गया है, ताकि प्रकृति में सन्तुलन बनाये रखा जा सके।

वन्य जीव संरक्षण के लिए विशेष रूप से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर 'प्रकृति संरक्षण के लिए अंतरराष्ट्रीय

शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद—211002

एकता' तथा राष्ट्रीय स्तर पर 'भारत वन्य प्राणी बोर्ड' की स्थापना की गई है। इसके अलावा अनेक सरकारी व गैर सरकारी संस्थाएँ इस क्षेत्र में कार्य कर रही हैं। 'राष्ट्रीय वन्य जीव कार्य योजना' 'प्रकृति शिक्षा कार्यक्रम', 'चिपको आन्दोलन', 'वन महोत्सव', प्रोजेक्ट टाईगर, मृदा जल और वृक्ष सम्बन्धी योजना' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इससे जन-साधारण में वन्य जीवों, दुर्लभ वनस्पतियों एवं वनों की रक्षा हेतु जागृति उत्पन्न हुई है तथा पारिस्थितिकी तंत्र के संतुलन में निश्चित रूप से सहायता मिली है।

सरकार ने इसके अतिरिक्त भारतीय वन्य जीव संरक्षण कानून, 1972 में पारित कर इनके शिकार पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया है। साथ ही वन्य जीवों के संरक्षण, स्वछन्द विचरण के लिए देश के विभिन्न भागों में राष्ट्रीय उद्यान तथा अभ्यारण बनाये गये हैं।

□□

बाघ परियोजना

राजेश कुमार केसरी

अक्टूबर माह का प्रथम सप्ताह हम वन्य जीवों की सुरक्षा के लिए हर वर्ष 'वन्य जीव संरक्षण' सप्ताह के रूप में मानते हैं। यह हम सभी जानते हैं कि बाघ राष्ट्रीय पशु है। यह भारत के जंगलों में पाया जाता रहा है। इसमें विभिन्न प्रकार के वातावरण के अनुरूप अपने आप को ढाल लेने की विशेष क्षमता होती है। जहाँ तक बाघों की संख्या का सवाल है, एक ब्रिटिश वैज्ञानिक के अनुसार भारत में बाघों की संख्या इस शती के प्रारंभ में लगभग 40,000 थी। उस समय बाघों का शिकार प्रतिष्ठा की बात तो थी ही, शौर्य का प्रतीक भी था।

सन् 1969 में दिल्ली में प्रकृति व प्राकृतिक संपदा की अंतर्राष्ट्रीय संस्था द्वारा एक विचार गोष्ठी सम्पन्न हुई जिसमें एक चौंकाने वाला तथ्य उभर कर सामने आया कि भारत में बाघों के निरन्तर शिकार से बाघों की संख्या 2500 के लगभग ही रह गयी है। इस स्थिति को देख कर बाघों को (आई० यू० सी० एन० I. U. C. N.) की 'लाल पुस्तक' की लुप्त जन्तुओं की सूची में शामिल कर लिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत सरकार ने 1970 में बाघों के शिकार पर प्रतिबन्ध लगा दिया। शिकार पर बावजूद प्रतिबंध के, 1972 में इनकी संख्या घट-कर 1827 ही रह गई।

बाघों की निरन्तर घटती संख्या से चिंतित पर्या-वरणविदों और भारत सरकार के सत् प्रयासों के परि-णामस्वरूप ऐसे अभयारण्यों की स्थापना का विचार आकार ग्रहण करने लगा जिसमें संकटापन्न जीव प्रजा-तियों का संरक्षण हो सके।

संकटापन्न प्रजातियों, विशेष रूप से बाघों, के संरक्षण हेतु 'बाघ परियोजना' (प्रोजेक्ट टाइगर) शुरू की गयी जो बहुत सफल रही।

इस परियोजना का श्रीगणेश 1973 में पहली अप्रैल को कार्बेट अभयारण्य में प्रारम्भ किया गया। इस समय देश के 13 राज्यों के 18 अभ्यारण्यों में 'बाघ परियोजना' सफलतापूर्वक चल रही है। ये अभ-यारण्य निम्नवत् हैं।

1. कार्बेट राष्ट्रीय उद्यान
2. कान्हा राष्ट्रीय उद्यान
3. इन्द्रावती राष्ट्रीय उद्यान
4. रणथम्भोर राष्ट्रीय उद्यान
5. सरिस्का राष्ट्रीय उद्यान
6. मेलाघाट अभयारण्य
7. पलामू बाघ परियोजना
8. उत्तर सिमलीपाल राष्ट्रीय उद्यान
9. बक्सा अभयारण्य
10. सुन्दरवन राष्ट्रीय उद्यान
11. मानस अभयारण्य
12. नामदफा राष्ट्रीय उद्यान

बी. एस-सी. तृतीय वर्ष (जीव विज्ञान), सी. एम. पी. डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद—211002

13. नागार्जुन सागर श्रीशैलम अभयारण्य
14. बाँदी राष्ट्रीय उद्यान
15. पेरियार राष्ट्रीय उद्यान
16. दुधवा राष्ट्रीय उद्यान
17. कलाकंड तथा मुंडनथुरई वन्य प्राणी अभयारण्य
18. बाल्मीकि बाघ परियोजना

अभयारण्यों के भीतर वृक्षों को काटना, मवेशियों को चराना निषिद्ध कर दिया गया है। पर्यटकों को भी केवल एक निश्चित क्षेत्र में ही घूमने की आजादी होती है, जिससे जीव-जन्तुओं को कोई नुकसान न हो।

सन् 1986 में किए गए एक सर्वेक्षण के अनुसार बाघों की कुल संख्या 4000 थी। प्रत्येक अभयारण्य में बाघों की संख्या की गिनती भी की जाती है।

'बाघ परियोजना' को शुरू हुये 16 वर्ष हो चुके हैं। 'बाघ परियोजना' से सिर्फ़ बाघों का संरक्षण ही नहीं हुआ है बल्कि अन्य वन्य जीवों का भी संरक्षण हुआ है। बाघ तो मात्र एक प्रतीक है। बाघ के संरक्षण के लिए जंगलों की आवश्यकता होती है और जंगलों में बाघों के साथ अन्य जीवों को भी आवास मिल जाता है। जंगल जानवरों का नैसर्गिक आवास है। कई प्रकार के जीव जैसे गैंडा, दन्दर, मृग, हाथी आदि का भी संरक्षण वनों में स्वतः हो जाता है। इससे बाघों को भोजन भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो जाता है। वनों का न केवल जानवरों के लिए वरन् मानवों के लिए भी विशेष महत्त्व है। वनों से, वनों के निकट रहने वालों की रोजाना की तमाम जरूरतें भी पूरी होती रहती हैं।

'बाघ परियोजना' से न सिर्फ़ बाघ बल्कि देश के विभिन्न प्रकार के वन्य जीवों और वनस्पतियों का भी संरक्षण हुआ है। □□

वन एवं वन्य जीव संरक्षण

विनय कुमार

पिछले कुछेक दशकों से पर्यावरण के प्रति मानवीय चेतना में जबरदस्त बदलाव आया है। वैसे पर्यावरण सदैव परिवर्तनशील रहा है। विकास-क्रम में असंख्य जीव-जन्तु और वनस्पतियों की जातियों का इस धरती पर जन्म हुआ, जिनमें से बहुत सी अपने को बदलते पर्यावरण में अनुकूलित न कर सकने के कारण विलुप्त हो गईं। मीसोजोइक काल के विशालकाय डाइनोसोरों का धरती से विलुप्त होना इसका एक ज्वलंत उदाहरण है। अतएव यदि हमने शीघ्र ही प्रयास न किये तो अनेक जीव जातियों का इस धरती से लोप हो जायेगा।

पर्यावरण में स्थिरता बनाये रखने के लिए वनों की प्रमुख भूमिका होती है। स्वतन्त्रता के बाद सर्वप्रथम 'राष्ट्रीय वन नीति' 1952 में अपनायी गई, जिसका उद्देश्य देश के कुल भूमि-क्षेत्र के एक तिहाई भाग को वन क्षेत्र के अन्तर्गत लाना था। इससे जहाँ एक ओर मनुष्य के उपभोग के लिए वन-उत्पादों की उपलब्धता बढ़ाना मुख्य उद्देश्य था, वहीं दूसरी ओर इसका अप्रत्यक्ष प्रभाव वन्य जीवों के संरक्षण पर भी पड़ा। परन्तु भारत सरकार ने सर्वप्रथम वन्य जीवों के संरक्षण के लिए वर्ष 1972 में संविधान में वन्य जीव (सुरक्षा) अधिनियम पास करके उनके संरक्षण के लिए अपनी चिन्ता व्यक्त की। अधिनियम में वन्य जीव-जन्तुओं को चार अनुसूचियों में विभाजित किया गया, जिसके अनुसार प्रथम अनुसूची वाले समस्त प्राणियों को राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सुरक्षा प्रदान करने का प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। प्रथम अनुसूची में कुछ जीव-जन्तु हैं जैसे—सोनालू, मोनल, बाघ, हाथी, तेंदुआ, सिंह, कार्सर तथा हॉर्नबिल। जो प्राणी 2 से 4 तक की अनुसूचियों में दर्ज हैं वे हालाँकि विलुप्तिकरण के ख़तरे से अपेक्षाकृत कुछ दूर हैं, तथापि उनकी सुरक्षा सुनिश्चित की जानी चाहिए। जैसे—नीलकंठ, कठफोड़ा, आदि। इसके लिए भारत सरकार ने जन चेतना विकसित

शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद—211002

करने के लिए वन्य प्राणियों तथा उससे जुड़ी संस्थाओं पर टिकट जारी किये, पोस्ट कार्डों पर भी बाघ, हाथी तथा मोर जैसे प्राणियों को चित्रित किया। परन्तु यह प्रयास स्तनी तथा पक्षी वर्ग के प्राणियों तक ही सीमित रहा है।

'वन्य जीव (सुरक्षा) अधिनियम 1972' को संशोधित कर उन प्रजातियों के व्यापार पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है, जिनके अस्तित्व के लिए अब ख़तरा पैदा हो गया है। बाघों की आबादी बचाये रखने के उद्देश्य से "बाघ परियोजना" का प्रारम्भ वर्ष 1970 में बाघ के प्रमुख आवास वाले देशों—भारत, नेपाल, भूटान तथा बांग्लादेश में प्रारम्भ की गई हैं, जो भारत में अब तक 26·643 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में 13 राज्यों में बाघ सुरक्षित क्षेत्र, 67 राष्ट्रीय उद्यान तथा 394 अभयारण्यों में काम कर रही है। वर्तमान में भारत में 18 बाघ आवासों को 'बाघ परियोजना' में शामिल किया जा चुका है। बाघ की महत्ता को नेपाली जनता को जताने के लिए 1975 में नेपाल सरकार ने भी 2 पैसे का डाक टिकट, 'हुलाक टिकट' नाम से जारी किया।

बाघ की तरह ही हाथियों की संख्या, विशेष कर दंतैल नरों की संख्या, तेजी से घट रही है। जंगलों में मादा हाथी तथा मखनों (हाथी दाँत रहित नर) की संख्या बढ़ रही है। दंतैल नरों के अवैध शिकार से दंतैल नर तथा मादा हाथियों का लैंगिक अनुपात गड़बड़ा गया है। भारत में हाथियों की बिगड़ती हालत की ओर यू० सी० एन० द्वारा भी रन्स में आयोजित अपने सम्मेलन में चिन्ता व्यक्त की गई थी, तथा इससे भारत सरकार को भी अवगत कराया गया। परिणामस्वरूप देश में 'हाथी सुरक्षा अधिनियम' लागू कर दिया गया है।

अगर आज भी हम मानव स्वार्थ के आगे घुटने टेकते रहे तो **डोडो, चित्तीदार हिरनों, सफेद हाथी** आदि विलुप्त जानवरों के क्रम में **हाथी, शेर, बाघ** जैसे जानवरों के नाम जुड़ते जायेंगे। शायद भविष्य में हम आगामी पीढ़ी को, इन जानवरों के विलुप्त होने पर, चित्रों द्वारा ही इनके बारे में जानकारी दे सकें। जैसे आज डाइनोसोरों के विषय में करते हैं। परन्तु भारत सरकार द्वारा व अन्य संस्थाओं द्वारा किये जा रहे प्रयास भविष्य में आशा का संचार करते हैं। आज इस अवसर पर हम वन्य प्राणियों के बारे में, विशेषकर बच्चों में, उनके प्रति आकर्षण पैदा करके उन प्राणियों के भविष्य को सुरक्षित करने का सार्थक प्रयास कर सकते हैं। इसके लिए शिक्षाशास्त्री, बच्चों के पाठ्यक्रम में वन्य जीवों के बारे से रुचिपूर्ण जान-जानकारी शामिल करके, महत्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं। □□

आँसू घड़ियाल के ! मगर नकली नहीं असली

डॉ० विजय कुमार श्रीवास्तव

घड़ियाल को आमतौर पर लोग नकली "घड़ियाली आँसुओं" के लिए जानते हैं। पर यह अपनी सुन्दर और मजबूत खाल के लिए भी कम लोकप्रिय नहीं। इसी के चलते घड़ियाल का खूब संहार भी हुआ है। सौभाग्य से सरकारी प्रयासों ने इसे काफी हद तक बचा लिया है। संकट फिर भी पूरी तौर पर टला नहीं है।

"घड़ियाली आँसू" कहावत बहुत पुरानी है। मतलब है नकली आँसू। शायद घड़ियाल के नकली आँसुओं का तात्पर्य उसकी आँख के पास स्थित लवण ग्रन्थियों द्वारा स्रावित होने वाले रंगहीन द्रव से है। इस प्रक्रिया द्वारा यह अपने शरीर में उपस्थित अधिक लवण को शरीर से बाहर निकालता है।

परन्तु समय के साथ-साथ अनेक परिवर्तन होते

सम्पर्क सूत्र—720 सरस्वती विहार, दिल्ली—110034

देखे गये हैं। कल की कहावतें आज सच्चाई बन गई है। यही हुआ है इस "घड़ियाली आँसू" के साथ। वर्तमान परिवेश में घड़ियाल के आंसू नकली नहीं है वरन् आज यह अपने विनाश पर वास्तव में रो रहा है। कुछ वर्षों पूर्व तो यह विलुप्ति के कगार पर पहुँच कर अपने अस्तित्व के लिए ही जूझ रहा था। एक सर्वेक्षण के अनुसार सन् 1974 में भारत में केवल 60 घड़ियाल बचे थे। शेष विश्व में तो स्थिति और भी खराब थी। जहाँ पहले घड़ियाल की अनेक प्रजातियाँ पायी जाती थीं वहाँ अब इनकी केवल तीन ही प्रजातियाँ पायी जाती हैं। शेष इस धरा से विलुप्त हो चुकी हैं।

इनके विनाश का भी मुख्य कारण आज का स्वार्थी मनुष्य ही है जो स्वयं को सबसे अधिक सभ्य बता कर चन्द चाँदी के टुकड़ों की लालच में अन्य सभी जन्तुओं को अन्धाधुन्ध मारता जा रहा है। घड़ियाल की सुन्दर खाल ही इसकी सबसे बड़ी शत्रु है। विदेशों में यह सोने के भाव बिकती है। इससे अनेक वस्तुएँ तैयार की जाती हैं। कुछ आदिवासी जातियाँ इसके अण्डों को खाती हैं और जब अण्डे ही नहीं रहेंगे तो बच्चे कहाँ से आएँगे ?

सौभाग्य से भारत सरकार का ध्यान समय रहते इस गम्भीर समस्या की ओर आकर्षित हुआ और इनकी सुरक्षा की सम्भावनाओं का पता लगाने के लिए प्रसिद्ध आस्ट्रेलियाई वैज्ञानिक **श्री बस्टर्ड** को भारत निमन्त्रित किया गया। श्री बस्टर्ड ने इस समस्या का गहन अध्ययन किया। उन्होंने अपनी विस्तृत रिपोर्ट में बताया कि इनके अस्तित्व की रक्षा तो हो सकती है, आवश्यकता है बिना किसी अतिरिक्त विलम्ब के तुरन्त युद्धस्तरीय प्रयास की। उनका परिश्रम व्यर्थ नहीं गया और 'संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम' के अन्तर्गत 'खाद्य एवं कृषि संगठन' द्वारा घड़ियालों की सुरक्षा के लिए एक परियोजना प्रारम्भ की गयी। इसमें भारतीय वन्य जीव अधिकारियों द्वारा विशेषज्ञों की सहायता लेने की व्यवस्था थी।

फिर क्या था, भारत सरकार के अनुरोध पर श्री बस्टर्ड ने कार्य प्रारम्भ किया। उन्होंने हैदराबाद स्थित 'केन्द्रीय क्रोकोडायल प्रजनन एवं प्रबन्ध संस्थान' को अपना केन्द्र बनाया और जुट गये तन-मन से अपने काम में। सर्वप्रथम उन्होंने घड़ियालों की पुनः प्रतिष्ठा के लिए अभयारण्य बनाने की सलाह दी।

पहले बना **कुकरैल अभयारण्य**, जो लखनऊ से 13 किमी० दूर है। यह तो शुरुआत थी, जिसमें उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश की सीमा पर बहने वाली चम्बल नदी के तट से घड़ियाल के 28 अण्डे लाकर इनका पालन-पोषण शुरू हुआ और आज तो वहाँ छोटे से लेकर बड़े तक हजारों की संख्या में घड़ियाल हैं। इसकी सफलता से प्रभावित होकर फिर तो कुछ ही वर्षों में अनेक अभयारण्यों की स्थापना हुई। इनमें प्रमुख हैं : उत्तर प्रदेश की उत्तरी सीमा पर बहराइच के पास कर्तनियाघाट में, राजस्थान में राणाप्रताप सागर बाँध के समीप, उड़ीसा में नन्दन कानन अभयारण्य तथा मध्यप्रदेश में चम्बल नदी के तट पर चम्बल राष्ट्रीय अभयारण्य।

भारतवर्ष में घड़ियाल की तीन प्रजातियाँ पायी जाती हैं।

1—मगर (**क्रोकोडायलस पलुस्ट्रिस**)

2—घड़ियाल (**गेवियालिस गेंजेटिकस**)

3—नदियों के मुहानों पर पाया जाने वाला घड़ियाल (**क्रोकोडायलस नोरोसस**)

उड़ीसा के **नन्दन कानन अभयारण्य** की स्थापना तीसरी प्रजाति के घड़ियाल के लिए की गई थी। इसकी स्थापना दो मादा तथा एक नर घड़ियाल को लेकर हुई थी। इसकी सफलता से प्रभावित होकर उड़ीसा सरकार ने राज्य में तीन अन्य परियोजनाएँ प्रारम्भ की हैं। सतकोसिया जार्ज में घड़ियाल, भिटारकेनका में क्रोकोडायलस नोरोसस तथा सिमलीपाल में मगर के लिए।

"घड़ियाल बचाओ अभियान" बहुत अधिक खर्चीला भी नहीं है। अब तक 20-30 लाख रुपये इस अभियान में संलग्न कर्मचारियों एवं उनकी आवास व्यवस्था पर खर्च हुए हैं। इसके अतिरिक्त प्रति वर्ष

लगभग 4-5 लाख रुपये इनके रख-रखाव पर खर्च होते हैं। इसका अधिकांश इनके खाने पर खर्च होता है।

प्रत्येक वर्ष फरवरी माह में "घड़ियाल बचाओ अभियान" अपने कर्मचारियों को सुदूरवर्ती नदी तटों पर इनके अण्डों की तलाश में भेजता है। अण्डों को लकड़ी के डिब्बों में रेत के साथ रख कर लाया जाता है तथा अभयारण्यों में लाकर इनको रेत से भरे हुए कक्षों में रख दिया जाता है। यहाँ पर अण्डों के विकास के लिए आवश्यक उचित तापक्रम एवं नमी बनाये रखने के हर सम्भव प्रयास किए जाते हैं। लगभग 8-10 सप्ताह में अण्डों से बच्चे निकल आते हैं।

घड़ियाल के बच्चों को उनकी आयु के अनुसार विभिन्न प्रकार के बाड़ों में रखा जाता है। ये बाड़े बाहर से देखने में पौध घर के समान होते हैं। ये ऊपर से तार की जाली से ढँके रहते हैं, जिसके अन्दर कई छोटे-छोटे तालाब बने होते हैं। प्रत्येक तालाब में कई बच्चे एक साथ रखे जाते हैं। निश्चित समयान्तराल पर तालाबों का पानी बदलते रह कर उसे साफ़ रखने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार इन प्राणियों के स्वास्थ्य के प्रति विशेष ध्यान दिया जाता है।

वन्य-प्राणी प्रेमियों एवं भारत के अथक प्रयास से एक समय तेज़ी से विलुप्त होने वाले घड़ियाल के ऊपर से संकट के बादल अब छँट गये हैं। वर्तमान समय में तो विभिन्न अभयारण्यों में ये हज़ारों की संख्या में पल रहे हैं। इस समय इनकी संख्या इतनी हो गई है कि सरकार अब इनका निर्यात करने की सोच रही है। परन्तु निर्यात के लिए कोई भी नीति तैयार करते समय इस बात को ध्यान में रखना होगा कि इनका अस्तित्व फिर से संकट में न पड़ जाए। □□

कैसे होते हैं जुड़वा बच्चे

प्रो० सीताराम सिंह 'पंकज'

गाँव-देहातों या शहरों में जुड़वा बच्चों का होना एक आम घटना है। कभी-कभी तो दो की जगह चार-पाँच बच्चे भी एक ही साथ जन्म लेते हैं। प्रायः ऐसे बच्चों का जन्म किसी दैवी घटना का परिणाम बताया जाता है। किन्तु, इसके विपरीत जुड़वा या अनेक बच्चों के जन्म के पीछे ठोस वैज्ञानिक कारण होते हैं। कहते हैं, आस्ट्रेलिया में एक महिला ने छः बार के प्रसवों में 32 बच्चों को जन्म दिया था। मनुष्यों में मुख्यतः तीन प्रकार के यमज पाए जाते हैं—

1. असमरूपी यमज (Unidentical Twins),
2. समरूपी यमज (Identical Twins)
3. स्यामीज़ यमज (Siamese Twins)

1. असमरूपी यमज (Unidentical Twins)

वयस्क स्त्रियों में साधारणतः प्रतिमाह एक अंडाणु परिपक्व होते हैं। यह क्रम चालीस वर्ष की आयु तक चलता रहता है। किन्तु अपवादस्वरूप कभी-कभी एक ही समय में दो अंडाणु (Ova) परिपक्व हो जाते हैं। अगर इनका निषेचन (Fertilization) दो शुक्राणुओं (Sperms) से होता है, तो दो युग्मनज Zygotes) बन जाते हैं। इनके क्रमिक विकास से दो बच्चे बनते हैं। ये दोनों बच्चे लड़के या लड़कियाँ या एक लड़का और एक दूसरा लड़की होती है। चूँकि ऐसे यमज दो अलग-अलग युग्मनजों से बनते हैं, अतः इन्हें असमरूपी यमज या द्विअण्डज यमज (Dizygotic or Fraternal Twins) कहते हैं। दोनों युग्मनजों में जीन की भिन्नता के कारण ऐसे बच्चों में भिन्नता होती है। ऐसे बच्चों के स्वभाव, रंग-रूप आदि में भी भिन्नता होती है। साधारणतः ये एक ही पिता की संतानें होती हैं। किन्तु इसके विपरीत यह देखा गया है कि ये दो पिताओं की संतान भी हो सकती हैं।

2. समरूपी यमज (Identical Twins)

समरूपी यमज का अर्थ है समान जुड़वा। ऐसे

अध्यक्ष, जन्तुविज्ञान विभाग, के० एस० आर० कॉलेज, सरायरंजन, समस्तीपुर, बिहार

जुड़वा दोनों लड़की या दोनों लड़के होते हैं। ग़रज यह कि ऐसे जुड़वा बच्चों का लिंग समान होता है। दर-असल होता यह कि एक निषेचित अंडा (Fertilized egg) जब दो भागों में बँटता है, तब ये दोनों अर्द्धभाग अलग होकर एक-एक भ्रूण (embryo) बनाते हैं। चूँकि ऐसे यमज एक ही अंडे से विकसित होते हैं, अतः इन्हें समरूपी यमज (Monozygotic Twins) कहते हैं। ऐसे यमजों का रूप-रंग, आकार-प्रकार, व्यवहार, मानसिक क्षमताएँ, इच्छायें समान होती हैं। ऐसे यमजों का जीनी-संगठन (Genetic Constitution) समान होता है।

आनुवंशिक विज्ञान में ऐसे समरूपी यमजों का बड़ा महत्व है। इन्हें विभिन्न परिस्थितियों में रखकर उनके आनुवंशिक लक्षणों पर वातावरण के प्रभाव का अध्ययन किया जाता है। ऐसे यमजों पर किए गए शोध कार्यों से ज्ञात होता है कि जीवों के शारीरिक, मानसिक एवं अन्य लक्षण उनकी जीनी संरचना तथा पर्यावरण की पारस्परिक क्रिया का परिणाम है।

3. **स्यामीज़ यमज** (Siamese Twins)

ऐसे यमज समरूपी यमज के ही विशिष्ट प्रकार होते हैं। इस प्रकार के जुड़वा बच्चों के शरीर एक दूसरे से कहीं न कहीं जुड़े रहते हैं। ये जुड़वा सदैव समलिंगी होते हैं क्योंकि इनका विकास एक ही निषेचित डिम्ब के अपूर्ण विभाजन (Incomplete division) से होता है। चूँकि ऐसे यमज सर्वप्रथम स्याम देश (अब जिसे थाइलैण्ड कहते हैं) में देखे गए थे, अतः इन्हें स्यामीज यमज कहते हैं। ऐसे यमज प्रायः अल्प जीवी होते हैं। किंतु असमरूपी या समरूपी यमज सामान्य जीवन व्यतीत करते हैं। स्यामीज़ यमज जन्म के समय या कुछ दिनों बाद मर जाते हैं। वैसे कभी-कभी ये वर्षों जीवित भी रहते हैं।

जुड़वा बच्चों का महत्व Importance of Human Twins)

आनुवंशिक विज्ञान के अध्ययन में यमजों का विशेष महत्व है। **पाल पॉपेनिओ** तथा **न्यूमैन** (Paul Popeneo & Newmann) ने यमजों पर अनेक महत्वपूर्ण प्रयोग किए हैं। उन्होंने दो मादा यमजों को दो अलग-अलग घरों में पाला-पोसा। दोनों का घर एक दूसरे से काफी दूर था और दोनों के वातावरण में भी काफी अंतर था। वर्षों बाद दोनों यमजों को एक दूसरे से मिलाया गया तथा उनके गुणों का अध्ययन करने पर देखा गया कि दोनों यमजों के रंग का चयन एक जैसा था। दोनों एक ही प्रकार के कपड़े पहनना पसंद करती थीं, यद्यपि दोनों के पहनने के ढँग में अंतर था। दोनों के मित्र भी लगभग समान प्रकृति के थे। दोनों बहनों की अभिरुचियों में भी समानता थी।

इन समानताओं के बावजूद दोनों बहनों के I. Q (आई० क्यू०) में अंतर था। दोनों के व्यक्तित्व में भी अंतर था। इस उदाहरण से यह ज्ञात होता है कि जीवों के अधिकांश लक्षण उनकी जीनी संरचना तथा वातावरण की पारस्परिक क्रिया का परिणाम है।

दो से अधिक बच्चे

कभी-कभी एक स्त्री को एक से अधिक यानी तीन-चार बच्चे भी होते हैं। जब तीन बच्चे एक साथ पैदा होते हैं तो उन्हें तीर्यक (Triplet) कहते हैं। इस परिस्थिति में एक साथ दो डिम्ब परिपक्व होते हैं। ये अलग-अलग शुक्राणुओं से निषेचित होते हैं। इनमें से एक डिम्ब विभाजित होकर दो भ्रूणों का निर्माण करता है। इस प्रकार एक ही समय तीन भ्रूण विकसित होते हैं, जो क्रमश. तीन बच्चों को जन्म देते हैं।

जब चार बच्चे एक साथ पैदा होते हैं तो, उन्हें क्वाड्रुप्लेट (Quardruplet) कहते हैं। इस स्थिति में तीन डिम्ब एक ही साथ परिपक्व होते हैं। एक डिम्ब से दो भ्रूण तथा बचे दो डिम्बों से एक-एक भ्रूण बनते हैं। इस प्रकार चार भ्रूणों से चार बच्चे बनते हैं। साधारणतः मनुष्य तथा अन्य जंतुओं में बहुजनन के लिए एक से अधिक डिम्बों की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु आर्मडिलो में एक ही डिम्ब से चार भ्रूण विकसित हो सकते हैं। जाहिर है कि जुड़वा या एक से अधिक बच्चों का एक साथ जन्म होना कोई दैवी घटना नहीं है। इनके स्पष्ट वैज्ञानिक आधार होते हैं। □□

तकनीकी गुरु बनता जा रहा है भारत

विज्ञानवेत्ता

इस समय ब्रिटेन और यूरोपीय देशों की वैज्ञानिक संस्थाओं में तो यह हाल है कि यदि आप किसी वैज्ञानिक से उसके काम के बारे में या किसी वैज्ञानिक समस्या के बारे में बात करें तो वह बात खत्म होते ही वकील या डॉक्टर की तरह अपना बिल पकड़ा देगा। वैज्ञानिक जानकारी और सलाह का यह महत्व विकासशील देश भी पहचानें, इसमें भारत ने पहल की है। प्रस्तुत है हमारे "विज्ञानवेत्ता" जी की क़लम से यह सामयिक जानकारी।

अब यह बात सच है कि इंजीनियरी तथा तकनीकी प्रगति में भारत यूरोपीय देशों के बराबर है। जिस तरह का तकनीकी ज्ञान आज विकासशील देशों को चाहिए वह सब भारत में उपलब्ध है। भारत यही ज्ञान इन देशों को बाँट रहा है और स्वयं इस प्रयत्न में है कि वह इस क्षेत्र में और आगे बढ़े। दिल्ली में तीन दिन की एक क्षेत्रीय कार्यशाला सम्पन्न हुई जिसका विषय था—"टैक्नोलॉजी हस्तांतरण में सलाहकारों का योगदान।" इसमें एशिया तथा प्रशान्त क्षेत्र के लगभग तीस देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस वर्कशाप की एक महत्त्वपूर्ण सिफारिश यह भी थी कि तकनीकी हस्तांतरण बढ़ाने के लिए एशियाई देशों में ज़्यादा सहयोग हो। कुछ और ऐसे केन्द्र स्थापित किये जायँ, जिससे जिन देशों को तकनीकी जानकारी उपलब्ध नहीं है वह उन्हें मुहैया कराई जा सके। विज्ञान तथा टेक्नोलॉजी राज्यमन्त्री **प्रोफेसर एम० जी० के० मेनन** का कहना था कि भारत में तकनीकी ज्ञान के प्रसार के लिए सलाहकारों का सम्पूर्ण ढाँचा उपलब्ध है। वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान विभाग के अन्तर्गत एक सलाहकार विकास केन्द्र पिछले सात साल से काम कर रहा है, जिसने विभिन्न क्षेत्रों में अनेक इंजीनियर सलाहकार तैयार किये हैं। प्रो० मेनन का कहना था कि "भारत सरकार के प्रौद्योगिकी-नीति सम्बन्धी वक्तव्य के आने के बाद से उस पर पूरी तरह अमल किया जा रहा है। हमने डिज़ाइन इंजीनियरी के योग को पूरी तरह समझा है।"

प्रश्न उठाया जा सकता है कि आज तकनीकी प्रगति के लिए सलाहकारों का ढाँचा बनाने की क्या ज़रूरत है? क्यों सब इतना तामझाम इकट्ठा किया जाय? क्यों इतना धन खर्च किया जाय? लेकिन यह सब इसलिए ज़रूरी है कि तकनीकी प्रगति बड़ी तेज़ी से हो रही है और किसी भी देश के लिए यह संभव नहीं है कि जिन देशों के पास तकनीक उपलब्ध है, उन्हें वह स्वयं विकसित कर ले। सलाह तथा जानकारी तो लेनी होगी। इस दशक में सारा यूरोप एक समूह बन रहा है, तो यशियाई देश ही क्यों पिछड़े रहें? सारे संसार में तकनीकी प्रगति के लिए तेज़ी से परिवर्तन हो रहे हैं। कहते हैं कि आज से दस-बीस साल में ही संसार एकदम भिन्न होगा। कम्प्यूटर तथा दूरसंचार के सहयोग से दुनिया सिकुड़ गयी है। अब कहा जाने लगा है कि हमारा ग्रह एक गाँव बन गया है। सुपर कम्प्यूटरों के कारण तकनीकी प्रगति में एक अलग क्रांति आई है। जैव तकनीकी तथा नयी सामग्री के क्षेत्रों में नित नये आविष्कार हो रहे हैं। विकासशील देशों के लिए नये अवसर हैं।

यह ठीक है कि नया तकनीकी ज्ञान देश में हो रहे अनुसंधान तथा विकास से प्राप्त होता है। लेकिन इसके साथ-साथ बाहर से भी तकनीकी जानकारी लेनी होती है। इसलिए यह ज़रूरी है कि बाहरी तकनीकी ज्ञान का तालमेल हम अपने ज्ञान से बैठायें।

संपर्कसूत्र : श्री हरीश अग्रवाल, D-40, गुलमुहर पार्क, नई दिल्ली—110049, फोन : 669820

फिर हमें देखना होगा कि हमारे देश में सामाजिक परिस्थितियाँ कैसी हैं ? रोज़गार की स्थिति अच्छी नहीं है। हमारी जनसंख्या ज़्यादा है। तो कैसे हम ज़्यादा से ज़्यादा लोगों के लिए सुविधाएँ उपलब्ध करा सकते हैं।

तकनीकी हस्तांतरण के लिए बंगलौर में एक एशियाई तथा प्रशान्त क्षेत्र केन्द्र काम कर रहा है, जिसके प्रतिनिधियों ने वर्कशाप में भाग लिया। केन्द्र के निदेशक का कहना था कि तकनीकी हस्तांतरण कोई आसान काम नहीं है।

पिछले कुछ वर्षों में केन्द्र ने तकनीकी कार्य प्रणालियाँ विकसित की हैं। ये एशियाई देशों में बहुत लोकप्रिय हैं। इनका उद्देश्य विकासशील देशों को नयी तकनीक अपनाने में क्षमता प्रदान करना है। यह अच्छा ही है कि भारत ने तकनीकी सलाह का महत्व बहुत पहले ही समझ लिया था। यह हमारी आयोजन प्रक्रिया का आवश्यक अंग बन गया है। दिल्ली के सलाहकार विकास केन्द्र ने ऊर्जा, रेलवे, सड़कों, हवाई यातायात, बंदरगाहों, दूरसंचार आदि के क्षेत्रों में शुरू से आख़िर तक तकनीकी जानकारी देने का काम किया है। पिछले 40 सालों में हमारा ऊर्जा उत्पादन 55 हज़ार मेगावाट हो गया है, जो 1995 तक बढ़कर एक लाख चार हज़ार मेगावाट हो जायेगा। विद्युत्-उत्पादन तथा प्रसार में भारत ने कई क्षेत्रों को सहायता दी है। परिवहन, जल संसाधन, निर्माण कार्य, समुद्री व नगरीय इंजीनियरिंग तथा इलेक्ट्रॉनिक डेटा प्रोसेसिंग अब ऐसे क्षेत्र हैं, जिनके बिना किसी देश का विकास नहीं हो सकता। इन्हें ऐसी नींव कहा जा सकता है, जिनके ऊपर हमारा विकास टिका रह सकता है।

विकासशील देशों का तकनीकी गुरु

इस समय निजी तथा सरकारी क्षेत्रों में भारत में सात सौ से अधिक सलाहकार संगठन हैं। यह खुशी की बात है कि ये संगठन निर्माण तथा विकास सेवाओं के विभिन्न क्षेत्रों में उच्च तकनीकी सलाह देते हैं। इनमें लघु उद्योगों से लेकर करोड़ों की परियोजनाएँ स्थापित करना शामिल है। इन संगठनों में लगभग 75 हज़ार इंजीनियर तथा विशेषज्ञ काम कर रहे हैं। इस समय वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद् की 42 राष्ट्रीय प्रयोगशालाएँ तथा बारह राष्ट्रीय औद्योगिक अनुसंधान संस्थान काम कर रहे हैं। ये सब विज्ञान, इंजीनियरी तथा टैक्नोलॉजी के हर पहलू में औद्योगिक अनुसंधान कर रहे हैं। इसीलिए आज इस क्षेत्र में देश आत्मनिर्भर हो गया है। कृषि-तकनीक में तो भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली के कारण पहले से ही आत्मनिर्भर था।

विदेशों से भी काफ़ी तकनीक लाई जा रही है। इसे भी देश की आवश्यकता के अनुसार ढाला जाता है। यही नहीं, इन विदेशी टैक्नोलॉजी में आगे सुधार किया जाता है। कई टैक्नोलॉजी का खर्चा घटाकर और उनकी किस्म को ज्यों का त्यों बनाकर, इन्हें अन्य विकासशील देशों को सस्ते दामों पर दिया जाता है। यही भारतीय सलाहकार संगठनों की खूबी है। इसी के कारण भारतीय संगठनों को विदेशों में ठेके मिले हैं। वहाँ उन्होंने औद्योगिक इकाइयाँ, बस्तियाँ, हवाई अड्डे, रेलवे लाइन आदि स्थापित की हैं। यही कारण है कि भारत की सलाहकार सेवाओं से होने वाली आय पिछले पाँच साल में ढाई गुना बढ़ गयी है और यह सब अब एक अरब रुपये तक पहुँच गयी है।

भारतीय सलाहकार तकनीक में एक नया रुख देखने में आया है। हमारे सलाहकार अब विकसित देशों के सलाहकारों से अनुबन्ध कर रहे हैं। और या तो भारत में या तीसरे देशों में परियोजनाएँ स्थापित कर रहे हैं। इससे भारतीय सलाहकारों की क्षमता का और विस्तार हुआ है। इससे निर्यात के नये अवसर सामने आये हैं। दिल्ली की कार्यशाला में विभिन्न विकासशील देशों के प्रतिनिधियों ने भारतीय टैक्नोलॉजी तथा इंजीनियरी में दिलचस्पी ज़ाहिर की। इसमें शक नहीं कि इस कार्यशाला ने एशियाई तथा प्रशान्त क्षेत्रों के देशों के लिए बहुत उपयोगी काम किया है। अब पता चला है कि किस देश को

किस परियोजना की जरूरत है और भारत उनकी स्थापना में कहाँ तक मदद कर सकता है। जैसा कि हमने बताया सी० एस० आई० आर० की अनेक प्रयोगशालाएँ तो हैं हीं, इनके अलावा देश के आई० आई० टी०, चिकित्सा परिषद्, कृषि अनुसंधान परिषद्, रक्षा अनुसंधान प्रतिष्ठान, भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन, सहकारी अनुसंधान संस्थान आदि हैं, जो देश में अनुसंधान और विकास के बड़े साधन हैं। यहाँ बराबर नई तकनीकें पैदा हो रही हैं। इन संगठनों के अनेक वैज्ञानिक अवकाश प्राप्त करने के बाद वैज्ञानिक सलाहकार बनकर सेवाकालीन वेतन से चौगुनी कमाई कर रहे हैं।

सार्वजनिक क्षेत्र में गत 37 साल से राष्ट्रीय अनुसंधान विकास निगम कार्य कर रहा है जिसने देशी टैक्नोलॉजी के व्यापारीकरण में महत्वपूर्ण योग दिया है। अब भारत में या विदेशों में कोई भी उद्योगपति या सरकारी प्रतिष्ठान विभिन्न औद्योगिक पायलट प्लांट लगाकर उद्योगों को बढ़ावा दे सकता है।

बंगलूर के एशियाई तकनीकी केन्द्र ने गत पन्द्रह साल में उपयोगी टैक्नोलॉजी का काफ़ी विस्तार किया है। इसने सदस्य देशों में संस्थागत तथा नीति ढांचे को शक्तिशाली बनाया है। इसने तकनीकी सलाहकार सहायता दी है। इसने क्षेत्रीय देशों के इंजीनियरों को प्रशिक्षण दिया है।

भारतीय इंजीनियरों की एक बड़ी सफलता यह है कि वे पूरी की पूरी टैक्नोलॉजी "टर्न की" आधार पर हस्तांतरण कर सकते हैं। अब पुणे की राष्ट्रीय रसायन प्रयोगशाला, हैदराबाद का रसायन संस्थान तथा मैसूर का खाद्य प्रौद्योगिकी संस्थान जैसे अनेक संस्थान इस हस्तांतरण के लिए पूरी तरह तैयार हैं। अब "विद्यादान" का जमाना गया, अब तो इस हाथ पैसा दे और उस हाथ तकनीक ले का जमाना है। □ □

[इस्वा फीचर्स]

भारतीय ओषधि उद्योग और बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ

विजय जी

आज आम तौर पर यह कहा जाने लगा है कि हमारा देश आत्मनिर्भर है। लेकिन देश के अर्थतंत्र और बाजार पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों का जिस तरह कब्जा बना हुआ है उससे आत्मनिर्भरता की बात एक दम हास्यास्पद लगती है। देश का सारा बाज़ार बहुराष्ट्रीय निगमों के उत्पादनों से भरा पड़ा है। हमारे देश के दवा उद्योग में तो इन कम्पनियों का लगभग एकाधिकार ही है क्योंकि यहाँ बेची जाने वाली 90 प्रतिशत दवाएँ (अंग्रेज़ी) बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ ही बनाती हैं।

अंग्रेज़ी दवाएँ अपने कुप्रभाव (साइड इफेक्ट्स) के लिये बदनाम रही हैं। अनेक दवाएँ अपने इन्हीं कुप्रभावों के कारण प्रतिबंधित की जाती रही हैं। चूंकि पश्चिमी देशों में शोध की बेहतर सुविधाएँ और वातावरण मौजूद हैं, इसलिए इस तरह के शोध ज्यादा तर वहीं होते रहे हैं। याने जिन देशों के वैज्ञानिक दवाओं का निर्माण करते हैं उन्हीं देशों के वैज्ञानिक बाद में दवाओं के कुप्रभाव भी बताते हैं। इस तरह पश्चिमी देशों में उन दवाओं पर रोक लगा दी जाती है। लेकिन बहुराष्ट्रीय कंपनियों की चालाकी तथा शासन की उदासीनता से ही ये दवाएँ हमारे देश में बेरोक-टोक जारी रहती हैं।

भारत में इस समय लगभग 515 दवाएँ (जो बाजारों में 3000 विभिन्न नामों से बिक रहीं हैं) ऐसी हैं जिन पर विदेशों में प्रतिबन्ध लगाया जा चुका है। लेकिन ये दवाएँ यहाँ वैध रूप में खुले आम बिक

जवाहर कॉलेज, जारी, इलाहाबाद—212106 (उ० प्र०)

रही हैं। इन दवाओं में अधिकांश को स्विटजरलैंड की सीबा गायगी, अमेरिका की पार्क डेनिस, ज्योफ्रीमैनर्स, फाइजर, पश्चिमी जर्मनी की हेक्स्ट, स्विटजरलैण्ड के सहयोग से चलने वाली ए० जी० फार्मास्युटिकल, ब्रिटेन की बूट्स, ईस्ट इण्डिया फार्मास्युटिकल तथा इंफार इंडिया आदि बनाती हैं। प्रतिबन्धित दवाओं के सम्बन्ध में डॉक्टरों और वैज्ञानिकों का कहना है कि ये दवाएँ प्राणघातक हैं, आदमी के रक्त को दूषित कर देती हैं, कैंसर, लकवा, अन्धापन विकलांगता जैसी बीमारियाँ पैदा करती हैं तथा शरीर की प्रतिरोधक क्षमता समाप्त कर देती है। दुनिया के अनेक देशों में इन्हें ज़हर घोषित किया जा चुका है।

प्रतिबन्धित दवाएं जिन पर भारत में कोई प्रतिबन्ध नहीं

सीबा गायगी द्वारा निर्मित ऑक्सीफिनबूटाजोन तथा फिनाइल बूटाजोन पर ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी नार्वे, जापान इटली, स्वीडन, फिनलैण्ड, अमेरिका, बांग्लादेश, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, मलेशिया, इजरायल, जार्डन, बहरीन आदि देशों में प्रतिबन्ध है क्योंकि इन दवाओं के कारण अँतड़ियों में घाव हो जाता है तथा रक्त कैंसर का ख़तरा उत्पन्न हो जाता है। इस दवा से अब तक लगभग 1500 लोगों की मौत हो चुकी है। प्रतिबन्धित देशों में इसे 'बी' श्रेणी का ज़हर घोषित किया जा चुका है।

क्लिओक्विनाल, मेक्साफार्म पर ब्रिटेन, अमेरिका, बाग्लादेश आदि में प्रतिबन्ध है, क्योंकि इन दवाओं के उपयोग से लकवा और अन्धेपन का अंदेशा बना रहता है। इन दवाओं से जापान में 10,000 लोग अंधे और लंगड़े हो चुके हैं।

क्लोरोमाइसीन, क्लोरोस्टेप, स्टेप्टोपेराक्सिन, इन्टरोस्टेप, इन्टेस्टोस्ट्रेप, स्ट्रेप्टोमाइसिन पर बांग्ला देश सहित अनेक देशों में प्रतिबन्ध है, क्योंकि इन दवाओं के उपयोग से अस्थिमज्जा और श्वेत रक्त-कणिकाओं को बेहद नुकसान पहुँचता है और शरीर की प्रतिरोध क्षमता समाप्त हो जाती है।

एनाल्जिन, बेराल्गन, नोवल्जीन, अल्ट्राजिन, एस्जीपायरिन, ऑक्साल्जिन, जियाल्जिन, स्पेसिमिजॉल पर आस्ट्रेलिया, प० जर्मनी, डेनमार्क, मिस्र, इजराइल, इटली, मैक्सिको, नार्वे, पेरू, फिलीपींस, सउदीअरब, स्वीडन, अमेरिका, वेनेजुएला आदि में प्रतिबन्ध है। इन दवाओं के कारण अस्थिमज्जा और श्वेत रक्त कणिकाओं को नुकसान पहुँचता है। इनको लगातार सेवन करने वाले लगातार कमज़ोर और असहाय होते जाते हैं।

सुगान्टिल, परवांफोर्ट, जागरिल, जोलांडिन, बेटाफ्लाम पर अर्जेन्टीना, ब्रिटेन, आयरलैण्ड, इजरायल, फिलीपींस आदि में प्रतिबंध है। इन दवाओं से किडनी और हृदय पर खराब असर पड़ता है, रक्त दोष उत्पन्न हो जाता है।

इन्टरोक्विनॉल, इन्ट्रोजाइम, डिस्फटप्लस, एजिक्विन फोर्ट एमिस्लीन पर डेनमार्क, डामनिकन गणराज्य, इटली, नार्वे, जापान; नेपाल, फिलीपींस, सउदी अरब, स्वीडन, वेनेजुएला, साइप्रस और बांग्ला देश में प्रतिबंध है। इसके सेवन से अंधेपन और लंगड़ेपन की शिकायतें होती देखी गयी हैं। डॉक्टरों और वैज्ञानिकों ने पाया कि पेचिश आदि में दी जाने इन दवाओं का उल्टा असर भी होता देखा गया है।

एस्ट्रोजन, प्रोजेस्टोरेन, डिस्क्रान फोर्ट, ई० पी० फोर्ट, मेन्स्ट्रोजन, मिक्सोजन, ओरोसेक्रान फोर्ट, ओएस्ट्रोन पर प० जर्मनी, डेनमार्क, सउदी अरब, वेनेजुएला, बांग्ला देश, इटली, आस्ट्रिया, बेल्जियम, ब्रिटेन, यूनान, नार्वे, न्यूजीलैण्ड, सिंगापुर, थाइलैण्ड, अमेरिका, दक्षिण अफ्रीका में प्रतिबन्ध है। गर्भिणी महिलाओं को दी जाने वाली ये दवाएँ गर्भस्थ शिशुओं को विकलांग कर देती हैं। बिना गर्भवती औरतों का मासिक धर्म बिगाड़ देती हैं जिससे औरतों में अनेक तरह की बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। 'इण्डियन कौंसिल ऑव मेडिकल रिसर्च' ने भी (1979 में) इन दवाओं को काफी नुकसानदायक बताया है।

ओराबोलिन ड्राप्स, ड्यूराबोलिन, टिन, जिंक, ओराबोलिन पर ब्रिटेन और बांग्ला देश सहित तमाम देशों में प्रतिबन्ध है। बच्चों को दी जाने वाली इन

दवाओं के सम्बन्ध में ब्रिटेन की नेशनल फार्मुलरी और मेडिकल डॉक्टरों ने अनेक आलोचनाएँ की हैं।

एस्पिरिन और ब्रूफेन पर ब्रिटेन, अमेरिका सहित अनेक पश्चिमी देशों में रोक है, क्योंकि इन दवाओं के कुप्रभावों से आँतों में घाव या अल्सर की शिकायतें मिली हैं।

अब सवाल यह उठता है कि इन प्रतिबन्धित दवाओं की भारत में बेरोकटोक बिक्री की इजाज़त क्यों दी गयी है ?

इस सवाल का कोई सीधा उत्तर फिलहाल नहीं दिया जा सकता। प्रतिबन्धित दवाओं की खुले आम बिक्री का बहुत बड़ा कारण तो बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की चालाकी, राजनीतिक प्रभाव और हमारे शासन की उदासीनता तथा उपभोक्ताओं की गैर जागरूकता है।

शोषण के अन्य तरीके

भारतीय दवा उद्योग पर एकाधिकार रखने वाली इन बहुराष्ट्रीय निगमों की निगाह सबसे ज्यादा अपने फ़ायदे पर होती है। इसीलिए ये कम्पनियाँ जीवन-रक्षक दवाओं को बनाने और बेचने में उतनी रुचि नहीं लेतीं जितनी फालतू दवाएँ बनाने और बेचने में, क्योंकि इन चीजों की लागत कम है तथा फ़ायदा ज्यादा है। एक सर्वेक्षण के अनुसार विटामिन, टॉनिक तथा सीरप जैसी गैर ज़रूरी दवाओं का क्रमश: 85 प्रतिशत, 65 प्रतिशत तथा 83·3 प्रतिशत इन्हीं कम्पनियों द्वारा बनाया जाता है। दवा उद्योग पर बनाई गयी 'हाथी समिति' ने 1975 में अपनी रिपोर्ट में इन कम्पनियों की लूट के अनेक दिलचस्प उदाहरण पेश किये हैं। दवा बनाने के लिए ये कम्पनियाँ जो मूल रसायन बाहर से मँगाती हैं उनका दाम कई गुना बढ़ाकर दिखाती हैं ताकि सरकारी निगाह में अपने को कम फ़ायदे में दिखा सकें। एक रिपोर्ट के मुताबिक 1969 से 1972 के बीच 36 बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने मुनाफ़े के रूप में 26 करोड़ रुपया अपने मूल देशों को भेजे।

इन निगमों की चालाकी के सम्बन्ध में डॉ० समर राय चौधरी ने अपनी पुस्तक **'भारतीय दवा उद्योग पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की काली छाया'** में अनेक दिलचस्प उदाहरण पेश किये हैं। एक बहुराष्ट्रीय कम्पनी बच्चों के लिए बनाई जाने वाली दवा इंडोसिड की मूल वस्तु अमेरिका स्थित अपने कारखाने से मँगाती थी। 1967 से 1971 तक यह मूल वस्तु इंडोमेथिसिन 1891 किलो आयात की गयी जिसका दाम 4300 रुपये प्रति किलो के हिसाब से कुल 1 करोड़ 30 लाख रुपया होता है। लेकिन यही मूल वस्तु 1974 में हमारे स्टेट ट्रेडिंग कॉरपोरेशन ने जब पोलैण्ड से मँगाना शुरू किया तो उसका दाम मात्र 570 रुपये प्रति किलो ही था। मार्क शार्प एण्ड डोम नामक कम्पनी ने पोलैण्ड की मूलवस्तु को घटिया कहकर मँगाने से इन्कार कर दिया जबकि हमारी सेन्ट्रल ड्रग लेबोरेटरी में यह अमेरिकी मूल वस्तु से किसी भी प्रकार कम नहीं था। इसी तरह हाइपर-टेन्शन की दवा आयलडोमेट की मूल वस्तु मिथिलडोपा को जब भारत सरकार ने सस्ते दामों पर हंगरी से उपलब्ध कराया तो मार्क शार्प एण्ड डोम कम्पनी ने उसे लेना अस्वीकार कर दिया तथा दवाओं का कृत्रिम अभाव उत्पन्न कर दिया। मँहगी दवाओं के पीछे एक रहस्य यह भी है।

एलोपैथी के विकल्पों की उपेक्षा

भारत का **आयुर्वेद** दुनिया की प्राचीनतम् चिकित्सा-पद्धति है। इस पद्धति की दवाओं के लिए कहीं बाहर जाने की ज़रूरत नहीं। सारी दवाएँ अपने ही देश के पेड़-पौधों तथा जड़ी-बूटियों से बनाई जाती रही हैं। चूँकि ये सारी जड़ी-बूटियाँ और औषधीय पेड़-पौधे हमारी ही ज़मीन पर पैदा होते थे। अत: गाँव का या जंगल का आम आदमी भी इनमें से अधिकांश से परिचित था। आज से कुछ दशक पूर्व तक गाँव वालों को जड़ी-बूटियों का अच्छा ज्ञान था। कोई एक रोग हो जाने पर लोग दर्जनों दवाएँ गिना दिया करते थे। लेकिन शासन की लगातार उपेक्षा से आयुर्वेद का ज्ञान लगातार लुप्त होता गया। होमियो-पैथी जैसी सस्ती पद्धति को प्रोत्साहन की ओर भी सरकार का कोई ध्यान नहीं है।

दुनिया भर के वैज्ञानिक मानते हैं कि यदि आदमी को स्वच्छ पेय-जल तथा संतुलित भोजन मिले तो अस्सी प्रतिशत बीमारियाँ अपने आप ही समाप्त हो जायें। लेकिन दुर्भाग्य से हमारा दूरदर्शन और संचार के अन्य साधन जितना प्रचार प्रसाधन सामाग्रियों तथा अनुपयोगी दवाओं का करते हैं उसके शतांश भी सही खान-पान और रहन-सहन के लिए नहीं करते।

जनजागरण के प्रयास

आज दवा उद्योग के बाजार में देशी विदेशी कंपनियों द्वारा निर्मित 1.50 लाख ब्रांड नाम की दवाएँ बेंची जा रही हैं, जबकि 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' ने आवश्यक दवाओं की जो सूची जारी की है उनकी संख्या मात्र 248 है। इसका मतलब बाजार में बेंची जाने वाली अधिकांश दवाएँ गैर जरूरी हैं और उपभोक्ताओं को लूटने के लिये ही बनाई जाती हैं।

भारत में उपभोक्ता संगठनों का तो वैसे भी अभाव है फिर दवा उद्योग पर तो किसी का ध्यान ही नहीं है। बहुत कम संगठनों ने इस क्षेत्र की ओर उँगली उठाने का प्रयास किया है। 1980 में दवा सलाहकार समिति की एक उपसमिति ने अपने रिपोर्ट में 16 फार्मुलेटेड दवाओं पर रोक की सिफारिश की। ये दवाएँ उस समय बाजार में 10,000 ब्रांड नामों से बिक रही थीं। इस रिपोर्ट पर दवा तकनीकी सलाहकार बोर्ड ने पुनर्विचार किया और प्रतिबन्धित फार्मुलेटेड दवाओं की संख्या 16 से बढ़ाकर 18 कर दिया। अंततोगत्वा जुलाई 1983 में 22 फार्मुलेटेड दवाओं पर पाबंदी लगा दी गयी। लेकिन दवा कंपनियों की सशक्त लाबी पर कोई असर नहीं हुआ और प्रतिबन्धित दवाएँ बाजार में धड़ल्ले से बिकती रहीं। इस सिलसिले में केरल उच्च न्यायालय में एक जनहितार्थ मुकदमा दायर हुआ। इस मुकदमें में न्यायाधीश श्री पोट्टी ने निर्णय दिया—"सरकार प्रतिबन्धित दवाओं को बाजार से हटवा ले तथा ऐसी दवाओं की ब्रांड नाम सहित सूची प्रकाशित करे।" इस निर्णय का भी कुछ असर नहीं हुआ। अन्ततः 1983 में ही उच्चतम न्यायालय में एक मुकदमा दायर किया गया। इस मुकदमे के दायर होते ही अनेक दवा कंपनियों ने स्थान याचिका दाखिल कर दी। कुछ कंपनियों ने तो अपनी दवाओं की लोकप्रियता को भुनाने के लिये विचित्र हथकण्डे भी अपनाए। उदाहरणस्वरूप सिरदर्द व जुकाम के लिये ली जाने वाली दवा ए० पी० सी० को ही देखिये। प्रतिबन्ध के पूर्व ए० पी० सी०, एस्प्रिन (ए), फेनासिटीन (पी) और केफीन (सी) के मिश्रण से बनाई जाती थी। प्रतिबन्ध के बाद कंपनी ने दवा का फार्मूला बदल दिया लेकिन नाम वही ए० पी० सी० ही रह गया। बाद वाली ए. पी. सी. के मिश्रण में एस्प्रिन (ए०), पैरासिटामाल (पी०) व केफीन (सी०) अवयव हो गये।

'आल इंडिया ड्रग एक्शन नेटवर्क' नामक संगठन ने भी सराहनीय काम किया है। उसने प्रतिबन्धित दवाओं की सूची, उन्हें बनाने वाली कंपनियों के नाम, दवाओं के दुष्परिणाम आदि का ब्योरा प्रस्तुत किया है जिसे 'वालंटरी हेल्थ एसोसियेशन ऑव इंडिया' ने पुस्तिका के रूप छापा है। प्रतिबंधित दवाओं की एक सूची 'गाँधी शांति एवं अध्ययन संस्थान' गाँधी भवन, इलाहाबाद विश्व विद्यालय के स्वदेशी बनाम बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ परियोजना के रिसर्च सेल ने तैयार की है। इस लेख में उपर्युक्त प्रतिबन्धित दवाओं के नाम उसी सूची से लिये गये हैं। उपर्युक्त रिसर्च सेल का सहयोगी जनसंगठन 'लोकस्वराज्य अभियान' बहुराष्ट्रीय कंपनियों के काले कारनामों सम्बन्धी जनशिक्षण में ऐतिहासिक भूमिका निभा रहा है। इस अभियान के तहत गत 19 अप्रैल 1990 को इलाहाबाद में विशाल प्रदर्शन हो चुका है। अभियान के कार्यकर्ताओं ने गत 5 जून 1990 को **केन्द्रीय वित्त मंत्री मधुदण्डवते** को एक ज्ञापन सौंपा है। ज्ञापन पर एक लाख लोगों के हस्ताक्षर एकत्र किये गये थे। ज्ञापन में अन्य माँगों के साथ-साथ विदेशों में प्रतिबन्धित दवाओं पर यहाँ भी रोक की माँग की गयी है।

आभार

लेख में दी गयी प्रतिबन्धित दवाओं की सूची गाँधी भवन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के, स्वदेशी बनाम बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ परियोजना के रिसर्च सेल द्वारा तैयार पर्चे से ली गयी है। □□

इलेक्ट्रॉन लड़ेंगे इक्कीसवीं सदी का युद्ध

डॉ० जगदीप सक्सेना

हमारी रोजमर्रा की जिंदगी में इलेक्ट्रॉनिक यन्त्रों की घुसपैठ तेजी से जारी है। जिन्दगी का कोई भी पहलू ऐसा नहीं है, जहाँ ये मौजूद नहीं हैं। इस दिशा में हो रही प्रगति को देखते हुए कहा जा सकता है कि इक्कीसवीं सदी को "इलेक्ट्रॉन युग" का खिताब देना पड़ेगा। युद्ध भी इलेक्ट्रॉनिक यन्त्रों से होगा। प्रस्तुत हैं इलेक्ट्रॉनिक युद्ध की कुछ दिलचस्प सच्चाइयाँ।

आज चारों ओर इक्कीसवीं सदी की चर्चा है। ऐसी आशा की जा रही है कि आधुनिकतम प्रौद्योगिकी हमारे जीवन के हर क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन ला देगी। कम्प्यूटर और तरह-तरह के इलेक्ट्रॉनिक यन्त्र हमारी रोजमर्रा की जिन्दगी के हिस्से बन जाएँगे। जब जीवन का हर क्षेत्र प्रभावित होगा तो युद्ध क्षेत्र कैसे अछूता रह सकता है? विशेषज्ञों का अनुमान है कि इक्कीसवीं सदी के युद्ध में इलेक्ट्रॉनिक यन्त्र अहम् भूमिका निभाएँगे। वही देश विजयी होगा जो अपने इलेक्ट्रॉनिक यन्त्रों का भरपूर उपयोग करते हुए, दुश्मन के इलेक्ट्रॉनिक यन्त्रों को ठप्प कर देगा। सेना मुख्यालय में डिप्टी मास्टर जनरल ऑव आर्डनेंस, मेजर जनरल वी० के० मघोक ने इक्कीसवीं सदी के युद्ध का काल्पनिक वर्णन कुछ इस प्रकार किया है।

"बाड़मेर (राजस्थान) के पश्चिमी भाग में, मुनाबाओ नामक स्थान पर 14 जनवरी, 2002 को घमासान युद्ध हुआ।······भारतीय लड़ाकू विमान स्वचालित मिसाइलों "तीर" और "गांडीव" से लैस थे। ये मिसाइल काफ़ी फ़ासले से छोड़ी जा सकती हैं और राडार द्वारा भेजी गई तरङ्गों के सहारे लक्ष्य को स्वयं ही भेद सकती हैं। एक बार छोड़ने पर मिसाइलों को किसी अन्य निर्देश की आवश्यकता नहीं होती। ······हमने अपने उपग्रह "ध्रुव" और अन्य निगरानी रखने वाले स्टेशनों से राडारों की स्थिति, रणनीति आदि के बारे में पहले से ही इलेक्ट्रॉनिक सूचना प्राप्त कर रखी थी।······दुश्मन को अपने जाल में फँसाने के लिए हमने युद्ध की शुरुआत चालकरहित विमान भेजकर की। भारतीय वायु सेना ने जो चालक रहित विमान भेजे थे, उनमें टी० वी० कैमरे लगे हुए थे, जिससे बाड़मेर में बैठे कमांडर को युद्ध की सारी घटनाएँ पर्दे पर दिखाई दे रही थीं। इसके अलावा आकाश में 400 कि०मी० के क्षेत्र में भारत का चेतावनी देने वाला विमान "नारद" चक्कर काट रहा काट रहा था। यह दुश्मन के किसी लड़ाकू विमान को देखते ही भारतीय विमान चालकों को चेतावनी देता था। भारतीय वायु सेना के दो हेलीकॉप्टर "गरुड़" और "चाणक्य" भी निरन्तर आकाश में चक्कर काटते रहे। इनमें ऐसे परिष्कृत उपकरण रखे थे, जो दुश्मन के लड़ाकू विमानों और पृथ्वी के स्टेशनों के बीच के संचार को ठप्प कर रहे थे।"

यह सही है कि उपरोक्त वर्णन काल्पनिक है, लेकिन इसके पीछे ठोस वैज्ञानिक तथ्य हैं। इलेक्ट्रॉनिक युद्ध एक सच्चाई है। सन् 1966 में चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण के समय रूस ने ऐसे कई इलेक्ट्रॉनिक यंत्रों का इस्तेमाल किया था, जिससे उनकी सैनिक गतिविधियों का पता शत्रु को उसके राडार या संचार यंत्रों पर न लग पाए। इलेक्ट्रॉनिक युद्ध की पूरी रणनीति सन् 1973 में ही अरब-इज़रायल युद्ध के समय बन चुकी है। इसी समय अमेरीका, रूस और यूरोप की कई सेनाओं ने इलेक्ट्रॉनिक युद्ध को अपनाने का फैसला किया था। इलेक्ट्रॉनिक युद्ध को हम किरणों का युद्ध भी कह सकते हैं। इस प्रकार के युद्ध में 'सी^{3} आई" निर्णायक भूमिका निभाएगा। "सी^{3} आई" अंग्रेजी के चार शब्दों के प्रथम अक्षरों को लेकर बनाया गया संक्षिप्त रूप है। अंग्रेजी के शब्द हैं—कमाण्ड (आदेश), कम्युनिकेशन (संचार), कंट्रोल (नियंत्रण) और इन्टेलीजेन्स (खुफिया सूचनाओं की जानकारी)।

सम्पर्क सूत्र—720 सरस्वती विहार, नई दिल्ली-110034

"सी^{3} आई" यंत्र को प्रभावी बनाने के लिए कई प्रकार के इलेक्ट्रॉनिक यंत्र उपयोग में जाए जाते हैं।

युद्ध क्षेत्र में सेनापति द्वारा आदेश देने का कार्य सेनाओं जितना ही पुराना है। लेकिन जैसे-जैसे सेना का स्वरूप बदलता गया, आदेश देने की प्रक्रिया में भी बदलाव आते गए। पहले सेनापति अपने आदेश इतनी ऊँची आवाज़ में देता था कि सभी सैनिक सुन सकें। बाद में ड्रम की आवाज़ों, झंडों और संकेतों का सहारा लिया जाने लगा। आज सेना के पास अपने बेतार यंत्र हैं। जल्दी ही अतिकुशल इलेक्ट्रॉनिक संचार यंत्र उपयोग में लाए जाएँगे। सेनापति का एक ओर सेना से तथा दूसरी ओर सेना मुख्यालय से निरन्तर संपर्क बना रहेगा। राडार इन्फ्रारेड और लेसर किरणों का उपयोग निगरानी रखने और लक्ष्य का पता लगाने के लिए किया जाएगा। कम्प्यूटर का सहारा भी लिया जाएगा। कम्प्यूटर से सेनापति को अपनी सेना की स्थिति आदि की पूरी जानकारी निरन्तर मिलती रहेगी। इस विस्तृत जानकारी का विश्लेषण करके कम्प्यूटर यह बताता रहेगा कि अब क्या क़दम उठाना चाहिए। यानी कम्प्यूटर की मदद से सेनापति सैनिक गतिविधियों पर अपना पूरा नियंत्रण रखने में कामयाब होगा।

युद्ध में उपयोग किए जाने वाले इलेक्ट्रॉनिक यंत्र अत्यन्त संवेदनशील होते हैं। ये विद्युत्-चुम्बकीय स्पेक्ट्रम पर पूरा नियंत्रण रख कर इसका उपयोग करते हैं। यही कारण है कि इनके संवेदकों का क्षेत्र बहुत विस्तृत होता है। ये सागर की अथाह गहराइयों से लेकर अंतरिक्ष में चक्कर काट रहे उपग्रहों तक का पता लगा सकते हैं। कुछ इलेक्ट्रॉनिक यंत्र शत्रु के संचार माध्यमों को ठप्प करके उनके संकेतों का पता लगाते हैं और कुछ शत्रु के हथियार भण्डारों का पता लगाने में सक्षम होते हैं। शत्रु पक्ष की टोह लगाने वाले तरह तरह के इलेक्ट्रॉनिक यंत्रों का निर्माण हो चुका है। राडार तो अब पुराना पड़ गया है और इससे बचाव के कई तरीके भी ढूंढ़ लिये गये हैं। मिसाइलें राडार से बचने के लिए अपनी आकृति फटाफट बदलती रहती रहती हैं, लेकिन कम्प्यूटर इन्हें फिर भी पकड़ लेता है। लक्ष्य का पता लगाने के लिए आजकल एक ऐसी पद्धति उपयोग में लायी जा रही है, जो तापमान में मामूली परिवर्तन को भी भाँप लेती है। अधिकांश सैन्य लक्ष्य गर्मी छोड़ते हैं, इसलिए पकड़ में आ जाते हैं। यह पद्धति बारिश, धुएँ तथा कुछ हद तक धुंध में भी कारगर होती है। अत्यन्त सूक्ष्म लक्ष्य को विशाल आकार देने वाली पद्धति सितारों की रोशनी में भी अपना काम बखूबी करके रात में टोह लेने में मददगार साहित होती है। इस पद्धति में बिम्ब को आठ हज़ार गुना विशाल किया जा सकता है। रात के समय शत्रु की गतिविधियों की टोह ले सकता है। इन विमानों में छोटे टेलीविज़न कैमरे तथा इन्फ्रारेड सेंसर लगे होते हैं जो कमाण्डर को पूरा दृश्य टी० वी० पर्दे पर दिखा देते हैं।

स्वयं इलेक्ट्रॉनिक यंत्रों के उपयोग करने से ही जीत नहीं होगी, बल्कि शत्रु के इलेक्ट्रॉनिक यंत्रों को ठप्प करने तथा नष्ट करने से जीत संभव है। जो पक्ष यह काम पहले कर देगा, जीत उसी की होगी। इसलिए इलेक्ट्रॉनिक यंत्रों तथा उनके ठिकानों की जानकारी होना बहुत ज़रूरी है। इलेक्ट्रॉनिक यंत्रों की मदद से शत्रु के इलेक्ट्रॉनिक यंत्रों तथा हथियारों आदि की जानकारी प्राप्त करने को "इलेक्ट्रॉनिक जासूसी" कहा जाता है। सेना में यह 'एलिंट" (अंग्रेज़ी के "इलेक्ट्रॉनिक इन्टेलीजेन्स" का संक्षिप्त रूप) नाम से मशहूर है। इसके जरिए शत्रु के सैनिक तथा घरेलू और राजनीतिक संचार को भी सुना जाता है। इंग्लैंड और पश्चिमी जर्मनी में इसका उपयोग किया जा रहा है। सोवियत रूस की वायुसेना ने एक परिवहन विमान को, अत्यंत परिष्कृत इलेक्ट्रॉनिक यंत्रों से सुसज्जित करके, इसी काम में लगा रखा है। "एलिंट" को केवल जासूसी उपग्रहों से खतरा रहता है, जो आकाश से ही टोह लगाते रहते हैं।

कुछ सहायक इलेक्ट्रॉनिक यंत्र भी हैं, जो गुप-चुप सूचनाएँ एकत्र करते रहते हैं। ये राडार जैसे बड़े यंत्रों के स्थान पर उपयोग किए जा सकते हैं। मुख्य

रूप से इनका उपयोग पनडुब्बियों या वायु सेना में किया जा सकता है। ये दुश्मन की राडार तरंगों को बहुत दूर से ही पकड़ सकते हैं। नौसेना में इनका उपयोग दिशा का पता लगाने के लिए किया जाता है। अनेक जंगी जहाजों पर पिंजड़े के आकार के जो "एरियल" दिखाई देते हैं, वे इन्हीं के होते हैं। कुछ ऐसे इलेक्ट्रॉनिक यंत्र भी तैयार किये गये हैं, जो दुश्मन की मिसाइल को भटका सकते हैं। यह यंत्र लड़ाकू विमानों के कृत्रिम प्रतिबिम्ब बना देता है, जिससे मिसाइल भटक जाती है और हमारी इच्छा के अनुसार ऐसी जगह मार करती है, जहाँ कोई नुकसान नहीं होता। अमेरिका के जंगी जहाजों पर "एस० एल० क्यू० 17 ए" नाम से ऐसे ही यंत्र लगाये गये हैं। इसी तरह का एक तंत्र "सी० वी० 62" अमेरिकी लड़ाकू पनडुब्बी 'इनडिपेन्डेन्स" पर भी लगाया गया है। कुछ बड़े इलेक्ट्रॉनिक यंत्र भी बनाये गये हैं, जो शत्रु के यंत्रों को कार्य नहीं करने देते। ऐसा ही एक यंत्र है "चैफ"। इसमें छोटे-छोटे करोड़ों परावर्तक लगे होते हैं जो दुश्मन के राडार को कार्य नहीं करने देते। नौसेना में उपयोग किए जाने वाले "चैफ" जंगी जहाजों को नष्ट करने वाली मिसाइलों के काम में रोड़ा बनते हैं।

इलेक्ट्रॉनिक यंत्रों की बात बिना कम्प्यूटर की चर्चा पूरी नहीं हो सकती। युद्ध ने अन्य इलेक्ट्रॉनिक यंत्रों की तरह कम्प्यूटर सीधे भाग नहीं लेते, लेकिन पर्दे के पीछे की इनकी भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। संचार में कम्प्यूटर की भूमिका का ज़िक्र पहले ही किया जा चुका है। संचार के अलावा कम्प्यूटर तोपखाने की गतिविधियों में महत्त्वपूर्ण हिस्सा ले रहे हैं। तोपखाने में गोलाबारी के लिए आदेश और नियंत्रण व्यवस्था में स्वचालन की आवश्यकता काफी अर्से से महसूस की जा रही थी। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए "तोप युद्ध आदेश एवं नियंत्रण प्रणाली" विकसित की जा रही है। पूरी तरह विकसित हो जाने पर इस प्रणाली के अंतर्गत आगे की निगरानी चौकियों पर टर्मिनल कम्प्यूटर लगे होंगे और उनका संबंध मुख्यालय से होगा। तोपों के आँकड़े, लक्ष्यों का रिकार्ड आदि रखने के अलावा कम्प्यूटर कुछ कठिन कार्य भी करेंगे जैसे—लक्ष्य की स्थिति का विश्लेषण, संसाधनों का आबंटन, गोलाबारी की योजना और इस पर नियंत्रण, आदि।

आधुनिक इलेक्ट्रॉनिक यंत्रों का प्रभावी ढंग से उपयोग करने के लिए यह जरूरी है कि इन पर कार्य करने वाले व्यक्ति भी उतने ही कुशल और दक्ष हों, जितने वे यंत्र हैं। इस प्रकार के प्रशिक्षण में कम्प्यूटर बहुत सहायक सिद्ध हो रहे हैं। कम्प्यूटर पर आधारित कुछ युद्ध खेल मॉडल तैयार किये गये हैं। इनमें खेल-खेल में ही युद्ध का अभ्यास कराया जाता है। भारत में सन् 1981 में पहली बार युद्ध खेल मॉडल तैयार किया गया। इस संक्रियात्मक मॉडल पर वरिष्ठ अधिकारियों को प्रशिक्षण दिया जा रहा है। सेनाध्यक्ष जनरल सुन्दर जी के निर्देशन में टैंक के विरुद्ध युद्ध खेल का गतिशील मॉडल तैयार किया जा रहा है। इन खेलों में दोनों ही पक्ष विभिन्न आदेशों के साहरे युद्ध करते हैं और दोनों पक्षों को हुए नुकसान के आधार पर हार-जीत का फ़ैसला किया जाता है। इस तरह से बिना किसी खास खर्च के युद्ध का प्रशिक्षण संभव है।

अनुरूपक उपकरण या "सिमुलेटर" इलेक्ट्रॉनिक यंत्रों पर कार्य करने का प्रशिक्षण देने में सबसे अधिक कामयाब सिद्ध हुए हैं। अनुरूपक ठीक वास्तविक इलेक्ट्रॉनिक यंत्रों जैसे ही होते हैं। ये उपकरण प्रशिक्षणार्थी को लगभग वास्तविक प्रदर्शन करने का अवसर प्रदान करते हैं। ठीक वैसा ही जैसा उसे समय आने पर करना पड़ेगा। प्रशिक्षण की इस सुविधा से वास्तविक यंत्रों को इस्तेमाल नहीं करना पड़ता और खर्च बच जाता है। अभी तक हम अनुरूपकों का विदेशों से आयात करते रहे हैं, लेकिन जल्दी ही देश में अनुरूपकों के निर्माण की आशा है।

ऊपर बतायी गयी प्रगति से यह साफ़ जाहिर है कि इक्सीसवीं सदी का युद्ध पूरी तरह से इलेक्ट्रॉनिक

यंत्रों और कम्प्यूटर पर निर्भर होगा। इस प्रकार का युद्ध एक प्रकार से संसाधनों का युद्ध होगा। जिसके पास अधिक संसाधन होंगे, वही जीतेगा। इस युद्ध का क्षेत्र बहुत विशाल और जटिल है। इसलिए इसको अपनाने से पहले हमें स्पष्ट रणनीति बनानी होगी। नए-नए यंत्रों के निर्माण के साथ ही, सैनिकों में भी उच्च कुशलता लानी होगी, क्योंकि कितने भी परिष्कृत यंत्र क्यों न बन जाएँ, मनुष्य सदैव सर्वोपरि रहेगा।

जैसा सारा संसार जानता है, भारत एक शान्ति-प्रिय देश है, इसलिए हम अपनी ओर से कभी युद्ध नहीं छेड़ेंगे। हमारी यही कामना होगी कि इक्कीसवीं सदी पूरी शान्ति से बीते और इलेक्ट्रॉनिक युद्ध का मौका ही न आए। लेकिन अगर दुर्भाग्य से ऐसा हुआ तो भारत इसका भी मुँहतोड़ जवाब देगा। □□

[सम्प्रेषण]

परिषद् का पृष्ठ

वन्य जीव संरक्षण पर विचार गोष्ठी

5 अक्टूबर को 'वन्य जीव संरक्षण' विषय पर विचार गोष्ठी हुई। विषय-प्रवर्तन करते हुए 'विज्ञान' पत्रिका के संपादक **प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव** ने 'वन एवं वन्य जीवों के संरक्षण के महत्व पर प्रकाश डालते हुए बताया कि जब तक हमारा सम्बन्ध वनों एवं वन्य जीवों से 'सिम्बियाटिक' (सहजीवी) है, एक दूसरे पर आधारित है, इस बात की चेतना पूरी तरह नहीं जाग्रत होती, तब तक इस प्रकार की विचार-गोष्ठियों की आवश्यकता बार-बार होगी। **डॉ० शिवगोपाल मिश्र** ने वनों एवं वन्य जीवों पर और अधिक अनुसंधान करने पर बल दिया। जोधपुर की रक्षा प्रयोगशाला से आये डॉ० घोष भी इस अवसर पर उपस्थित थे। **डॉ० सुप्रभात मुकर्जी** ने 'होलिस्टिक व्यू', पूरी प्रकृति को समझने, पर बल दिया। श्री **प्रमोद कुमार शुक्ल** ने लुप्त होती जीव जातियों से उत्पन्न खतरों के प्रति चेतावनी दी। **श्री अशोक कुमार** ने चिपको, एपिको जैसे आन्दोलनों की सार्थकता पर प्रकाश डाला। **श्री विनय कुमार** ने विलोपीकरण के कगार पर खड़ी जीव जातियों की 'रेड डाटा बुक' द्वारा तैयार अनुसूचियों की चर्चा की। **श्री प्रेमनारायण त्रिपाठी** ने वन्य जीव संरक्षण संबंधी कानूनों की चर्चा करते हुए बताया कि मात्र कानून ही विकल्प नहीं, जनचेतना आवश्यक है। **श्री राजेश कुमार केसरी** ने बाघ परियोजना की विस्तृत चर्चा की। 'नेहरू इको फ्रन्ट' के **श्री कमलेश कुमार** ओझा ने गाँवों में जाकर ग्रामीणों और आदिवासियों को शिक्षित करने पर विशेष बल दिया। **डॉ० बी० के० ललोरिया** ने वन्य जीवों की विभिन्न जातियों की संख्या बढ़ाने पर जोर दिया और कहा कि हमें वन्य जीवों को तो उनके प्राकृतिक आवास में अपने ढँग से रहने देना चाहिए पर मछली, मुर्गे जैसे जीव, जिनकी संख्या जंगल के बाहर भी बढाई जा रही है, उन्हें खाने या उनके शिकार पर प्रतिबंध नहीं होना चाहिए।

इस विचार-गोष्ठी की सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही कि सभी वक्ताओं ने लगभग 2 घंटे तक स्वस्थ बहस भी की, पर सभी एकमत थे कि जनजागरण की अभी आवश्यकता बनी हुई है। विचार-गोष्ठी का समापन प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव के धन्यवाद ज्ञापन से हुआ।

—प्रस्तुति : प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

अपने आहार के बारे में इतना तो जानिए

डॉ० अनुराग श्रीवास्तव

आहार हमारे जीवन की मूलभूत आवश्यकता है। आहार या भोजन ही मानव शरीर रूपी मशीन का ईंधन है। हमें अपने आहार से न केवल दैनिक क्रियाकलापों के निष्पादन हेतु आवश्यक ऊर्जा मिलती है अपितु विकास एवं शारीरिक टूट-फूट से निपटने के लिए आवश्यक पदार्थ भी मिलते हैं। शारीरिक आवश्कताएँ हमारे आहार से कैसे पूरी होती हैं एवं हमारे भोजन के विभिन्न अवयव क्या हैं, यह अध्ययन 'पोषण विज्ञान' कहलाता है।

भोजन के विभिन्न अवयव : हमारे भोजन के 6 प्रमुख अवयव हैं—

(1) कार्बोहाइड्रेट्स अथवा शर्करा

यह ऊर्जा का प्रमुख स्रोत है।

कार्बोहाइड्रेट्स पाचन प्रक्रिया द्वारा शर्करा तथा स्टार्च-शर्करा के सरलतम रूप-ग्लूकोज-में परिवर्तित होकर, आँत द्वारा शोषित होकर रक्त में पहुँचते हैं। शरीर इनका उपयोग मुख्यतः ऊर्जा के रूप में करता है। कार्बोहाइड्रेट्स शुद्ध शर्करा (ग्लूकोज, चीनी, स्टार्च) के अतिरिक्त अन्य खाद्य पदार्थों में भी पाए जाते हैं, यथा शहद, मिठाई, चाकलेट, डबलरोटी, रोटी, अनाज, दाल इत्यादि। सब्जियों में स्टार्च आलू में अधिकतम होता है। अन्य शर्करायुक्त सब्जियाँ हैं—घुइयाँ, बण्डा, शकरकंद जिमीकंद इत्यादि।

चीनी तथा स्टार्च के अलावा भोजन में एक अन्य प्रकार का कार्बोहाइड्रेट होता है—सेल्युलोज। आवश्यक पाचक एन्ज़ाइम की अनुपस्थिति के कारण शरीर सेल्यूलोज़ को पचा नहीं पाता तथापि यह शरीर के लिए हितकर होता है। सेल्युलोज़ पानी में फूलकर आँतों की हरकत/प्रक्रिया को बढ़ाता है, जिससे व्यक्ति कब्ज़ की शिकायत से बचा रहता है। आटे, सब्ज़ियों, फलों तथा बेर में सेल्युलोज़ की अच्छी मात्रा विद्यमान रहती है।

(2) वसा

प्रमुखतः शरीर को ठंड के प्रभाव से बचाता है एवं शरीर के नाज़ुक अंगों को चोट लगने से बचाता है। कार्बोहाइड्रेट्स पर्याप्त मात्रा में न मिलने पर ये भी ऊर्जा का स्रोत बन जाते हैं।

दूध, मक्खन तथा दूध से बने अन्य खाद्य पदार्थों में उपस्थित वसा स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक एवं लाभप्रद है। वसा में घुलनशील विटामिनों के शोषण हेतु भी इन्हें आहार में लेना आवश्यक है।

खाद्य पदार्थों में उपस्थित वसा दो प्रकार की होती है—संतृप्त व असंतृप्त वसा। जन्तुओं की वसा में मुख्यतः संतृप्त वसा पाई जाती है जो विटामिन 'ए' से युक्त होती हैं एवं 20 सेल्सियस पर जम जाती है। इस प्रकार की वसा के उदाहरण हैं—देशी घी, डालडा, मक्खन, पनीर आदि। संतृप्त वसायुक्त कुछ अन्य खाद्य पदार्थ हैं—चाकलेट, अंडा, जिगर, भेजा, गुर्दे, दिल, फेफड़े, मांस-मछली इत्यादि। जन्तु वसा में कोलेस्ट्रॉल अत्यधिक मात्रा में होता है जो शरीर के लिए हानिकर है।

वनस्पति वसा में मुख्यतः असंतृप्त वसा पाई जाती है, जो विटामिन 'ई' से युक्त होती है और 20° सेल्सियस पर या ठंड के दिनों में भी पिघली हुई रहती है, यथा मूँगफली का तेल, सोयाबीन का तेल, सरसों का तेल, रेंड़ी का तेल इत्यादि। वनस्पति वसा, शरीर में कोलेस्ट्रॉल को कम करता है एवं खाने के लिए उपयुक्त है।

(3) प्रोटीन्स

विकास, टूट-फूट हेतु नए ऊतकों के बनने हेतु आवश्यक है। शरीर में अत्यधिक महत्वपूर्ण हार्मोन्स एवं एन्ज़ाइम्स की संरचना में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। विपरीत परिस्थितियों में प्रोटीन्स भी ऊर्जा का स्रोत बन सकते हैं।

1 डी, स्ट्रीट 4ए, सेक्टर 9, भिलाई—492006 (मध्य प्रदेश)

जन्तुओं से प्राप्त भोजन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रोटीन्स पाए जाते हैं। ये खाद्य पदार्थ हैं—दूध, दही, पनीर, अंडे, मांस, मछली आदि। वनस्पति जगत् में जिन खाद्य पदार्थों में प्रोटीन्स अधिक पाए जाते हैं वे हैं—दालें (उरद, मटर, सोयाबीन, मूँगफली आदि) तथा फलीदार सब्ज़ियाँ (गुआर, लोबिया, राजमा, चना आदि)।

(4) विटामिन

विटामिन दो प्रकार के होते हैं—(1) वसा में घुलनशील विटामिन ए, डी, ई, के और (2) जल में घुलनशील विटामिन-बी काम्पलेक्स समूह के विटामिन तथा विटामिन 'सी'।

शारीरिक विकास हेतु आवश्यक हैं एवं अनेक रोगों से बचाते हैं।

विटामिन 'ए' आँखों की ज्योति को ठीक रखकर रतौंधी, अंधेपन, वर्णान्धता (कलर ब्लाइन्डनेस) से बचाता है। यह दाँतों तथा स्वस्थ त्वचा के लिए भी आवश्यक है। इसकी कमी से त्वचा शुष्क तथा खुरदुरी हो जाती है। जिन पदार्थों को खाने से हमारे शरीर को विटामिन 'ए' प्राप्त होता है वे हैं—मछली का तेल, अंडे की ज़र्दी, जानवरों का जिगर तथा संतृप्त जन्तु वसा (देशी घी, डालडा, पनीर, मक्खन आदि)। इसके अतिरिक्त गाजर, सेब, आम, केला, टमाटर, हरी मटर, पालक, बन्द गोभी, कद्दू, पपीता, दूध, दही इत्यादि में उपस्थित कैरोटीन्स शरीर में पहुँचकर विटामिन 'ए' में परिवर्तित हो जाते हैं।

विटामिन 'डी' शारीरिक विकास तथा अस्थियों के विकास के लिए आवश्यक है। यह शरीर में वसा के समुचित उपयोग हेतु भी आवश्यक है। इस विटामिन की कमी से बच्चों में सूखा रोग व बड़ों में हड्डियों की कमज़ोरी (विशेष कर पैरों की), तथा महिलाओं में गर्भपात जैसी स्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। जिन खाद्य पदार्थों को खाने से शरीर में विटामिन 'डी' का निर्माण होता है वे हैं—दूध, घी, मक्खन, पनीर, अंडा, मछली व जिगर इत्यादि। इन पदार्थों में उपस्थित वसा शरीर में पहुँचकर सूर्य की किरणों में उपस्थित पराबैंगनी किरणों द्वारा विटामिन 'डी' में बदल दिया जाता है।

विटामिन 'ई' की कमी स्त्री व पुरुष दोनों के शरीर में नपुंसकता पैदा कर सकती है। इस विटामिन के स्रोत हैं—हरी पत्तेदार सब्ज़ियाँ, अनाज, अंकुरित अनाज, वनस्पति तेल इत्यादि।

विटामिन 'के' खून के थक्का बनने में सहायक होता है तथा इस विटामिन की कमी से देर तक रक्तस्राव होता रहता है। यह वैसे तो मनुष्य की आँत में जीवाणु प्रक्रिया द्वारा स्वयमेव बनता रहता है, फिर भी, बंद गोभी, पालक, सोयाबीन, फल व गेहूँ की भूसी खाना लाभकर है।

विटामिन 'बी' काम्पलेक्स समूह के विभिन्न विटामिन हमें बेरी-बेरी, त्वचा, हृदय, तंत्रिका तंत्र तथा रक्त सम्बन्धी रोगों से बचाए रहते हैं। इन विटामिनों के स्रोत हैं—समस्त अनाज, दालें, रोटी, डबलरोटी, मूँगफली, हरी साग-सब्ज़ियाँ, काजू, दूध व दूध से बनी अन्य वस्तुएँ तथा मांस, मछली, जिगर, गुर्दे इत्यादि।

विटामिन 'सी' शरीर को स्कर्वी नामक रोग से लड़ने की ताकत देता है। यह हड्डियों व दाँत के विकास के लिए भी आवश्यक है। इसकी कमी से मसूढ़ों से खून रिसने लगता है तथा शरीर के अन्य भागों से भी रक्तस्राव हो सकता है। यह विटामिन शरीर में ग्लूकोज, कोलेस्ट्रॉल व ट्राइग्लिसराइड्स को कम कर हमें मधुमेह तथा एथरोस्कलोरॉसिस तथा अन्य हृदय रोगों से बचाता है। रसदार फलों जैसे—नींबू, संतरा, मौसम्मी, आँवला में यह विटामिन अधिक मात्रा में पाया जाता है। कुछ अन्य स्रोत हैं—अमरूद, टमाटर, अनन्नास, हरी साग-सब्ज़ियाँ व अंकुरित अनाज।

(5) खनिज

ये शारीरिक विकास एवं रोगों से बचने के लिए आवश्यक हैं। विभिन्न ऊतकों, ऊतकीय द्रवों, रक्त, एन्ज़ाइम्स तथा हार्मोन्स की संरचना में ये महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। शरीर में अम्लता तथा क्षारता को भी संतुलित रखते हैं।

सामान्य संतुलित आहार द्वारा शरीर को समस्त आवश्यक खनिज प्राप्त हो जाते हैं। कुछ आवश्यक खनिज हैं—कैल्शियम, फॉस्फोरस, लौह तत्व, आयोडीन, सोडियम क्लोराइड, मैग्नीशियम, सल्फर, पोटेशियम, कॉपर, फ्लोरीन इत्यादि।

(6) जल

जल विभिन्न शारीरिक संरचनाओं हेतु आवश्यक है। हालाँकि विटामिन, खनिज एवं जल स्वयं ऊर्जा के के स्रोत नहीं हैं तथापि प्रथम तीन अवयवों द्वारा मुक्त ऊर्जा के शरीर में समुचित उपयोग हेतु ये अत्यन्त आवश्यक हैं।

शरीर के भार का 70 प्रतिशत जल होता है। शरीर के अनेक हानिकारक तत्व पानी में घुलकर ही मल, मूत्र व पसीने के रूप में शरीर से उत्सर्जित हो जाते हैं।

भोजन में उपस्थित जल के अतिरिक्त मनुष्य को प्रतिदिन 1.5-2.0 लीटर जल पीना चाहिए। जल की कमी और अधिकता दोनों ही शरीर को विपरीत रूप से प्रभावित करती हैं।

संतुलित आहार क्या है ?

ऐसा आहार, जिसमें भोजन के विभिन्न अवयव (कार्बोहाइड्रेट्स, वसा, प्रोटीन्स, विटामिन, खनिज व जल) हमारी शारीरिक आवश्यकताओं के अनुरूप उपस्थित हों एवं जो हमारे सामान्य स्वास्थ्य एवं विकास हेतु सभी आवश्यकताएँ पूरी कर सकें, संतुलित आहार कहलाता है। संतुलित आहार से हमें सभी श्रेणी के भोज्य पदार्थ प्राप्त होते हैं, ये श्रेणियाँ हैं—

(क) ऊर्जा देने वाले भोज्य पदार्थ—
जैसे अनाज, कार्बोहाइड्रेट्स, वसा आलू, चुकन्दर, गाजर इत्यादि।

(ख) शारीरिक ताकत देनेवाले भोज्य पदार्थ—
जैसे दूध, अंडा, मांस, मछली, दाल, तिलहन इत्यादि।

(ग) निरोधक भोज्य पदार्थ—
जैसे दूध, अंडा, मांस, मछली, हरी साग-सब्ज़ी फल-फूल इत्यादि।

भोजन को पकाना आवश्यक क्यों ?

भोजन को स्वादिष्ट, सुरुचिपूर्ण, सुपाच्य एवं खाने योग्य बनाने के लिए इसे पकाना आवश्यक है। भोजन को पकाने से होने वाले कुछ फ़ायदे निम्नवत् हैं—

1. अंडे को पकाने से उसमें उपस्थित हानिकारक एविडिन नष्ट हो जाता है।

2. सोयाबीन को पकाने से उसमें उपस्थित ट्रिपसिन को बेअसर करने वाला पदार्थ दूर हो जाता है। यह सुपाच्य बन जाता है।

3. पकाने से सोयाबीन का जैव रासायनिक मूल्य बढ़ जाता है।

4. इमली डाल कर पकाई गई भोजन सामग्री में विटामिन सुरक्षित रहते हैं।

जहाँ एक ओर भोजन को पकाने के उपर्युक्त लाभ हैं वहीं कुछ हानियाँ भी हैं जिन्हें ध्यान में रखना आवश्यक है यथा—

1. अत्यधिक पानी में पकाने से प्रोटीन एवं जल में घुलनशील विटामिन (विटामिन 'बी' व 'सी') खत्म हो जाते हैं।

2. अनाज/दाल को देर तक धोकर पकाने से जल में घुलनशील विटामिन एवं खनिज समाप्त हो जाते हैं।

3. सोडा डाल कर सब्ज़ी एवं दाल पकाने से विटामिन नष्ट होते हैं।

4. दूध को उबालने से विटामिन 'सी' नष्ट हो जाता है।

5. खुले बर्तन में (चौड़े मुँहवाले) फ्राई करने (तलने) से तेल में उपस्थित विटामिन 'ए' समाप्त हो जाता है।

भोजन का कैलोरी मूल्य एवं हमारी दैनिक आवश्यकता

कैलोरी मूल्य—किसी भोजन का कुछ कैलोरी मूल्य उस भोजन से शरीर को मिलने वाली ऊर्जा पर निर्भर करता है। इस ऊर्जा को हम कैलोरी में नापते हैं।

एक कैलोरी का मान—ऊर्जा की वह मात्रा है जो एक कि० ग्रा० जल के तापमान में 1° सेल्सियस की वृद्धि कर दे। हमारे भोजन के विभिन्न अवयव निम्नवत् ऊर्जा देते हैं—

कार्बोहाइड्रेट्स अथवा शर्करा	प्रति ग्राम	4.1 कैलोरी
वसा	प्रति ग्राम	9.2 कैलोरी
प्रोटीन्स	प्रति ग्राम	4.1 कैलोरी

हमारी दैनिक कैलोरी आवश्यकता

इस बात पर निर्भर करती है कि हम दिन भर क्या करते हैं? उदाहरण के लिए हम अपने कामकाज को मोटे तौर पर तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—भारी या अत्यधिक कार्य, मध्यम श्रेणी का कार्य एवं निम्न श्रेणी का कार्य। तदनुसार हमारी दैनिक आवश्यकता निम्नवत् होगी—

	वयस्क पुरुष	वयस्क महिला
(क) निम्न श्रेणी अथवा कम कार्य	2400 कैलोरी	1900 कैलोरी
(ख) मध्यम श्रेणी अथवा सामान्य कार्य	2800 कैलोरी	2200 कैलोरी
(ग) उच्च श्रेणी अथवा भारी कार्य	3900 कैलोरी	3000 कैलोरी

महिलाओं को गर्भावस्था में 300 एवं स्तनपान कराने के दौरान 700 अतिरिक्त कैलोरी प्रतिदिन लेना चाहिए।

चेतावनी - दैनिक आवश्यकता से अधिक कैलोरी मूल्य का भोजन मोटापे का कारण बनता है, जिससे विभिन्न शारीरिक जटिलताएँ पैदा होती हैं। विशेषकर वसा का अधिक प्रयोग हानिकारक है।

बच्चों एवं किशोरों की कैलोरी आवश्यकता

यदि वयस्क (मध्यम श्रेणी) पुरुष की दैनिक कैलोरी आवश्यकता को एक इकाई (1) माना जाये तो निम्न आयु वर्ग की दैनिक कैलोरी आवश्यकता का अनुमान निम्नवत् लगाया जा सकता है—

किशोर वर्ग	:	12—21 वर्ष	1.0
बालक वर्ग	:	09—12 वर्ष	0.8
		07—09 वर्ष	0.7
		05—07 वर्ष	0.6
		03—05 वर्ष	0.5
		01—03 वर्ष	0.4

(एक माह से 12 माह तक के शिशुओं हेतु 200-800 कैलोरी प्रतिदिन)

विभिन्न क्रियाकलापों हेतु कैलोरी आवश्यकता

बैठने के समय	35	कैलोरी/घंटा
खड़े रहते समय	40	कैलोरी/घंटा
लिखने, पढ़ने, सिलाई अथवा टाइपिंग करते समय	70-80	कैलोरी/घंटा
घरेलू कार्य करते समय	100-120	कैलोरी,घंटा
टहलते समय या हल्का व्यायाम/खेल खेलते समय	250	कैलोरी/घंटा
तेज चलते समय, दौड़ते समय या भारी व्यायाम (तैराकी) करते समय	300-550	कैलोरी/घंटा
सीढ़ी चढ़ते समय	1000	कैलोरी/घंटा

आहार का कैलोरी मूल्य

नाश्ता (स्वल्पाहार)		मीठा	
उडद बड़ा	181 कैलोरी	बूंदी लड्डू	285 कैलोरी
कचौरी	206 कैलोरी	बर्फी	274 कैलोरी
		बालूशाही	281 कैलोरी
मठरी	223 कैलोरी	चाय	100 कैलोरी
आलू बड़ा	179 कैलोरी	काफ़ी	125 कैलोरी

भोजन

शाकाहारी	1300 कैलोरी
मांसाहारी : अंडा	1024 कैलोरी
मछली	1026 कैलोरी
कीमा	1190 कैलोरी

अतः हम पाते हैं कि मानव शरीर के लिए संतुलित आहार उतना ही आवश्यक है कि जितना कि काम व आराम की सुव्यवस्था, व्यायाम व शारीरिक दृढ़ता।

वैसे तो युक्तिसंगत आहार के सिद्धांत हर उम्र में आवश्यक हैं तथापि 40 वर्ष या इससे अधिक आयु होने पर इन नियमों का पालन करना और भी महत्वपूर्ण हो जाता है।

खाने पीने हेतु खाद्य सामग्री का चुनाव करते समय ध्यान रखें कि अलग-अलग खाद्य पदार्थों का कैलोरी मूल्य अलग-अलग होता है। वसा में कैलोरी सर्वाधिक होती है। 100 ग्राम वनस्पति तेल या घी में लगभग 880 कैलोरी। मांस की इतनी ही मात्रा में 165 कैलोरी, चीनी में 405 कैलोरी, अन्न में 310 से 335 कैलोरी, डबलरोटी में 190-230 कैलोरी, आलू में 65 कैलोरी व गोभी में 20 कैलोरी प्रति 100 ग्राम के हिसाब से विद्यमान रहती है।

हमें अपने आहार के चयन के समय कैलोरी नियंत्रण के साथ-साथ समस्त आवश्यक अवयवों यथा शर्करा, वसा, प्रोटीन्स, खनिज, विटामिन व जल के महत्व को ध्यान में रखते हुए ही 'संतुलित आहार' का चयन करना चाहिए।

कुछ ध्यान रखने योग्य आवश्यक बातें निम्नवत् हैं—

(1) स्टार्च पानी में अविलेय होने के कारण धीरे-धीरे पचता है।

(2) अत्यधिक मीठा (शर्करा) व मैदा खाने से व्यक्ति मोटापे का शिकार बन जाता है।

(3) रेशेदार खाद्य पदार्थों का सलाद के रूप में उपयोग लाभप्रद है।

(4) वे चीजें कम खानी चाहिए जिनमें कोलेस्ट्रॉल की मात्रा अधिक हो। अंडे की ज़र्दी में सर्वाधिक कोलेस्ट्रॉल (200 मि० ग्राम०) होता है।

(5) दही, बकरे के मांस में उपस्थित एमीनो अम्ल रक्त-वाहिनियों में कोलेस्ट्रॉल को जमने से रोक कर हृदय रोग से बचाते हैं।

(6) जंतु प्रोटीन केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र को उद्दीपित करता है जबकि वनस्पति प्रोटीन इसको शांत करती हैं। वनस्पति प्रोटीन्स के सेवन से नींद भी अच्छी आती है।

(7) विटामिनों की सभी किस्में—गोली, कैप्सूल व इंजेक्शन के रूप में उपलब्ध हैं, तथापि याद रखें विटामिनों का प्राकृतिक रूप में उपयोग ही सर्वाधिक लाभकारी है।

(8) बिना चिकित्सक की सलाह के विटामिनों का उपयोग हानिकारक है—विशेषकर वसा में घुलनशील विटामिन्स का।

(9) जल में घुलनशील विटामिन्स यदि आवश्यकता से अधिक मात्रा में ले भी लिए जाएँ तो मूत्र द्वारा उत्सर्जित हो जाते हैं।

(10) आवश्यकता से अधिक नमक के सेवन से बचें।

(11) तेज़ चाय, काफ़ी का अति सेवन अनिद्रा व पेप्टिक अल्सर का कारण बनता है।

(12) दूध, फल व हरी पत्तेदार सब्ज़ियाँ नियमित रूप से लें।

(13) स्वादिष्ट भोजन स्वस्थ वातावरण में नियमित रूप से दिन में 3-4 बार में लेना चाहिए। रात्रि का भोजन सोने से 1.5 या 2.0 घंटे पूर्व ले लेना चाहिए—विशेषकर बुजुर्गों को।

(14) रुग्णावस्था में चिकित्सक द्वारा प्रदत्त विशिष्ट हिदायतों का पालन करना चाहिए।

उपर्युक्त आंकड़ों व तथ्यों को ध्यान में रखते हुए व्यायाम के साथ-साथ आप अपने लिए 'संतुलित आहार' का चयन कर स्वस्थ व दीर्घायु हो सकते हैं। ☐☐

नया साहित्य

1. **ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोत**—दिनेश मणि

प्रकाशक : ग्राम विकास प्रकाशन, कमिश्नर कम्पाउन्ड कालोनी, इलाहाबाद
प्रथम संस्करण 1990; मूल्य 10.00 रुपये
मुद्रक : आनन्द मुद्रणालय, 185/22 पंचक्रोशी रोड, मुट्ठीगंज, इलाहाबाद

2. **वायु जीवन और प्रदूषण**—डॉ० श्याम सुन्दर पुरोहित

प्रकाशक : अजन्ता बुक्स, पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 4 ई—175 जे० एन० व्यास नगर, बीकानेर—334C01
द्वितीय संस्करण 1990; मूल्य 10.00 रुपये
मुद्रक : आदित्य ऑफसेट, दरियागंज, नई दिल्ली

3. **पर्यावरण**—डॉ० एस० एस० पुरोहित एवं कु० अर्चना

प्रकाशक : अजन्ता बुक्स, पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स 4 ई—175 जे० एन० व्यास कालोनी, बीकानेर
प्रथम संस्करण 1990; मूल्य 15.00 रुपये
मुद्रक : अर्मसिया प्रिंटर्स, दरियागंज, नई दिल्ली

4. **ऊर्जा के स्रोत एवं संभावनाएँ**—डॉ० श्याम सुन्दर पुरोहित

प्रकाशक : अजन्ता बुक्स, पाब्शिर्स एण्ड हिस्ट्रीब्यूटर्स, सेक्टर IV, 175 जे० एन० व्यास नगर, बीकानेर—334001
द्वितीय संस्करण 1990; मूल्य 10.00 रुपये
मुद्रक : आदित्य ऑफसेट-प्रेस, नई दिल्ली—11002.

5. **सब्जी की खेती**—दर्शनानन्द

प्रकाशक : ग्राम विकास प्रकाशन 172, कमिश्नर कम्पाउन्ड कालोनी, इलाहाबाद
तृतीय संस्करण 1986; मूल्य 7 रुपये
मुद्रक : चंदन प्रेस, इलाहाबाद

6. **अमरूद की बागबानी**—दर्शनानन्द

प्रकाशक : गोपाल ब्रदर्स, 105 जीरो रोड, इलाहाबाद
प्रथम संस्करण 1988; मूल्य 10.00 रुपये
मुद्रक : गोपाल प्रिंटर्स, 105 जीरो रोड, इलाहाबाद

7. **खामोशी भयानक है** (पर्यावरण की प्रतिनिधि कविताएँ)

सम्पादक : डॉ रणजीत सिंह
प्रकाशक : विज्ञान शिक्षा केन्द्र (विज्ञान प्रौद्योगिकी संचार कार्यालय), सिविल लाइन्स, बांदा—21001
प्रथम संस्करण 1990; मूल्य 5 रुपये
मुद्रक : बांगा कम्प्यू प्रिंटर्स, 11 ब, प्रथम तल, प्रिन्स कॉम्पलेक्स, हजरत गंज, लखनऊ—226001

सोना : एक भू-वैज्ञानिक अध्ययन

विजयकान्त श्रीवास्तव

सभ्यता के इतिहास के समान ही सोने का भी इतिहास माना जायेगा। मनुष्य को कोई भी धातु इतनी प्रिय नहीं थी जितना सोना। यही एक ऐसी धातु है जिसने मनुष्य को खूँखार बनाया। सोने की लालसा के कारण ही अनेक युद्ध हुए। इसी धातु के लिए कितने साम्राज्य बने, कितने साम्राज्य बिगड़े। सोने की पिपासा ने ही मनुष्य को नये स्थानों की खोज करने की प्रेरणा दी। मिस्र से लोग सोने की खोज में अफ्रीका गये। अन्वेषण की प्रेरणा मनुष्य में सोने की लालसा से ही आयी। सोने को निकालने के लिए नये-नये तरीकों का आविष्कार धातु विज्ञान एवं खदान विज्ञान के लिए वरदान साबित हुआ। रासायनिक विधि से अन्य धातुओं को सोने में बदलने की प्रक्रिया प्राप्त करते-करते गन पाउडर तथा पोर्सलीन जैसी चीज़ों का आविष्कार हुआ। आज मनुष्य अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के जिस शिखर पर बैठा है, वहाँ तक पहुँचने में सोने की भूमिका निर्विवाद है।

यह धातु पीले रंग का तथा अप्रतिम दुति वाला है। इसकी कठोरता 3 है तथा आपेक्षिक घनत्व 19.22 है। यह धातु पीट-पीट कर पतला किया जा सकता है तथा एक सेन्टीमीटर मोटे पत्र से 400000 पतले पत्र बनाये जा सकते हैं। इसको पतले तारों के रूप में खींचा जा सकता है। 1 ग्राम से 2.5 किलोमीटर लम्बा तार खींचा जा सकता है। 1063° सेन्टीग्रेड ताप पर यह पिघल जाता है। 2966° सेन्टीग्रेड पर यह उबल जाता है। यह धातु विद्युत् तथा ताप का सुचालक है। इस धातु से आसानी से मिश्र धातु बनाया जा सकता है।

सोना आवर्ती श्रेणी के 1B उपसमूह का सदस्य है। सोने का रासायनिक चिह्न **AU** है। आण्विकता संख्या 79 है, आण्विक भार 196-967 तथा आणविक आयतन 10.2 तथा इसका केवल एक स्वस्थानिक है। इसका धात्वीय व्यास 1.44**A** है। सोना हाइड्रोक्लोरिक, सल्फ्यूरिक तथा नाइट्रिक एसिड में अघुलनशील है परन्तु **एकुआ रेजिया** में घुलनशील है। इस धातु पर, अलकली, हाइड्राक्साइड, तथा सल्फर का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

सोने का तौल ट्राय औंस में किया जाता है। सोने के तौल का ब्रिटिश पैमाना निम्न है—

1 ट्राय पौंड = 12 औंस = 240 पेनीवेट = 5760 कण

1 ट्राय औंस = 50 पेनीवेट = 480 कण

9 पेनीवेट = 24 कण = 0.05 औंस

9 कण = 0.042 पेनीवेट
= 0.002285 औंस

मीटरिक पद्धति में 9 ट्राय पौंड = 0.373 किलोग्राम

9 औंस = 31.103 ग्राम तथा 9 पेनीवेट = 1.555 ग्राम के।

स्वर्ण मुद्रा का प्रसार

सबसे पहले चीन में 1000 ईसा पूर्व में स्वर्ण मुद्रा का प्रसार हुआ। यूरोप में लिडिया में स्वर्ण मुद्रा का प्रसार सबसे पहले माना जाता है। भारत में आदि काल से स्वर्ण मुद्रा का प्रसार माना जाता है। मध्य काल में सभी स्थानों पर स्वर्ण मुद्रा का प्रचलन आरंभ हो गया था। 1266 में फ्रांस में **लुइस नवें** ने स्वर्ण मुद्रा अपने नाम से ढलवाई। 1327-77 से **एडवर्ड तृतीय** ने स्वर्ण मुद्रा व्यापार के लिए बढ़ाई। ब्रिटिश गिनी (सावरेन : **Sovereign**) का प्रसार 1816 के बाद किया गया।

जियालोजिकल सर्वे ऑव् इण्डिया—एम-एम 196, सेक्टर डी, अलीगंज हाउसिंग स्कीम, लखनऊ-226020

गोल्ड स्टैंडर्ड

प्रथम विश्व युद्ध के पहले के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा पद्धति को ही गोल्ड स्टैंडर्ड कहा जाता है। जो देश गोल्ड स्टैंडर्ड को मानते हैं उनके मुद्रा को स्वर्ण के रूप में तय किया जाता है। प्रथम विश्व युद्ध के पहले ग्रेट ब्रिटेन में बैंक ऑव इंग्लैंड में सोने का मूल्य निर्धारित था तथा इसी निर्धारित मूल्य के अनुपात में मुद्रा का प्रसार होता था। गोल्ड स्टैंडर्ड के कारण स्वर्ण मुद्रा का प्रसार होता है तथा इतनी मात्रा के बराबर मुद्रा या नोट बाज़ार में चलाया जाता है। व्यापार में गोल्ड स्टैंडर्ड के कारण मुद्रा के विनिमय में मदद मिलती है। प्रत्येक देश में स्वर्ण मूल्य निर्धारित किया जाता है। दो मुद्राओं का विनिमय दर इसी आधार पर तय किया जाता है। यदि बैंक ऑव इंग्लैंड में पौंड का मूल्य 112.982 कण शुद्ध सोने का है और अमेरिकी डॉलर का भाव 23.2 कण है तो स्टर्लिंग डॉलर का मूल्य 112.982/32.2 आँका जायेगा। इसी मूल्य के आधार पर गोल्ड इम्पोर्ट पाइंट तथा गोल्ड एक्सपोर्ट पाइंट तय किया जाता है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद प्रत्येक देश को अपनी मुद्रा का भाव स्वर्ण के रूप में तय करना आवश्यक है। वर्तमान MF कानूनों में भी पर्याप्त परिवर्तन किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय कर्ज़ों को समाप्त करने के लिए सोना ही विनिमय के रूप में प्रयोग किया जाता है।

शुद्धता

शुद्ध सोना बहुत लचीला होता है। भिन्न धातुओं से ही ज़ेवर बनाया जाता है। सोने की शुद्धता कैरेट में दी जाती है। शुद्ध सोना 24 कैरेट का होता है। **Fineness** धात्वीय शब्द है। 916.6 का अर्थ होता है 1000 में 916 भाग सोने का है तथा शेष भाग अन्य धातु का। शुद्धता का निम्न रूप ज़ेवर में प्रयोग किया जाता है।

22 कैरेट = 916.5 सोना 1000 भाग में
(24 में 22 भाग सोना)

18 कैरेट = 750 सोना 1000 भाग में
(24 में 18 भाग सोना)

14 कैरेट = 585 सोना 1000 भाग में
(24 में 14 भाग सोना)

9 कैरेट = 375 सोना 1000 भाग में
(24 में 9 भाग सोना)

सोने का उपयोग आभूषण तथा उद्योगों में किया जाता है। दाँत, औषधि, इलेक्ट्रॉनिक्स में भी प्रयोग किया जाता है।

निवेश के रूप

सोने के निवेश के अनेक रूप पाये जाते हैं।

गोल्ड बुलियन

गोल्ड बुलियन दो रूपों में पाया जाता है। उत्तम को गोल्ड डिलिवरी बार कहा जाता है। इसमें 99.5 प्रतिशत शुद्ध सोना होता है। दूसरे रूप में 99% शुद्ध सोने का छड़ बनाया जाता है।

बुलियन सर्टिफिकेट

निश्चित मात्रा में सोने के बदले सर्टिफिकेट जारी किया जाता है। वर्तमान में सिटी बैंक इस प्रकार के सर्टिफिकेट जारी करता है।

बुलियन एकाउण्ट

कुछ बैंकों में बुलियन एकाउण्ट खोलने की सुविधा होती है। इन खातों से सोने के बराबर मूल्य का धन निकाला जा सकता है।

डिलिवरी आर्डर

इस प्रकार के निवेश को पहले मोकाटा मेटल कॉरपोरेशन ने जारी किया था। इसमें सोने के बराबर धन निकाला जा सकता है।

स्वर्ण मुद्रा

स्वर्ण मुद्रा स्वर्ण की भाँति ही जारी होता है। इसमें सोने की शुद्धता प्रधान है। प्रसार में लाये जाने वाले मुद्राओं में क्रूगेरांड, नेपोलियन तथा गिन्नी सावरेन प्रधान हैं।

गोल्ड शेयर

सोने के खदानों वाली कम्पनियाँ गोल्ड शेयर जारी करती हैं। निवेश का यह तरीका अन्य शेयर की भाँति ही है परन्तु मँहगा है।

स्वर्ण के खनिज

स्वतंत्र रूप से असमान, लम्बे धागे, गुटके के रूप में पाया जाता है। यह आइसोमेट्रिक समूह में मणिभित होता है। मणिभ आक्टाहेड्रान (111), प्रेडेकाहेड्रान (110) तथा धन (100) के रूप में पाया जाता है। इसके अन्य रूप टेट्राहेड्रान (410) (310) (520) (210) टेपजोहेड्रान (811) (411) (311) (211) हेक्साआक्टाहेड्रान (421) (321) (543) (180) पाया जाता है।

सोने के प्रमुख खनिज निम्न हैं—

1. आर्जेन्टाइन

यह Ag तथा Aa का मिश्र धातु है। इसमें 10-15% Ag पाया जाता है। इसका रंग स्वर्ण पीत या हल्का पीत होता है। आपेक्षिक घनत्व 12.5 से 15.5 तक होता है।

2. पेलेडियम

यह Ag, Au तथा Pd का मिश्रण है। 5-10% तक Pd पाया जाता है।

3. रोडियन

यह Au तथा Rb का मिश्रण है। आ० घ० 15.5 से 16·8 तक है। 34-43% तक Rb होता है।

4. क्यूप्रियम

यह Au तथा Cu का मिश्र धातु है।

5. आरसोमिदिड

यह Au तथा Os या Ir का मिश्रण है।

6. आरोस्टिवाइट

यह Ag तथा Sb का मिश्रण है। 43.5 से 50.9% Au होता है।

7. माल्डोनाइट

यह Au तथा Bi का मिश्र धातु है।

8. आरोविसमुथनाइट

इनमें Au, Bi का सल्फाइड पाया जाता है।

9. कलावेराइट

यह Au का डाइटेलुराइट है तथा मोनोक्लिनिक समूह में घनीकृत होता है।

10. क्रेनेराइट

यह Ag का मिश्रण है। इसमें 30.7-43.9% Au होता है।

11. मोन्टेवेराइट

इसमें Te का मिश्रण पाया जाता है। 38.6 से 44.3% Au पाया जाता है।

12. पेंटजाइट

(यह Ag Tu Te का मिश्रण है। इसमें 19 से 25.2% तक Au पाया जाता है।

13. नेगाइट

यह Au Pb Sb Fe Te का मिश्रण है।

उल्कापिण्डो में सोना

उल्कापिण्डों में सिडेराइट में सोना अधिक पाया जाता है। एकोन्ड्राइट तथा टेक्टाइट में अल्प मात्रा में पाया जाता है।

मैग्मीय शिलाओं में

सोना प्रायः सभी मैग्मीय शिलाओं में पाया जाता है। इसकी मात्रा 1 से 10 ppb होता है। अवसादीय शिलाओं में सोना सैंडस्टोन, ग्रैवेल, काग्लामेरेट तथा लाइमस्टोन में पाया जाता है। कायांतरित शिलाओं में सोना कम पाया जाता है। सागर जल में तथा वनस्पतियों एवं जानवरों में स्वर्ण कण पाया जाता है।

रासायनिक रूप से सोना निष्क्रिय होता है अतः विदरित शिलाओं में भी पाया जाता है। ऑक्सीकृत क्षेत्रों में सोना स्वतंत्र रूप से पाया जाता है। कोलार स्वर्ण क्षेत्र में सोना ऑक्सीकृत क्षेत्र में 100-150 मीटर गहराई तक पाया जाता है।

निक्षेप

प्राथमिक निक्षेप स्वर्ण युक्त शिलाओं में पाया जाता है। इनमें सम्पूर्ण शिला, शिरायें स्टाकवर्क तथा प्रतिस्थापित शिलायें प्रमुख हैं। दूसरे प्रकार के निक्षेप एक स्थान से निकल कर दूसरे स्थान पर यांत्रिक रूप से जमें पाये जाते हैं।

लोड निक्षेप हाइड्रोथर्मल तथा मैग्मीय प्रक्रियाओं द्वारा बने पाये जाते हैं। गोल्डेन करी, मोनटाना तथा

गोल्डहिल के निक्षेप मैग्मीय प्रक्रियाओं वाले हैं। संस्पर्श मेटासोमेटिक प्रक्रियाओं वाले निक्षेप कम हैं। इनके उदाहरणों में मालू, मोन्टाना, हेडले निक्षेप हैं।

मैग्मीय, हाइड्रोथर्मल तथा मेटासोमेटिक निक्षेप ताप, दबाव, घोल की मात्रा घुलनशीलता तथा तत्सम्बन्धी रासायनिक क्रियायों पर निर्भर करता है। क्रीपलक्रीम कोलेराडो नेवादा तथा मेक्सिको क्षेत्र के निक्षेप इपीथर्मल प्रक्रिया वाले हैं।

कोलार निक्षेप, ब्राज़ील तथा कोचवर आदि निक्षेप हाइपोथर्मल हैं।

प्लेसर निक्षेप

मात्र शिलाओं से निकलकर स्वर्ण कण बालू में जमा पाया जाता है। विदरण की क्रिया इसमें प्रधान है। एलवियल सैंड ग्रेवेल तथा काग्लोमेरेट में स्वर्ण कण पाये जाते हैं। शिलाओं से कण निकलकर दूर-दूर तक बहकर सैंड बार, मियांडर आदि स्थानों में रुक जाता है। जल-क्रिया से स्थानान्तरित भी हो जाता है। नदी-घाटी या छोटे सरिता पुलिनों में निक्षेप पाये जाते हैं। नदी का ढाल 10-15 किलोमीटर होना चाहिए। भँवर या घुमावदार निक्षेप में स्वर्ण कणों के मिलने की सम्भावना अधिक है। इसके साथ-साथ भारी कण भी पाये जाते हैं। मैगेराइट, इल्मेनाइट, कैसीटेराइट, गारनेट आदि प्रमुख खनिज हैं। केरल के नीलाम्बूर घाटी में, ब्रह्मपुत्र घाटी में, बिहार के स्वर्ण रेखा तथा उत्तर प्रदेश के पनार नदियों में ऐसे निक्षेप पाये जाते हैं।

विश्व के प्रमुख निक्षेप

विश्व में सोना का उत्पादन 1493 से 1965 तक 219,900,0000 औंस था। 1969 तक 184886 औंस सोने का उत्पादन हुआ। सोने के निक्षेप रूस, दक्षिण अफ्रीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, कोलम्बिया, रोडेशिया, ब्राज़ील, इक्वेडोर, फिजी, फिलिपींस, वेनेजुएला तथा जापान में पाये जाते हैं।

दक्षिण अफ्रीका के विट वाटर स्ट्राड खदान में विश्व का 77% सोना निकाला जाता है। यहाँ स्वर्ण पट्टी 150 किलोमीटर (किमी) लम्बा तथा 40 किमी चौड़ा है। स्वर्ण कण कांग्लोमेरेट शिला में पाया जाता है। इसमें क्वार्ट्ज, चर्ट, स्लेट प्रमुख रूप से पाया जाता है। भारी खनिजों में टूरमलीन, जिरकन रूटाइल, क्रोमाइट आदि पाया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के द० डकोटा का होकस्टोक खदान विश्व के उत्तम खदानों में से है। यहाँ अयस्क असमान पट्टी तथा बंध एवं शिरा के रूप में पाया जाता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका का मदरलोड 200 किमी लम्बा तथा 1.5 किमी चौड़ा है। यहाँ स्लेट, शिस्ट ग्रीनस्टोन आदि शिलायें पायी जाती हैं। शिलाओं में ग्रीनस्टोन, एप्लाइट, डायोराइट आदि प्रमुख हैं। क्वार्ट्ज शिराओं के साथ अयस्क पाया जाता है। केलिफोर्निया के ग्रास वेली में क्वार्ट्ज शिराओं में अयस्क पाया जाता है। क्रीपल क्रीक क्षेत्र में ज्वालामुखीय शिलाओं में बाद में क्वार्ट्ज शिराओं का अन्तरोधन हुआ है। यहाँ निक्षेप 100 मीटर गहरा पाया जाता है। इस क्षेत्र स्वर्ण अयस्क के रूप में कालवेराइट प्रमुखतया पाया जाता है। कनाडा के प्रोफूपाइन क्षेत्र में अयस्क ज्वालामुखीय शिलाओं में क्वार्ट्ज शिराओं में पाया जाता है। शिलाओं में बसाल्ट, एडेंसाइट, डेसाइट, रायोलाइट आदि पाये जाते हैं। कनाडा के विकलैण्ड क्षेत्र में अयस्क कायान्तरित शिलाओं में पाया जाता है। यहाँ सायनाइट शिला प्रधानतया पाया जाता है। शिलाओं के दरारों में अयस्क पाया जाता है। कनाडा के ही मेलोनाइड क्षेत्र में सोने की दो पट्टियाँ पायी जाती हैं। इस क्षेत्र में ग्लोराइट शिस्ट शिलाओं में बाद की अवस्था में क्वार्ट्ज शिराओं का अन्तर्भेदन पाया जाता है। इनमें स्वर्ण खनिज पाये जाते हैं।

आस्ट्रेलिया में कालगूर्ली क्षेत्र प्रमुख है। यह 10 किमी लम्बा तथा 1 किमी चौड़ा क्षेत्र है। यही पुरातन शिलाओं के कायान्तरण से अयस्कों का मणिभीकरण माना जाता है। यहाँ क्वार्ट्ज डोलेराइट आदि शिलाओं में परिवर्तन पाया जाता है। शिला क्षेत्रों में दरार भ्रंश तथा जोड़ अधिक पाये जाते हैं। इनमें स्वर्ण खनिज पाया जाता है। आस्ट्रेलिया का

विक्टोरिया स्वर्ण क्षेत्र 25 किमी लम्बा तथा 5 किमी चौड़ा है। यहाँ स्लेट तथा सैंड स्टोन प्रधान शिलायें हैं। इनमें ग्रेनाइट का उत्कोच पाया जाता है। अयस्कों के साथ क्वार्ट्ज सेरीसाइट, कैलसाइट, डोलोमाइट, आदि पाया जाता है। आस्ट्रेलिया के बालार्ट विक्टोरिया क्षेत्र में भी यही भूवैज्ञानिक संरचना पायी जाती है। यह क्षेत्र 8 किमी लम्बा तथा 5 किमी चौड़ा है। यहाँ सफ़ेद क्वार्ट्ज, फेल्डस्पार, डोलोमाइट आदि पाया जाता है। साथ में पाचराइट, आर्सेनोपायराइट, पिरहोटाइट, मार्कासाइट, एकेलेराइट आदि पाया जाता है।

भारतीय निक्षेप

भारत में लोड तथा प्लेसर वाले कई निक्षेप पाये जाते हैं। इनमें प्रमुख निम्न है।

कोलार गोल्ड फील्ड

यह बेंगलोर से 100 किमी दूर है तथा इस क्षेत्र शिस्ट शिलायें पायी जाती हैं। यह क्षेत्र 80 किमी लम्बा तथा 3.4 किमी चौड़ा है। शिलायें कायान्तरित हैं तथा इनमें मैग्मीय शिलाओं का उत्कोच हुआ है। शिलाओं में शिस्ट एमीबोलाइट, बसाल्ट, एडेसाइट आदि प्रमुख हैं। पूर्वी तट पर चैम्पियन वाइस तथा कांग्लोमेरेट पाया जाता है। स्वर्ण अयस्क प्रमुखतया चैम्पियन क्वार्ट्ज लोड से आता है। इसमें खदान 2745 मीटर तक है। सबसे गहरी खान 3209 मीटर तक है। इस क्षेत्र में स्वर्ण के 24 लोड पाये जाते हैं। लोड प्रायः 1 मीटर तक का पाया जाता है।

हुट्टी स्वर्ण खदान

यह खदान रायचूर से 80 किमी दूर है। यह क्षेत्र 80 किमी लम्बा तथा 3 से 25 किलोमीटर चौड़ा है। यहाँ खदान 195 मीटर तक है। शिलाओं में प्रमुख शिस्ट है। बसाल्ट का अन्तर्भेदन इन शिलाओं में हुआ है। पेग्माइट, एलाइट तथा क्वार्ट्ज की शिरायें इनमें पायी जाती हैं। इस क्षेत्र में 6 प्रधान स्वर्ण बंध हैं।

अनन्तपुर (आंध्र प्रदेश) इस क्षेत्र से पहले सोना निकाला जाता रहा है। यह 5 किमी लम्बा क्षेत्र है। यहाँ प्रमुख शिस्ट शिला है। शिलाओं में सेरीसाइट, क्लोराइट शिस्ट, तथा फिलाइट आदि प्रमुख हैं। इनकी दरारों तथा इनके क्वार्ट्ज शिराओं में स्वर्ण खनिज पाया जाता है।

गड्डा क्षेत्र

इस क्षेत्र में स्वर्ण में प्राथमिक तथा प्लेसर दोनों रूपों में पाया जाता है। यह हम्पी से 45 किमी० दूर है। यहाँ ग्रीनस्टोन, कग्लोमेरेट शिस्ट आदि पाया जाता है।

वाचनद खदान

यह नीलगिरि पहाड़ियों में है। यहाँ सोना प्राथमिक तथा प्लेसर दोनों रूपों में पाया जाता है। यहाँ चार्नोकाइट शिलायें पायी जाती हैं। इनमें ग्रेनाइट तथा नाइस का अन्तर्भेदन पाया जाता हैं। शिलाओं के शियर, कटाव तथा दरार में खनिज पाया जाता है।

इन प्रमुख खदानों के अतिरिक्त भारतवर्ष में कई स्थानों पर स्वर्ण खनिज पाया है, परन्तु हर जगह से सोना नहीं निकाला जाता है। ऐसे क्षेत्र हैं—

आन्ध्र प्रदेश - अनन्तपुर में गूटी तथा वेकटमपाले क्षेत्र में स्वर्ण खनिज पाया जाता है।

चित्तूर—इस क्षेत्र में विसन्ट खान से स्वर्ण खनिज पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त कर्नूल तथा वारांगल क्षेत्र में स्वर्ण खनिज पाया जाता है।

बिहार—पटना में चंदकोला तथा कनुतारा क्षेत्र में पनेसर खनिज पाया जाता है। राँची में सोनापेट क्षेत्र में सिंहभूम जिले में पहारडिट, सौसल, लाम्बा मायासादा, कुदरकोछा क्षेत्र में स्वर्ण खनिज पाया जाता है।

गुजरात—बड़ौदा में बरकुण्डा, छोटा उदयपुर क्षेत्र में स्वर्ण खनिज पाया जाता है।

केरल—इस प्रदेश में कोजिकोडे (नीलाम्बुर घाटी) तथा कनानोर जिले में प्राथमिकतया प्लेसर स्वर्ण पाया जाता है।

मध्य प्रदेश—इस प्रदेश में बिलासपुर, दुर्ग, जबलपुर तथा रायगढ़ जिलों में स्वर्ण खनिज पाया जाता है।

महाराष्ट्र—भंडारा जिले में स्वर्ण खनिज पाया जाता है।

कर्नाटक—इस प्रदेश में बेलारी, बीजापुर, चिकमगलूर, चित्रदुर्गा, धारवाड़ हासन जिलों में स्वर्ण खनिज पाया जाता है।

तमिलनाडु—इस प्रदेश में नीलगिरी, कोयम्बटूर तथा धरमपुरी क्षेत्र में स्वर्ण खनिज पाया जाता है।

प्लेसर स्वर्ण अयस्क

दक्षिण भारत में नीलाचुर घाटी से प्लेसर खनिज निकाला जाता है। आजकाल छनावकार्य आसाम, केरल, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, जम्मू कश्मीर तथा उत्तर प्रदेश में किया जाता है। भारत में प्लेसर निक्षेप निम्न स्थानों में पाया जाता है—

आन्ध्र प्रदेश—ईस्ट गोदावरी जिले में गोदावरी नदी में।

आसाम—सुवर्णसिरी, लोहित, डिहिंग जागलू तथा ब्रह्मपुत्र नदियों के कणों में पाया जाता है।

बिहार—छोटा नागपुर, राँची (सोनापेट) कामेरारा तथा धीवा क्षेत्रों में पाया जाता है।

गुजरात – जूनागढ़ में सुरेखा नदी में।

हिमाचल प्रदेश—विलासपुर, कागड़ा, महासू मंडी आदि स्थानों में पाया जाता है।

जम्मू कश्मीर—कठुआ, उधमपुर तथा लद्दाख़ क्षेत्रों में पाया जाता है।

केरल–वायनद पठारी के पास, नीलाचुर घाटी में।

महाराष्ट्र—भंडारा मारु नदी में रायचूर राजिम क्षेत्र में।

कर्नाटक—बेलगाम, तथा चिकमगलूर में।

उड़ीसा—धेकेनाल, **किचोझर,** कोरापुर, मयूरभंज, सम्बलपुर, सुन्दरगढ़ जिलों में।

राजस्थान—अजमेर-सुनारकरी में, जोधपुर लूनी खादी नदी में।

सिरोही—शोहिरा नदी में।

तमिलनाडु—सेलम तथा मदुराई में।

उत्तर प्रदेश—विजनौर, नगीना, सोनाबाड़ी, कालागढ़ में अलकनन्दा, गंगा गोमती, पिडार तथा पनार नदियों में।

पश्चिम बंगाल—बाकुँरा मिदनापुर, प्रक्षलिया जिलों में पाया जाता है।

सोने की खोज

सोने का अन्वेषण कार्य कई स्तरों पर किया जाता है। सबसे पहले स्वर्ण के पुराने विषय में ग्रंथों से जानकारी प्राप्त की जाती है। निक्षेपों के हवाई चित्रों तथा दृश्यांकन छवि से इन स्थानों का भूवैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त किया जाता है। भूवैज्ञानिक मान चित्रण अधिक पैमाने पर किया जाता है। संरचना से तथा शैलिरी अध्ययन से स्वर्णयुक्त खनिजों के सह जनन का पता चलता है। रासायनिक विश्लेषण से स्वर्ण खनिजों के सह जनन तथा स्थान का पता चलता है। भूभौतिकी विधियों से धनीकृत क्षेत्र का पता चलता है। प्लेसर स्वर्ण अयस्कों के लिए छनाव विधि अपनायी जाती है। भारत में अनेक स्थानों पर छनाव कार्य जारी है, जिससे स्वर्णयुक्त मृदाओं का पता चलता है। स्वर्ण खनिजों से शुद्ध स्वर्ण प्राप्त करने के लिए धात्वीय प्रक्रियाओं का सहारा लेना पड़ता है। इनमें फ्राथ फ्लोटेशन, साइना-इजेशन तथा अमलगमेशन प्रक्रियायें प्रधान हैं।

□□

सारणी—1

प्रधान उत्कापिण्डों में स्वर्ण मात्रा (पीपीएम)

टेक्टाइट=	0.0074
एरियोलाइट कैल रहित	0.014
कैल बहुल	0.0037
क्रोन्ड्राइट कार्बनयुक्त	0.16
हाइपरस्थिन	0.15
ब्रांजाइट	0.21
एनस्टाइट	0.27
सिडियोराइट	1.5
सिडेराइट	
हेक्साहेड्राइट	0.67

आक्टाहेड्राइट	1.3
एटाक्साटाइट	1.2

सारणी—2

प्रमुख शिलाओं में स्वर्ण मात्रा (पीपीबी)

पेग्माटाइट	0.01
ग्रेनाइट	7.1-2.8
क्वार्ट्ज भारफरी	12.0
राचोलाइट	12.0
टुफ	5.2
डायोराइट	4.3
एण्टुसाइट	5.2
ग्रेबो	5.4
नोराइट	2.9
बसाल्ट	3.6
डनाइट	8.2
सैंडस्टोन	7.5
शैल	3.9
क्ले	17.1
लाइमस्टोन	3.5
आर्जिलाइट	8.3
फिलाइट	1.2
शिस्ट	5.0
नाइस	1.8
हार्नफेल्स	8.4
इम्लोगाइट	2.2

सारणी—3

विश्व के प्रमुख देशों में सोने की मात्रा मिलियन पाहन ट्राइ औंस में 1980

अर्जेन्टाइना	4·37
आस्ट्रेलिया	7·93
बेलज़ियम	34·18
ब्राज़ील	1·70
कनाडा	21·22
फ्रांस	81·85
भारत	8·56
इज़राइल	1·18
इटली	66·67
जापान	24·47
ब्रिटेन	18·76
सं० रा० अमेरिका	264·60
प० जर्मनी	95·18
टर्की	3·77
स्पेन	14·61
स्विटज़र लैण्ड	83·28

सारणी—4

भारत में विभिन्न स्वर्ण मुद्राओं में सोने की मात्रा औंस में

200 मोहर	68·73
100 मोहर	34·36
5 मोहर	1·718
2 मोहर	0·687
1 मोहर	0·344
½ मोहर	0.172
1/3 मोहर	0·115
1/4 मोहर	0·086
1/6 मोहर	0·057
1/8 मोहर	0·043
1/32 मोहर	0·011
5 रुपिया	0·115
10 रुपिया	0·230
15 रुपिया	0·235
1 पगोडा	0·077
100 कोरी	0·551
50 कोरी	0·276
25 कोरी	0·138

सारणी—5

ब्रिटेन में स्वर्ण मुद्राओं में स्वर्ण की मात्रा

	औंस में
1 नोबुल	0·251
1 ऐंजेल	0·154
1 रायल	0·400
1 सावरेन	0·384
1 जार्ज नोबुल	0·133
3 पाउँड	0·796
20 शिलिंग	0·265
2 क्राउन	0·133
5 शिलिंग	0 666
5 गिनी	1·23
2 गिनी	0·492
2 गिनी	0·246
5 पाउंड	1·177
1/2 पाउंड	0·118

विज्ञान वक्तव्य

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

लघु पुच्छ वानर की चिंतनीय दशा

जीव-जंतुओं और वनस्पतियों की घटती संख्या आज सारी दुनिया में चिंता का विषय है। कुछ दूर-दर्शितापूर्ण प्रयासों के फलस्वरूप अनेक जातियों को न केवल सुरक्षित रखने वरन् उनकी संख्या बढ़ाने में भी अभूतपूर्व सफलता मिली है। किन्तु अनेक जीवजातियाँ ऐसी हैं जिनकी संख्या यदि बहुत कम हो गई तो बाद में उनकी संख्या में वृद्धि की संभावना दुराशामात्र होगी। ऐसी ही जीवजातियों में **लघु पुच्छ वानर** या **शेरपुच्छ वानर** (lion-tailed macaque) शामिल है। इसका वैज्ञानिक नाम **मैकाका साइलेनस** (*Macaca silenus*) है।

अपनी लगातार घटती संख्या के कारण भारत में लघु पुच्छ वानर केरल, कर्नाटक और तमिलनाडु के वर्षा वनों तक ही सीमित हो गया है। आज इस वानर के लिए सबसे बड़ी समस्या इसके आवास की समस्या है। ये वर्षावन बड़े क्षेत्रों में न फैले होकर छोटे-छोटे खण्डों में हैं और यही वजह है कि लघु पुच्छ वानर छोटे-छोटे समूहों में पाये जाते हैं। इससे इनका 'जीन पूल' (Gene pool) या वंश-राशि भी छोटी है। किसी समय वर्षा-वनों के छोटे-छोटे टुकड़े एक बड़े जंगल के रूप में थे और तब लघु पुच्छ वानरों की संख्या भी अधिक थी। इस प्रकार जैसे-जैसे वनों का आकार सिमटता गया, इन वानरों की संख्या में कमी आती गई। जनसंख्या का दबाव, झूम खेती, पशुओं द्वारा चराई, लकड़ी एवं अन्य वनोत्पादों का अत्यधिक दोहन इन वनों के विनाश के मुख्य कारण हैं। आज बचे हुए इन्हीं 'टापूनुमा' छोटे वन-खण्डों में लघु पुच्छ वानर 'कैद' होकर रह गया है। जीवसंख्या का अध्ययन करने वाले वैज्ञानिकों का निश्चित मत है कि जिन जीवजातियों की संख्या में तेजी से वृद्धि होती है उनके 'जीन पूल' में भी बढ़ोतरी होती है। लघु पुच्छ वानरों की जन्मदर अत्यन्त धीमी है इस कारण इनकी संख्या बढ़ना आसान नहीं।

आमतौर से इनकी मादा साढ़े पाँच या छः वर्ष की आयु में बच्चा जनने के योग्य हो जाती है किन्तु एक बार में एक ही संतान को जन्म दे सकती है और कई बार तो जन्म के बाद ही बच्चों की मृत्यु भी हो जाती है। कभी-कभी बच्चे दो-ढाई वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते काल के गाल में समा जाते हैं। इन सभी कारणों से इनकी संख्या की वृद्धि में बाधाएँ आती हैं।

लघु पुच्छ वानर सामाजिक प्राणी है। ये लगभग 15-15 के छोटे समूहों में रहते हैं। समूह का मुखिया नर होता है। मुखिया के अतिरिक्त इसमें आधी दर्जन मादायें और शेष बच्चे होते हैं। एक समूह में वर्ष में 2-3 बार ही बच्चे का जन्म होता है। एक तो इनकी प्रजनन-दर धीमी है और ऊपर से मनुष्यों द्वारा इनका शिकार भी किया जाता है। दूसरी समस्या भोजन की है। अनुसंधानकताओं का मानना है कि इसका मुख्य भोजन फल है। इसके अतिरिक्त कीड़े-मकोड़े और अण्डे भी इनके भोजन का अंग हैं। भारतीय वन्य जीवन संस्थान के शोधार्थी **अजित कुमार** ने तो इनकी निरंतर घटती संख्या से चिंतित होकर इन्हें 'जीवित शव' (Living dead) की संज्ञा दी है।

इसी वर्ष सैन डियागो में लघु पुच्छ वानरों पर हुए 'तृतीय विश्व संगोष्ठी' में इन वानरों को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने के विषय में भी विचार-विमर्श किया गया। मादाओं को बेहोश करके कृत्रिम गर्भाधान का भी सुझाव आया। यह विचार भी व्यक्त किया गया कि इन पर अभी और अधिक वैज्ञानिक शोध की आवश्यकता है। लघु पुच्छ वानर और इस जैसी अनेक जीवजातियों की समस्याओं के समाधान तो निकल सकते हैं, पर आवश्यकता है लोभ संवरण और दृढ़ संकल्प की। आवश्यकता है हमारे हृदयों में वन, वनस्पतियों, पशु-पक्षियों सहित इस प्रकृति के प्रति ममता और दया के उदय होने की। □□

उत्तर प्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है, यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियां भेजी जानी चाहिये। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं :

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०; आधा पृष्ठ 100.00 रु०; चौथाई पृष्ठ 50.00 रु०; आवरण द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ 500·00 रु०।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत; 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु०
वार्षिक : 25 रु०
प्रति अंक : 2 रु० 50 पैसे

प्रेषक : विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद–211002

परिषद् की मुख पत्रिका

दिसम्बर 1990

रुपये 50 पैसे

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 1913; 'विज्ञान' का प्रकाशन अप्रैल 1915
दिसम्बर 1990; वर्ष 76, अंक 9

मूल्य
आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत; 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु०
वार्षिक : 25 रु०
एक प्रति : 2 रु० 50 पैसे

प्रकाशक
डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी
प्रधान मंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

मुद्रक
श्री सरयू प्रसाद पाण्डेय
नागरी प्रेस
186 अलोपी बाग
इलाहाबाद

सम्पर्क
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002

विज्ञान विस्तार

अधिक लोहा भी शरीर को गलाता है

डॉ० विजय कुमार श्रीवास्तव

हमारे शरीर में लौह तत्वों की कमी ख़ून की कमी यानी एनीमिया (रक्ताल्पता) रोग को जन्म देती है। लेकिन आवश्यकता से अधिक लोहा एनीमिया से भी अधिक ख़तरनाक बीमारी "हीमोक्रोमेटोसिस" का कारण बनती है। यह बीमारी मधुमेह, यकृत सिरोसिस, गठिया, हृदय रोग तथा पुरुष बांझपन और नपुंसकता को जन्म देती है। विडम्बना तो यह है कि एनीमिया और हीमोक्रोमेटोसिस के प्रारम्भिक बाह्य लक्षण एक जैसे होते हैं। इसलिए एनीमिया समझकर लौहतत्व युक्त गोलियाँ या लौह संपूरक विटामिन लेने से पहले खून की जाँच बहुत ज़रूरी है, नहीं तो एनीमिया पर काबू पाने और लौह शक्ति प्राप्त होने के स्थान पर "हीमोक्रोमेटोसिस" जैसा रोग लग जाएगा।

लोहा हमारे शरीर के लिए बहुत आवश्यक है। हमारे ख़ून की प्रोटीन हीमोग्लोबिन की रचना लौह-अणुओं से मिलकर ही होती है। रक्त का सबसे महत्वपूर्ण काम है साँस लेने से फेफड़ों में आयी हुई ऑक्सीजन को शरीर की सारी कोशिकाओं तक पहुँचाना। ऑक्सीजन की उपस्थिति में ही कोशिकाएँ पोषक पदार्थों का ऑक्सीकरण करके शरीर के लिए आवश्यक ऊर्जा प्राप्त करती हैं। विभिन्न कोशिकाओं तक ऑक्सीजन को ढोने का काम हीमोग्लोबिन ही करती है।

शरीर में लौह तत्वों की कमी से रक्त में हीमोग्लोबिन की मात्रा भी कम हो जाती है। इस अवस्था को अल्परक्तता या एनीमिया रोग कहा गया है और 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' के अनुसार इस समय दुनिया के विकासशील देशों में लगभग 25 करोड़ महिलाएँ और लगभग इतने ही बच्चे एनीमिया के शिकार हैं। परन्तु सम्भवत: यह बहुत ही कम लोगों को मालूम है कि शरीर में आवश्यकता से अधिक मात्रा में लौह तत्वों की उपस्थिति भी एक बीमारी को जन्म देती है जो एनीमिया से कहीं अधिक ख़तरनाक होती है। इसे "हीमोक्रोमेटोसिस" या रक्तवर्णकता के नाम से जाना जाता है। इस रोग में व्यक्ति के शरीर में कभी-कभी तो लौह तत्वों की मात्रा इतनी अधिक बढ़ जाती है कि यदि उसकी अत्यन्त संवेदनशील मेटल डिटेक्टर से जाँच की जाय तो डिटेक्टर का अलार्म बज उठेगा।

इस प्रकार की एक घटना ने एक बार अमेरिका के ब्राक्स वेटेरंस एडमिनिस्ट्रेशन मेडिकल सेंटर के लोगों को आश्चर्यचकित कर दिया था। एक बार एक बदमिज़ाज रोगी द्वारा डॉक्टर और नर्सों पर गोली चलाने के बाद से इस अस्पताल के प्रवेश द्वार पर मेटल डिटेक्टर लगा दिया गया था। अस्पताल में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को इस मेटल डिटेक्टर से गुज़रना पड़ता था। एक बार अस्पताल के रक्तविज्ञानी **विक्टर हर्बर्ट** के साथ आया एक रोगी जैसे ही इस मेटल डिटेक्टर युक्त दरवाज़े से निकला, डिटेक्टर का अलार्म बज उठा। लोगों को इस घटना ने आश्चर्यचकित इसलिए किया क्योंकि अस्पताल के प्रवेश द्वार में प्रवेश करने से पहले रोगी के शरीर से धातु की सभी वस्तुएँ, यहाँ तक कि उसकी बेल्ट भी, अलग कर ली गयी थीं। लोगों के कुतूहल को शान्त किया डॉक्टर हर्बर्ट ने। उन्होंने बताया कि वह व्यक्ति वास्तव में हीमोक्रोमेटोसिस रोग का शिकार था, जिसके कारण उसके शरीर में 30 ग्राम से भी अधिक लोहा भरा हुआ था।

अभी कुछ वर्ष पहले तक यह रोग बहुत ही दुर्लभ समझा जाता था। यहाँ तक कि 1970 के आस-पास लिखी गयी चिकित्सा विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों तक में 20 हज़ार शिशुओं में से केवल एक को अपने माँ-बाप दोनों से इस रोग को जन्म देने वाली दोषी "जीन" प्राप्त होने की संभावना का उल्लेख होता था। परन्तु सातवें दशक के बाद हुई शोधों के बाद

सम्पर्क सूत्र : श्री हरीश अग्रवाल, डी-40, गुलमुहर पार्क, नई दिल्ली-110049 फोन : 669820

यह रोग "सामान्य" की श्रेणी में आ गया है। आस्ट्रेलिया, फ्रांस, स्वीडेन, ब्रिटेन और अमेरिका से हाल में मिली रिपोर्टों के अनुसार प्रति हज़ार 3-4 व्यक्ति इस रोग का शिकार होते हैं। भारतवर्ष में यह संख्या अभी साफ़ नहीं है। सन् 1988 में ब्रिटेन से प्रकाशित एक प्रसिद्ध शोध जर्नल 'न्यू इंगलैंड जनल ऑव मेडिसिन' में यूनिवर्सिटी ऑव ऊटा, स्कूल ऑव मेडिसिन के वैज्ञानिक **कार्बिन एडवर्ड्स** और उनके सहयोगियों का एक शोध निबन्ध प्रकाशित हुआ था। इस शोध निबन्ध के अनुसार लगभग 11 हज़ार स्वस्थ दिखने वाले रक्त दाताओं के रक्त की जाँच के आधार पर एडवर्ड्स और उनके सहयोगी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अमेरिका के लगभग 10 लाख व्यक्ति अपने शरीर में सामान्य से कहीं अधिक मात्रा में लौह तत्व जमा किये हुए घूम रहे हैं और देर सबेर इन सबमें हीमोक्रोमेटोसिस रोग के लक्षण प्रकट हो ही जाएँगे।

कितना लोहा चाहिए

लोहा पृथ्वी पर चौथा सबसे अधिक मात्रा में पाया जाने वाला तत्त्व है। एक स्वस्थ मनुष्य के शरीर में लोहे की मात्रा लगभग 4 ग्राम होती है। इसके अतिरिक्त शरीर को प्रतिदिन 2·2 मिलीग्राम तत्वों की जरूरत होती है, जिसे आँतें पचे हुए भोजन से प्राप्त कर लेती हैं। प्राप्त लौह तत्वों का आधा भाग हीमोग्लोबिन तथा मांसपेशियों की प्रोटीन मायोग्लोबिन के निर्माण में खर्च हो जाता है। परन्तु लौह तत्त्वों की जो मात्रा खर्च नहीं हो पाती है, वह मुख्यतः यकृत यानी जिगर में जमा होती रहती है।

सामान्य अवस्था में हमारी आँतें भोजन में जितना लोहा रहता है, उसका केवल 10 प्रतिशत ही प्राप्त कर पाती हैं। लेकिन हीमोक्रोमेटोसिस रोग में यह प्राकृतिक सन्तुलन बिगड़ जाता है और आँतें अधिक मात्रा में लौह तत्वों का अवशोषण करने लगती हैं। अक्सर यह अधिक मात्रा आधे से एक मिलीग्राम प्रतिदिन के आस-पास ही होती है जो पहले यकृत में और बाद में अग्न्याशय, हृदय तथा हाथ-पैरों के जोड़ों में जमा होने लगती है। रोज आधा से लेकर एक मिलीग्राम के हिसाब से जुड़ते-जुड़ते वर्षों में यह मात्रा काफ़ी अधिक हो जाती है। हीमोक्रोमेटोसिस रोग के लक्षण सामान्यतः 40 वर्ष की आयु के बाद ही दिखाई देत हैं, जब शरीर में लोहे की मात्रा 20 ग्राम से अधिक हो जाती है। इस अवस्था में यकृत और अग्न्याशय में लौह तत्वों की मात्रा सामान्य से 50-100 गुना, थॉयराइड ग्रंथि में 25 गुना और हृदय तथा एड्रीनल (अधिवृक्क) ग्रंथि में 10-15 गुना बढ़ जाती है।

ज़्यादा लोहा ज़हर है

शरीर के इन अत्यन्त मत्हवपूर्ण अंगों में इतनी अधिक मात्रा में लौह तत्त्व जमा हो जाने से उनके ऊतकों को काफ़ी क्षति पहुँचती है। अग्न्याशय की इन्सुलिन बनाने वाली कोशिकाओं के क्षतिग्रस्त हो जाने से रोगी मधुमेह का शिकार हो जाता है। हीमोक्रोमेटोसिस के 80 प्रतिशत रोगी मधुमेह से पीड़ित होते हैं। यकृत की कोशिकाओं के क्षतिग्रस्त हो जाने से यकृत सिरोसिस हो जाता है, जो बाद में कैंसर का रूप ले लेता है। इस रोग में होने वाली अधिकांश मौतों का कारण यकृत का कैंसर ही होता है। हृदय की मांसपेशियों में लोहे की अधिक मात्रा मांसपेशियों को नुकसान पहुँचाती है, जिससे हृदय गति बन्द हो सकती है। हाथ पैरों के जोड़ों में अधिक लोहा जमा हो जाने से गठिया हो जाता है और वृषण (टेस्टिस) में जमा लोहा शुक्राणु पैदा करने वाली कोशिकाओं को नष्ट करके प्रभावित पुरुष को बच्चे पैदा करने में तो असमर्थ बना ही सकता है, साथ ही अनेक बार नपुंसकता जैसी स्थिति को भी जन्म देता है।

शुद्ध रूप में लोहा तो हमारे शरीर के लिए वैसे ही हानिकारक है। यह हमारी कोशिकाओं के लिए विष के समान होता है। इसलिए शरीर इसको रक्त में शुद्ध रूप में घूमने ही नहीं देता। आँत जैसे ही भोजन से लौह तत्व चूसती है, वैसे ही रक्त में मौजूद ट्रांसफेरिन नाम की प्रोटीन इसके साथ आकर जुड़ जाती है। फिर तो यह जहाँ भी जाता है, ट्रांसफेरिन

लोहे के विषैले प्रभाव से शरीर की रक्षा करती हैं। सामान्य अवस्था में किसी भी समय शरीर में उपस्थित केवल एक तिहाई ट्रांसफेरिन अणु ही इस्तेमाल होते हैं, लेकिन हीमोक्रोमेटोसिस रोगी के रक्त में मौजूद सारे के सारे ट्रांसफेरिन अणु लोहे से छक जाते हैं। रक्त की जाँच में यदि ऐसा दिखाई दे तो समझिए कि व्यक्ति हीमोक्रोमेटोसिस का शिकार है, चाहे रोग के लक्षण दिखाई दे रहे हों अथवा नहीं।

लगभग सौ वर्ष पूर्व एक जर्मन चिकित्सक ने लोहे के जंग के समान रंग जैसे रोगी के अंगों के आधार पर इस रोग को हीमोक्रोमेटोसिस नाम दिया था। बहुत दिनों तक इस रोग को ब्रोंज़ डायबिटीज़ (कांस्य मधुमेह) भी कहा जाता रहा, क्योंकि हीमोक्रोमेटोसिस के बहुत से रोगियों की त्वचा कांसे के रंग की हो जाती है।

पुरखों की देन

अब तक के अनुसंधानों से चिकित्सा वैज्ञानिक इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि हीमोक्रोमेटोसिस एक आनुवंशिक रोग संतान को अपने माता-पिता से प्राप्त होता है। हमारे शरीर की रचना करने वाली प्रत्येक कोशिका के केन्द्रक (न्यूक्लियस) में डी एन ए के रूप में मौजूद 23 जोड़े गुणसूत्रों (क्रोमोसोम) की हर माला में मनकों के रूप में जीन (वंशाणु) पिरोए जाते हैं। गुणसूत्र के प्रत्येक जोड़े में से एक संतान को पिता से तथा दूसरा माँ से प्राप्त होता है। हर गुणसूत्र में कोई 4500 जीन होते हैं। जीव के प्रत्येक गुण-अवगुण का निर्धारण तथा उन्हें एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक स्थानान्तरित करने की ज़िम्मेदारी इन्हीं जीनों पर होती है।

किसी जीन की संरचना में कोई दोष आ जाने या कोई जीन गायब ही हो जाने से उस जीन द्वारा नियंत्रित होने वाली प्रक्रिया प्रभावित होती है, जो किसी रोग के रूप में सामने आती है। अब तक 4 हज़ार के करीब ऐसे रोगों का पता चल चुका है और वैज्ञानिक इस प्रकार के रोगों के लिए ज़िम्मेदार लगभग सवादो सौ जीनों की पहचान भी कर चुके हैं। हीमोक्रोमेटोसिस भी जीनों की खराबी के कारण उत्पन्न होने वाला रोग है। लेकिन यह अपना प्रभाव तभी दिखा पाता है जब संतान को दोषी जीन माँ और बाप दोनों से ही प्राप्त होती है, न कि किसी एक से।

इतना सब कुछ जानने के बाद अब वैज्ञानिक हीमोक्रोमेटोसिस रोग को जन्म देने वाली जीन को पहचानने तथा उस जीन की रचना करने वाले सर्पिलाकार डी एन ए रसायनों की कुंडलियों की भाषा को पढ़ने के प्रयास में लगे हुए हैं। वैज्ञानिकों को आशा है कि जिस दिन उन्हें इस जीन की पूरी इबारत को पढ़ने में कामयाबी मिलेगी, उसी दिन उन्हें यह भी पता चल जाएगा कि किस प्रकार यह जीन आँत को आवश्यकता से अधिक मात्रा में लौह तत्व अवशोषित करने का आदेश देती है। इस जानकारी के बाद संभवतः इस प्रकार की ओषधि का निर्माण संभव हो जाएगा जो या तो जीन को ग़लत आदेश देने से या आँतों को उस आदेश का पालन करने से रोक देगी। इस प्रकार शरीर में आवश्यकता से अधिक लोहा इकट्ठा ही नहीं होने पाएगा।

लेकिन जब तक ऐसा नहीं हो पाता है तब तक इस बीमारी का एक ही इलाज है। कम से कम एक या दो वर्ष तक (या जब तक शरीर में लोहे की मात्रा काफ़ी कम न हो जाय तब तक) प्रति सप्ताह या 2 सप्ताह में एक बार शरीर से खून निकलवाना। बहुत प्रारंभिक अवस्था में रोगी को शरीर में जमा अतिरिक्त लोहे को कम करने वाली दवाओं का इंजेक्शन दिया जाता है। हाँ, यह याद रखना आवश्यक है कि इन सभी इलाजों से लाभ तभी तक होता है, जब तक अधिक लोहे से शरीर के ऊतकों को क्षति न पहुँची हो।

सबसे पहले तो खून की जाँच ज़रूरी है। खासतौर से दिल, जिगर और मधुमेह के रोगी तो इस बात की ज़रूर जाँच करा लें कि उनके खून में लोहा ज़रूरत से ज़्यादा तो नहीं है। सामान्य व्यक्ति इस लेख को पढ़ने के बाद, ऐसा न हो कि लोहे वाली पालक और चौलाई जैसी भाजियाँ और सेब, केला वगैरह फल

खाना बन्द कर दें। हमारे भोजन में लौहधारी खाद्य-पदार्थ यों ही कम होते हैं। अगर खून में लोहे की कमी है, तो लोहे वाले टॉनिक या लौहधारी विटामिन की गोलियाँ तभी लें और उतनी ही लें, जितना डॉक्टर बताये। बहुत थका-थका महसूस करने और किसी काम में मन न लगने की शिकायत पैदा होते ही खून की जाँच कराइए। यह खून में लोहे की कमी का भी लक्षण हो सकता है और लोहे की अधिकता का भी। लोहे के आधिक्य स पुरुष अधिक सावधान रहें, क्योंकि हीमोक्रोमेटोसिस की जीन मर्दों में आये, इसकी संभावना दुगनी है।

□□

[इस्वा फीचर्स]

ओज़ोन परत की सुरक्षा : कुछ नये विकल्प

सुधीर अवस्थी

क्लोरोफ्लोरोकार्बन या सी० एफ० सी० यौगिक धरती को सूर्य की खतरनाक पराबैंगनी विकिरणों से बचाने वाली ओज़ोन परत की विनाशक है, यह बात अब सारी दुनिया को मालूम हो गई है। हमारी धरती के चारों ओर ओज़ोन की इस छतरी में जगह-जगह छेद हो गये हैं। अगर यह छेंद बढ़ते रहे तो धरती पर गरमी बढ़ेगी और पराबैंगनी विकिरण समस्त प्राणियों को मुश्किल में डाल देंगे। ध्रुवों की बर्फ पिघल जायेगी, जिसके कारण समुद्रों का पानी ऊपर चढ़कर अनेक तटवर्ती क्षेत्रों को प्रलयंकारी बाढ़ की चपेट में ले लेगा।

सी० एफ० सी० यौगिकों का घरेलू और औद्योगिक क्षेत्र में इतना ज्यादा इस्तेमाल हो रहा है कि उनकी जगह दूसरे रसायनों का इस्तेमाल वैज्ञानिकों के लिए बहुत बड़ी चुनौती बन गया है। अभी तक कोई विकल्प नहीं खोजा जा सका है और अकेले यूरोपीय समुदाय के देशों में ही हर साल डेढ़ लाख टन सी० एफ० सी० यौगिकों का इस्तेमाल हो रहा है। ये यौगिक वातानुकूलन और प्रशीतन के उपकरणों के अलावा ऐरोसॉल में प्रणोदक यौगिकों की तरह से तथा पैकेजिंग और इन्सुलेटिंग बोर्ड बनाने में फोम पैदा करने के यौगिकों के रूप में इस्तेमाल हो रहे हैं। इलेक्ट्रॉनिक उद्योग में विलायक के रूप में और इलाज के काम आने वाली दवाओं में जीवाणुरोधक के रूप में सी० एफ० सी० यौगिकों का इस्तेमाल हो रहा है।

मसालों और मेवा तैयार करते समय भी ये यौगिक काम आते हैं और बिजली पैदा करने में भी तथा आग बुझाने के उपकरणों में तथा अनेक रसायन बनाने में व पॉलीमर यौगिकों के फ्लोरीनेशन में भी इनका इस्तेमाल हो रहा है। वैज्ञानिक अनुसंधानों में तरल पदार्थों के बहाव सम्बन्धी अध्ययनों में ये यौगिक काम आ रहे हैं। प्रयोगों से पता चला है कि ध्रुवीय बर्फ़ को पिघलाने में वायुमण्डल के चारों ओर की ओज़ोन परत के घटने का जो असर पड़ा है, उसमें सी० एफ० सी० का बहुत बड़ा योग है।

अच्छा रहेगा एच० एफ० सी०

सी० एफ० सी० का विकल्प खोजते समय हमें यह ध्यान में रखना होगा कि जिस तरह सी० एफ० सी० यौगिकों में आग नहीं लग सकती, किसी दूसरे रसायन से वे क्रिया भी नहीं करते, उसी तरह ये खूबियाँ उसके वैकल्पिक यौगिकों में भी होनी चाहिए इसके साथ ही वैकल्पिक यौगिकों में ओज़ोन में कमी लाने का दुर्गण या तो बिल्कुल न हो या बेहद कम हो।

अनुसंधान से पता चला है कि ओज़ोन की परत नष्ट करने में दो बातें असर डालती हैं। एक तो यौगिक में मौजूद क्लोरीन का अनुपात और दूसरा वायुमण्डल में तरल यौगिक के सक्रिय बने रहने का समय। इस आधार पर जो मूल सी० एफ० सी० यौगिक खोजे गए थे, उनका ओज़ोन विनाशक अंक 1 था और आग बुझाने वाले उपकरणों में मौजूद सी० एफ० सी० यौगिकों में यह अंक 3 से 10 तक पाया गया। इस आधार पर ऐसे यौगिक खोजे जा रहे हैं,

जूनियर रिसर्च फेलो, पर्यावरण अध्ययन केन्द्र, कानपुर विश्वविद्यालय, कानपुर—208024

जो वायुमण्डल में बहुत तेजी से फैल जाएँ और ज्यादा देर तक टिके न रहें।

ऐसे यौगिकों की खोज करते-करते वैज्ञानिक हाइड्रोफ्लोरोकार्बन (एच० एफ० सी०) यौगिकों तक पहुँचे। ये बहुत कम टिकाऊ हैं और वायुमण्डल की ऊपरी परत तक पहुँचते-पहुँचते ये लगभग नष्ट हो जाते हैं। पर्यावरण की दृष्टि से सी० एफ० सी० यौगिकों की अपेक्षा एच० एफ० सी० यौगिक अधिक स्वीकार्य हैं। इनका ओज़ोन विनाशक अंक शून्य से 0.05 है जो सी० एफ० सी० यौगिकों की तुलना में बहुत कम है। लेकिन अभी नये एच० एफ० सी० यौगिकों पर ज्यादा खोज नहीं हुई है, बहुत कम आँकड़े उपलब्ध हैं और इनकी सत्यता के बारे में भी शंकाएँ उठायी गयी हैं।

एच० एफ० सी० यौगिकों के बारे में विश्वसनीय आँकड़ों की कमी का नतीजा यही हो रहा है कि पर्यावरण के प्रति वास्तविक चिंताओं से ग्रस्त होते हुए भी आर्थिक दबावों के वशीभूत विविध उद्योगों में सी० एफ० सी० तरल यौगिकों का इस्तेमाल बराबर जारी है, आगे भी चलता रहेगा।

इस समस्या से निपटने के लिए ब्रिटेन की राष्ट्रीय इंजीनियरिंग प्रयोगशाला (एन० ई० एल०) ने तीन महत्वपूर्ण परियोजनाएँ शुरू की हैं। इनमें से कुछ के लिए विश्वविद्यालयों और उद्योगों से सहयोग लिया जा रहा है। इनका उद्देश्य यह है कि ऐसे हैलोजनयुक्त हाइड्रोकार्बनों का पता लगाया जाये जो पर्यावरण की दृष्टि से निरापद ताप-भौतिकीय गुणों वाले हों और ताप-विनिमय की सभी खूबियों के बावजूद उनके लिए ऐसे हीट-एक्सचेंजर (ताप-विनिमायक) इस्तेमाल किए जाएँ, जिनसे पर्यावरण को कोई ख़तरा न हो।

ताप-भौतिकीय गुण

जिन औद्योगिक प्रक्रमों में इन यौगिकों का इस्तेमाल ज़रूरी है, उनमें नये यौगिकों की आर्थिक और तकनीक क्षमता परखने के लिए यह आवश्यक है कि जो तरल इस समय काम में लाये जा रहे हैं, उनके भौतिक गुणों के बारे में मानकीकृत आँकड़े उपलब्ध हों, लेकिन मुश्किल यह है कि अनेक वांछनीय ताप-भौतिकीय विशेषताओं को मापना बड़ा कठिन है ख़ासतौर से संचालकता की। अतः सबसे ज़रूरी बात यह कि मापने की सुधरी तकनीकें खोजी जाएँ। शोध केन्द्रों में हैलोजनयुक्त हाइड्रोकार्बनों और उनके ए० जी० ओ० ट्रोपिक मिश्रण के ताप-भौतिकीय गुणों विशेष रूप से तापीय संचालकता ज्ञात करने के तरीके खोज जा रहे हैं।

निम्न तापमान पर तरल अवस्था से लेकर उच्च तापमान और उच्च दाब पर गैसीय अवस्था में अनेक प्रकार की परिस्थितियों में माप लिए जायेंगे। खासतौर के एच० एफ० सी० वर्ग के उन यौगिकों पर ध्यान दिया जा रहा है जिनका ताप-विनिमय के क्षेत्र में विशेष योगदान है। उदाहरणार्थ प्रशीतन व वातानुकूलन के उपकरणों तथा इन्सुलेटिंग फोम और बोर्ड में बोइंग एजेन्ट के रूप में काम आने वाले यौगिकों के रूप में इस्तेमाल होने वाले एच० एफ० सी० यौगिक हैं।

वर्तमान शोध कार्य में मापने की तकनीक गरम तार वाली विधि है, जो विशेष रूप से इम्पीरियल कॉलेज, ब्रिटेन के **प्रोफेसर वेक हेन** द्वारा सन् 1970 के बाद के दशक के मध्य में खोजी गयी तकनीक का ही अधिक विकसित और सुधरा रूप है। तरल और गैस दोनों ही अवस्थाओं में तरल पदार्थों की तापीय-चालकता ज्ञात करने का यह तरीका अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर एक मात्र मान्य विधि है।

पुष्टिकरण

एच० एफ० सी० यौगिकों की नई श्रेणी पुराने सी० एफ० सी० यौगिकों की तुलना में कम टिकाऊ होती है। अतः यह ज़रूरी हो गया है कि इनको जाँचने के तरीके में सुधार किया जाये। कम टिकाऊ होने की वजह से इनका जल्दी तापीय विघटन और आयनीकरण हो सकता है। कुछ शोध केन्द्रों पर प्लेटिनम की बजाय ऑक्सीकृत टेंटेलम के तारों के उपयोग से मापने में आसानी हुई है।

शोध परियोजनाओं की समाप्ति पर, निम्न ताप-

मान पर एच० एफ० सी० यौगिक प्रशीतन और वातानुकूलन संयंत्रों से ताप विनिमय करने में कितने कामयाब होंगे, इसके बारे में पूरी जानकारी मिल सकती है। इसके लिए एच० एफ० सी० यौगिकों को अकेले भी परखा जाता है और दूसरे लूब्रीकेंटों के साथ मिलकर भी। नये एच० एफ० सी० यौगिकों को प्रशीतक रसायनों के रूप में इस्तेमाल करने से जुड़े भौतिक गुणों पर अनुसंधान के अतिरिक्त प्रशातन रेफ्रीजरेशन) के काम आने वाले उपकरणों पर उनके प्रभाव का अध्ययन भी कर रहा है। नए प्रशीतक रसायन ज्यादा कीमती हो सकते हैं, लेकिन पर्यावरण के प्रति निरापद होने की वजह से उनका इस्तेमाल बढ़ेगा और अनुसंधान से उनकी लागत घटाने के लिए उपयोग में आने वाली मात्रा कम की जा सकती है।

मिली-जुली बातें

जिन ताप विनिमयकारी प्रणालियों पर उद्योगों में विचार और अनुसंधान चल रहे हैं, उनमें मुख्यतया प्लेट फिन हीट एक्सचेंजर यानी पी० एफ० एच० ई० प्रणाली को उपयोगी पाया गया है। दूसरी प्रणाली पी० सी० एच० ई० या प्रिन्टेड सर्किट हीट एक्सचेंजर कही जा रही है। इसे मूल रूप से प्रशीतन प्रणालियों के अवशोषण-चक्र के लिए विकसित किया गया था। इससे पहली वाली प्रणाली प्रशीतन के क्षेत्र में उपयोगी पायी गयी। लेकिन दोनों ही प्रणालियाँ, वर्तमान प्रौद्योगिकी की दृष्टि से, पूरी तरह वांछित नहीं मानी जा सकतीं। इनकी अपनी सीमाएँ हैं। उदाहरणार्थ पी० एफ० एच० ई० में स्टेनलेस स्टील की इकाइयाँ काम आती हैं, जिनके कारण यह उतनी सुगठित नहीं बन पायी है और आकार भी बढ़ा है। इसकी तुलना में पी० सी० एच० ई० प्रणाली अधिक सुगठित है, लेकिन कम दाब की गैस इस्तेमाल करते समय यह प्रणाली ताप-विनिमय के लिए उपयुक्त नहीं है। इसके साथ ही प्रशीतन और ब्वायलरों तथा कंडेसरों में छोटे पैमानों के कामों के लिए भी आर्थिक दृष्टि से इतनी लाभप्रद सिद्ध नहीं होती। इसका समाधान यह खोजा गया है कि पी० सी० एच० ई० और पी० एफ० एच० ई० इन दोनों प्रणालियों की सभी खूबियों को मिलाकर और कमियों को मिलाकर एक इस तरह की ताप-विनिमयकारी प्रणाली बनायी जाये जो अधिक कारगर हो। इन अनुसंधानों से अंततः ओज़ोन की परत को सुरक्षित रखने वाले यौगिक संबंधित उद्योग और उपभोक्ताओं को हानि पहुँचाये बिना खोजे जा सकेंगे।

□□

वन एवं वन्य जीव संरक्षण के प्रयास

अशोक कुमार*

धरती पर पिछले करोड़ों वर्षों के उत्क्रमण काल में जीवों की अनेक प्रजातियों की उत्पत्ति हुई और प्रत्येक जाति अपने विशिष्ट ढँग से पर्यावरण के भौतिक एवं जैविक माँगों की सहायता से जीवन निर्वाह करती है। प्रत्येक प्रजाति एक कार्यक्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। पर्यावरण सन्तुलन बनाये रखने के लिए प्राकृतिक रूप से पाये जाने वाली सभी प्रजातियों का अस्तित्व आवश्यक है। इन प्रजातियों को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए वनों का होना नितान्त आवश्यक है। एक ओर जहाँ वनों का प्रतिशत मात्र 22.9% रह गया है वहीं पर हमारे वन गुणात्मक रूप से भी अच्छे नहीं हैं।

वैसे तो वन्य प्राणियों का विनाश मनोरंजन के रूप में प्राचीन काल से होता रहा है लेकिन ब्रिटिश शासन काल में वनों का दोहन उद्योग-धन्धों हेतु कच्चा माल जुटाने के लिए किया गया, जिससे वन्य प्राणियों का सफाया हुआ। आज़ादी मिलने के बाद भी इनका विनाश नहीं रुका। उजड़ चुके वनों को तो पुनः हरा-भरा किया जा सकता है किन्तु जीव प्रजाति के विलुप्त होने के बाद उसे पुनः स्थापित नहीं किया जा सकता।

*शोध छात्र, शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान, इलाहाबाद–211002

1950 1970 के मध्य भारतीय वन्य जीवों की जितनी क्षति पहुँची उतनी शायद पिछले दो शताब्दियों में भी नहीं हुई। पर्यावरण संतुलन बनाये रखने के लिए वन्य जीवों की सुरक्षा अति आवश्यक है और इस दिशा में समाज सेवियों, संस्थाओं एवं सरकार ने अपना महत्वपूण योगदान दिया।

भारत सरकार ने सर्वप्रथम 1970 में बाघों के शिकार पर प्रतिबन्ध लगाया जब **श्री कैलाश साखला** ने मात्र 2500 बाघों की संख्या का साक्ष्य प्रस्तुत किया। उसके बाद 1972 में वन्य जीव (संरक्षण) अधिनियम पारित हुआ, तथा राष्ट्रीय उद्यानों एवं अभयारण्यों की स्थापना होने लगी। आज देश में 60 राष्ट्रीय उद्यान 257 अभयारण्य, 16 टाइगर रिज़र्व तथा एक बायोस्फीयर रिज़र्व स्थापित किये जा चुके हैं।

जीवों का अर्थ हमें मात्र वनों में रहने वाले जीवों से ही नहीं लगाना चाहिए बल्कि अपने आस-पास एवं जल में रहने वाले जीवों को भी वन्य जीवों की श्रेणी में रखना चाहिए।

वन तथा वन्य जीवों की सुरक्षा के लिए कई आन्दोलन चलाये गये तथा संस्थायें स्थापित हुई हैं। **'चिपको आन्दोलन'** उत्तर भारत में **सुन्दर लाल बहुगुणा** तथा दक्षिण में **'अपिको आन्दोलन'** **पाण्डु रंग हेगड़े** के नेतृत्व में चल रहा है। इसी प्रकार का एक आन्दोलन गोवा की पीपुल्स सोसायटी' द्वारा 'पश्चिम घाट बचाओ आन्दोलन' है जिसका नारा **'जंगल बचाओ, मानव बचाओ'** बुलन्द हो रहा है। समुद्र में मछली पकड़ने की स्वचालित नौकाओं और मत्स्य सम्पदा के अन्धाधुन्ध दोहन से न केवल सागर तटों पर प्रदूषण बढ़ा है वरन् अनेक प्रजातियों की मछलियों का का अस्तित्व ख़तरे में पड़ गया है, जिसके विरुद्ध मछुआरों के अखिल भारतीय संघ ने **'जल बचाओ, जीवन बचाओ आन्दोलन'** शुरु किया है। वन्य जीवों के अध्ययन एवं रक्षा हेतु फ्रेंड्स ऑव नेचर सोसायटी की स्थापना की गयी, जिसे इस समय नर्मदा सागर बाँध से होने वाले जैव विनाश के अध्ययन का काम सौंपा गया है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी पर्यावरण संतुलन को बनाये रखने एवं वन्य जीवों की सुरक्षा हेतु कदम उठाया गया है। भारत में अभी तक पशु-पक्षियों को ध्यान में रख कर ही अभयारण्यों का विकास किया गया है, उनमें भी अधिकतर एक जाति के विकास तथा प्रसार पर ध्यान दिया गया जैसे टाइगर रिज़र्व्स। लेकिन **यूनेस्को** ने अपने **मैन एण्ड बायोस्फीयर कार्यक्रम** के अन्तर्गत बायोस्फीयर रिज़र्वस विकसित करने पर ज़ोर दिया है, जिसमें जन्तुओं व वनस्पतियों सहित समस्त पारिस्थितिक तंत्र के सभी अंगों का विकास किया जायेगा। भारत में पहला बायोस्फीयर रिज़र्व नीलगिरि में स्थापित हुआ इस प्रकार कुल 13 रिज़र्व स्थापित करने की मंजूरी सरकार ने प्रदान की है।

वर्ल्ड वाइड फण्ड फॉर नेचर वन्य जीवन में अग्रणी संगठन है जिसका मुख्यालय स्विटज़रलैण्ड में है और 23 देश इसके सदस्य हैं।

साइट्स (CITES कन्जरवेशन ऑन इन्टर-नेशनल ट्रेड इन एण्डैंजर्ड स्पीशीज़), एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है जो समस्त विश्व में समाप्तप्राय एवं विलक्षण वन्य जीवों की सूची, जिसे 'रेड लिस्ट' (Red List) कहते हैं, में भारतीय गैंडा, चित्तीदार बिल्ली एवं लघु पुच्छ वानर (लायन-टेल्ड मैकाक शामिल हैं।

पृथ्वी सरक्षण कोष की स्थापना पर्यावरण संरक्षण की दिशा में एक कदम है, जिसका उद्देश्य तकनीकी का इस्तेमाल कर पर्यावरण संकट समाप्त करना है। संरक्षण का एक महत्वपूर्ण पहलू विलुप्त प्राणियों की खोज है। इस दिशा में भी प्रयास हो रहे हैं। फिन्स बया, जडनी करसर पक्षी, हेस्पाडहेयर तथा पिग्मी हॉग स्तनधारी, जो लुप्त हो गया था, पुन: खोज लिया है। इस कार्य में 'ज़ूलोजिकल सर्वे ऑव इण्डिया' तथा 'बोटेनिकल सर्वे ऑव इण्डिया' ने महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। भारतीय वन एवं वन्य प्राणी सम्पदा के अध्ययन तथा संरक्षण में 'बाम्बे नेचुरल हिस्ट्री सोसायटी' 1883 से अमूल्य सेवा करती आ रही है।

वन एवं वन्य प्राणी संरक्षण की दिशा में सरकार, स्वयंसेवी संस्थायें एवं अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें महत्वपूर्ण कार्य कर रही हैं, किन्तु लक्ष्यप्राप्ति के लिए सभी को इनकी महत्ता को स्वीकारते हुए इस दिशा में ध्यान देना होगा। □□

विज्ञान एवं तकनीकी के बढ़ते कदम

डी० एन० भटनागर

(1) मधुमक्खी के नृत्य का अर्थ

वैज्ञानिक अक्सर कई काम ऐसे करते हैं कि आम आदमी उनकी उपयोगिता के बारे में अटकलें ही लगाता रह जाता है। इसका एक ताज़ा उदाहरण पश्चिम जर्मनी और डेनमार्क के दो वैज्ञानिकों द्वारा बनाई गई एक **रोबोट मधुमक्खी** है। इन्होंने तीन वर्ष की लगातार मेहनत से कांसे के शरीर और रेजन ब्लेडों से काटकर बनाए गए पंखों वाली एक ऐसी रोबोट मधुमक्खी बनाई है जो असली रानी मधुमक्खी के ही समान पंखों को हिलाकर नृत्य कर सकती है।

इसके पंख हीरे के तराशे बियरिंगों पर घूमते हैं। इसे तारों से जोड़ा गया है और इसकी पीठ से निकली एक कड़ी नली कम्प्यूटर नियंत्रित सर्वोमोटरों से जुड़ी है, इसमें मीठे जल का छोटा-सा कुंड भी है।

यह मधुमक्खी एक सेकंड में अपने पंखों को 250 बार और अपने पिछले भाग को 15 बार हिला सकती है। यह छत्ते की भीतरी दीवार पर अंग्रेज़ी के आठ अंक की तरह की गति बहुत तेज़ी से करती है और अपने मुँह से मीठा पानी निकालती जाती है।

जब इस मधुमक्खी को वैज्ञानिकों ने एक छत्ते में घुमाया और उससे पंखों को घुमाकर रानी मक्खी के समान नृत्य कराया तो उसके पीछे अनेक श्रमिक मक्खियाँ आने लगीं। हालांकि उनकी संख्या उतनी नहीं थी जितनी कि आमतौर पर असली रानी मक्खी के पीछे आने वाली मक्खियों की होती है। इसे बनाने वाले वैज्ञानिकों को विश्वास है कि वे इस रोबोट मधुमक्खी की अगली पीढ़ी को और कुशल बनाने में सफल होंगे।

मधुमक्खियों के जीवन-चक्र को और भी बारीक़ी से जानने के प्रमुख उद्देश्य से बनाई गई यह मधुमक्खी, यह जानने के लिए कि आपस में संदेश देने के लिए मक्खियाँ क्या तरीक़ा अपनाती हैं, विशेष उपयोगी पाई गई। वास्तव में अब से लगभग 30 वर्ष पहले जर्मन जीव वैज्ञानिक **कार्ल वान फ्रिश** ने यह खोज की थी कि मधुमक्खियाँ नाच-नाच कर एक दूसरे को यह संदेश देती हैं कि शहद किस दिशा में मिल सकता है। तभी से अनेक अनुसंधानकर्त्ता एक ऐसी बनावटी मक्खी बनाना चाहते थे, जिसकी मदद से वे निश्चित रूप से यह जान जाएँ कि मक्खियाँ आपस में संदेश देने के लिए नृत्य की भंगिमाओं का सही-सही किस क्रम में उपयोग करती हैं। यद्यपि अभी और भी परिष्कृत रोबोट मधुमक्खियों का विकास होना बाकी है, वैज्ञानिक इस मधुमक्खी की मदद से इतना अवश्य जान गए हैं कि अँधेरे छत्ते में मधुमक्खियाँ अपने एन्टेना में बने विशेष अंगों से नाचने की आवाज़ को सुनकर रानी मक्खी की गति का अनुकरण करती हैं।

(2) ग्रामीणों के लिए अधिक रोशनी देने वाली उन्नत लालटेन

शहरों में रोशनी करते बड़े-बड़े चमकदार बल्बों को देखकर यह सोचना भी कठिन होता है कि हमारे देहातों में अधिकतर रोशनी अभी भी छोटे-छोटे टिमटिमाते दियों, ढिबरियों या फिर मिट्टी के तेल की लालटेन से की जाती है।

हमारे देश में एक वर्ष में अनुमानित 36 लाख टन मिट्टी का तेल केवल घरों में रोशनी करने के ही लिए खर्च किया जाता है। यह देश में मिट्टी के तेल की कुल खपत का लगभग 60 प्रतिशत है।

लालटेन अपने वर्तमान रूप में सदियों से इस्तेमाल में आ रही है। इसकी रोशनी कम होती है, बत्ती को बार-बार काटना और साफ़ करना पड़ता है और इसकी चिमनी भी जल्दी-जल्दी टूटती है और बदलनी पड़ती है। मिट्टी के तेल पर आधारित रोशनी करने की दूसरी प्रमुख युक्ति है पेट्रोमैक्स लैम्प जो यद्यपि अधिक कुशल है, पर महँगी है और अपेक्षाकृत असुरक्षित है।

डी-720, सरस्वती विहार, दिल्ली—110034

लालटेन की कमियों को दूर करने का एक सफल प्रयत्न महाराष्ट्र में फाल्टन स्थित निम्बकार कृषि संस्थान में किया गया है। यहाँ बनाई गई उन्नत लालटेन में पैट्रोमैक्स लैम्प की खूबियों का सम्मिश्रण है। यह एक कम खर्च और सुरक्षित युक्ति है जो साधारण लालटेन से तिगुनी, चौगुनी अथवा 25 वॉट के बिजली के एक बल्ब बराबर रोशनी देती है। इसमें बत्ती तक मिट्टी के तेल का प्रवाह बनाये रखने के लिए किसी दबाव का इस्तेमाल नहीं किया जाता फिर भी इसकी रोशनी देने की क्षमता को पैट्रोमैक्स लैम्प जितना बढ़ाया गया है। इसकी बत्ती जलकर नष्ट नहीं होती क्योंकि इसे उच्च ताप सह पदार्थ से बनाया गया है। यह विशेष काँच रेशे की बनी होती है।

इस लालटेन को बनाने में इसके बर्नर के डिज़ाइन, बत्ती और मेंटल पर विशेष ध्यान दिया गया है। इसका बर्नर इस प्रकार का है कि उसमें हवा और तेल वाष्प का उपयुक्त मात्रा में सम्मिश्रण होता है और लपट तापमान 1100 से 1200° सेन्टीग्रेड के बीच पहुँच जाता है जिससे मैन्टल चमकने लगता है। यदि इसे रोज 4 घंटे जलाया जाए तो इसका मैन्टल आसानी से एक माह तक चल जाता है।

इस लालटेन में एक घंटे में 34 मिलीलीटर मिट्टी का तेल इस्तेमाल होता है। इसकी टंकी में एक बार में 850 मिलीलीटर तेल भरा जा सकता है जो अगर इसे रोज 4 घंटे जलाया जाए तो 7 दिन के लिए क़ाफी होता है। इस प्रकार इससे मिट्टी के तेल की बचत होती है। इसे बनाने का काम कुटीर स्तर पर किया जा सकता है। इसकी जानकारी 'नेशनल रिसर्च डिवेलपमेंट कॉरपोरेशन, कैलाश कॉलोनी एक्सटेंन्शन, नई दिल्ली—110048' से उपलब्ध है। □□

(सम्प्रेषण)

नीम गाछ | डॉ० श्रीमती मंजु गुप्ता

आरी के दाँतों-सी
कटावदार
पत्तियों के
सब्ज़ गुच्छों को
चँवर-सा डुलाता
नीम गाछ,
पत्तों के फिल्टर में
दूषित हवा को छानकर
चहुँ ओर
शुद्ध ऑक्सीजन का
स्प्रे कर रहा है।
पकी निंबोलियों को
धरती पर चुआकर
निपुण वैद्य-सा
मुफ़्त में
ओषधि-वितरण कर रहा है।
हवा के साथ-साथ
मस्ती से झूमता
हरित सरोवर-सा
गगन के विशाल केनवस पर
हरी लहरों का
रंग भर रहा है।
बीमार दुनिया
स्वास्थ्य बुलेटिन-सा
स्वास्थ्य समाचार प्रसारित करता
सूचना पट्ट-सा फहरा रहा है।
विज्ञापनवादी युग में
छालधारी तापस-सा
चुपचाप
जनसेवा कर रहा है।
ज़रा देखो तो
रोगाणु भरी
दुःखों की मिट्टी में खड़ा
अनासक्त नीम गाछ
सबसे हलो करता
कैसा मुस्करा रहा है। □□

406 हवा सिंह ब्लॉक, खेलगाँव, नयी दिल्ली—110049

विज्ञान वार्ता | डॉ० अरुण आर्य

(1) कीड़ों का आदान-प्रदान

हाल ही में जब संयुक्त राज्य अमेरिका के कृषि सम्बन्धित वैज्ञानिकों का एक दल चीन की यात्रा पर गया तो वह अपने साथ एक अनोखा उपहार ले गया। यह था कुछ बर्रें अथवा तैतया का समूह और वापसी में यह दल अपने साथ लाया हरे 'लेसविग्स', परभक्षी कुटकी तथा परजीवी बर्रें।

प्राचीन काल में खोजी नाविक अपने साथ ले जाते थे चौंका देने वाले जीव-जन्तुओं एवं पेड़-पौधों को, जो उन देशों में देखने को नहीं मिलते थे, या उनमें कुछ विशेष प्रकार के गुण होते थे।

लेकिन यह चीनी-अमेरिकी वैज्ञानिकों का प्रयास कुछ चौंका देने वाला साथ ही रोचक भी है। अमेरिकी कृषि विभाग के वैज्ञानिक **डॉ० जॉन वैलेस** के अनुसार अमेरिका में बहुत से ऐसे कीड़े मकोड़े हैं, जो कृषि पर निर्भर करते हैं। परन्तु उनके कोई प्राकृतिक शत्रु नहीं हैं फलतः वे तेजी से वृद्धि करते हैं और फ़सल को काफ़ी नुकसान पहुँचाते हैं। अमेरिका को चीन का यह उपहार कपास और तम्बाकू पर लगने वाले कीड़े-मकोड़ों को सब्जियों एवं नीबू जाति के फलों पर लगने वाली कुटकी (माइट्स) और परजीवी जिप्सी माथ्स और जंगलों में पाये जाने वाले कीड़ों को कम करेगा।

अमेरिकी बर्रें चीन में एफिड्स और लार्वों को कम करेगी। चीन में इन कीड़ों को विभिन्न विश्वविद्यालयों में भेजा गया है जहाँ संगरोधी नियमितताओं के अन्तर्गत इन्हें खेतों में प्रयोगिक तौर पर आजमाया जायेगा।

(2) आलू स्वास्थ्य के लिये खतरनाक भी

आलू के गुणों की जितनी भी प्रशंसा की जाय वह कम है। जिस प्रकार फलों का राजा आम है उसी प्रकार सब्जियों का राजा आलू है। मण्ड (स्टार्च) के अतिरिक्त इसमें फॉलिक अम्ल (एसिड), पेन्टोथेनिक अम्ल, पाइरीडॉक्सिन तथा विटामिन 'सी' होता है। यह पोटैशियम का एक अच्छा स्रोत है। इससे हमें गंधक, आयोडीन, सोडियम तथा मैग्नीशियम भी थोड़ी मात्रा में प्राप्त होता है।

आलू में लगभग 50 विभिन्न रसायन पाये जाते हैं जिनकी मनुष्य के लिये कोई खाद्य उपयोगिता नहीं है। नाइट्राइट्स, टैनिक अम्ल, ऑक्सैलिक अम्ल और सोलेनाइन एलकलायड्स इस समूह के कुछ रसायन हैं। किण्वन प्रक्रिया का कम करने वाले, साइनाइड रूपी जहरीले तत्वों का निर्माण करने वाले और कीड़ों तथा कवकों द्वारा उत्पन्न होने वाले अनेक पदार्थ भी इनमें हो सकते हैं। गर्भवती महिलाओं द्वारा 'पक्षेती झुलसा रोग' या लेट ब्लाइट ऑव पोटैटो (**Late Blight of Potato**) से ग्रसित आलुओं को खाने से नवजात शिशु जन्मजात बीमारियों से युक्त पाये गये। स्त्रियों को गर्भ के दौरान इस प्रकार के आलू जो **फाइटॉफ्थोरा इन्फेस्टान्स** (***Phytophthora infestans***) से रोगयुक्त हो, नहीं खाना चाहिये।

कभी-कभी आलू का कोई भाग हरा हो जाता है। इसे 'ग्रीनिंग' कहते हैं, जोकि **क्लोरोफिल** (पर्णहरित) के निर्माण के कारण होता है। हरे आलुओं में सोलेनीन ग्लाइको एलक्लॉयड होता है जो कि स्वाद में कड़वा है। चक्कर आना, पेट की खराबी, उल्टी होना, दस्त होना गले में जलन का अनुभव होना आदि कुछ लक्षण एलक्लॉयड विष के हैं। यद्यपि इनकी मात्रा में उबाले जाने से कुछ कमी होती है, फिर भी यह सलाह दी जाती है कि हम फफूंदजन्य, हरे अथवा काले आलुओं को न खायें, क्योंकि इनमें जहरीले तत्व हो सकते हैं।

(3) अखरोट के नीचे कुछ क्यों नहीं उगता

हम सभी ने वट वृक्ष देखा है। बरगद के नीचे

प्रवक्ता, वनस्पति विज्ञान विभाग, विज्ञान संकाय, म० स० रा० विश्वविद्यालय, बड़ौदा—390002

पायी जाती हैं अनेक जड़ें और ऊपर पत्तियों से आच्छादित 'कवर' (छतरी) के नीचे अन्य पेड़-पौधों का जीवन सम्भव नहीं। यद्यपि मिट्टी में सभी पोषक तत्व विद्यमान होते हैं, परन्तु पौधों को उनके कार्बन संश्लेषण हेतु प्रकाश उपलब्ध नहीं होता। लेकिन अखरोट में ऐसा नहीं है। इसमें पेड़ के चारों ओर कुछ दूरी तक कुछ भी नहीं उगता, ऐसा अखरोट के पेड द्वारा उत्पन्न किये गये कुछ रसायनों के कारण होता है।

प्राकृति में पौधे एकाकी नहीं होते। वे समूहों में रहना पसन्द करते हैं जैसे कि जीव-जन्तु। पौधों का यह समूह बेतरतीब नहीं होता। वातावरण जो कि इन्हें नियन्त्रित करता है, एवं जीव-जन्तुओं के इस समूह को पारिस्थितिक-तन्त्र (इकोसिस्टम) कहते हैं। साधारणतया जीव-जन्तुओं, वृक्षों एवं वातावरण के बीच एक बहुत बारीक संतुलन होता है।

पौधे अनेक प्रकार के रासायनिक पदार्थ उत्पन्न करते हैं। इनमें केन्द्रकीय अम्ल (न्यूक्लीइक एसिड), सेल्यूलोज, अमीनों अम्ल, वृद्धि नियन्त्रक एवं प्रोटीन्स प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त पौधों में अन्य अनेक प्रकार के रसायन बनते हैं। इन रसायनों का क्या उपयोग है? जीवों की तरह पौधों के भी अनेक दुश्मन हैं, जैसे दूसरे पेड़, चरने वाले जानवर, कीड़े-मकोड़े, रोग उत्पन्न करने वाले जीवाणु, विषाणु आदि आदि। जीव-जन्तुओं की भाँति वृक्ष चल फिर नहीं सकते अतः उनमें आकारकीय, कायिक एवं रसायनिक विधियों द्वारा बचाव होता है।

अखरोट (**जुगलान प्रजाति**) के वृक्ष के नीचे अन्य पौधों के न होने का कारण है—**जुगलान** (5-हाइड्रोक्सी 1,4 नेप्थोक्वीनॉन)। यह अखरोट की पत्तियों एवं जड़ों में पाया जाता है। यह जहरीला नहीं होता, परन्तु जब यह वर्षा द्वारा घुलकर मिट्टी में पहुँचता है तो ऑक्सीकृत होकर जहरीला हो जाता है और दूसरे पौधों को बढ़ने से रोकता है।

बहुत से पेड़ अपनी रक्षा हेतु रासायनिक पदार्थों का निर्माण करते हैं। **वेराट्रम** (हेलबार) और तम्बाकू ऐसे ही एलक्लॉयड्स का निर्माण करते हैं और अपने इसी गुण के कारण प्राचीन काल से ही कीटनाशकों के रूप में प्रयुक्त होते रहे हैं। **डेरिस** (टूबा) की जड़ों से निकाले गये रोटीनॉयड्स एवं गुलदावदी के फूलों से निकाले गये पाइरेथ्रिन्स का कीटनाशकों की तरह प्रयोग किया जाना सर्वविदित है।

अनेक पौधों ने सूक्ष्मजीवों से अपनी सुरक्षा हेतु विविध उपाय विकसित किये हैं। सूक्ष्मजीवों के आक्रमण पर वे प्रतिजैविक तत्वों का निर्माण करते हैं। इन्हें 'फाइटोअलैक्सिन' कहा गया है। **फेसियोलस वल्गेरिस** (सेम) 'टोबेको नेक्रासिस' के विषाणु के आक्रमण के फलस्वरूप 4-फाइटोअलेक्सिन का निर्माण करता है, जो आइसो फ्लेवानॉयड समूह के हैं। **शकरकंद (आइपोमिया बटाटस)** में **सिरेटोसिस्टिस फिम्ब्रियेटा** नामक कवक के द्वारा 'आइपोमिया मेरॉन' नामक फाइटोअलेक्सिन का निर्माण होता है। यह एक असामान्य सेसक्वीटरपीनायड है। इसी प्रकार आलू से 'रिसिटिन', चने से 'साइसेरिन' और गाजर से 'आइसोक्यूमेरिन' नामक फाइटोअलेक्सिन प्राप्त किये गये हैं।

कुछ पौधे अपने को चरने वाले जानवरों से बचाने के लिये रसायनों का निर्माण करते हैं। **रीड केनेरी** घास में पाये जाने वाले अल्कलॉयड्स के कारण भेड़ें उसे खाना पसन्द नहीं करतीं। कुछ **वरनोनिया** प्रजातियाँ पालतू जानवरों की चरागाह में बिलकुल अनछुयी खड़ी रहती हैं। ऐसा उनमें पाये जाने वाले सेसक्वीटर पीनलेक्टॉन ग्लूकोसाइड के कारण होता है।

अनेक कवक पौधों में परजीवी के रूप में पाये जाते हैं और उनमें विविध बीमारियाँ उत्पन्न करते हैं, जैसे **क्लेवीसेप्स पुरपुरिया** राई में '**एरगट रोग**' उत्पन्न करता है तो **पक्सीनिया ग्रेमिनिस ट्रिटीसाई** गेहूँ में 'रतुआ' और **यूस्टीलेगो** 'स्मट' बीमारियाँ उत्पन्न करते पाये जाते हैं। आलू में पक्षेती गलन रोग **फाइटॉफ्थोरा इन्फेस्टान्स** के कारण होता है। कुछ उच्च वर्ग के पौधे भी दूसरे पौधों पर परजीवी के रूप में आश्रित रहते हैं, भोजन के लिये नहीं तो उपयुक्त स्थान के लिये जैसे कि अंजीर (**फिग**) प्रजातियाँ। इस प्रकार पोषक एवं परजीवी वृक्ष में प्रकाश, जल एवं खनिज तत्वों के लिये लगातार संघर्ष चलता रहता है। इस तरह पौधों में भी जन्तुओं की भाँति अनेक विधियों के द्वारा अपने को दूसरे जीव-जन्तुओं से सुरक्षित रखने के उपाय पाये जाते हैं। □□

महान रसायनविद् प्रोफेसर नीलरत्न धर

दिनेश मणि

इस चराचर जगत् में जीवों का जन्म लेना व मृत्यु को प्राप्त करना तो कोई नयी बात नहीं है, परन्तु आवागमन के इस चिर शाश्वत क्रम में वे व्यक्ति धन्य माने जाते हैं जो अपने को "बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय" समर्पित कर देते हैं और अपने महान कार्यों, अनुकरणीय गुणों से अपने जन्म लेने को सार्थक सिद्ध कर जाते हैं। जीवन पर्यन्त अनुसंधान के प्रति समर्पित विश्वविख्यात रसायनशास्त्री **प्रो० नील रत्न धर** एक ऐसे ही यशस्वी, उदार व्यक्तित्व वाले महान परोपकारी व्यक्ति थे।

2 जनवरी, 1892 ई० को कलकत्ता से लगभग 75 मील दूर जैसोर क़स्बे में (जो अब बांग्लादेश में है) जन्मे प्रो० धर प्रारम्भ से ही प्रखर बुद्धि के थे। इनके पिता **श्री प्रसन्न कुमार धर** एक वकील थे। इनकी माता का नाम **श्रीमती नीरद मोहिनी** था। इन्होंने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा अपने ही क़स्बे के ज़िला परिषद् के स्कूल में प्राप्त की थी। संन् 1907 ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय की प्रवेश परीक्षा में प्रथम आकर इन्होंने अपनी प्रखर प्रतिभा का प्रथम परिचय दिया। इसके बाद इन्होंने रिप्पन कॉलेज व प्रेसीडेन्सी कॉलेज में भी शिक्षा प्राप्त की। इन्होंने जुलाई 1911 ई० में एम० एस-सी० में प्रवेश लिया था और **आचार्य पी० सी० रे** के निर्देशन में शोधकार्य सम्पन्न किया। स्मरण रहे कि आपने हाई स्कूल से लेकर एम० एस-सी० तक की सभी परीक्षायें प्रथम श्रेणी में (अच्छे अंकों के साथ) उत्तीर्ण की थीं। जुलाई 1913 में रिसर्च फेलो के रूप में आपकी नियुक्ति कलकत्ता विश्वविद्यालय में हो गयी।

3 सितम्बर, 1915 को प्रो० धर भारत सरकार की छात्रवृत्ति पर यूरोप के दौरे पर गये और 1915 ई० में सितम्बर के अन्तिम सप्ताह में आपने
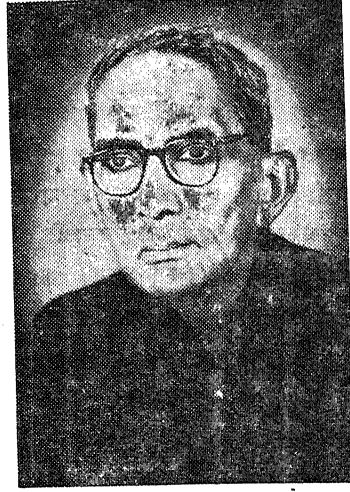
प्रो० जे० सी० फिलिप्स के निर्देशन में डी० एस-सी० उपाधि के लिये अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया तथा अल्पावधि में ही अपना शोधकार्य अच्छे ढँग से सम्पूर्ण करके सबको आश्चर्यचकित कर दिया। लन्दन में आपकी नियुक्ति मेमोरियल कॉलेज ऑव साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी में रसायनशास्त्र विभाग में हुयी। प्रो० धर ने मई 1917 में लन्दन विश्वविद्यालय द्वारा डी० एस-सी० की उपाधि प्राप्त की। यहाँ पर इनकी मुलाकात **जे० जे० थामसन, रदरफोर्ड, सॉडी, परकिन, बेकर, रेल** आदि प्रतिष्ठित वैज्ञानिकों से हुयी। लन्दन में अपनी शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद प्रो० धर की इच्छा **आरहीनियस** के निर्देशन में कार्य करने की हुयी। उन दिनों स्वीडेन जाना एक कठिन कार्य था, क्योंकि उस समय जर्मनी आक्रमण पर था। इसलिये आरहीनियस ने प्रो० धर को अपने पास आने से मना कर दिया। तत्पश्चात् प्रो० धर ने **सबातीये** को एक पत्र

शोध छात्र, शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान, 5 लाजपत राय रोड, इलाहाबाद—211002

लिखकर उनके कुशल निर्देशन में अपने शोध-कार्य के विषय में अपनी इच्छा प्रकट की, किन्तु इसे आपका दुर्भाग्य ही कहा जाय कि सबातीये की प्रयोगशाला युद्ध में जल जाने के कारण आप उनके निर्देशन में अपना कार्य नहीं कर सके। फिर भी लगन और परिश्रम के धनी प्रो० धर ने इसी साल (सन् 1917 में पेरिस में) **प्रो० उरबेन** के निर्देशन में कार्य करने के लिये प्रार्थना-पत्र भेज दिया और स्वीकृति मिल जाने पर भयंकर युद्ध के बावजूद भी अक्टूबर 1918 तक अपना शोध कार्य फ्रेंच भाषा में लिखकर पूरा कर दिया और जनवरी 1919 में 'स्टेट डॉक्टरेट' की उपाधि प्राप्त की। आपके शोध-कार्य की प्रशंसा अनेक वैज्ञानिकों ने की। पेरिस में आपको **क्यूरी दम्पत्ति, ला सातालिये**, जैसे वैज्ञानिकों का सहयोग मिला। जनवरी 1916 में आप पुनः लन्दन लौट आये।

प्रो० धर ने म्योर सेन्ट्रल कॉलेज, इलाहाबाद में प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष (अकार्बनिक एवं भौतिक रसायन) का पदभार 19 जुलाई 1919 को ग्रहण किया (प्रथम भारतीय आई० ई० एस० के रूप में)। पुनः मई 1928 में आपको यूरोप जाने का अवसर प्राप्त हुआ। इस यात्रा में अपने कई देशों का भ्रमण किया। इसके बाद स्वदेश लौटकर इलाहाबाद विश्वविद्यालय में रसायन विज्ञान विभाग में अध्यापन कार्य करने लगे।

सन् 1930 में प्रसिद्ध वैज्ञानिक **कु० शीला राय** से आपका पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न हुआ, किन्तु सन् 1949 में असमय ही स्वर्गवासिनी हो जाने से सन् 1950 में प्रो० धर ने कलाविद् **कु० मीरा चैटर्जी** (एम० ए०, लंदन) से विवाह किया। दोनों ही विवाहों से आपको कोई सन्तान प्राप्त न हो सकी।

एकेडेमीशियन के रूप में प्रो० धर

प्रो० धर भारत एवं अन्य देशों की विभिन्न उच्च समितियों, प्रतिष्ठानों, संस्थाओं से आजीवन जुड़े रहे तथा आपका जीवन पूर्णतया विज्ञान अनुसंधान के प्रति समर्पित रहा। प्रो० धर सन् 1919 में **'केमिकल सोसाइटी'** के फेलो तथा 1919 में ही **'रॉयल इंस्टीट्यूट ऑव केमिस्ट्री'**, के फेलो चुने गये। आप सन् 1961 में रुड़की में हुये **'भारतीय विज्ञान कांग्रेस'** के अध्यक्ष थे। इसके पहले आप **'इण्डियन केमिकल सोसायटी'** के भी निर्वाचित अध्यक्ष रहे। आप **'इण्डियन एकेडमी ऑव साइंसेज'** के संस्थापक सदस्य थे एवं 1935 व 1936 में इसके अध्यक्ष निर्वाचित हुये। आप 'नेशनल एकेडमी ऑव सांइसेज, इण्डिया', 'नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑव सांईसेज, इण्डिया' के भी संस्थापक सदस्य थे।

आप सन् 1937 में हालैंड में आयोजित 'अन्तर्राष्ट्रीय कृषि कांग्रेस' के सदस्य रहे। आपकी विशिष्ट प्रतिभा को सम्मानित करते हुये सन् 1956 में 'फ्रेंच एकेडमी ऑव एग्रीकल्चर' ने आपको विदेशी सदस्य के रूप में चुना। आप सन् 1961 की 'फ्रेंच एकेडेमी ऑव साइंस' के भी सदस्य रहे। इसके अतिरिक्त प्रो० धर ने निम्न अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठियों, सम्मेलनों में भाग लिया—

इण्टरनेशनल कांग्रेस—उपसला (1953-54), स्टाकहोम (1958)।

इण्टरनेशनल स्वायल साइंस कांग्रेस—पेरिस (1956), विस्कान्सिन (1960)।

इण्टरनेशनल फर्टिलाइजर कांग्रेस—यूगोस्लाविया (1961), स्वायल साइंस कांग्रेस, रूमानिया (1964)।

प्रो० धर को अनेक बार ऑक्सफोर्ड, लंदन, कैम्ब्रिज, एडिनबरा, एवरडन विश्वविद्यालय (इंग्लैंड), सोरबोन, टाहलोंज एवं बियारिट्ज विश्वविद्यालय (फ्रान्स) तथा यूगोस्लाविया, स्पेन, रूमानिया, अमेरिका, हालैंड आदि देशों के तमाम विश्वविद्यालयों एवं यूरोप की प्रतिष्ठित शिक्षण संस्थाओं में व्याख्यान देने के लिये आमंत्रित किया गया और सम्मानित किया गया।

प्रो० धर 'नोबेल पुरस्कार' विजेताओं का चयन करने वाली 'नोबेल प्राइज कमेटी' के सदस्य भी रहे। आप जिस 'नोबेल प्राइज कमेटी' के सदस्य रहे, उसके द्वारा सन् 1938, 1948 तथा 1952 में रसायन-

शास्त्र के 'नोबेल पुरस्कार' के विजेताओं का चयन किया गया था।

सन् 1968 में पोप के आमन्त्रण पर आप रोम में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय सिम्पोजियम—'आर्गेनिक मैटर एण्ड स्वायल फर्टिलिटी' पर व्याख्यान देने के लिये गये।

कलकत्ता विश्वविद्यालय, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने आपको डी० एस-सी० की मानद उपाधियों से अलंकृत किया। प्रो० धर ने अपने 75 वर्ष के विज्ञान जीवन में लगभग 200 शोध-छात्रों को डी० फिल व डी० एस-सी० उपाधियाँ प्रदान कीं और 600 से अधिक मौलिक शोध-पत्रों को तैयार किया। अभी तक विश्व के किसी एक ही वैज्ञानिक द्वारा यह सम्भव नहीं हो सका है। प्रो० विक्टर कोव्डा (सोवियत रूस) और लेडी ईव बोफोर (इंग्लैंड) ने प्रो० धर का नाम 'नोबेल पुरस्कार' के लिये प्रस्तावित किया था।

उदारता की प्रतिमूर्ति

प्रो० धर ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय, विश्वभारती विश्वविद्यालय एवं कलकत्ता विश्वविद्यालय को विज्ञान अनुसंधान विकास के लिये बीस लाख रुपये दान किये। 'चितरंजन सेवा सदन' (कलकत्ता) को एक लाख रुपये, 'सर जे० सी० बोस लेक्चरशिप' (कलकत्ता विश्वविद्यालय) के लिये एक लाख रुपये दान किया। आप सन् 1935 में स्थापित 'शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान' के संस्थापक एवं अजीवन मानद निदेशक थे।

मृदा रसायनज्ञ के रूप में

सतत् शोध के प्रति समर्पित प्रो० धर ने फ़िज़िकल केमिस्ट्री, कोलाइडल केमिस्ट्री, इलेक्ट्रोकेमिस्ट्री, केमिकल काइनेटिक्स, बायोकेमिस्ट्री, फोटोकेमिस्ट्री आदि से सम्बन्धित अनेक शोधों के अतिरिक्त स्वायल साइंस (मृदा विज्ञान) से सम्बन्धित अनेक शोध कार्य किये। आपकी सबसे महत्वपूर्ण खोज 'नाइट्रोजन स्थिरीकरण पर प्रकाश का प्रभाव' 'भूमि से नाइट्रोजन का ह्रास' एवं 'मिट्टी में नाइट्रोजन व फॉस्फोरस स्तरों के बीच सम्बन्ध' है। इसके अतिरिक्त ऊसर भूमियों के सुधार से सम्बन्धित आपका शोध कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

प्रो० धर का यह अपना व्यक्तिगत अनुभव रहा है कि मृदा-ह्यूमस (Soil humus) को भारी मात्रा में दिये बिना फ़सल में स्थायी उत्पादन वृद्धि असंभव है, भले ही एन पी के (NPK) उर्वरक भारी मात्रा में दिया जाता रहे।

प्रो० धर के 1953-54 में उपसला में प्रकाशित निबन्ध में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है कि फ़सल-उत्पादन की वृद्धि को स्थायी बनाने के लिये प्रति एकड़ भूमि में प्रतिवर्ष लगभग 4 टन गोबर की खाद (FYM) देना होगा। अगर खेत में ऊपर से दी जाने वाली खाद में जैविक पदार्थ की मात्रा कम होगी तो रासायनिक उर्वरक एन पी के देने के बावजूद वर्ष प्रति वर्ष फ़सल-उत्पादन गिरता जायेगा। भारत, मेक्सिको तथा फिलीपीन्स, जो उष्णकटिबन्धीय देश हैं, में यूरोप की तुलना में स्थिति और भी कठिन है। इन देशों में भूमि का तापक्रम यूरोप से काफी अधिक रहता है तथा जैविक पदार्थ और भूमि के ह्यूमस ऑक्सीकरण (Oxidation) की गति उष्ण-कटिबन्धीय देशों में यूरोप की अपेक्षा बहुत ज्यादा रहती है। यह प्रतीत होता है कि मेक्सिको, फिलीपीन्स या भारत में स्थायी फ़सल वृद्धि के लिये प्रति एकड़ 10 से 12 टन जैविक खाद से कम में काम नहीं चलेगा। प्रति एकड़ 10 से 12 टन जैविक खाद प्रदान करने पर स्थायी फ़सल वृद्धि सम्भव हो सकेगी। अगर उत्पादन वृद्धि की दृष्टि से इसके साथ एन पी के (NPK) भी प्रदान किया जायेगा तो उससे मृदा-ह्यूमस में उल्लेखनीय रूप से कमी होगी।

जैविक खाद और कैल्शियमफॉस्फेट की उपयोगिता के बारे में प्रो० धर का कहना था कि कैल्शियम फॉस्फेट और जैविक पदार्थ उल्लेखनीय रूप से वायुमंडलीय नत्रजन (नाइट्रोजन) को भूमि में स्थिर करते हैं तथा इसमें भूमि के नत्रजन-क्षय को रोकने की क्षमता है। जैविक पदार्थ और कैल्शियमफॉस्फेट

(रॉक फॉस्फेट या हड्डी चूर्ण या बेसिक स्लेग के रूप में) का मिश्रण देने से पौधों और फ़सलों में छूत की बीमारियों, कीट-आक्रमणों, व्याधियों आदि का सामना सफलता पूर्वक करने की शक्ति आती है इसके साथ-साथ रासायनिक उर्वरकों से उत्पन्न अन्न की तुलना में, उक्त मिश्रण देकर उत्पन्न किया गया अन्न पोषण की दृष्टि से अधिक समृद्ध होता है—उसमें अधिक मात्रा में विटामिन, प्रोटीन और खनिज पदार्थ होते हैं।

निःसन्देह प्रो० धर ने सारी दुनिया के सामने 'जनसंख्या विस्फोट' स्थिति से निपटने के लिये अम्ल-उत्पादन को बढ़ाने के भरपूर प्रयत्न किये। अमेरिका के विशिष्ट जीवशास्त्रियों—**डॉ० बोरलॉग, डॉ० चान्दलर** आदि-ने जिस 'हरित क्रान्ति' आन्दोलन को आनुवंशिकी के बल पर आगे बढ़ाया, प्रो० धर ने उसे मृदा विज्ञान में उत्कृष्ट योगदान देकर पूर्णता प्रदान की।

प्रो० धर एक सफल वक्ता थे। विश्वविद्यालय की कक्षाओं अथवा उनके बाहर दिए गए उनके व्याख्यान विद्वतापूर्ण और रोचक होते थे। प्रसिद्ध वैज्ञानिक **डॉ० आत्माराम** को रसायनशास्त्र पढ़ने की प्रेरणा उनका व्याख्यान क्लास रूम के बाहर से सुनने के बाद ही हुई थी। आचार्य धर का व्यक्तित्व बहुआयामी था। वे राष्ट्रभाषा हिन्दी के अनन्य उपासक थे। हिन्दी भाषा के माध्यम से विज्ञान का जनमानस में प्रचार-प्रसार करने वाली संस्था 'विज्ञान परिषद् प्रयाग' के सभापति (1930-33) पद को भी उन्होंने सुशोभित किया। 'विज्ञान' पत्रिका के पुराने अंकों में उनके लेख आज भी सुरक्षित हैं।

शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान (इलाहाबाद) के वे आजीवन संस्थापक निदेशक रहे। विज्ञान के प्रति उनके समर्पण का एक प्रमाण तो यही है कि 'इंडियन एकेडेमी ऑव साइन्सेज' का भवन प्रो० धर द्वारा प्रदत्त भूमि पर ही स्थित है। इस महान वैज्ञानिक का जीवनदीप 6 दिसम्बर 1986 को बुझ गया पर अपने गौरवमय कृतित्व में वे सदैव जीवित रहेंगे। □□

श्रद्धांजलि

स्वर्गीय डॉ० रामकुमार अग्रवाल

डॉ० राजीव अग्रवाल[*]

डॉ० रामकुमार का जन्म 25 मई 1924 को उत्तर प्रदेश के मुरादाबाद ज़िले में हुआ था। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा वहीं हुई। राजकीय इण्टर कॉलेज, मुरादाबाद से हाई स्कूल एवं इंटर की परीक्षायें प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कीं एवं इंटर में पूरे उत्तर प्रदेश में दसवाँ स्थान प्राप्त किया। बी० एस-सी० इलाहाबाद विश्वविद्यालय एवं एम० एस-सी० (गणित) लखनऊ विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। सन् 1948 में दिल्ली विश्वविद्यालय से बी० टी०, 1956 में आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० एवं 1963 में लखनऊ विश्वविद्यालय से डी० एस-सी० की उपाधियाँ प्राप्त कीं। 1963 में ही सर्वश्रेष्ठ अनुसंधान पुरस्कार—'बैनर्जी रिसर्च पुरस्कार'—से भी आपको सम्मानित किया गया।

[*] अस्थि रोग विशेषज्ञ, के० जे०—26 कविनगर, गाजियाबाद—201002

विज्ञान के साथ ही आप साहित्यानुरागी भी थे। आपको हिन्दी, अंग्रेजी एवं फ्रेन्च—तीनों ही भाषाओं में महारथ हासिल थी। 1963 में आपने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से फ्रेन्च भाषा का 2 साल का प्रोफिशिएन्सी सर्टीफिकेट प्राप्त किया और पूरे विश्वविद्यालय में प्रथम रहे।

13 फरवरी 1952 को आपका विवाह हो गया। आपकी पत्नी का नाम **उर्मिला देवी** था। आपके दो पुत्र हैं। एक अमेरिका में कम्प्यूटर वैज्ञानिक और दूसरे गाजियाबाद में हड्डी रोग विशेषज्ञ हैं।

आपने करीब 35 वर्षों तक स्नातकोत्तर कक्षाओं में गणित का शिक्षण एवं शिक्षण जीवन के अंतिम वर्षों में कम्प्यूटर साइन्स की भी शिक्षा दी। रुड़की विश्वविद्यालय में रीडर, इंजीनियरिंग कॉलेज इलाहाबाद एवं उदयपुर विश्वविद्यालय में प्रोफेसर और उसके बाद प्राचार्य मेरठ कॉलेज, मेरठ एवं प्राचार्य श्यामलाल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय रहे और वहीं से 1983 में अवकाश ग्रहण किया। तत्पश्चात् आप गाजियाबाद में बस गये और दो वर्षों तक आई० एम० टी० (गाजियाबाद) में माननीय प्रोफेसर के रूप में अध्यापन किया।

आपको अपने जीवन काल में बहुत से सम्मानों से अलंकृत किया गया जिसमें नेशनल एकेडेमी ऑव साइन्सेज, भारत एवं अन्तर्राष्ट्रीय बायोग्राफी एसोसियेशन कैम्ब्रिज की फेलोशिप शामिल हैं। आपका बायोग्राफी स्कैच तीन अन्तर्राष्ट्रीय एवं तीन राष्ट्रीय पुस्तकों में प्रकाशित हुआ। आप नेशनल एकेडेमी ऑव साइन्सेज, विज्ञान परिषद् और गणित से सम्बन्धित अपने देश की लगभग सभी विशिष्ट संस्थाओं के आजीवन सदस्य थे।

आपने 25 शोध-पत्र स्वयं एवं 32 शोध-पत्र अपने मार्गदर्शन में लिखवाए। आपके चार विद्यार्थियों को पी एच-डी० की उपाधियाँ मिलीं। आपके 43 लेख हिन्दी विश्वकोष, जो कि नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी से 12 खंडों में प्रकाशित हैं, में छपे। आपने तीन माध्यमिक स्तर एवं तीन स्नातक स्तर की गणित की पुस्तकें हिन्दी में लिखीं। स्नातक स्तर की पुस्तकें हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश एवं राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर के आग्रह पर लिखीं।

अवकाशप्राप्ति के बाद आपकी रुचि कम्प्यूटर्स में हुई एवं आपने इसका गहन अध्ययन किया और दो पुस्तकें लिखीं। पहली पुस्तक 'प्रोग्रामिंग विथ फोरट्रान 77' टाटा मैग्रा हिल, नई दिल्ली से प्रकाशित हुई एवं दूसरी 'प्रोग्रामिंग इन एन सी सी' वेस्ट एजूकेशनल पब्लिशिंग कम्पनी यू एस ए से प्रकाशित हो रही है। अपने अन्तिम समय में आप 'मैथेमेटिक्स फॉर इंजीनियर्स' नामक पुस्तक लिखने में व्यस्त थे।

आपने अपने जीवनकाल में तीन बार विदेश यात्रायें की एवं अमेरिका और कनाडा में भी रहे।

अवकाश के बाद आपने सामाजिक कार्यों में गहरी रुचि ली एवं 'सीनियर सिटिजेन एसोसियेशन गाजियाबाद' नामक संस्था स्थापित की जिसके आप प्रधान थे। आप जे ब्लाक कविनगर रेजिडेन्ट वेलफेयर सोसाइटी' के प्रधान भी थे। आपने अनेक सामाजिक एवं शैक्षणिक संस्थाओं में आमन्त्रित अतिथि के रूप में व्याख्यान दिए। आपके प्रिय विषय थे 'प्राचीन भारत में गणित', 'प्राचीन भारतीय गणित में गुणन विधियाँ', 'हिन्दू गणित में मैजिक स्क्वैअर' आदि।

डॉ० रामकुमार जी एक सिद्धान्तवादी, सच्चे, कर्मठ, शीश उठाकर चलने वाले, ईमानदार महामानव थे। आप स्पष्टवादी एवं सरल हृदय थे। किसी बात को आप छिपाना जानते ही न थे, क्योंकि आपका भीतर और बाहर एक था। आपका व्यक्तित्व असाधारण था क्योंकि साधारण बातों का आपको अनोखा ज्ञान था। श्रम और परिश्रम के बिना आप जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। आपने जीवनपर्यन्त अपने सिद्धान्तों से कभी समझौता नहीं किया। आपने नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों के लिए सदा संघर्ष किया। ऐसे समय में जब इन मूल्यों का बहुत तेज़ी से ह्रास हो रहा है 2 अगस्त 1990 को आपका इस संसार से अन्तिम विदा लेना विज्ञान जगत् और देश की अपूर्णीय क्षति है। आप आज हमारे बीच नहीं हैं किन्तु अपने कृतित्व में आप अमर हैं। आपके विचार आने वाली पीढ़ियों को अनुप्राणित करते रहेंगे हम आपके बताये हुए रास्ते पर चलें, आपके अधूरे कार्य को आगे बढ़ायें, यही आपके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी। □□

पीलिया रोग | डॉ० अनुराग श्रीवास्तव

यकृत या जिगर हमारे शरीर का सबसे बड़ा अंग है, जिसका वज़न लगभग 1.4 किलोग्राम होता है। पाचन-क्रिया द्वारा हमारे भोजन के विभिन्न अवयव यथा—शर्करा (कार्बोहाइड्रेट्स), वसा एवं प्रोटीन्स, छोटी-छोटी इकाइयों में परिवर्तित हो जाती हैं, जोकि आँत द्वारा शोषित होकर रक्त में पहुँचती हैं। रक्त-परिवहन द्वारा ये इकाइयाँ यकृत में पहुँचती हैं, जहाँ या तो ऊर्जा उत्पन्न करने के काम आती हैं अथवा भविष्य के लिए संग्रहीत हो जाती हैं।

यकृत शरीर के भीतर बने एवं शरीर में बाहर से प्रवेश करने वाले हानिकारक विषैले पदार्थों को विषमुक्त करने का कार्य भी करता है। बिलिरूबिन उनमें से एक है। लाल रक्त कणिकाओं की टूटफूट के उपरांत लाल रक्त कण (हीमोग्लोबिन) ही बिलिरूबिन में परिवर्तित हो जाता है।

रक्त में बिलिरूबिन की सांद्रता सामान्य सीमा 0.3–0.8 मिलीग्राम प्रति 100 मिलीलीटर से अधिक हो जाने की अवस्था पीलिया, कँवर या जॉन्डिस कहलाती है। रक्त बिलिरूबिन 4 मिलीग्राम प्रति 100 मिलीलीटर से कम रहने पर पीलिया गुप्त रहता है (लेटेंट जॉन्डिस) एवं इससे अधिक होने पर त्वचा, आँखें एवं म्यूकस झिल्ली पीली पड़ जाती है एवं पीलिया स्पष्ट हो जाता है (क्लिनिकल जॉन्डिस)। पीलिया के लिए उत्तरदायी प्रमुख संभावित कारण निम्नवत् हैं—

(i) यकृत द्वारा उत्सर्जित करने की सीमा से अधिक मात्रा में बिलिरूबिन का निर्माण,

(ii) पित्त के ड्यूडिनम (जहाँ आमाशय और आँत जुड़ती हैं) में प्रवाह में कोई बाधा, और

(iii) यकृत कोशिकाओं की कार्यक्षमता में आई कमी, जिससे कि यकृत बिलिरूबिन को डाइग्लुकरोनॉयड में परिवर्तित कर पित्त में उत्सर्जित करने में असमर्थ हो।

पीलिया मुख्य रूप से तीन प्रकार का होता है—

हीमोलिटिक पीलिया, अवरोधक पीलिया एवं यकृती पीलिया।

(1) हीमोलिटिक पीलिया

इस प्रकार का पीलिया लाल रक्त कणिकाओं की टूट-फूट में वृद्धि के कारण होता है। यदि इस टूट-फूट की दर इतनी बढ़ जाए कि बनने वाले उत्पादों (बिलिरूबिन समेत) को उत्सर्जित कर पाने में यकृत सक्षम न हो तो रक्त में बिलिरूबिन का बढ़ना ही इस प्रकार के पीलिया का कारण बनता है। ऐसा विभिन्न संक्रमणों—जैसे मलेरिया व अन्य वाइरल या विषाणु संक्रमण से विषाक्त पदार्थों से, हीमोलिटिक एनीमिया में व रोगी को बेमेल रक्त दिए जाने पर होता है।

(2) अवरोधक पीलिया

पित्त, पित्ताशय से पित्तवाहिनी नलिका द्वारा आँत में पहुँचकर पाचन में सहायक होता है। यदि पित्त के इस सामान्य बहाव में अवरोध उत्पन्न हो तो इसे अवरोधक पीलिया कहते हैं। इसके उत्पन्न होने के सामान्य कारण निम्नवत् हैं—

(i) पित्त, प्रवाह के रास्ते में पथरी का होना,

(ii) ग्रन्थि का अत्यधिक बढ़ जाना या अग्न्याशय के मुख पर ट्यूमर होना और

(iii) पित्तवाहिनी का संकीर्ण होना (शल्यक्रिया के परिणामस्वरूप)।

(3) यकृती पीलिया

विषाक्त पदार्थों द्वारा पैरेन्काइमा कोशिकाओं की क्षति यकृत की कार्यक्षमता को विपरीत रूप से प्रभावित करती है। दूषित जल द्वारा **हेपेटाइटिस विषाणु** इस प्रकार के पीलिया का सर्वप्रमुख एवं सामान्य कारण है। कई ज़हरीले रसायनों जैसे—कार्बन टेट्राक्लोराइड, क्लोरोफॉर्म, ट्राइनाइट्रोटालुइन, डाइनाइट्रोफीनॉल, हैलोथेन, फेरस सल्फेट, सोना, आर्सेनिक,

1 डी, स्ट्रीट 4 ए, सेक्टर 9, भिलाई—492006

फॉस्फोरस के विभिन्न यौगिक जैसे विषाक्त पदार्थों एवं 'सिरोसिस' (सूत्रण रोग) की वजह से भी यह पीलिया हो सकता है। यह पीलिया आमतौर से दूषित जल के प्रयोग से होता है।

कुछ नवजात शिशुओं में बिलिरूबिन को उत्सर्जित करने की क्षमता का पूर्ण विकास न हो पाने से भी 'शरीर कार्यिकी पीलिया' (फ़िज़ियोलॉजिकल जॉन्डिस) हो जाता है।

सामान्य लक्षण

कमज़ोरी, थकान, जी मिचलाना, बुखार, यकृत का मुलायम होना, भूख न लगना, घी-तेल से बनी चीज़ों के प्रति अरुचि, विभिन्न उदर विकार, पेटदर्द, पेशाब का गहरा पीले रंग का हो जाना, गहरे भूरे एवं चिकने (वसायुक्त) मल का विसर्जन इत्यादि।

क्या करें क्या न करें ?

(1) विषाक्त एवं संक्रामक पीलिया में जब तक भूख की कमी दूर न हो जाए, पूर्ण विश्राम करना चाहिए।

(2) कुशल एवं योग्य चिकित्सक से ही परामर्श एवं उपचार लेना चाहिए।

(3) मल-मूत्र का रंग सामान्य होने से ही अस्वस्थता समाप्त होने के संकेत मिलते हैं। वैसे सही स्थिति का अनुमान रक्त की जाँच (जैसे बिलिरूबिन, क्षारीय फॉस्फेट व एस० जी० पी० टी० एन्ज़ाइम इत्यादि) कराने से ही लगता है। अतएव रक्त की जाँच अवश्य ही करानी चाहिए।

(4) रोगी के कपड़े, बर्तन एवं अन्य वस्तुएँ उबले पानी में भली-भाँति साफ़ करना चाहिए। इन्हें दूसरों को प्रयोग में नहीं लेना चाहिए। रोगी की देख-भाल करने वालों को भी स्वच्छता के प्रति सचेत रहना चाहिए।

(5) ऐसा भोजन, जिसमें अधिक कार्बोहाइड्रेट्स (शर्करा) एवं पर्याप्त प्रोटीन्स हों, अच्छी तरह पकाकर आकर्षक ढँग से परोसना चाहिए, ताकि रोगी की भूख खुल सके एवं भोजन के प्रति रुचि बनी रहे।

(6) वसा एवं वसायुक्त पदार्थों तथा अधिक मसालों का प्रयोग वर्जित मानना चाहिए।

(7) बुखार की स्थिति में फलों का रस देना चाहिए।

(8) मदिरापान पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए, क्योंकि इससे विभिन्न उदरविकार उत्पन्न होते हैं और भूख भी कम लगती है।

(9) सदा छाना हुआ क्लोरीन द्वारा उपचारित शुद्ध जल उबाल कर ही प्रयोग में लाना चाहिए।

(10) रोगी के कमरे और घर की सफ़ाई पर विशेष ध्यान देना चाहिए। □□

बनाये रखना हो यदि समस्त रिश्तों को

अनिल श्रीवास्तव

तुम्हारे हाथों में जकड़ी
आरी और कुल्हाड़ियाँ
टूट पड़ीं
और उसके लहकते-हरियाले जिस्म को
छिन्न-भिन्न कर डाला,
ढह गया
उसका समूचा अस्तित्व,
छितर-बिखर गयीं
एक-एक डालें,
फल-फूल और पत्ते,
एक आह ! सी निकली
उसके अन्दर से
गिरते वक्त,
मगर वह मात्र पीड़ा नहीं थी

ग्राम—परसोहर, पोस्ट—जरवल रोड, ज़िला—बहराइच (उत्तर प्रदेश)—271901

एक चेतावनी थी
जो सावधान करते हुये कह रही थी
कि वह मात्र
पत्तों-छालों में लिपटी लकड़ी नहीं है
जो खड़ी रहती है
तेज़ धूप-लू में जलती
आँधी, वर्षा और सर्दी में तड़पती
निर्जीव बनी।
वह तुम्हारी माँ है—
अपनी गोद में
पक्षियों को घोसला बनाने की अनुमति देकर
और उनकी चीं-चूँ,
हँसने-रोने, सुख-दुख में शामिल होकर,
और उससे भी बढ़कर तुम्हारे लिये
फल उपलब्ध कराकर।
वह बाप है—
छाया के रूप में
सर पे हाथ रखे,
फ़सलों के लिए
बादल बुला, वर्षा कराकर
और वायु को शुद्धकर
हमारी साँसों के लिये आरोग्यकारी बनाकर।
वह भाई है—
सीमा पर खड़े प्रहरी की तरह
फ़सलों को बाढ़ से बचाने
और मिट्टी की कटान को
रोकने के लिये तैनात।
वह बहन है—
सूखी लकड़ियाँ इकट्ठी करके
सोंधी-सोंधी रोटियाँ
सेंककर खिलाने के लिये।
वह पत्नी है—
सोफ़े, बेड, मेज़-कुर्सी के रूप में
जीवन भर साथ निभाने के लिये
दृढ़ प्रतिज्ञ;
दरवाज़ों, खिड़कियों,
अलमारियों की
खटर-पटर में बन्द होती
रंग-बिरंगे पेंट,
रंगों की सजीली साड़ी में लिपटी
हरदम मुस्कराती।
इसलिए, जो तुम
हरे वृक्षों को काट रहे हो
वास्तव में,
वृक्ष नहीं काट रहे हो
काट रहे हो—
अपनी माँ को, बाप को
भाई-बहन और पत्नी को।
यदि बनाए रखना चाहते हो
अपने समस्त परिवार
और रिश्तों को,
तो रोक लो कटने से
हर एक हरी पत्ती और डाल।
बचा लो,
मरुस्थल में तब्दील होते वन।
और रोपो,
निशदिन एक पौधा
अपने खेतों, बागों और वनों में,
अब तक काटे गये वृक्षों के
प्रायश्चित रूप में। □□

ऋतम्भरा, विज्ञान परिषद् प्रयाग, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

डॉ० गोविन्द राम तोशनीवाल नहीं रहे पर स्मृतियाँ जीवित हैं

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

[**डॉ० तोशनीवाल** देश के चोटी के उद्योगपति, इलाहाबाद विश्वविद्यालय में फ़िज़िक्स विभाग में प्रोफेसर, अनुसंधानकर्ता, वैज्ञानिक, विज्ञान, तकनीकी और राष्ट्रभाषा हिन्दी के पोषक थे। उन्होंने देश में विज्ञान और तकनीकी के विकास के लिए अथक परिश्रम किया, आयनोस्फीयर, स्पेक्ट्रॉस्कोपी, एक्स-रे पर अनेक उच्च स्तरीय शोधपत्र प्रकाशित किए, दिल्ली और कोडाइ-कैनाल में मौसमविज्ञानी के रूप में भी कार्य किया। कोडाइकैनाल में बन्द पड़ी चुम्बकीय
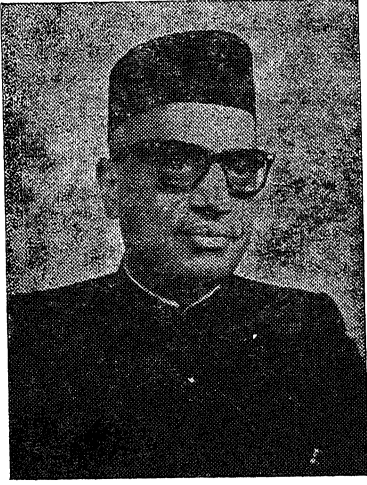
प्रेक्षणशाला को पुनः चालू करने का श्रेय डॉ० तोशनीवाल को ही रहा है। 1943 में वे न्यूयार्क के इंस्टीट्यूट ऑव इलेक्ट्रिकल एण्ड इलेक्ट्रॉनिक्स इंजीनियर्स के चयनित सदस्य रहे। 1972-73 में चण्डीगढ़ में सम्पन्न 'भारतीय विज्ञान कांग्रेस' की इंजीनियरिंग और मेटलरजी सेक्शन के अध्यक्ष, 1981 में 'मैगनेटिक्स सोसायटी ऑव इंडिया' के अध्यक्ष, और 1987 में 'इंडियन नेशनल एकेडमी ऑव इंजीनियरिंग' के फेलो रहे।

वे देश की चोटी की विज्ञान संस्थाओं से आजीवन जुड़े रह कर लोगों का मार्गदर्शन करते रहे। अनेक शिक्षण संस्थाओं से भी वे आजीवन जुड़े रहे। महिला शिक्षा में उनका विशेष योगदान रहा। 21 जनवरी 1904 को जन्मे गोविन्द राम जी का 29 सितम्बर 1990 को अजमेर में निधन हो गया। विज्ञान परिषद् तो उनकी चिरऋणी रहेगी। वैसे उनका पार्थिव शरीर हमारे बीच नहीं है, पर अपने कृतित्व में वे अमर रहेंगे। दिवंगत आत्मा को परिषद् परिवार की भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित है।

—सम्पादक]

3 मास मारीशस रहकर अक्टूबर के अंतिम सप्ताह में मैं जब दिल्ली लौटा तो विज्ञान परिषद् के पूर्व प्रधानमंत्री डॉ० शिवगोपाल मिश्र के एक पत्र से ज्ञात हुआ कि मेरे पुराने साथी **डॉ० गोविन्दराम तोशनीवाल** का निधन 29 सितम्बर, 1990 को हो गया। इस समाचार को पाते ही मेरी अनेक पुरानी स्मृतियाँ जाग्रत हो गईं। प्रयाग विश्वविद्यालय के भौतिकी विभाग से 1926 में गोविन्दराम जी ने एम० एस-सी० की परीक्षा भौतिकी में उत्तीर्ण की। 1927 में इसी विश्वविद्यालय से रसायनशास्त्र से मैंने एम० एस-सी० किया और उसके अगले वर्ष 1928 में **दौलत सिंह कोठारी** ने भौतिकी में एम० एस-सी० किया। इस प्रकार हम तीनों ने एक-एक वर्ष के अन्तर से एक ही विश्वविद्यालय में विद्याध्ययन किया। हम तीनों को ही **प्रो० नीलरत्न धर** एवं **प्रो० मेघनाद साहा** के समान आचार्यों के सान्निध्य में आने और उनसे शिक्षा ग्रहण करने का अवसर प्राप्त हुआ। सुविधानुसार हम तीनों ने अपने-अपने क्षेत्रों में शोध कार्य भी किये। शनैः-शनैः अपने-अपने विभागों में प्रयाग में डिमांस्ट्रेटर बने एवं मैंने तथा तोशनीवाल ने अपने-अपने गुरुओं के निर्देशन में विश्वविद्यालय की उच्चतम उपाधियाँ (डी० एस-सी०) प्राप्त कीं। दौलत सिंह डॉक्टरेट की उपाधि के लिए विदेश गये।

वर्तमान् शती का प्रत्येक दशक ही नयी शोधों के लिए युगप्रवर्तक रहा है। प्रो० मेघनाद साहा के 1923 में प्रयाग आने पर **स्पेक्ट्रॉस्कोपी** विषयक प्रयोगशाला भौतिकी विभाग का अंग बनी और प्रारम्भ में गोविन्दरामजी ने भी इस प्रयोगशाला में काम किया। उसके शीघ्र ही बाद प्रो० साहा के निर्देशानुसार गोविन्द राम जी एक नये विभाग वायरलेस (बेतार के तार) में काम करने लगे। बेतार के तार का यह नया युग था और उत्तर प्रदेश में इस विभाग का

कार्य भी नया आरम्भ हुआ था। गोविन्द राम जी ने बड़े धैर्य, उत्साह और कुशलता से इसमें रुचि ली और प्रयाग से बाहर के केन्द्रों से, दूरदेशीय केन्द्रों से, तरंगें पकड़ना प्रारम्भ किया। यह सफलता डॉ० गोविन्द राम जी के प्रयोग की कुशलता का प्रमाण है। मुझे अच्छी तरह याद है कि एक दिन सन्ध्या काल काफी देर तक इन तरंगों को सुनने के लिए उत्सुकता से गोविन्द राम जी की प्रयोगशाला में मैं भी प्रतीक्षारत रहा। संसार में एक नये युग का अवतरण हो रहा था। पर आज दूरदर्शन एक बहुत ही साधारण वस्तु बनकर रह गयी है।

गोविन्द राम जी अजमेर (राजस्थान) के निवासी थे। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अध्यापन के दौरान वे अपने साथ अपनी पत्नी और भाइयों को भी प्रयाग ले आये। पुरानी बात है। ज़ीरो रोड के पास **प्रो० सालिगराम भार्गव** का भी मकान था। मेरे पिताजी ने एक मकान वहीं बनवाया था। गोविन्द राम जी भी एक मकान लेकर पास में रहते थे। मेरी माताजी के साथ उनके परिवार के लोग हिल-मिल गये थे। हम दोनों परिवारों में अच्छी आत्मीयता थी। बच्चों का यहीं जन्म हुआ। **भगवान दास तोशनीवाल** सहित गोविन्द राम जी के कई भाई-भतीजे मेरे विद्यार्थी रहे।

राजस्थान के व्यापारी परिवार से आये तोशनी-वाल जी के लिए विश्वविद्यालय की नौकरी बहुत छोटी थी और उनके सपने बड़े थे। अन्ततोगत्वा गोविन्दराम जी ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय की नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया। प्रो० मेघनाद साहा भी इलाहाबाद छोड़कर कलकत्ता चले गये।

गोविन्द राम जी ने विदेशों से वैज्ञानिक यन्त्रों के आयात का कार्य प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे इन नये यन्त्रों के निर्माण का कार्य भी प्रारम्भ किया और अज-मेर, बम्बई तथा कलकत्ता में अपने परिवार के लोगों के साथ इस कार्य का विस्तार किया उनके इस विस्तार के कारण उनके परिवार के उदीयमान युवकों के सामने अपनी जीविकाओं का कोई प्रश्न ही नहीं रहा। जो व्यापार शिल्प एवं विद्युत यन्त्र देश में नहीं बनते थे, वे अब यहीं बनने लगे। प्रत्येक केन्द्र के कारखानों में गोविन्दराम जी ने दरिद्र, अशिक्षित श्रमिकों को जीविकायें प्रदान कीं। तोशनीवाल जी का समस्त परिवार आज वैभवसम्पन्न है और देश के नामी व्यापारियों में हैं। इनका परिवार व्यापार के साथ ही साथ देशहित के अनेक कार्यों में रुचि रखता है, ध्यान देता है। इस प्रकार अनेक दृष्टियों से वे हमारे लिए गौरवपूर्ण है। 1983 में अजमेर में 'महर्षि दयानन्द निर्वाण शती' दीपावली के अवसर पर बड़े धूमधाम से मनाई गई थी। भारतवर्ष के अनेक गण्यमान्य व्यक्तियों को विभिन्न क्षेत्रों में सराहनीय कार्य के लिए आर्य जगत् द्वारा सम्मानित किया गया था। उस समय डॉ० गोविन्द राम तोशनीवाल जी 'विज्ञान परिषद् प्रयाग' के अध्यक्ष थे। गोविन्द राम जी को भी हमने शताब्दी **'स्वर्णपदक'** प्रदान कर सम्मानित किया था। 'स्वर्णपदक' देश की तत्कालीन प्रधानमन्त्री **श्रीमती इन्दिरा गाँधी** ने दिया था। जब कभी भी मैं अजमेर जाता भाई तोशनीवाल जी से मिले बिना न रहता। दिल्ली हो या अजमेर या प्रयाग, एक दूसरे से मिले बिना हम दोनों को शून्य सा लगता था। तोशनीवाल जी व्यापार और शिल्प सम्बन्धी अनेक संस्थाओं से सम्बद्ध रहे।

गोविन्द राम जी को देश और राष्ट्र भाषा हिन्दी से अगाध प्रेम था। उन्होंने अपना जीवन देश की सेवा में होम कर दिया। 'विज्ञान परिषद् प्रयाग' से वे गहरे जुड़े थे। उन्होंने और उनके परिवार ने 'विज्ञान परिषद्' की अनेक बार आर्थिक सहायता की है। 20,000 रुपये की एक धनराशि देकर 'प्रो० सालिग राम भार्गव स्मृति व्याख्यानमाला' की स्थापना की। इस व्याख्यानमाला का प्रथम व्याख्यान दिल्ली में **प्रो० अजितराम वर्मा** द्वारा दिया जा चुका है।

प्रो० सालिग राम भार्गव मेरे और तोशनीवाल जी, दोनों के गुरु थे। वे 'विज्ञान परिषद् प्रयाग' के चार संस्थापकों में से एक थे। 'विज्ञान परिषद् प्रयाग' की स्थापना 1913 में **महामहोपाध्याय पंडित गंगा-नाथ झा, प्रो० रामदास गौड़, प्रो० सालिग राम भार्गव और मौलाना हमीदउद्दीन साहब** द्वारा हुई थी।

आज गोविन्द राम जी हमारे बीच नहीं रहे पर उनकी मधुर स्मृतियाँ आजीवन सुरक्षित रहेंगी। □□

हमारे पक्षियों का मूल्यांकन : दर्शन अथवा विज्ञान

आर० के० रणजित डेनियल्स

सन् 1859 में जैसा कि पहली बार **चार्ल्स डारविन** का 'प्राकृतिक चयन सिद्धान्त' प्रतिपादित किया गया, सिद्धान्त में यह सुझाव निहित था कि विलोपन अपरिहार्य है। उनका कथन, जैसे-जैसे नए फॉर्म (नई प्रजातियाँ) निरन्तर और धीरे-धीरे उत्पन्न किए जा रहे हैं, जब तक हम यह विश्वास नहीं करते कि विशिष्ट फार्मों की संख्या निरन्तर और प्राय: अनिश्चित रूप से बढ़ती जा रही है, संख्याओं का अनिवार्यत: विलोप होना चाहिए, संरक्षण के विरुद्ध प्रतिकूल तर्कों का आधार रहा है। इस तरह के तर्कों का सामान्य सिद्धान्त यह है कि विलोपन पूर्णत: प्राकृतिक विकासात्मक प्रक्रिया है, जो लाखों वर्षों से मानव की सहभागिता के बिना चलती आई है। यदि हम प्रकृति के कार्य में केवल हाथ बँटा रहे हैं तो फिर चिंता क्यों? एक और विचारधारा, जिसकी जड़ें धर्म में गहरी हैं, के अनुसार पृथ्वी अपने समस्त लाइफ फार्मों (जीव प्रजातियों) के साथ पूर्णत: विनाश की दिशा में अग्रसर है। पृथ्वी अपने समस्त जीवों से युक्त पापपूर्ण तथा शापग्रस्त है—विनाश अवश्यंभावी है। हमारे समाज में ऐसे विचार सचमुच प्रचलित हैं। अत: आगे की पंक्तियों में मैं (1) पक्षियों के संरक्षण की क्या आवश्यकता है?, (2) क्या सभी पक्षियों का समान मूल्यांकन होना चाहिए? और (3) पक्षी-संरक्षण से सम्बन्धित राष्ट्रीय नीतियाँ कैसी होनी चाहिए? जैसे प्रश्नों पर विचार-विमर्श करूँगा।

वैधानिक तथा दार्शनिक यह दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयास करते आए हैं कि जीव प्रजातियों (लाइफ फार्मों) के अपने मूल्य हैं, अत: इन्हें कायम रखना चाहिए। फिर भी, उनमें पारस्परिक मतभेद हैं। वैज्ञानिक किसी भी लाइफ फार्म का मूल्यांकन इस आधार पर करते हैं, चाहे वह पक्षी ही क्यों न हो, कि उससे हमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से क्या लाभ है। उदाहरण के लिए, शकरखोरे (सन बर्ड्स) जिन पौधों का परागण करते हैं वे पौधे इस धरती पर हमारे जीवन के लिए लाभदायक हैं। इसके अलावा कुछ मक्खीमार (फ्लाई कैचर) तथा ड्रान्गोज़ हैं जो हमारी फ़सल को हानि पहुँचाने वाले कीड़ों को नष्ट करते हैं। वैज्ञानिकों और दार्शनिकों की दृष्टि में जंगलीमुरगी महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनमें मानव के आहार बनने की प्रत्यक्ष क्षमता है अथवा 'हार्डी जेनेटिक स्टाक', जिनका इस्तेमाल हम अपने घरेलू मुरगी पालन की गुणवत्ता सुधारने में कर सकते हैं। अभी हाल के तर्क के अनुसार सभी पक्षियों में कुछ ऐसी क्षमता निहित है जिसका अभी हमें पता नहीं लग सका है किन्तु सम्भव है भविष्य में हम पता लगाना सीख जाएँ। यह तर्क भी सामने आया है कि यह पक्षी विज्ञान शिक्षा और खोज में प्राकृतिक उपकरण के रूप में सहायक हो। इस तर्क के आधार पर पक्षियों का मूल्यांकन किया जा सकता है। इन्हीं तथाकथित मूल्यों को "माँग मूल्य" की संज्ञा दी गई है। दूसरे शब्दों में मूल्यों का आधार है मानव को पक्षियों से होनेवाले लाभ।

दूसरी तरफ़ दर्शनशास्त्र का तर्क यह है कि पक्षियों को बनाए रखना चाहिए क्योंकि उनका एक "आन्तरिक मूल्य" होता है। यह पक्षियों का वह मूल्य है जो अन्य किसी लाइफ फार्म की उपादेयता पर निर्भर नहीं है। यह आवश्यक है कि पक्षियों के सभी फार्मों की रक्षा की जानी चाहिए। उन्हें जीने का अधिकार है।

दार्शनिक **ब्रियान जी. नोरटन** ने अपनी पुस्तक "ह्वाई प्रिज़र्व नेचुरल वैराइटी" में यह विचार प्रस्तुत किया है कि लाइफ फार्म्स के "रूपान्तरित मूल्य"

परिस्थिति विज्ञान केन्द्र, भारतीय विज्ञान संस्थान, बेंगलोर—560012

होते हैं। उनके शब्दों में "किसी भी लाइफ फार्म का 'माँग मूल्य' के विपरीत 'रूपान्तरित मूल्य' होता है, यदि वह केवल संतुष्ट करने की अपेक्षा उसकी जाँच अथवा परिवर्तित करने का अवसर उपलब्ध कराता है।" इसे समझाने के लिए मैं उस उदाहरण का उद्धरण प्रस्तुत करूँगा जिसका स्वयं उन्होंने प्रयोग किया है। "बालक पक्षियों के घोसलों के अंडे नष्ट कर रहा है। वयस्क उस बालक को बड़े प्यार से समझाता है कि अंडों से पक्षियों के छोटे-छोटे बच्चे निकलेंगे, इसलिए इन अंडों से बच्चे निकालना अत्यन्त आवश्यक है। और उस बालक को वह वयस्क एक अन्य घोंसले में पक्षी के छोटे-छोटे बच्चे भी दिखाता है। बालक बहुत प्रभावित होता है, देखता है कि उन चूज़ों को मादा चिड़िया आहार दे रही है, और नतीजा यह होता है कि वह बालक अपना यह विनाशकारी खेल वहीं खत्म कर देता है। अब वह बालक पक्षियों के हित की बात सोचता है और वयस्क से अनेक प्रश्न करता है। अंततः वह शौकीन पक्षिविज्ञानी बन जाता है और अकथनीय आनन्द का अनुभव करता है। इस तरह प्रारम्भिक विनाशकारी प्रवृत्ति में परिवर्तन आ जाता है।"

मुझे ऐसा लगता है कि जैवीय संरक्षण की दिशा में प्रगति की गति न केवल संरक्षण विरोधी विचारों के कारण धीमी हो रही है बल्कि इस कारण भी कि क्या लाइफ फार्मों का संरक्षण प्रधानतया उनके "माँग मूल्यों" के आधार पर हो या केवल वैसे ही सामान्यतः उनका संरक्षण किया जाए। अनेक संरक्षण जीवविज्ञानी जो अपनी संरक्षण नीतियों की आलोचना का सामना करने में कुछ संकोच का अनुभव करते हैं (क्योंकि प्रधानतया उन्हें मानवकेंद्रित की संज्ञा दी गई है) अब समझौता करने का प्रयास कर रहे हैं कि ये नीतियाँ विवेकपूर्ण हो जाएँ। यदि यह निश्चित रूप से मालूम हो जाए कि केवक पक्षी ही नहीं वरन् अन्य लाइफ फार्मों को नष्ट करने से इस पृथ्वी पर हमारे अस्तित्व को ख़तरा है तो प्रकृति को सुरक्षित रखने के लिए हर संभव प्रयास अनिवार्य है। यह सोचना है कि, किसी भी संरक्षण प्रयास का मूल कारण मानव-केन्द्रवाद है, अपराध-बोध नहीं है। लाइफ फार्मों का उनके वास्तविक मूल्यों के कारण परिरक्षण करने की विचारधारा की अवहेलना की जा सकती है बशर्ते हम एड्स रोगाणु को बनाए रखने के इच्छुक हों। दुनिया जो भाई चारे और प्रेम के सन्देश का मज़ाक उड़ाती प्रतीत होती है, क्या नोरटन के रूपांतरण का सन्देश ग्रहण करेगी? मुझे नहीं लगता। यदि प्रकृति मानव की विश्व-विचारधारा को रूपांतरित कर सकती है, उसी प्रकार संगीत, कला और नैतिक कथाएँ भी। सड़क के कूड़ादान के इर्द-गिर्द मँडराते और जूठन को देखते हुए उन भूखे बच्चों के आम दृश्य की कल्पना करें। ऐसे दृश्य को देखकर कहाँ तक हम रूपांतरित हुए हैं? हमारे दैनिक जीवन में कितना आहार नष्ट होता है।

जब हम पक्षियों के संरक्षण मूल्यों की बात करते हैं, हमेशा एक प्रश्न उठता है, "हम पक्षियों का मूल्यांकन किस आधार पर करते हैं?" जब मैंने पहली बार पक्षियों के संरक्षण मूल्यों पर वार्ता प्रस्तुत की, किसी ने मुझसे पूछा, क्या मेरा तात्पर्य अदला-बदली से है। एक हॉर्नबिल की रक्षा करने के लिए हम कितने बच्चों को मरने दे सकते हैं? मुझे एक सुप्रसिद्ध संरक्षण जीवविज्ञानी की बात याद आ रही है। संरक्षण से सम्बन्धित पहलुओं पर चर्चा करते हुए अत्यन्त चिन्तित परिस्थिति-विज्ञानी के एक समूह को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा है कि यदि वह और उनका बच्चा एक द्वीप पर असहाय हो जाएँ और यदि उनका बच्चा भूख से तड़प रहा हो, ऐसी स्थिति में वह किसी भी ऐसे जानवर को मारकर अपने बच्चे की भूख मिटाएंगी जो उनकी पकड़ में हो, चाहे वह जानवर धरती पर पाए जानेवाले भयंकर से भयंकर प्राणियों में से ही क्यों न हो। मेरा अनुमान है कि कोई भी ऐसी स्थिति में यही करेगा। शायद ही कोई संरक्षण विज्ञानी पक्षियों का मूल्यांकन मानवजाति को तराजू में रखकर उसके बराबर करेगा। प्रस्तावित 'साइलैंट वैली प्रोजेक्ट' जैसी हाइड्रोइलेक्ट्रिक परि-

योजना की लागत और लाभों की तुलना में पक्षियों का मूल्यांकन करना बेकार साबित होगा। पक्षियों का मूल्य किसी भी करेन्सी में नहीं लगाया जा सकता। और यदि किसी ने ऐसा प्रयास किया भी तो वह यथार्थ के कहीं भी समीप न होगा। तो फिर इस प्रश्न का उत्तर क्या है ?

पक्षियों का मूल्यांकन एक दूसरे की तुलना में ही किया जा सकता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या सभी पक्षियों का मूल्यांकन एक जैसा ही है ? यदि मैं आपसे ही पूछूँ कि कौआ और मोर में किस पक्षी का मूल्य अधिक है ? मोर हमारा 'राष्ट्रीय पक्षी' है। हिन्दू पुराण में इसे विशेष स्थान दिया गया है। इसके वसा से निकाला गया तेल औषधियों की दृष्टि से गुणों से सम्पन्न है। इन गुणों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि विश्व के सुन्दरतम पक्षियों में इसकी गिनती है। किन्तु कौआ ? कौए की जरूरत किसे है ? यह बहुत बड़ी संख्या में मौजूद है और सचमुच दुःखदायी है। क्या इसी तरह से हम पक्षियों का मूल्यांकन करते हैं ?

नहीं। चूँकि हम अपने अधिकांश पक्षियों के अंदर छिपे मूल्यों को नहीं जानते और क्योंकि हम सभी मौजूदा पक्षियों का संरक्षण करना चाहते हैं, संरक्षण जीवविज्ञानी सभी पक्षियों की प्राथमिकता मूल्य निर्धारित करने की प्रणालियों पर शोधकार्य में लगे हुए हैं। अन्य पक्षियों की अपेक्षा पक्षियों की कुछ किस्मों को बचाने की अत्यावश्यकता के आधार पर प्राथमिकता मूल्य निर्धारित किए जाते हैं। जो पक्षी अभी हाल में विलुप्त हुए हैं और वे जो दुनिया भर में विलुप्त होने के ख़तरे का सामना कर रहे हैं, उनकी विशिष्टताओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो गया है कि वे वही पक्षी थे जो बहुत छोटे भौगोलिक क्षेत्रों में पाये गये। उनकी संख्या कम थी। कुछ को तो मनुष्यों और कुत्तों, बिल्लियों और सुअरों जैसे उसके पालतू जानवरों ने समाप्त कर दिए। शरीर का विशाल आकार, पुनरोत्पादन की निम्न गति या आहार शृंखला में उच्चतर होने की स्थिति कुछ अन्य पक्षियों में प्रतिकूल परिस्थिति थी। अन्य लाइफ फार्मों के साथ पारिस्थितिक सम्बन्ध कुछ पक्षियों के दुर्भाग्य का कारण बना। पक्षियों में इन विशिष्टताओं में से एक से अधिक के मिश्रण से प्रतिकूल परिणाम हो सकते हैं। यह ध्यान में रखते हुए जब हम संरक्षण नीतियों का निर्धारण करते हैं, इस प्रकार के अभागे पक्षियों को अत्यधिक प्राथमिकता मूल्यों की श्रेणी में रखना चाहिए। इन पक्षियों को साधारण संरक्षण मूल्य दिए जाएँ। उदाहरण के लिए, **नीलगिरि लॉफिंग थ्रश,** पक्षी का एक ऐसा फॉर्म, जो केवल नीलगिरी पर्वतों पर ही पाया जाता है। इस पक्षी का मूल्य, गाय-बगुला जो दुनिया भर में पाया जाता है, की अपेक्षा उच्चतर होना चाहिए। हर तरह के प्राकृतिक वास वाले क्षेत्रों में पाये जाने वाले जंगली कौओं की अपेक्षा केवल गीले जंगलों में पाए जाने वाले इंडियन हॉर्न-बिल जैसे पक्षियों का मूल्य अधिक होना चाहिए। इस तरह के मूल्यांकन में प्रयुक्त भौगोलिक मापदंड सार्वभौम हो सकते हैं या राष्ट्रीय। चूँकि हमारे पास विश्व एवं भारतीय उपमहाद्वीप के समस्त पक्षियों के प्राकृतिक वास की अभिरुचियों और भौगोलिक क्षेत्रों के विवरण सहित सम्पूर्ण परीक्षण-सूचियाँ उपलब्ध हैं, ऐसा मूल्यांकन कठिन नहीं है। फिर भी, चूँकि हमारे पास अधिकांश पक्षियों के लिए तादाद के सही प्राक्कलन उपलब्ध नहीं हैं, तादाद के आकारों पर आधारित मूल्य सभी पक्षियों को एक जैसे निर्धारित नहीं किए जा सकते। अन्य विशिष्टताओं पर आधारित मूल्यों को संक्षेप में दोहराया जा सकता है और उनके संकट की तुलनात्मक मात्रा के लिए मूल्यों के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। पक्षी का कोई फार्म जितना अधिक संकटग्रस्त है उसे उतना ही अधिक मूल्य प्राप्त होगा। किसी फार्म के टेक्सोनामिक (वर्णिकी) अद्वितीयता के द्वारा समान मूल्य निर्धारित करना सम्भव है। दूसरे शब्दों में, उसे आनुवंशिक मूल्य कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए, पक्षियों की पैंसठ विशिष्ट क़िस्मों जैसे काक-परिवार की अपेक्षा क्रैब (केकड़ा)—प्लोवर (टिटिहरी) परिवार जैसे पक्षियों की एकल क़िस्मों के

प्रतिनिधित्व के अधिक मूल्य निर्धारित किए जा सकते हैं। मूल्यांकन की इस प्रणाली से स्थिरता आती है और इसमें अवास्तविकता भी कम से कम रहती है।

जब एक बार देश या किसी राज्य अथवा ज़िले के पक्षियों की सभी क़िस्मों का उपरोक्त पद्धति से मूल्यांकन हो जाता है, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्षियों के संरक्षण के क्षेत्रों की तात्कालिक आवश्यकता को जानने का काम आसान हो जाता है। दूसरे जहाँ किसी क्षेत्र के बारे में यह विवाद उत्पन्न हो जाता है कि यह स्थान पक्षियों के लिए सुरक्षित रखा जाए या विकासोन्मुख परियोजना के लिए दे दिया जाए, तब मूल्यांकन की यह पद्धति बहुत प्रभावशाली सिद्ध हो सकती है, क्योंकि ऐसी स्थिति में कुछ क्षेत्रों की बहुत जल्दी तुलना की जा सकती है, और विवादास्पद क्षेत्र अन्य प्रयोजनों की अपेक्षा अपने पक्षियों के लिए अधिक उपयुक्त है इस आधार पर विवेकपूर्ण निर्णय लिए जा सकते हैं।

मानव स्वयं अपना बचाव कर लेता है, यह हमें बिना कोई बहाना किए स्वीकार कर लेना चाहिए। पक्षियों के संरक्षण में दार्शनिक और नैतिक विचार प्रभावशाली साबित नहीं हो सकते। किसी भी विवेकशील मानव को पक्षियों के संरक्षण के लिए दार्शनिक तथा नैतिक कारणों की अपेक्षा वैज्ञानिक कारण अधिक आकर्षित करता है। विज्ञान की यह भविष्यवाणी है कि पक्षियों की निरन्तर क्षति अंततः हम पर उल्टी पड़ सकती है। अतः मैं इन शब्दों के साथ लेख समाप्त कर रहा हूँ, "पक्षियों की सुरक्षा करें ताकि आपका भला हो और आप दीर्घायु हों।" □□

[विज्ञान परिचय से साभार]

'नेहरू का वैज्ञानिक दृष्टिकोण' पर गोष्ठी

देश के प्रथम प्रधानमन्त्री पं० जवाहर लाल नेहरू के 101वें जन्म दिन पर नेहरू का वैज्ञानिक दृष्टिकोण विषय पर विज्ञान परिषद् में विचार गोष्ठी हुई। विषय प्रवर्तन करते हुए विज्ञान पत्रिका के सम्पादक प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने पं० जवाहर लाल नेहरू के जीवन पर प्रकाश डालते हुए कहा कि उनकी पुस्तक 'पिता के पुत्र पुत्री के नाम' को जूनियर हाई स्कूल के विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम में शामिल कर लिया जाना चाहिए। शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान के निदेशक प्रो० शिवगोपाल मिश्र ने नेहरू जी के भाषणों के उन अंशों की चर्चा की जिसमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण (साइन्टिफिक टेम्पर) पर बल दिया गया है।

इस विचार गोष्ठी में डॉ० सुप्रभात मुकर्जी, डॉ० रामसुरंजन धर दुबे, सर्वश्री दिनेशमणि, राजेश कुमार केसरी, अशोक कुमार आदि ने भी विचार व्यक्त किए। अन्त में प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने सभी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की।

विज्ञान परिषद् की वाराणसी शाखा से

आचार्य जगदीश चंद्र बोस की 132वीं जयंती के अवसर पर परिषद् द्वारा व्याख्यान का आयोजन :

गत 30 नवम्बर 1990 को, आचार्य जगदीश चन्द्र बोस की 132वीं जन्म तिथि के अवसर पर विज्ञान परिषद् की वाराणसी शाखा द्वारा एक व्याख्यान का आयोजन किया गया। **प्रो० महाराज नारायण मेहरोत्रा** ने इस आयोजन की अध्यक्षता की।

आरम्भ में विज्ञान संकाय के संकाय-प्रमुख **प्रो० देवेन्द्र कुमार राय** ने आचार्य बोस के व्यक्तित्व की महानताओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया। बोस का जन्म ऐसे समय में हुआ था जबकि हमारा देश परतंत्र था। अँगरेजों को भारतीयों की प्रतिभा और क्षमता पर विश्वास नहीं था। आचार्य बोस ने अपने कार्यों से अँगरेज़ों की इस भ्रान्ति को दूर किया, और भारतीय प्रतिभा को प्रतिष्ठित किया। उन्होंने शिक्षा और शोध दोनों ही क्षेत्रों में ख्याति अर्जित की। उनकी सबसे बड़ी विशेषता तो यह रही कि उन्होंने भारतीय साधनों का ही उपयोग करके उच्च कोटि के वैज्ञानिक उपकरण बनाए और विज्ञान के व्यवसायीकरण से सर्वथा दूर रहे। उन्होंने सबसे पहले रेडियो तरंगों की खोज की किन्तु उन्होंने इसे पेटेंट नहीं कराया, जिसके कारण आज दुनियाँ में लोग यह नहीं जानते कि रेडियो तरंगों के अन्वेषक आचार्य जगदीश चन्द्र बोस हैं, वरन् यह श्रेय मार्कोनी को दिया जाता है। आचार्य बोस के इन महान गुणों का अनुकरण करने का प्रयास ही वास्तव में उस महान व्यक्ति के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

तदन्तर, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के जाने माने चिकित्सा शास्त्री **डॉ० कमलाकर त्रिपाठी** ने रक्तचाप पर अत्यन्त रोचक एवं ज्ञानवर्द्धक व्याख्यान दिया। डॉ० त्रिपाठी ने बताया कि प्राचीन चिकित्साविदों को रक्त-संचार तथा नाड़ी प्रवाह आदि का तो ज्ञान था किन्तु उनका ध्यान "रक्त-

चाप" की ओर नहीं गया। आगे चलकर फ्रांस के एक प्रसिद्ध भौतिकीविद डॉ० पायसों ने रक्तचाप की अवधारणा और इसकी उपयोगिता की ओर चिकित्सकों का ध्यान आकृष्ट किया। तब से इस विषय में काफ़ी शोध किया गया है। हृदय में दो प्रकोष्ठ हैं। इसके स्पन्दन के साथ रक्त सारे शरीर में जाता है, ऊतकों में से अशुद्धियों को दूर करता है और मिश्रित होकर हृदय के दूसरे प्रकोष्ठ में वापस आता है। वहाँ से यह फेफड़े में जाता है और शुद्ध होकर पुनः हृदय के पहले प्रकोष्ठ में आ जाता है। इस परिसंचरण के लिए रक्त प्रवाह में एक निश्चित दाब बने रहना आवश्यक होता है। हृदय की बनावट स्वाभाविक रूप में ऐसी होती है कि उसकी मांस-पेशियाँ रक्त को एक निश्चित दाब से प्रवाहित करती रहती हैं। इस दाब का नियंत्रण मष्तिस्क तथा गुर्दे द्वारा होता रहता है। रक्त चाप पर चिन्ता, मानसिक तनाव, आहार तथा शरीर में रक्त की कुल मात्रा आदि का प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए रक्त का एक निश्चित दाब आवश्यक होता है। इस आवश्यक मात्रा से अधिक होने पर मनुष्य रक्त चाप की बीमारी से ग्रस्त कहा जाता है। शरीर में किसी रोग के कारण रक्त की मात्रा बहुत कम हो जाने पर रक्त दाब कम भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में उसे अल्प रक्तचाप का रोग हो जाता है। जीव का विकास जल में ही हुआ है अतएव उसकी शारीरिक क्रियाओं पर सोडियम प्रभाव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। नमक गुर्दे तथा रक्तचाप को प्रभावित करता है। यही कारण है कि रक्तचाप होने पर बहुधा चिकित्सक नमक के प्रयोग को कम करने की सलाह देते हैं। डॉ० त्रिपाठी ने बताया कि यह सदैव आवश्यक नहीं है कि रक्तचाप बढ़ने पर नमक खाना कम कर दिया जाय। यह भी हो सकता है कि किसी व्यक्ति की शारीरिक आवश्यकताएँ बढ़े हुए रक्तचाप के अनुकूल हों और गुर्दे के लिए नमक भी आवश्यक हो। ऐसी स्थिति में रक्त चाप के नियंत्रण के लिए नमक का नियमन करना आवश्यक नहीं हो सकता है।

अंत में विज्ञान परिषद् के उपाध्यक्ष डॉ० ब्रज रतन दास गुप्त ने व्याख्याता तथा समस्त उपस्थित श्रोताओं को धन्यवाद दिया।

प्रस्तुति—डॉ० श्रवण कुमार तिवारी
सचिव, विज्ञान परिषद्,
वाराणसी शाखा □□

प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय, (सी० एस० आई० आर०) हिलसाइड रोड, पूसा गेट, नई दिल्ली—12

घोषणा

जन-संचार माध्यमों के लिये हिन्दी में विज्ञान लेखन पर कार्यशाला

प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय (सी० एस० आई० आर०), नई दिल्ली, केन्द्रीय भारतीय भाषा संस्थान, मैसूर के सहयोग से "जन संचार माध्यमों के लिये हिन्दी में विज्ञान लेखन" विषय पर दिल्ली में दिनांक 18-23 फरवरी, 1991 तक एक कार्यशाला का आयोजन कर रहा है।

राष्ट्रीय विकास में वैज्ञानिक और तकनीकी साधनों का बड़ा महत्व है। आम आदमी तक उनकी भाषा में विज्ञान की बातों को पहुँचाने का काम अनेक जन-संचार माध्यमों से हो रहा है। इनमें समाचार-पत्र, पत्रिकायें, आकाशवाणी और दूरदर्शन आदि प्रमुख हैं। इन माध्यमों के द्वारा जनोपयोगी विज्ञान और प्रौद्योगिकी की जानकारी को प्रचारित करने के लिये, हिन्दी में उपयुक्त भाषा व शैली तथा विधाओं का विकास करना इस कार्यशाला का उद्देश्य है।

कार्यशाला हेतु प्रस्तावित विषय निम्न प्रकार हैं—

1. विज्ञान और समाज : अंध-विश्वासों का वैज्ञानिक निवारण

2. तकनीकी मिशन : पीने का शुद्ध पानी, खाद्य तेल, वेस्ट लैण्ड

3. जन-स्वास्थ्य : वेक्सीन, घटिया नकली-मिलावटी हानिकारक दवायें, एड्स

4. पर्यावरण : ओज़ोन, ग्रीन हाउस प्रभाव, कीटनाशकों का दुष्प्रभाव

5. इस वर्ष के नोबेल पुरस्कार : चिकित्सा विज्ञान, भौतिकी और रसायन

6. मानव जीनोम कार्यक्रम : रेडियो के लिये

7. राष्ट्रीय विज्ञान दिवस (28 फरवरी) के लिये वैज्ञानिकों से भेंट वार्तायें : दूरदर्शन के लिये

8. वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं, संस्थानों की नई उपलब्धियों पर वैज्ञानिकों से साक्षात्कार

9. जन-निवास : बिल्डिंग मेटीरियल्स

10. अन्य-प्रतिभागियों की रुचि के उपयोगी विषय

कार्यशाला में हिस्सा लेने वाले सहभागियों को लगभग 1,500 शब्दों की एक पाठावली लिख कर तैयार करनी होगी। सभी पाठावलियों पर, पहले टोली स्तर पर और फिर सामूहिक स्तर पर विचार-विमर्श होगा। साथ ही विषय को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये चित्रों आदि पर भी विचार-विमर्श होगा।

कार्यशाला के पहले दिन उद्घाटन के उपरान्त सहभागियों को इस सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी दी जायेगी। समापन सत्र में सभी पाठावलियों पर सामूहिक विचार-विमर्श किया जायेगा। कार्यशाला की समाप्ति पर ये पाठावलियाँ केन्दीय भाषा संस्थान को सौंप दी जायेंगी और उन पर व्यावहारिक परीक्षण आदि की अगली कार्यवाही उनके द्वारा की जायेगी।

भारतीय भाषा संस्थान इनको अलग-अलग क्षेत्रों में पाठकों को सौंप देगा और उनकी प्रतिक्रियायें आमंत्रित करेगा। साथ ही विज्ञान संचार के क्षेत्र में लगे कार्यकर्त्ताओं को भी यह जानकारी दी जायेगी तथा उनके विचार आमंत्रित किये जायेंगे। इन सभी विचारों के परिप्रेक्ष्य में पाठावलियों को बाद में अंतिम रूप दिया जायेगा।

इस कार्यशाला में देश के कोने-कोने से हिन्दी में विज्ञान लेखन के विविध क्षेत्रों के लगभग 40 मूर्धन्य विशेषज्ञ भाग ले रहे हैं।

प्रतिभागियों से निवेदन किया गया है कि वे अपनी रुचि के अनुसार कार्यशाला से सम्बन्धित किसी भी विषय का चयन करके पाठावली की सामग्री अथवा प्रारम्भिक लेख अपने साथ लायें। इसके लिये वे किसी भी विधा का प्रयोग कर सकते हैं, परन्तु भाषा और शैली आम पाठक को ध्यान में रखते हुये सरल एवं सुबोध होनी चाहिये, कार्यशाला को सफल बनाने के लिये सम्बद्ध सुझाव आमंत्रित हैं।

इस कार्यशाला से सम्बन्धित अन्य जानकारी के लिये कार्यशाला संयोजक एवं वैज्ञानिक ई० 1, श्री तुरशन पाल पाठक, प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय, हिल-साइड रोड, पूसा गेट, नई दिल्ली—110012 से सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। □□

नया साहित्य

क.सं.	पुस्तक का नाम	लेखक	प्रकाशक	मुद्रक	संस्करण
1.	प्रदूषण	धर्मेन्द्र वर्मा	ज्ञान गंगा, 205-सी, चावड़ी दिल्ली-110006	राधा प्रेस, गांधी नगर, दिल्ली	प्रथम 1990 सर्वाधिकार सुरक्षित, मूल्य : पचास रु०, पृष्ठ सं० : 160
2.	जनसंख्या प्रदूषण और पर्यावरण	हरिश्चन्द्र व्यास	विद्या विहार, 1685, कूचा दखनी राय, दरियागंज, दिल्ली-2	कलाभारती, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032	प्रथम 1989 सर्वाधिकार सुरक्षित पृष्ठ सं० 184 मूल्य पचहत्तर रुपये
3.	समाज और पर्यावरण		प्रगति प्रकाशन, मास्को, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा०) लि० 5ई, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली—110055		हिन्दी संस्करण राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा०) लिमिटेड चमेली मार्केट, एम० आई० रोड, जयपुर-302001 मूल्य : 6 रु० 60 पैसे, पृष्ठसं० 192
4.	पर्यावरण प्रदूषण और निवारण के उपाय		सूचना एवं जनसंपर्क विभाग उत्तर प्रदेश (लखनऊ)	नवज्योति प्रेस, लखनऊ	अगस्त 1989, पृष्ठ सं० 17
5.	वैज्ञानिक लघु कथाएँ	डॉ० राजीव रंजन उपाध्याय	प्रतिभा प्रतिष्ठान, 1685 कूचा दखनीराय, दरियागंज, नई दिल्ली पिन—110002	दुर्गा मुद्रणालय, सुभाष पार्क एक्सटेंशन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32	प्रथम 1988 मूल्य : पचास रु० पृष्ठ सं० 163
6.	विश्व प्रसिद्ध वैज्ञानिक	राजीव गर्ग	फैमिली बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, एफ–2/16 अंसारी रोड, दरियागंज दिल्ली--110002	गोयल ऑफसेट वर्क्स, ए-60/1, जी० टी० करनाल रोड, दिल्ली वितरक : गोयल ऑफसेट वर्क्स, ए-60/1 जी० टी० करनाल रोड, दिल्ली	चौथा 1989, मूल्य : पेपर बैंक 18 रुपये सजिल्द 30 रु०
7.	विश्व प्रसिद्ध चिकित्सा पद्धतियाँ	अशोक कुमार शर्मा	फैमिली बुक्स प्रा० लि० एफ-2/16, अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली पिन-110002	शिवाजी इण्टर प्राइजेज, दिल्ली वितरक : पुस्तक महल खारी बावली, दिल्ली–6	तीसरा 1990 मूल्य पेपर बैक 18 रुपये, सजिल्द 30 रुपये

विज्ञान वक्तव्य

प्रिय पाठकगण !

आपके हाथों में 'विज्ञान' का दिसम्बर 1990 अंक पहुँचते-पहुँचते वर्ष 1990 का अवसान हो रहा होगा और हफ्ता-दस दिन बाद नये वर्ष का आगमन। नया वर्ष आप सबके लिए शुभ एवं मंगलमय हो। नया वर्ष लाए आपके लिए ढेर सारी खुशियाँ।

आपके लिए एक और शुभ समाचार—'विज्ञान' पत्रिका का एक विशेषांक–समीर विशेषांक–पर्यावरण निदेशालय, लखनऊ के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित हो रहा है। यह विशेषांक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है और पुस्तक का नाम है '**बदलता पर्यावरण**'। आकर्षक कवर, दो दर्जन विचारोत्तेजक लेखों से युक्त लगभग 200 पृष्ठों वाली इस पुस्तक में आपको पर्यावरण से सम्बन्धित नवीनतम जानकारियाँ देना हमारा उद्देश्य है। 'विज्ञान' के वार्षिक, द्विवार्षिक और आजीवन सदस्यों को इसे 'विज्ञान' के जनवरी-मार्च 1991 के अंकों के स्थान पर भेजा जायेगा। अतएव 'विज्ञान' के जनवरी, फरवरी और मार्च 1991 अंक अलग से प्रकाशित नहीं किए जायेंगे।

एक सूचना 'ह्विटेकर पुरस्कार' के सम्बन्ध में। वर्ष 1990 के 'ह्विटेकर पुरस्कार' के लिए लेख (प्रकाशित) भेजने की अंतिम तिथि 15 मार्च 1991 है। प्रतियोगी पृष्ठ 30 पर प्रकाशित सूचनायें ध्यान से पढ़ें।

आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि 'कपार्ट' नई दिल्ली; रक्षा प्रयोगशाला; जोधपुर और विज्ञान परिषद् प्रयाग के संयुक्त तत्वावधान में 5-8 दिसम्बर 1990 तक चलने वाला पाँच दिवसीय प्रशिक्षण कार्यक्रम—'**12वाँ पेयजल गुणवत्ता जाँच प्रशिक्षण कार्यक्रम**'—विज्ञान परिषद् भवन में सफलतापूर्वक सम्पन्न हो गया। इस पाँच दिवसीय कार्यक्रम की सफलता का श्रेय कपार्ट के **श्री मुक्चन** एवं अन्य अधिकारीगण, रक्षा प्रयोगशाला के **डॉ० रामगोपाल, डॉ० सुशीला राय, डॉ० घोष** एवं उनके अन्य सहयोगियों को है। ये सभी बधाई के पात्र हैं। इस कार्यशाला में विभिन्न राज्यों से तीन दर्जन से अधिक प्रशिक्षणार्थियों ने भाग लिया और प्रशस्ति पत्र प्राप्त किए। आपकी पत्रिका 'विज्ञान' के सम्पादक के 'विज्ञान परिषद् का प्रदूषण निवारण एवं पर्यावरण संतुलन में योगदान' विषय पर व्याख्यान के तुरन्त बाद परिषद् परिवार में 18 नये सदस्यों की वृद्धि हुई।

8 दिसम्बर को '**डॉ० गोरखप्रसाद स्मृति व्याख्यान माला**' का प्रथम व्याख्यान प्रसिद्ध रसायनविज्ञानी एवं 'आर्य समाज' के प्रचारक परिव्राजक **स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती** जी द्वारा विज्ञान परिषद् के सभागार में दिया गया। स्वामी जी ने स्वर्गीय डॉ० गोरख प्रसाद जी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डाला। डॉ०

गोरख प्रसाद जी ने लम्बी अवधि तक परिषद् की अद्वितीय सेवा की है। इस समारोह की अध्यक्षता रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर के उपनिदेशक **डॉ० राम गोपाल जी** ने की। इस व्याख्यानमाला की स्थापना स्वर्गीय डॉ० गोरख प्रसाद जी के सुपुत्र **डॉ० चन्द्रिका प्रसाद** और दौहित्र श्री **अरुण कुमार** जी के 20,000 रुपयों की आर्थिक सहायता से हुई है। यह व्याख्यान प्रतिवर्ष देश के किसी चोटी के वैज्ञानिक द्वारा दिया जायेगा।

इन्हीं समाचारों के साथ कुछ दुःखद समाचार भी हैं। 2 अगस्त 1990 को परिषद् के आजीवन सभ्य **डॉ० रामकुमार** का निधन हो गया (देखें पृष्ठ15-16)। 29 सितम्बर को परिषद् के पूर्व सभापति और प्रसिद्ध उद्योगपति **डॉ० गोविन्दराम तोशनीवाल** का स्वर्गवास हो गया (देखें पृष्ठ 19-21) और 10 दिसम्बर को परिषद् के एक और सभ्य **डॉ० राजेश्वर प्रसाद श्रीवास्तव** का मस्तिष्क की नस फट जाने से अचानक दुःखद अन्त हो गया। 55 वर्षीय डॉ० राजेश्वर प्रसाद जी इलाहाबाद विश्वविद्यालय के एक एसोसिएट कॉलेज—सी० एम० पी० डिग्री कालेज—के वनस्पति विज्ञान विभाग में वरिष्ठ अध्यापक थे। आपके शोधपत्र देश-विदेश की अनेक ख्यातिप्राप्त शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। डॉ० श्रीवास्तव 'नेशनल एकेडेमी ऑव साइंसेज, इलाहाबाद' और 'विज्ञान परिषद् प्रयाग' से गहरे जुड़े हुए थे। इन तीनों महानुभावों के निधन से परिषद् की अपूरणीय क्षति हुई है। परिषद् परिवार की ओर से इन्हें भाव-भीनी श्रद्धांजलि अर्पित है।

मुझे आशा ही नहीं विश्वास है कि नया वर्ष हम सभी में एक नई चेतना का संचार करेगा और हम नई ऊर्जा, नये संकल्प के साथ परिषद् के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु प्राणपण से जुट जायेंगे।

आपका

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

उत्तर प्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के
शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है, यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिये। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं :

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०; आधा पृष्ठ 100.00 रु०; चौथाई पृष्ठ 50.00 रु०; आवरण द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ 500·00 रु०।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत; 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु०
वार्षिक : 25 रु०
प्रति अंक : 2 रु० 50 पैसे

प्रेषक : विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद–211002